

सिद्धान्त दिग्दर्शिका

भाग-2

आशीर्वाद

भक्तामर महोदधि उच्चारणाचार्य श्री 108 विनम्रसागर जी महामुनिराज

संकलन/संपादन

श्रमण मुनि विज्ञसागर

कृति

सिद्धान्त दिग्दर्शिका

(भाग-2)

श्री लब्धिसार ग्रंथ पर अखिल भारतीय विद्वत संगोष्ठी

आशीर्वाद	–	परम पूज्य गणाचार्य श्री 108 विरागसागर जी महामुनिराज परम पूज्य पट्टाचार्य श्री 108 विशुद्धसागर जी महामुनिराज
प्रेरणा	–	उच्चारणाचार्य श्री 108 विनम्रसागर जी महामुनिराज
निर्देशन एवं सम्पादन	–	निर्यापक मुनि विज्ञसागर
सहयोगी	–	आर्यिका 105 विमलश्री माताजी, आर्यिका 105 विनेहश्री माताजी मुनि संघ व आर्यिका संघ
संकलन	–	आर्यिका विपुलश्री माताजी, आर्यिका विमुदश्री माताजी
संगोष्ठी संयोजिका	–	डॉ. नीलम जैन सर्राफ, ललितपुर
प्रथमावृत्ति	–	1000, वर्ष 2025
आयोजक एवं प्रकाशक	–	श्री नन्दीश्वर जिनालय ट्रस्ट, लालघाटी जैन नगर, भोपाल (म.प्र.) खरौआ जैन समाज, भोपाल
प्राप्ति स्थान	–	धर्म प्रभावना न्यास, भिण्ड मो. 9826801542 देवेन्द्र जैन, बीना (म.प्र.) मो. 9425452825 न्यू इण्डिया ट्रान्सपोर्ट, ललितपुर मो. 9412261044 पंकज जैन सुपारी, भोपाल मो. 9826144810 धर्मेन्द्र जैन (सिन्कम) इन्दौर मो. 8959911401, 9425082826
मुद्रक	–	ज्योति ग्राफिक्स, किशनपोल बाजार, जयपुर मो. 8290526049, 8619727900

अनुक्रमणिका

क्र.	शीर्षक	आलेखक	पृष्ठ संख्या
1.	सम्पादकीय	– निर्यापक मुनि विज्ञसागर	1
2.	अन्तस की झंकार	– प.पू. उच्चारणाचार्य श्री विनम्रसागर जी	4
3.	आत्मोत्थान का क्रमिक विकास श्रेणी आरोहण	– श्रमण मुनि विज्ञसागर	13
4.	सासादन गुणस्थान में आने को कारण व अन्य विशेषताये	– श्रमण मुनि विनुतसागर (संघस्थ)	45
5.	गुणश्रेणी निर्जरा का स्वरुप	– श्रमणी आर्यिका विमलश्री माताजी	47
6.	बंधापसरण का शास्त्रीय विवेचन व चारों गतियों में बंधापसरण	– श्रमणी आर्यिका विनेहश्री माताजी	53
7.	उपशम सम्यक्त्व में सात या पाँच प्रकृति का उपशम तथा अनंतानुबंधी का उपशम	– आर्यिका विपुलश्री माताजी	65
8.	अध: प्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण इन तीनों की अवधारणा	– श्रमणी आर्यिका विमुदश्री माताजी	70
9.	सकल संयम...लब्धि	– बा.ब्र. दर्शनाचार्य प्राची दीदी शास्त्री	76
10	अपूर्वकरण, अनिवृतिकरण परिणामों में विशेषता होने वाले कार्यों का विवेचन	– अनिल कुमार जैन, प्राचार्य, जयपुर	80
11	. संक्रमण सामान्य निर्देश पूर्वक मोहनीय कर्मों में होने वाले संक्रमण	– प्रो. (डॉ.) सुदर्शनलाल जैन लालघाटी, भोपाल	83
12	. अनंतानुबंधी की विसंयोजना–	– पं. राजकुमार जैन शास्त्री	98
13	. प्रथमोपशम सम्यक्त्व का महनीय चिन्तन	– प्रो. अशोक कुमार जैन	103
14	. लब्धिसार ग्रन्थ के विविध संस्करण एवं पण्डित टोडरमल जी और पण्डित फूलचन्द जी सिद्धान्त शास्त्री की प्रस्तावनाओं का वैशिष्ट्य	– कर्मयोगी (डॉ.) सुरेन्द्रकुमार जैन भारती	108
15	. प्रथमोपशम सम्यक्त्व के सम्मुख जीव के प्रकृति, स्थिति, प्रदेश व अनुभाग बन्ध का विश्लेषण	– डॉ. हरिशचन्द्र जैन शास्त्री	113
16	. वर्तमान परिप्रेक्ष्य में करणानुयोग की उपयोगिता	– डॉ. नीलम जैन सर्राफ	118
17	. अन्तरकरण का स्वरूप और होने वाले कार्य मोहनीय कर्म के तीन विभाग का विश्लेषण	– डॉ. श्रीमती अल्पना अशोक जैन मोदी	122
18	. प्रायोग्य लब्धि का स्वरुप और महत्त्व	– प्रतिष्ठाचार्य पं. पवन कुमार जैन 'दीवान''	132
19	. देशसंयम लब्धि और इसके प्राप्ति के उपाय एवं महत्त्व	– आलोक कुमार जैन मोदी	139

सम्पादकीय

–निर्यापक मुनि विज्ञसागर

रयणत्तयं च वंदे चउवीस जिणे च सव्वदा वंदे।
पंच गुरूणां वंदे चारण चरणं सया वंदे।।

जिनेन्द्र देव के मुख कमल से निकसित सम्पूर्ण जगत का कल्याण करने वाली वाणी जिनवाणी अर्वाचीन आचार्यों के अथक प्रयास का ही प्रतिफल है, जिसके कारण आज हमें वह अमृत गंगा प्राप्त है। जिनेन्द्र देव की अमृतवाणी का श्रवण कर अनंतों प्राणी अपने जन्मदाह को शांत कर रहे हैं और आगे भी करते रहेंगे, ऐसी श्रुतदेवी सदा जयवंत हो, जिनशासन सदा सदा जयवंत रहे। सरस्वती के अथाह भण्डार को समय–समय पर आचार्यों ने मुनिराजों ने विद्वानों ने समृद्ध किया है, कर रहे हैं और करते रहेंगे क्योंकि इस कलिकाल में स्वाध्याय ही एक साधना का साधन है। पूर्व में यद्यपि भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात् 633 वर्ष तक कोई शास्त्र लिपिबद्ध नहीं हुए थे लेकिन जब ज्ञान का विशेष ह्रास होते होते पूज्य धरसेन स्वामी को अंगांश का ज्ञान शेष रह गया तो उनको चिंता बढ़ गयी और वही चिंता चिंतन बनकर कलिकाल में परोपकारी पुष्पदंत भूतबली मुनिराजों द्वारा हमें जिनवाणी के रूप में लिपिबद्ध होकर प्राप्त हुई है, जिसे लोग बड़े विनम्र भाव के साथ सम्मान के साथ षट्खण्डागम के नाम से पूजते हैं। धन्य हैं वे गुणधर आचार्य जिन्होंने 16,000 पद प्रमाण पेज्ज दोस नामक महाअधिकार जो कि ज्ञानप्रवाद नामक पूर्व के दसवीं वस्तु में तृतीय (पेज्जदोस) अधिकार के रूप में था, उसे उन्होंने मात्र 180/233 गाथाओं में व्याख्यान कर हमारे ऊपर उपकार किया है, वह चिरस्मरणीय है कषाय पाहुड़ ग्रंथ का आर्यमंक्षु व नागहस्ति ने उसका अध्ययन किया तथा आचार्य यतिवृषभ को उसका अध्ययन कराया, आचार्य यतिवृषभ ने 6,000 श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखकर जन जन पर जो उपकार किया उस उपकार को भुलाया नहीं जा सकता। आचार्य वप्पदेव सूरि जिन्हें उच्चारणाचार्य भी कहते थे उन्होंने चूर्णि सूत्रों पर 12000 श्लोक प्रमाण लिखकर महान उपकार किया पश्चात् महान गणितज्ञ कलिकाल सर्वज्ञ वीरसेन स्वामी 20,000 श्लोक प्रमाण जय धवला टीका तथा आचार्य वीरसेन स्वामी की समाधि हो जाने के कारण उनका शेष बचा कार्य उनके ही शिष्य जिनसेन स्वामी ने 40,000 श्लोक प्रमाण जय धवला टीका लिखकर महान उपकारी हुई यह कषाय पाहुड़ 15 अधिकारों में विभक्त है जिसमें 5 अधिकारों के ऊपर सिद्धांत चक्रवर्ती श्री नेमिचन्द्राचार्य द्वारा लब्धिसार क्षपणासार नामक ग्रंथ लिखा गया। ये महान आचार्यों के हमारे ऊपर महान उपकार हैं, जिनकी असीम अनुकंपा से आज हमें जिनवाणी श्रवण करने का अवसर प्राप्त हुआ है। इस ग्रंथ में कुल 653 गाथाएँ हैं, जिसमें 391 लब्धिसारकी गाथाएँ हैं जो कि 109 गाथाओं में प्रथमोपशम लब्धि (सम्यक्त्व) का विशद विवेचन किया है। उसके पश्चात् उपशम सम्यक्त्व में 5 लब्धियाँ (क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना प्रायोग्य, करण) उनका विशद विवेचन बंधापसरण, स्थिति काण्डक घात, अनुभाग काण्डकघात, गुणश्रेणी निर्जरा, गुण संक्रमण, अन्तरकरण आदि का विवेचन किया गया है। द्वितीय अध्याय 110 से 166 गाथाओं में क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्ति की विधि उसका कर्ता आदि का व्याख्यान है क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्ति में सर्वप्रथम कर्मभूमि का मनुष्य द्रव्य से पुरुष भाव से तीनों वेद वाला पर्याप्त सम्यक्त्व योग्य काल को प्राप्त कर लिया है जिसने ऐसा साकारोपयोगी सर्वप्रथम तीन करण करके अनंतानुबंधी की विसंयोजना करता है। यद्यपि अनंतानुबंधी की विसंयोजना चारों गतियों में कर सकता है (नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव) लेकिन यहाँ क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्ति का प्रकरण है इसलिए कर्मभूमि का मनुष्य कहा है। अनंतानुबंधी की विसंयोजना के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त विश्राम करके पुन: तीनकरण करके क्रमश: मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व का क्षय करके कृतकृत्य वेदक होकर मरण भी कर सकता है और मरण करके यदि प्रथम भाग में मरा है तो नियम से देव गति में ही उत्पन्न होता है द्वितीय भाग में मरता है तो देव और मनुष्य गति को प्राप्त होता है और यदि तृतीय

भाग में मरता है तो देव, मनुष्य तिर्यंच गति में तथा चतुर्थ भाग में मरता है तो चारों गतियों में उत्पन्न हो सकता है। इसलिए क्षायिक सम्यक्त्व का प्रतिष्ठापक केवल मनुष्य ही होता है किंतु निष्ठापक चारों गति में अर्थात् दूसरे भव में भी निष्ठापक हो सकता है। उसी भव में भी निष्ठापक हो सकता है। एक और आवश्यक कार्य है कि क्षायिक सम्यक्त्व का प्रतिष्ठापक केवली श्रुतकेवली के पादमूल में ही होता है। इस प्रकार क्षायिक सम्यक्त्व का विशद् विवेचन किया गया है। गाथा 168 से गाथा 204 तक चारित्र लब्धि अधिकार है यहाँ पर देशसंयम व सकलसंयम की प्राप्ति व विधि बतलाई है यदि प्रथमोपशम सम्यक्त्व के साथ चारित्र लब्धि प्राप्त करता है तो तीन करण करके ही प्राप्त करता है और यदि क्षयोपशम या क्षायिक सम्यक्त्व के साथ क्षयोपशम चारित्र प्राप्त करता है तो अध:करण व अपूर्वकरण ये दो ही करण करके प्राप्त करता है इस प्रकार चारित्र लब्धि का कथन किया गया है। यहाँ एक और प्रसंग उपलब्ध होता है कि कोई उपशम सम्यग्दृष्टि या वेदक सम्यग्दृष्टि यदि मिथ्यात्व को प्राप्त होकर अपने वेदक योग्य काल में वेदक सम्यक्त्व को प्राप्त करता है तो बिना करण किये ही प्राप्त करताहै, यद्यपि ऐसा प्रसंग लब्धिसार ग्रंथ में उपलब्ध नहीं होता किंतु कषाय पाहुड़ ग्रंथ में जब सम्यक्त्व व सम्यग्मिथ्यात्व की स्थिति को जाना गया तो अन्तर्मुहूर्त कम 70 कोड़ाकोड़ी सागर प्राप्त होती है जो कि बिना अपूर्वकरण के ही प्राप्त हो सकती है अपूर्वकरण के बाद तो अन्त:कोड़ाकोड़ी ही होती है। इससे सिद्ध है कि बिना करण के ही क्षयोपशम सम्यक्त्व प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार अनेक रोचक प्रसंग इस अध्याय में हैं। तीन प्रकार के परिणाम स्थान अर्थात् प्रतिपात, प्रतिपद्यमान अप्रतिपातरूप परिणाम स्थानों का विवेचन इस अध्याय में प्राप्त है। जघन्य, उत्कृष्ट, मध्यम आदि के भेद से स्थान भी कई प्रकार के हो जाते हैं।

आगे के चतुर्थ अध्याय में चारित्र मोहनीय की उपशामना का कथन है। यहाँ यदि वेदक सम्यक्त्व वाला साधु मोहनीय कर्म की अट्ठाईस प्रकृति की सत्ता वाला है तो वह सर्वप्रथम तीन करण करके अनंतानुबंधी की विसंयोजना करता है पश्चात् अंतर्मुहूर्त विश्राम करता है पुन: तीन करण करके द्वितीयोपशम सम्यक्त्व अर्थात् सम्यक्त्व प्रकृति का उपशम करता है पश्चात् सामान्य अवस्था को प्राप्त हो हजारों बार छटवें सातवें गुणस्थान में परावर्तन करके उपशम श्रेणी आरोहण करताहै। इसके पश्चात् यदि अनंतानुबंधी का विसंयोजक पूर्व से ही है अर्थात् मोहनीय की 24 प्रकृति की सत्ता वाला है तो वह तीन करण करके सम्यक्त्व प्रकृति का उपशम करके द्वितीयोपशम वाला होता है, यदि क्षायिक सम्यग्दृष्टि है तो वह सीधा उपशम श्रेणी माँड़ता है। क्षायिक सम्यग्दृष्टि दोनों श्रेणी माँड़ सकता है। सर्वप्रथम अध:करण सातिशय गुणस्थान में ही करता है यहाँ किसी भी कर्म का उपशम नहीं होता मात्र अनंतगुणी विशुद्धि बढ़ती है स्थितिकाण्ड, अनुभाग काण्ड, गुणश्रेणी व गुण संक्रमण भी नहीं होते हैं। पश्चात् अपूर्वकरण (आठवें) गुणस्थान को प्राप्त होता है यहाँ भी किसी कर्म का उपशम नहीं होता लेकिन पूर्व में कहे गये गुणश्रेणी आदि चार आवश्यक कार्य प्रारंभ हो जाते हैं। इस प्रकार हजारों स्थिति काण्डक उनसे हजारों गुणे अनुभाग काण्डकों को बिताकर अनिवृत्तिकरण में प्रवेश करता है वहाँ संख्यात बहुभाग बिताकर क्रमश: तीनों वेदों व तीनों प्रकार के क्रोध, मान व माया का उपशम बिना कृष्टियों के करता है मात्र लोभ कषाय में कृष्टियों की रचना करके सम्पूर्ण लोभ कषाय को उपशमाकर उपशांत मोह गुणस्थान में प्रवेश कर उपशांत मोह होता है। इस प्रकार उपशम श्रेणी का विवेचन किया है गाथा 205 से 307 गाथा तक उपशम श्रेणी का काल, कर्मबन्ध में स्थिति अनुभाग प्रदेश बन्ध का कथन आदि विस्तार से किया है। पश्चात् गाथा क्रमांक 308 से गाथा 391 तक उपशम श्रेणी से पतन का विधान कहा है इस प्रकार लब्धिसार में 391 गाथाएँ उपलब्ध होती है क्षपणासार में 260 गाथाओं में कर्मक्षय का विवेचन कर केवली होकर निर्वाण को प्राप्त कराया है इस प्रकार हम आभारी हैं आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती के जिन्होंने ऐसे महान ग्रंथ का निर्माण कर जन जन के लिए उपयोगी बनाया है।

ऐसे महान ग्रंथ का यद्यपि पठन पाठन का प्रचलन समाज में कम है क्योंकि अत्यंत जटिल होने के कारण जन सामान्य से अछूता सा रह जाता है। परन्तु कई मुनिराज कई विद्वान आज इसके पठन पाठन में संलग्न हैं कई मुनिराज, आचार्य परमेष्ठी,

आर्यिका माताजी, विद्वान लोग टीकाएँ करके विषय को सरल करने में संलग्न हैं। कई गोष्ठियाँ भी होती हैं ऐसी ही ग्रंथराज लब्धिसार पर लालघाटी भोपाल में दिनांक 2.10.2024 से 6.10.2024 तक परम पूज्य उच्चारणाचार्य श्री 108 विनम्रसागर जी गुरुदेव के ससंघ सानिध्य में व मुनि विज्ञसागर जी के निर्देशन में डॉ. श्रीमती नीलम जैन सर्राफ के कुशल संयोजकत्व में तथा नंदीश्वर दिगम्बर जैन मंदिर कमेटी तथा खरौआ समाज के आयोजकत्व में सानंद सम्पन्न हुई। जिसमें अनेकानेक विद्वानों ने अपने सार गर्भित आलेखों का वाचन किया उनमें मुनि विज्ञसागर के द्वारा आत्मोत्थान का क्रमिक विकास (उपशम श्रेणी) पर आलेख वाचन हुआ। मुनि श्री विनुतसागर–सासादन सम्यक्त्व, आर्यिका विमलश्री माताजी गुणश्रेणी निर्जरा, आर्यिका विनेहश्री माताजी बंधापसरण, आर्यिका विपुलश्री माताजी सात या पाँच प्रकृति का उपशम अनंतानुबंधी का उपशम, आर्यिका विमुदश्री माताजी का तीन करणों की अवधारणा पर अत्यंत सारगर्भित उद्बोधन प्राप्त हुआ। ब्र. अनिल प्राचार्य जयपुर–अपूर्वकरण अनिवृत्तिकरण परिणामों में विशेषता व होने वाले कार्यों पर सारगर्भित आलेख का वाचन किया, बा.ब्र. प्राची दीदी ने सकल संयम लब्धि व बा.ब्र. लवी दीदी ने आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती का व्यक्तित्व–कृतित्व, डॉ. सुदर्शनलाल जी भोपाल ने संक्रमण पर आलेख वाचन किया तथा प्रतिष्ठाचार्य पं. विमलकुमार सौंरया ने भी सारगर्भित उद्बोधन दिया पश्चात् डॉ. नीलम जैन सर्राफ ने वर्तमान में करणानुयोग की उपयोगिता पर प्रकाश डाला। डॉ. अशोक कुमार जैन वाराणसी उपशम सम्यक्त्व, डॉ. सुरेन्द्र भारती लब्धिसार ग्रंथ के विविध संस्करण, डॉ. हरिशचन्द्र शास्त्री ने प्रथमोपशम सम्यक्त्व के सम्मुख जीव के प्रकृति प्रदेश बन्ध पर प्रकाश डाला। प्रतिष्ठाचार्य पं. पवन कुमार दीवान ने लब्धि का स्वरुप व महत्व डॉ. श्रीमती अल्पना अशोक ग्वालियर ने अन्तरकरण का स्वरूप व होने वाले कार्य तथा मोहनीय कर्म के तीन टुकड़े विषय को लेकर अत्यंत सारगर्भित विवेचना की। पं. राजकुमार शास्त्री सागर ने अनंतानुबंधी की विसंयोजना पर अपना आलेख प्रस्तुत किया। पं. आलोक मोदी ललितपुर ने देश संयम लब्धि तथा उसके प्राप्ति के उपाय तथा डॉ. शैलेन्द्र जैन बांसवाड़ा ने लब्धिसार में करण लब्धि और उसका महत्व तथा और भी अनेक लोगों ने डॉ. पंकज जैन, महेश सतना तथा अन्य विद्वानों के आलेख किन्हीं व्यवस्तताओं के रहते प्राप्त नहीं हो सके हैं उन्होंने अपने अपने सार गर्भित उद्बोधनों से अखिल भारती विद्वत संगोष्ठी को ऊचाईयों तक पहुँचाया। इन सभी के प्रति मंगल कामना, आशीर्वाद तथा इसके पश्चात् पूज्य गुरुदेव ने सभी आलेखों की समीक्षा करते हुए सभी वक्ताओं के प्रति आशीर्वाद स्वरूप वक्तव्य दिया जो आगे प्रस्तुत है और इस पुस्तक के संपादन में आर्यिका विमलश्री माताजी, आर्यिका विनेहश्री माताजी का सहयोग प्राप्त हुआ तथा अन्य महाराजों माताजियों का सहयोग प्राप्त रहा है। संकलन का कार्य आर्यिका विपुलश्री माताजी, विमुदश्री माताजी ने बड़ी लगन व मेहनत से किया है उनके लिए मंगल आशीर्वाद तथा जिन–जिन महानुभावों ने इस पुस्तक में अपना द्रव्य सहयोग किया है उनके लिए तथा जिन्होंने परोक्ष में/प्रत्यक्ष में जो भी सहयोग दिया है उनके लिए मंगल आशीर्वाद शुभकामना।

यह पुस्तक आपके कर कमलों में प्रदत्त की जा रही है मात्र इस भावना के साथ आप इसका अध्ययन कर सम्यक्त्व को प्राप्त करें तथा सकल संयम प्राप्त कर निर्वाण की यात्रा को पूर्ण करें।

अन्तस की झंकार

प.पू. उच्चारणाचार्य श्री विनम्रसागर जी महामुनिराज

सभी के अध्ययनशील मत और सभी के अध्ययनशील विचार लब्धिसार। लब्धि का मतलब प्राप्ति, सार माने मूलभूत वस्तु इसके बाद कुछ नहीं अन्तिम वस्तु की प्राप्ति इसी का नाम है लब्धिसार। हमारे जीवन में अंतिम कौन सी वस्तु की प्राप्ति हो ये भी लब्धि है। सभी विद्वान अपनी अपनी बात और आलेख लेकर के आते हैं बहुत मेहनत करते है पुरुषार्थ करते हैं पढ़ते हैं, लिखते है और आकर के अपनी बात कहने का भाव रखते हैं समय के अभाव से पूरा कह नहीं पाते यह हर एक वक्ता की शिकायत रहती है, समय पूरा होता नहीं है और बात कहनी होती है, इसलिए सभी लोग अपने अपने विचार शॉर्ट में रखते है हमारे बीच में **डॉक्टर सुरेन्द्र जी भारती सहारनपुर** से है उन्होंने बहुत अच्छा आलेख बताया लोक अलोक का विभाग करना जो कि **करणानुयोग** का विषय है। चतुर्गति का विवेचन, कर्म प्रकृतियों का विवेचन, तत्त्वों का ज्ञान, उपशम क्षयोपशम क्षायिक सम्यग्दर्शन, औदयिक भाव पारिणामिक भाव ज्ञायक स्वभावादि बहुत सारी विवेचना की, अगर हम ही करे तो महीनों लगे और उन्होंने पाँच मिनिट में अपनी बात कह करके शॉर्ट में अपनी विद्वत्ता का परिचय दिया। मैं एक बात बताऊँ मैं बहुत छोटा था अपने पिता श्री की डायरी पढ़ा करता था। सहजानंद वर्णी क्षुल्लक जी हुए जो **करणानुयोग** से बहुत प्रेम रखते थे और **करणानुयोग** की बहुत क्लास लगाते थे चौबीस ठाणा की और अन्य बहुत क्लास लगाते थे। पिताजी की डायरी के पहले ही पेज पर लिखा था जैन दर्शन की नींव है **करणानुयोग**। अगर वो नहीं तो कुछ नहीं बाकी सब हवामहल है, जैनदर्शन की नींव है तो **करणानुयोग** है। सबसे पहले हमने अपने पिता श्री से यही कहा था कि मुझे और कुछ ना पढ़ाए सबसे पहले **करणानुयोग** पढ़ाए और उन्होंने हमें सबसे पहले करणानुयोग पढ़ाया कहने का मतलब यह है कि **करणानुयोग** का अध्ययन कर लिया, तो मुझे लगता है आप किसी भी शास्त्र का अध्ययन करिए किसी भी किताब का अध्ययन करो आप जैनदर्शन से भटक नहीं सकते। अगर आपके पास करणानुयोग नहीं है तो आप महाराज भी बन जाए तो भी कभी भी भटक सकते है। करणानुयोग है तो उस व्यक्ति को कोई भी नहीं भटका सकता, किसी भी क्षेत्र से नहीं भटका सकता, किसी भी तर्क से कोई भी ज्ञान से भटका नहीं सकता, क्योंकि उसे सारे निर्णय मालूम है उसे सिद्धांत का ज्ञान है और सिद्धांत का ज्ञान होने पर व्यक्ति भटक नहीं सकता। एक बार मैंने दो लाइने पढ़ी थी आचार्य विद्यासागर महाराज जी ने पद्यानुवाद किया है ''वह है सिद्धांत के मनन से मन हाथ आता, विज्ञान भानु उगता तम को मिटाता '' ये सिद्धांत है और अगर सिद्धांत नहीं है तो फिर आप विशेष ज्ञान को प्राप्त भी नहीं हो सकते। **डॉक्टर सुधा मलैया जी** ने शिवम् शुद्ध बुद्धम् परम् विश्वनाथं चिदानंद रूपं नमो वीतरागं बहुत अच्छा मंगलाचरण गाया और उसके बाद उन्होंने चन्द्रगुप्त मौर्य का विवेचन किया बहुत अच्छी बात लगी कि चन्द्रगुप्त मौर्य किस तरह से तपस्या करके और उन्होंने वहाँ सल्लेखना प्राप्त की यद्यपि हम अभी गोमटेश्वर गए नहीं तो हमने चन्द्रगिरी देखी नहीं है जब देखेंगे तब हम भी उसका अनुभव करेंगे कि उन्होंने कैसे सल्लेखना और समाधि की होगी। **आर्यिका विपुलश्री माताजी** ने लब्धि के विषय में बताया देशनालब्धि, विशुद्धि लब्धि आदि-आदि बताया तो हम ये कहे कि लब्धि सार ग्रंथ को पढ़ने का अभिप्राय मात्र इतना है कि हम अपने परिणामों में बदलाव लाकर के किसी भी तरह पाँचवी लब्धि पर पहुंचने का प्रयास करे। क्षयोपशम, देशना, विशुद्धि और प्रायोग्य लब्धि अभव्य और मिथ्यादृष्टि के भी हो जाती है अंतिम लब्धि है करण लब्धि बस इसे ही प्राप्त करने का प्रयास हमेशा होना चाहिए। हमारे **ब्र. विनोद भैया जी** पूछ रहे थे कि लब्धि सहज है या पुरुषार्थ है प्रारंभ में पुरुषार्थ रूप में है और बाद में सहज रूप में है प्रारंभ में हर कार्य में पुरुषार्थ किया जाता है। आप साइकिल भी चलाना सीख रहे हो तो प्रारंभ में पुरुषार्थ है बाद में हाथ छोड़कर चलती है यह सहज है। हर चीज में पहले पुरुषार्थ है फिर सहज है इसलिए पुरुषार्थ भी आवश्यक है और बाद में सहज बन जाती है। लब्धिसार का विवेचन बहुत ही महत्वपूर्ण है कठिन जरूर है लेकिन आपके लिए सरल होगा क्योंकि जब आप बैठेंगे तो आपको सरलता से भी समझाया जाएगा कि लब्धि क्या होती है? लब्धि माने प्राप्ति और सार माने एसेंस मूलभूत वस्तु जैसे

दूध में मूल वस्तु क्या है? दूध में मूल वस्तु घी है, ऐसे ही हमारे जीवन में मूल वस्तु ज्ञान है। अगर वो हमें प्राप्त हो गया तो हमें दुनिया की कोई भी वस्तु प्राप्त करने की जरूरत नहीं है और सारी वस्तुऐं पा ली तो भी हमें ज्ञान पाने की जरूरत है इसलिए ज्ञान मूल वस्तु है, सार है। उसमें भी कहा है ''णाणं णरस्स सारो, सारो णरस्स होई सम्मत्तं'' अभी बता रहे थे ''आदा णाण प्रमाणं'' ज्ञान प्रमाण आत्मा है तो हम ये कहते है ज्ञान ही मुख्य है। जब तक ज्ञान प्राप्त नहीं होगा तब तक आपका चलना भी सार्थक नहीं होगा आप कितना भी चलिए और ज्ञान है तो थोड़ा चलना भी सार्थक है और ज्ञान नहीं है तो हजारों मील भी चलना सार्थक नहीं है। लब्धिसार में क्षयोपशम बढाने के लिए एक विशेष लब्धि को प्राप्त करने के लिए हमें प्रयास करते रहना चाहिए और पुरुषार्थ करना चाहिए। लब्धिसार ग्रंथ का अध्ययन जरुर करना चाहिए घर में शास्त्रों का होना बहुत जरुरी है वो इसलिए ना जाने कौन से ग्रंथ को पढ़कर के तुम्हारे मन में परिवर्तन आ जाए। जो कि मेरे जीवन में आया जब मैंने एम.कॉम. कर ली और एम.कॉम. करने के बाद जब फ्री हो गए और जैसे ही फ्री हुए अप्रैल के महीने में एग्जाम देकर के एकदम फ्री हो गए अब क्या करें सर्विस तो पहले से ही लगी थी अब क्या करना चाहिए तो सामने शास्त्र रखे हुए थे बहुत सारे तो पिताजी ने कहा यही पढ़ो फिर हमने कहा चलो यही पढ़ते है और फिर हमने अध्ययन करना चालू किया और दो महीने में ही विचार परिवर्तित हो गए। अभी तक यह विचार था कि मुझे आगे यह बनना है, ऐसा करना है और अब दो महीने बाद यह विचार था कि मुझे कुछ भी नहीं करना है, देखो शास्त्र को पढ़कर के क्या विचार आया दो महीने बाद यह विचार आया कुछ भी नहीं करना है और हुआ ये कि एम.कॉम. में टॉप होने के बाद भी हम कॉलेज डिग्री उठाने भी नहीं गए कौन लेने जाए जब हमें जरूरत ही नहीं और सर्विस में भी बडी धोस दिखाते थे कहते थे कराना है कराओ नहीं कराना तो मत कराओ। लोग हाथ जोड़ते है पर मैंने सर्विस के लिए कभी भी नहीं जोड़े तो कहने का मतलब ये भाव कैसे आया, यह शास्त्र को पढ़ के ही भाव आया तो हम ये कहे घर में शास्त्र जरुर होना चाहिए। अध्ययन करके कब हमारा मन परिवर्तित हो जाए, कब हम सही मार्ग पर आ जाए इसका भरोसा नहीं है। आज लब्धिसार में सभी ने अपने अपने वक्तव्य यहाँ रखे है सभी विद्वानों ने अपनी-अपनी बात रखी उन्होंने बहुत मेहनत की है मेरा उनके लिए और समाज के लिए, सभी विद्वानों के लिए और सभी श्रोतागण के लिए सबके लिए खूब आशीर्वाद है सब लोग बहुत अच्छी तरह इसका पठन करे और सुन सुन करके पढ़ने का भाव जागृत हो जाए और अपने जीवन को मंगलमय बनायें। जय बोलो परम पूज्य आचार्य श्री विरागसागर जी गुरुदेव की जय।

क्षण में परिणाम बदलते हैं फिर भी परिणामों को बदलने वाला अपने परिणामों को नहीं समझ पाता विचार करें उपशम श्रेणी मुनिराज मांड़ते हैं। उपशमश्रेणी पर चढ़ते है गिरते है लेकिन वे मुनिराज उपशम श्रेणी का विवेचन नहीं कर सकते। उनका विवेचन किया है अरिहंत भगवान ने क्षपक श्रेणी पर चढ़ने वाले मुनिराज क्षपक श्रेणी का विवेचन नहीं कर सकते उनका विवेचन कर सकते हैं अरिहंत भगवान। चढता कोई और है और बताता कोई और है उन्हें खुद नहीं मालुम हम कौन से विचारों से चढ़ गए और कौन से विचारों से उतर गए परिणामों कि बड़ी विचित्रता है। अभी हम ही बैठे है हमारे ही परिणामों में आपको क्या मालुम कौन-कौन से परिणाम आ गये लेकिन मुझे भी जो मालूम है वे स्थूल मालूम है सूक्ष्म परिणाम हम अपने भी नहीं जान सकते उत्कृष्ट का विवेचन हम नहीं जान सकते यह श्रद्धाननीय है इन पर श्रद्धान करना चाहिए और सूक्ष्म है यह भी मानना चाहिए और उत्कृष्ट है यह भी मानना चाहिए। हम भले ही समय को ना जान सके लेकिन एक समय भी है सबसे छोटा है यह भी जानना चाहिए। आपने 200 पान के पत्ते लिऐ और 200 पान के पत्ते में एक सुई लगाई एक सैकंड में सुई नीचे आ गई बताइए पहले एक पान के पत्ते में समय कितना लगा सुई तो 200 पान के पत्ते में एक सैकंड में चली गई और नीचे आ गई अब कहाँ जान पा रहे कि पहले पान के पत्ते पर प्रत्येक पान के पत्ते पर सुई जाने में कितना समय लगा हम नहीं बता सकते ना हम जान सकते है लेकिन समय लगा है यह भी सही है ऐसा नहीं है जो समय पहले पर लगा है वो दूसरे पर नहीं लगा है सब पर अलग अलग समय लगा है लेकिन फिर भी हम उसका विवेचन नहीं कर सकते हम उनको जान सकते है कि प्रत्येक पर अलग-अलग समय लगा है लेकिन फिर भी वो समय की इकाई है और फिर भी वो एक समय पर नहीं पहुंचे है अभी अभी भी एक पत्ते पर एक समय पर नहीं पहुंचे

समय की इकाई उससे भी बहुत छोटी है इसलिए कह सकते है हम अपने परिणामों को भी इतनी विशेषता से नहीं जान सकते हमारे परिणाम को बताने के लिए कोई भी दूसरा है और दूसरे के परिणाम हम बता नहीं सकते और हम अपने परिणाम को भी जान नहीं सकते मेरे परिणाम को बताने के लिए भी हमें भगवान से पूछना पड़ेगा। भगवान हम यहाँ मंच पर बैठे थे तब कौन-कौन से परिणाम हुए थे तब भी हमें पूछना पड़ेगा और वो बताएंगे कि यह-2 परिणाम हुए थे और हम स्थूल स्थूल तो समझ लेंगे लेकिन सूक्ष्म को उनसे ही हमें मानना पड़ेगा। जैसे आलू में जीव होते हैं हमे दिखते नहीं है लेकिन फिर भी हमें भगवान की वाणी के अनुसार स्वीकार करना है इसी का नाम श्रद्धान है और कहा था कि वो श्रद्धान इसी का नाम जो हम जान नहीं सकते, जिसको हम देख नहीं सकते लेकिन तर्क से उसको स्वीकार किया जा सकता है। जो हम आंखों से नहीं देख सकते, जो हम ज्ञान से समझ भी नहीं सकते लेकिन उसको तर्क से जान सकते हैं। **महेश जी** ने बताया कि मति-श्रुतज्ञान का विषय संख्यात, अवधिज्ञान मन:पर्यय ज्ञान का विषय असंख्यात, केवलज्ञान का विषय अनंतानंत है। केवलज्ञान अविभागी प्रतिछेद को जानता है सबको जानता है सबसे बड़ा जानता है सबसे बड़ा जो जानेगा वो छोटे को भी जान लेगा। अब उसमें सब समा गए सारे अनंत आ गऐ इसलिए केवलज्ञान के विषय में सब आ गए और अगर अनंतानंत नहीं जानता होगा तो सारे अनंत उसमें समाहित नहीं होते। 2000 के नोट में 1500 रुपये भी है, 1000 भी है, 500 भी है, 200 भी है पर 2000 जानने वाला होना चाहिए वो सबको जानता है लेकिन जिस पर 1000 ही है अब वो 2000 को कैसे जानेगा इसलिए केवलज्ञान अनंतानंत का विषय है इसलिए उसमें सब कुछ झलकता है। अनंतानुबंधी कषाय जब हमारे अंदर होती है तो हम सम्यक्त्व को ग्रहण नहीं कर सकते, अप्रत्याख्यानावरण कषाय होती है तो हम देशसंयमी नहीं बन सकते, प्रत्यख्यानावरण कषाय होती है तो हम मुनि नहीं बन सकते और संज्वलन कषाय होती है तो हम केवलज्ञान को प्राप्त नहीं कर सकते। जब तुम्हारे अंदर हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह के त्याग के परिणाम ना हो तो समझ लेना चाहिए अप्रत्याख्यानावरण कषाय हमारे अंदर विराजमान है ये हमे आगे बढने के लिए मजबूर करके आगे बढ़ने नहीं दे रही है और जब तुम्हारे अंदर देव-शास्त्र-गुरु पर श्रद्धान के विचार ना आए तो समझना चाहिए अनंतानुबंधी तो है ही जो हमें रोक रही है। आखिर कौन रोक रहा है किसने कहा था कि तुम देव-शास्त्र-गुरु पर श्रद्धान ना करो किसने कहा आज तक किसी भी माँ-बाप ने किसी भी बड़े व्यक्ति ने यह नहीं कहा कि तुम इस पर श्रद्धान ना करो, फिर भी हम नहीं करे तो कौनसी कषाय पीछा कर रही है। अनंतानुबंधी और अनंतानुबंधी को समझना तो सरल है लेकिन अब समझने के लिए भी तो अनुभव चाहिए कि हम अनंतानुबंधी को क्या समझ ले। अनंतानुबंधी क्रोध तो सबको समझ में आता है, मान भी थोड़ा-थोड़ा समझ में आ जाता है, लोभ किसी को समझ में नहीं आता। घर को, परिवार को, व्यापार को अथवा अन्य वस्तु को हम कितने कितने दिन से अपना स्वीकार करते रहे हैं इसके बारे में किसी को नहीं मालूम यही अनंतानुबंधी बैठी है। छह महीने तो गुजर ही गए छ: साल गुजर गए, 50-50 साल गुजर गए घर को अपना कहते-कहते। अनंतानुबंधी क्रोध ही समझ में आता है लोभ तो समझ में ही नहीं आता और लोभ सबके पास है, लोभ सबके पास बैठा हुआ है जीने का लोभ, मारने का लोभ, ना जाने कितने लोभ है धन का लोभ, परिवार का लोभ, लोभ के कारण ही तो सारे पाप है। हाँ यह बात जरूर है कि हमारे विद्वान लोग इतनी मेहनत करके एक ग्रंथ का पूरा अध्ययन करके तुम्हें तीन दिन में पूरा सुनाने आए और तुम कहो हमारे पास तीन दिन का भी समय नहीं है तो पढो 30 साल लगेंगे और 30 साल में भी समझ में नहीं आएगा और वो तीन दिन में अपनी बात को समझाने आए है। ये तो बात बिल्कुल सही है शास्त्र मिलने से किसी को समझ में नहीं आता, खूब पढ लो जब तक कोई पढाने वाला ना हो कुछ भी समझ में नहीं आता। हमने जब उर्दू की किताब मंगाई और हमने कहा हम उर्दू पढेंगे और किताब मंगा ली हमने फर्स्ट, सैकंड, थर्ड सब मंगवा ली, अब मंगा तो ली अब देखे तो समझ में ही नहीं आए कि क्या बना हुआ है जब एक उर्दू वाले को बुलाया और उससे पूछा तब उसने हमें एक महीने तक उर्दू पढ़ाई तब समझ में आई। तब आई समझ में इस किताब की कोई कीमत नहीं है कीमत है तो गुरु की है यह किताब ना हो तो भी तुम्हें गुरु पढ़ा सकता है और किताब हो तो भी तुम नहीं पढ़ सकते। किताब की कोई जरूरत नहीं है गुरु की जरूरत है। महेशचन्द्र जी बात सुनिए यह किताब तो बहुत से बहुत 500

रुपया की मिल जाएगी आप इनकम टैक्स की किताब खरीदिए बहुत से बहुत हजार रुपया में आ जाएगी लेकिन पढ़ाने वाला 15 लाख रुपया लेता है उसी किताब को पढ़ाने के एक साल के और तब भी वो पूरी पढ़ाता नहीं है तो कीमत तो पढ़ाने वाले की है किताब की कहाँ कीमत है इसलिए हम ये कहे गुरु की बहुत कीमत है वो एक एक परिणाम को समझाते हैं और हमारे विद्वान इतनी मेहनत करके यहाँ आलेख लिख करके लाते हैं पूरा बेचारे पढ़ नहीं पाते तो कितनी अंदर कसक रह जाती होगी यह तो वही जानते हैं अभी **महेश जी** विवेचन कर रहे थे धवला जी पुस्तक नम्बर तीन की उसकी प्रस्तावना ही पढ़िए कितनी लंबी प्रस्तावना है तीन, चार पेज पढ़िए उसमें सब समझ में आ जाएगा। 150 अंकों की संख्या को कैसे पढ़ा जाए और 29 अंक की संख्या को कैसे पढ़ा जाए? महाराज जी जो 29 अंक की संख्या को पढ़कर के बताइए तो हमने फिर उन्हें पढ़ करके बताई पूरा समझाया इसको ऐसे-ऐसे पढ़ा जाएगा जबकि शंख तक तो 19 अंक होते है और वो 29 अंक थे फिर भी हमने उन्हें उसी लौकिक कांउटिंग में ही पढ़ करके बताई इसको ऐसे पढ़ा जाएगा तो पढ़ने के भी तरीके होना चाहिए और हमें अगर गणित नहीं आता है तो निश्चित मानिए कभी-कभी हम चिंतन करते हैं वो कैसे त्रिलोकसार को समझ पाएगा। एक बहुत बढ़िया चिंतन किया वह चिंतन सुनिए प्रथमोपशम सम्यक्त्व जब होता है तो मिथ्यात्व के द्रव्य को प्रथमोपशम सम्यक्त्व कहाँ पटकता है कहाँ ले जाएगा मिथ्यात्व के द्रव्य को कहाँ पटकेगा सम्यक्त्व प्रकृति में ले जाएगा, सम्यक्त्व मिथ्यात्व प्रकृति में ले जाएगा उपशम सम्यक्त्व होने में अंतर्मुहूर्त लगा और अंतर्मुहूर्त में उसने मिथ्यात्व के द्रव्य को दोनों खाते में पहुँचा दिया लेकिन लौटाने में पल्योपम का असंख्यातवां भाग लग गया, ले जाने में अंतर्मुहूर्त लगा और अरबों वर्ष लौटाने में लग गया। तब समझते है क्या परिणाम की गति है एक आत्म द्रव्य का परिणाम किया शुद्ध तत्त्व का परिणाम किया तो उसने अंतर्मुहूर्त में फेंक दिया और लाने में अरबों खरबों तो बहुत कम है असंख्यात वर्ष लग गए। परिणामों की विचित्रता अलग ही है हम बैठे-बैठे विचार कर रहे थे अंतर्मुहूर्त में पलट दिया ऐसे ही हमने अनंत वर्षों में, असंख्यात वर्षों में जो कर्म अर्जित किए हैं वे भी तीन मिनट में साफ हो सकते हैं। जब क्षपक श्रेणी माड़ी जाए और केवलज्ञान प्राप्त किया जाए तो तीन मिनट में भी सारे कर्म धारासाही हो जाते हैं और केवलज्ञान प्राप्त हो जाता है। सब परिणामों का खेल है इन्हीं परिणामों को लब्धिसार में बताया है और सर्वभूत तत्त्व को प्राप्त करने का मार्ग बताया है सार एसेंस सब्सटेंस वस्तु को जो एसेंस है उसको प्राप्त करने का तरीका बताया है। लब्धिसार में लब्धि माने प्राप्ति, सार माने एसेंस बताया कैसे प्राप्त हो बस उसका जो परिणाम है उस परिणाम तक पहुंचने का तरीका सभी विद्वान ने अपने अपने ढंग से बताया। **पंडित जी सुदर्शनलाल जी** संक्रमण की बात कह रहे थे संक्रमण बहुत सरल है समझना, जैसे की प्रॉफिट को लॉस में संक्रमण करना, लॉस को प्रॉफिट में करना, पुण्य को पाप में करना पाप को पुण्य में। लॉस प्रॉफिट जल्दी समझ में आ जाती है बाकी और चीजें कम समझ में आती है तो ये तो हमारा व्यापार है ना इसलिए जल्दी समझ में आ जाता है इसलिए संक्रमण हमें बड़े आराम से समझ में आ जाता है। क्षपक श्रेणी वाला उपशम श्रेणी वाला खुद नहीं बता सकता कि हमने कौन से परिणाम किए थे जिसे उपशम श्रेणी हुई वो खुद नहीं बता सकता वौ लौट के भी आ जाए, 11वें गुणस्थान से लौट के छठवें गुणस्थान में भी आ जाए तो भी, आप उससे पूछिए आप बताइए कौन सा परिणाम किया तो वो कहेंगे मुझे नहीं मालूम कि कैसे परिणाम किए। उन्हीं ने किया था और वो ही नहीं बता सकते अब वो कहेंगे भैया गौतम भगवान से ही पूछो गौतम भगवान भी नहीं बताएगे इसको तो सिर्फ केवलज्ञानी बता सकेंगे क्योंकि उनके पास अनंतानंत ज्ञान का विस्तार है और वो उसके माध्यम से सारे परिणामों को बता सकते हैं इसलिए हम यह विवेचन सुन रहे है यह हम सभी का बहुत सौभाग्य है कि ऐसे ग्रंथ की विवेचना सुन रहे हैं और सारे विद्वान हमारे यहाँ विराजमान है समझिये पूरे हिन्दुस्तान की बढ़िया-बढ़िया क्रीम आ गई सारे विद्वान अपने अपने आलेख लेकर आते हैं तो मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है। कम से कम और समय में पढ़े या ना पढ़े जब इन्हें कोई टॉपिक मिल जाता है तब जरूर पढ़ते हैं और खूब अध्ययन करते हैं एक-एक चीज देखते हैं इसमें से कौन सी विशेषता की चीज है जिसको हम सामने रखेंगे तो कहने का मतलब यह है हम सभी लोग उन आलेखों को सुन रहे हैं उन विवेचना को सुन रहे हैं उन परिणामों को समझ रहे है और अपने परिणामों को समझने का प्रयास भी कर रहे हैं ऐसा प्रयास ही सारभूत वस्तु को पाने के लिए सार्थक है

और ऐसा प्रयास हम सभी को करना चाहिए।

तीन करण की चर्चा- **आर्यिका विमुदश्री माताजी** जिन्होंने लब्धिसार, त्रिलोकसार जैसे करुणानुयोग के महान ग्रन्थों को हृदयंगम करके श्रेष्ठ व्यक्तित्व का परिचय देते हुए उन्होंने अध:करण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण की सार गर्भित चर्चा की करण हुए क्यों, करण किये किसने, करण कौन से विचार से हुए इस पर भी तो विचार करना है। मुझे लगता हैं-विशुद्ध परिणाम से विशुद्धि द्वारा हुए तो फिर एक प्रश्न खड़ा हुआ विशुद्धि क्या हैं। बार-बार विशुद्धि शब्द आ रहा हैं ये विशुद्धि हैं क्या? हम आँख बंद करके बैठे, ध्यान करें तो विशुद्धि हो नहीं-नहीं, ध्यान नहीं करें तो भी विशुद्धि हो सकती है। अगर ध्यान करने से ही विशुद्धि होती तो चौथे गुणस्थान में कहाँ, श्रावक तो विकल्पों में उलझा हुआ है निर्विकल्प होता ही नहीं है और फिर भी वो करण करता हैं। ये बात नहीं हैं विशुद्धि से करण होते हैं। यह बात सही हैं तो विशुद्धि फिर क्या चीज है तो समझिए-बाहर कि वस्तुओं में अपनत्वपना त्याग करना और अंतरंग के स्वभाव में अपनत्वपना होना इसी का नाम विशुद्धि हैं। बाहर की वस्तुएँ बहुत सारी हैं विकल्प इसी में जाते हैं और जब मैं कहता हूँ कि मेरा कुछ भी नहीं है, मैं ज्ञायक स्वभावी हूँ, मैं ज्ञाता स्वरुपी हूँ और ऐसा कहते-कहते वो स्वयं की आत्मा को सभी से भिन्न समझता हैं। शरीर का भी उसे ख्याल नहीं होता उस समय मुझे लगता हैं ऐसी विशुद्धि होती होगी।

आश्रव और बंध का विचार ही खत्म हो गया है जब उसने अपने विचार को समझा और अपने स्वभाव में पहुँचा और अपने स्वभाव को जाना और अपने स्वभाव में ही खोया, उसने अपने शरीर को भी अपना नहीं समझा मुझे लगता हैं अब सारे आश्रव की चर्चाए खत्म हो गई वो विशुद्धि में पहुँच गया और उसकी यही विशुद्धि उपशम सम्यक्त्व का हेतु बनेगी। हम कहते हैं, ज्ञायक स्वभाव होता क्या है-ज्ञायक स्वभावी मैंने कई बार सुना है लेकिन ज्ञायक स्वभाव की परिभाषा अभी समझ में नहीं आई, कि ज्ञायक स्वभाव किसे कहते हैं ज्ञायक स्वभाव का एक मैंने भी चिंतन किया है वो भी आप सुन लीजिए-जब हम वस्तु के पास जाते हैं तो हम ज्ञान स्वभावी होते हैं तब हम ज्ञाता होते हैं और जब हम आँख बंद किए बैठे और वस्तु मेरे पास आए तो ज्ञायक स्वभाव होता हैं। इसलिए भगवान अरहंत ज्ञायक स्वभाव में है। ज्ञाता स्वभाव में कहा जाता है ये व्यवहार है लेकिन वास्तविकता में वो ज्ञायक स्वभाव में हैं वो वस्तु के पास नहीं जाते वस्तु स्वयं उनके पास आती हैं। जब हम वस्तुओं के पास न जाए और वस्तु के पास न जाने का विचार करें मुझे लगता हैं इससे बड़ी विशुद्धि नहीं होगी और यही विशुद्धि उपशम का कारण बनेगी, यही विशुद्धि करण का कारण बनेगी कौन से करण हो जाते हैं, कौन जानता हैं ये तो अरहंत भगवान ने बता दिए इसलिए हम जानते हैं। हम भी नहीं जानते कि कौन-से करण कब हो जाते हैं और हम बैठ जाते हैं और बैठ करके अपने आपके स्वरुप में जब पहुंचते हैं जब हमें खुद का भी ख्याल नहीं रहता की मैं कहा हूँ और मैं पुरुष हूँ, स्त्री हूँ, नपुंसक हूँ क्या हूँ, तब ये भी ख्याल नहीं होता जब यह भी ख्याल नहीं होता हैं, मुझे लगता है इसी का नाम विशुद्धि हैं और इसी का नाम ज्ञान स्वभावी हैं और भले ही हम विकल्प में पहुँच जाए तो विकल्प में भी हो सकते हैं और निर्विकल्प भी हो सकते हैं। महाराज बनके निर्विकल्प हो जाते हैं और जब श्रावक होते हैं तो वैकल्पिक चिंतन होता हैं तो वैकल्पिक चिंतन भी विशुद्धि का कारण है और निर्विकल्प चिंतन भी विशुद्धि का कारण हैं। अंतर इतना हैं निर्विकल्प चिंतन श्रेणी पे ले जाता हैं और वैकल्पिक चिंतन सम्यक्त्व की ओर ले जाता हैं, ये दोनों में अंतर आते हैं। अभी ब्र. विनोद भैया जी ने एक बात बताई थी, बहुत अच्छी बात लगी चिंतन है कभी-कभी चिंतन ऐसे आते हैं वो बात बताई थी कि जानी हुई वस्तु पर अगर हम विचार करते हैं तो राग द्वेष उत्पन्न होते हैं लेकिन अनजानी वस्तु पर जब हम विचार करते हैं तो वहाँ कोई मोह जागृत नहीं होता। जहाँ मोह जागृत नहीं होता तो वहाँ राग-द्वेष भी कम हो जाते हैं और जहाँ राग-द्वेष कम होते हैं तो वहाँ वैराग्य और वीतरागता कि ओर हमारा कदम बढ़ जाता हैं। इसलिए अनजानी वस्तु को जानने का प्रयास करें। जानी हुई को जानने में कोई चतुराई नहीं हैं। जानी हुई को तो दुनिया जानती हैं लेकिन अनजानी वस्तु को जाना हैं तो निश्चित हैं कि कोई नई चीज समझ में आती हैं और नया ज्ञान उत्पन्न होता है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, प्रतिपाद, अप्रतिपाद और उत्पाद स्थान के बारे में भी बताया। एक स्वयं का चिंतन देना और स्वयं चिंतन करना

और चिंतन को सटीकता पर ले जाना ये बहुत अच्छा विचार कहलाता हैं और माताजी अभी कह रही थी कि मुझे भी सम्यक्त्व की प्राप्ति हो हमें सम्यक्त्व प्राप्त हुआ हैं कि नहीं हुआ हैं जब हमारे मन में किसी तरह का कोई पक्षपात न हो, जब हमारे मन में वीतरागता का लक्ष्य हो, जब हमारे मन में जिनेन्द्र भगवान की वाणी पर कोई मीन मेख प्रकरण न हो तो मुझे समझना चाहिए कि मेरे अन्दर सम्यक्त्व की धारा प्रारंभ हो गई हैं और अगर मेरे अंदर पक्षपात हैं और मैं अपनी बात को सिद्ध करना चाहता हूँ, कभी आगम भी मुड़ जाता है, कभी आगम की बात भी चली जाती हैं, आगम की बात को दरकिनार कर दिया जाता है और जिनेन्द्र भगवान की बात को कभी दरकिनार कर दिया जाता है और फिर हम समझे कि मेरे अन्दर सम्यक्त्व हैं आप कुशल वक्ता तो हो सकते हैं लेकिन सम्यक्दृष्टि होना जरूरी नहीं है। इसलिए निष्पक्ष निर्ग्रंथ को स्वीकार किया जाए तो निश्चित हैं हम सम्यक्त्व को प्राप्त नहीं हुए तो आगे होंगे और हो गए हैं तो आगे और वृद्धि करेंगे, संयम को प्राप्त करेंगे इसलिए हमारा ये कहना हैं कि विशुद्धि जरूर होना चाहिए और विशुद्धि कब होगी हम बता रहे थे कि अनंतानुबंधी क्रोध तो सब लोग जानते हैं मान सब लोग जानते हैं लेकिन लोभ कोई छोड़ता ही नहीं है और लोभ छुटता नहीं है तो उस पर भी रिसर्च कि जाए कि लोभ किसमें आता हैं और छहढाला में एक करिका में ही ये बात कह दी ''मैं सुखी दुखी मैं रंक राव, मेरे धन गृह गोधन प्रभाव। मेरे सुत तीय मैं सबल दीन बेरूप सुभग मूरख प्रवीन।।'' ये अंतरंग मिथ्यात्व की परिभाषा हैं। अंतरंग का जो भाव हैं वो ये हैं और इसमें मुझे लगता है लोभ का बहुत अच्छा प्रकरण हैं इसमें। इसमें अगर रिसर्च कि जाए तो इसमें बहुत अच्छी तरह से लोभ निकल करके बाहर जा आएगा और सभी में लोभ प्रकट होता है तो यों कहें कि विशुद्धि तभी बनती हैं जब हम लोभ को छोड़कर के और लोभ को हटा करके, इच्छाओं को हटा करके। इन इच्छाएँ और लोभ दोनों को तिरोहित कर दे फिर हम अपने आप को देखे तो मुझे लगता हैं कि इससे बढ़िया विशुद्धि कहीं नहीं बनेगी और यही विशुद्धि का कारण है और ये वाली विशुद्धि हमारे अंदर आती हैं और आई हैं तो निश्चित मानिए हम कहीं ना कहीं सम्यक्त्व के अधिकारी है और हम कहीं ना कहीं उस विशुद्धि को प्राप्त करके करण को प्राप्त हो गए होंगे, मुझे पता नहीं और उपशम में भी हुए होंगे तो उपशम में होकर के निकल गए होंगे। अब दुबारा उपशम तो होने वाला हैं नहीं है एक बार उपशम होकर सम्यक्त्व हो भी गया और कहीं अपने चिंतन में उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त कर भी लिया अब दुबारा तो होने वाला हैं नहीं और क्षायिक होगा नहीं अब पड़े रहेंगे तो क्षयोपशम में पड़े रहेंगे और या तो क्षयोपशम में पड़े रहेंगे या तो फिर सीधे मिथ्यात्व में पड़े होंगे। दोनों में से किसी एक में पड़े होंगे, मिश्र में भी ज्यादा नहीं टिक सकते या तो क्षयोपशम में टिकेंगे या तो मिथ्यात्व में टिकेंगे और उपशम कहीं न कहीं मुझे लगता हैं उपशम तो हो ही गया होगा और उपशम होकर के छूट भी सकता है और उपशम होकर के ऊपर भी क्षयोपशम में भी जा सकता है दोनो में जा सकता है हम ये कहना चाहते हैं विशुद्धि पकड़ना बहुत जरूरी हैं और ये विशुद्धि अगर हमने पकड़ ली तो निश्चित हैं करण कब हो जाते हैं, क्या हो जाता हैं, कब अध: करण होता हैं वो एक भजन आता हैं–

दब के मिथ्या यूँ बोला अध: करण से–2
ऐ करण तेरा आना गजब हो गया।
तू अकेला ही आता तो भी कुछ न था,
साथ सम्यक् का लाना गजब हो गया।
दब के मिथ्या यू बोला अध:करण से
ऐ करण तेरा आना गजब हो गया।

खेर भजन तो बहुत लंबा है बहुत बढ़िया भजन है उसमें उपशम श्रेणी, क्षपक श्रेणी माढी गई और उपशम से भी वो गिरा और उपशम से गिर कर के फिर उसमें अंधेरा आ गया फिर उसने द्वितीय उपशम किया और द्वितीय उपशम करके और फिर उसने उपशम श्रेणी माढ़ी फिर गिरा फिर गिर करके फिर उसने क्षपक किया क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त किया फिर श्रेणी माढ़ी फिर मिथ्यात्व ने हाथ जोड़े बोले तुमसे झगड़ा बढ़ाना गजब हो गया। बोले अब सुना दे–

मुझपे आते ही सम्यक् ने हमले किये मिथ्यात्व बोल रहा है–मुझपे आते ही सम्यक् ने हमले किये, तीन टुकड़े भी उसने ये करवा दिए। मिथ्यात्व बोल रहा हैं– मुझको सम्यक्त मिथ्या प्रकृति भी किया मेरा उपशम बनाना गजब हो गया। दब के मिथ्या यूँ बोला अध:करण से, ऐ करण तेरा आना गजब हो गया। अब फिर आगे कह रहा हैं मिथ्यात्व तो अभी चुपचाप नहीं बैठा हैं अभी उपशम ही तो किया है– इतना कमजोर समझा क्या सम्यक्त मुझे, मैं भी घर से निकालूंगा बाहर तुझे, तुमको अंतर्मूहूर्त में भगना पड़े, सादी मिथ्या बनाना गजब हो गया। दब के मिथ्या यूँ बोला अध:करण से अब फिर आगे कह रहा हैं– तू क्षयोपशम भी करले और चारित्र धरे–2 भ्रात चरित्र भी तेरी हिफाजत करें, किंतु श्रेणी न चढ़ने दूंगा तुझे मेरा उपशम बनाना गजब हो गया। दब के मिथ्या यूँ बोला अध:करण से, अब फिर आगे कह रहा है अब नहीं रहा गया उसने फिर द्वितीय उपशम किया है– द्वितीय उपशम भी कर ले और श्रेणी चढ़े, किन्तु गुणस्थान जब ग्यारहवें से गिरे, मेरे घर में ही आकर गुजारा करें। मेरा ऐसा भुलाना गजब हो गया, दब के मिथ्या यूँ बोला अध:करण से और आगे देखिए–आतम पुरुषार्थ से जब सुना ना गया, फिर से क्षायिक की कोशिश वो करने लगा। फिर से पुरूषार्थ से क्षायिक सम्यक् किया, देख मिथ्यात्व को झाग आने लगा। लड़ के सम्यक् से मिथ्या मरा मेरहम इनसे झगड़ा बढ़ाना गजब हो गया। दव के मिथ्या यू बोला अध:करण से। दर्श मोहनी को जिस वक्त मरते लखा चरित्र मोहनी को भी ज्वर सा चढ़ने लगा। निज बड़े बाप की मृत्यु को देखकर जिसे खुद ही अपघात कर आप मरने लगा। मरते दम बोलता दर्श मोहनी यही–2 मिथ्या बातों में आना गजब हो गया। दब के मिथ्या यूँ बोला अध:करण से और अंतिम बंद–क्षपक श्रेणी चढ़ा आत्मा जिस घड़ी होता दृगज्ञान चारित्र पूरण तभी, बन सयोगी प्रभु फिर अयोगी प्रभु, सिद्धपुर में विराजे तभी जा विभु। मोती माणिक की चाहत में दुखड़े सहे। मोती माणिक ये कोई माणिक चंद हैं उनके द्वारा लिखा हुआ हैं। मोती माणिक की चाहत में दुखड़े सहे। इन पे नीयत का लाना गजब हो गया। दब के मिथ्या यूँ बोला अध:करण से। ऐ करण तेरा आना गजब हो गया। तू अकेला भी आता तो भी कुछ न था। साथ सम्यक् का लाना गजब हो गया। कहने का मतलब विशुद्धि वो विशुद्धि हमारे अंदर तभी आयेगी जब हम पर वस्तु से निर्वृत्त होंगे और सारे विचारों से निर्वृत्त होंगे तो निश्चित है वो वाली विशुद्धि हमारी ज्ञानस्वरूपी बनेगी, ज्ञान स्वभावी बनेगी और स्वभाव तक ले जाएगी। वही विशुद्धि तीनों करण का कारण बनेगी। चाहे वो सम्यक्त्व में हो और चाहे वो अपूर्वकरण गुणस्थान में हो यही विशुद्धि हमारे काम आई इसी विशुद्धि को हमें अपने जीवन में लाना चाहिए। यही करणानुयोग पढ़ने का सार हैं। जय बोलिए परम पूज्य आचार्य गुरुवर विरागसागर जी गुरुदेव की जय।

परिणामों को समझना, परिणाामों को बनाना और परिणाम किन–किन कारणों से बनते हैं और किन–किन कारणों से बिगड़ते हैं ये समझना करणानुयोग कि विशेषता हैं यद्यपि करणलब्धि का स्वरूप भी यहाँ बताया गया। **डॉ. शैलेश जी के द्वारा** क्षायिक सम्यक्दर्शन का सैद्धांतिक विवेचन भी किया गया। **डॉ पंकज जी द्वारा** संयम लब्धि का स्वरूप भी दर्शाया गया तथा **बा.ब्र. प्राची दीदी ने भी दर्शाया** और हमारे संघ की बड़ी माताजी जिन्होंने डॉक्टरेट की उपाधि लेकर दीक्षा ली ऐसी **आर्यिकारत्न विमलश्री माताजी** ने गुणश्रेणी निर्जरा इसके बारे में बात रखी। हम ये कहना चाहते हैं कि कषायों की मंदता और परिणामों की उत्कृष्टता करणानुयोग से ही समझ में आती है और किसी से समझ में नहीं आती। जब तुम्हारे अंदर अपनी गलती को तत्काल स्वीकार करने का भाव पैदा हो जाए तो समझना चाहिए आप मुनि बनने के योग्य हो गए तत्काल और एक घंटे बाद अगर तुम्हें समझ में आए अपनी गलती तो फिर समझना आप देशव्रती के लायक हैं। आप मुनि बनने के लायक नहीं है आप भले ही मुनि बन जाए, भले ही मुनि बनने का श्रीफल चढ़ा दे अगर एक घंटे बाद आपको अपनी त्रुटि समझ में आती है तो फिर आप मुनि बनने के योग्य है ही नहीं ऐसा करणानुयोग बता देता है और एक घंटे बाद अगर तुम्हारी समझ में आती हैं तो फिर आप व्रती बनकर के श्रावक बनकर के रहिये, अभी आप मुनि के योग्य नहीं है ये करणानुयोग बता देता हैं और आपको 15 दिन में भी अपनी गलती समझ नहीं आती है तो आप अव्रती बनके रहिये। आप भले हि दो प्रतिमा–सात प्रतिमा धारी हो उससे होना भी क्या हैं। आप व्रती हो सकते हैं, देशसंयमी नहीं हो सकते। व्रती और संयमी में अंतर हैं– संयमी वो हैं जो अपने अंतराल अपने समय में सुधार कर लेता हैं वो संयमी है और व्रती वो हैं जो अपने समय को ही भूल जाता हैं और फिर भी उसे अपनी गलती स्वीकार

नहीं होती। इसलिए धवलाजी तेरह नं. पुस्तक में व्रती और संयमी में अंतर दिया हैं। व्रती तो कोई भी हो सकता हैं। मिथ्यादृष्टि भी व्रती हो सकता है, देशव्रती हो सकता हैं, महाव्रती हो सकता हैं, देशसंयमी सम्यक्दृष्टि ही होता है और कोई नहीं होता। ऐसा भी लिखा है आप पढ़िये धवलाजी पुस्तक नं. 13 में। व्रती वो हैं जो समिति आदि का पालन न करें और व्रत का पालन करें और संयमी वो हैं जो व्रत का भी पालन करें और समिति का भी पालन करें उसे संयमी कहा।

व्रत + समिति = संयम और

व्रत – समिति = असंयम।

जिसमें समिति न हो उसे व्रत कहा हैं तो हम ये कहे सभी ने अपने–अपने आलेखों का विवेचन किया है अभी विशेष विवेचन न करू वही अच्छा हैं। बस इतना ही कहूँ की सभी विद्वानगण और सभी सरस्वती के वरद पुत्र सरस्वती का अध्ययन करके आते हैं और ऐसी गुण भरी बातें सामने रखते हैं जो ना पहले कभी सुनी हो और आज सुनने में आती हैं। आज आपने सुन ली ये ही बहुत हैं क्योंकि ये संस्कार जो तुम्हारे कान के द्वारा अंदर तक जा रहा हैं कल तुम यहाँ से जाके दुसरी जगह पहुंचेगे और ये बात सुनने में आई तो तुम्हें इसमें रुचि पैदा हो जायेगी इसी विषय में रुचि पैदा हो जाएगी क्योंकि जो हम यहाँ विचार लेकर के जाते हैं उसी कि रुचि आगे के विचारों में तैयार हो जाती हैं इसलिए इसे अच्छे से सुन रहे हैं ये बहुत अच्छी बात है। आप सभी बहुत अच्छी मेहनत करते हैं और बहुत अच्छा वक्तव्य अपने सामने रखते हैं, लोगों के सामने रखते हैं, हम लोगों के सामने रखते हैं और हमारे संघ में हमारे निर्यापक श्रमण मुनि विज्ञसागर जी, विनुतसागर जी, विनिवेषसागर जी हैं और माताजियाँ भी हैं और दीदीयों में भी दो दीदी इतने व्याख्यान तो संघ में ही हो जाते हैं फिर विद्वानों के सामने होते हैं तो बड़ा अच्छा लगता हैं कि विद्वानों के सामने अपनी बात रखी जाती है और उनकी भी बात सुनी जाती हैं आप सभी की मेहनत सराहनीय हैं मैं चाहता हूँ ऐसी ही मेहनत आप निरंतर करते रहे और आप समय–समय पर ऐसी गोष्ठियों से अपने विचारों को भी रखते रहें। अभी इतना ही आप सभी के लिए मेरा खूब आशीर्वाद हैं आप इसी तरह अपने विद्वत्ता का परिचय देते हुए अपने ज्ञान को आगे बढ़ाए और अपने संयम पर आरूढ़ होकर के अपने जीवन को सफल करें।

गोष्ठी के माध्यम से एक शास्त्र का आलोडन हुआ करता हैं। साधुओं के द्वारा, विद्वतवर्ग के द्वारा श्रावकों के द्वारा कुछ शास्त्र का अच्छे से अच्छा खुलासा भी होता हैं कहीं एक व्यक्ति भी उस शास्त्र का अध्ययन करें तो विशेषताएँ नहीं निकल पाती लेकिन बहुत सारे व्यक्ति बहुत सारे विद्वतजन अगर उसका अध्ययन करें तो नई–नई बातें भी सामने आ जाती हैं। ये गोष्ठी ही ऐसा माध्यम हैं कि जब हम सभी विद्वतजनों को बुला सकते हैं वरना और कोई माध्यम मेरे पास हैं ही नहीं। हम सभी पढ़ेगे तो पढ़ते ही रहेंगे, हम जितना समझ सकेंगे हो सकता है हमारी इतनी ही क्षमता हो सामने वाला और अधिक समझ सके। सभी का अलग–अलग क्षयोपशम और अलग–अलग समझ हुआ करती हैं। इससे कई लोगों के विचार एक साथ तीन दिन में हो जाते हैं और मेहनत तो सभी लोग करके आते हैं लेकिन 3 दिन में अगर सबके विचार एक साथ एकत्र हो जाते हैं तो मुझे लगता है शास्त्र का पठन भी आनंददायी हो जाता है। आप सभी लोग उस गोष्ठी में आकर अपना समय देते हैं अपना क्षयोपशम विकसित करने के साथ–साथ सभी का विकसित करते हैं। ये जिज्ञासाओं का भी समाधान करते हैं इसमें सभी के ज्ञान का क्षयोपशम बढ़ता है और सभी लोग उस पुण्य का आश्रव प्राप्त करते हैं। एक बार जब छतरपुर में 1992 में वाचना हो रही थी आचार्य श्री द्वारा धवलाजी पुस्तक नं. 4 और हम उस समय ब्रह्मचारी अवस्था में थे तो लिखने का शौक तो पहले से ही रहा हैं तब वहाँ षट्खण्डागम कि दोपहर में विवेचना होती थी। गर्मी का मौसम कुछ महिलाएँ आती थी अब बूढ़ी–बूढ़ी महिलाऐं भोजन करके आई हैं अब समझ में तो आ नहीं रहा हैं तो आकर के सो जाती थी दीवाल मिल गई बुढ़िया को तो आराम से पीठ टिकाई और आचार्य श्री ने कहा कुछ समझ में आई तो मुड़ी हिला दी तो अब हम भी सामने देख रहे तो हमने कहा आचार्य श्री एक बार पूछ तो लो कि क्या समझ में आई तो आचार्य श्री बोले तब वो दो लाईने सुनिए वो दो लाइने– ''दोपहरी में षट्खण्डागम भूतबली ते रचित–2 उ की समझ में जल्दी आवे, जी की नोनी गणित, मजे सो मुंडी सब मटकाएँ, समझ में आए चाहे नहीं आए, पुण्य

को आश्रव जारी है और वाचना मंदिर जी में बहुत प्यारी है'' तो इस तरह हमने लिखा तो आचार्य श्री बहुत हँसे बहुत देर तक हँसते रहें बोले कहाँ-कहाँ से लिख लेते हैं। तो कहने का मतलब यह हैं कि सारे लोग उसके पुण्य के आश्रव में लगते हैं चाहे भले ही लोगों की समझ में नहीं आए लेकिन वो संस्कार तो पड़ते ही हैं। जब कान से जाती हैं बात तो संस्कार तो जाते ही हैं आज नहीं तो कल समझ में तो आएगी और कल कहीं मान लीजिए यह श्रावक लोग सुन रहें थे और सुन करके कहीं खुदा न खासता कही विदेहक्षेत्र में पहुँच जाए और वहाँ सीमंदर भगवान की वाणी खिरे और ये ही बाते निकल आए तो फौरन वो पूरा स्मरण आ जाएगा कि हमने कहाँ सुना था ये बात, कहाँ सुनी थी और वो बात स्पष्ट होगी कहने का मतलब संस्कार पड़ते हैं, चाहे भले ही करणानुयोग विषय कठिन हैं लेकिन जब साधुओं के सामने उसका विवेचन किया जाता हैं, तो वो सरलतम भाषा में पेश करते हुए श्रावक के अंदर तक पहुंचाने का प्रयास करते हैं। विद्वतजन भी इसी श्रेणी में आकर वो भी बहुत सरल भाषा में समझाने का प्रयास करते हैं और सरल से सरलतम भाषा में समझा करके वह भी बहुत अच्छा अनुभव करते हैं। ऐसी गोष्ठी प्रतिवर्ष वर्षायोग में तो होती ही हैं। लेकिन जब कभी समय मिलता हैं तो अन्य समय में भी हम लोग रख लेते हैं। वर्षायोग में ऐसा हैं कि स्थान निश्चित होता हैं और वहाँ सारी व्यवस्थाएँ हो जाती है। फिर भी हो सकता हैं विद्वतजन आते हैं कहीं कोई कमी रह जाती हैं, कहीं आवास में, कहीं भोजन व्यवस्था में, कहीं अन्य कोई सम्माननीय व्यवस्था में, कहीं भी कोई कमी रह जाती हैं तो विद्वतजन बड़े ही सरलता से उसे अपना समझ करके नजर अंदाज कर देते हैं। तो मुझे लगता हैं ये भी उनका एक अच्छा गुण हैं। वो भी समझते हैं और यहाँ की समिति ने भी पूरा-पूरा प्रयास किया है कि अच्छी तरह से उनको सुविधा और व्यवस्था कि जाए जिससे की उन्हें किसी तरह कि कोई चिंतन में बाधा न आए। हमारे संघ के **विज्ञसागर महाराज** निरंतर इस गोष्ठी का संचालन करने में तत्पर रहते हैं और उनके ही हैंड ओवर हमने कर रखी हैं। अब गोष्ठी में आपको किनको बुलाना हैं क्या करना है कहाँ से बुलाना है आप जानिए। तो वो ही सारा संयोजन करते हैं और भी ग्रंथों की भी विवेचना करते हैं तो वो उनको हमने सौंप दिया है कि आपको कहाँ से कौन सा शास्त्र मंगाना है, किसको देना हैं आप उसकी व्यवस्था देखिए तो वो देखते हैं और हमारे संघ में जो मुनि महाराज, माताजी हैं जो महारा की सहायता करते हैं वे हैं-विनिवेशसागर जी महाराज, मुनि श्री विनुतसागर जी महाराज, आर्यिका विमलश्री माताजी, आर्यिका विनेहश्री माताजी P.H.D.की उपाधि लेकर आर्यिका बनी हैं। श्रमण आर्यिका विनेहश्री माताजी ने बन्धापसरण का विवेचन बढ़े ही सरल ढंग से प्रस्तुत किया। विपुलश्री माताजी, विमुदश्री माताजी, और दीदीयाँ लवी दीदी, प्राची दीदी सभी ने इन विषयों पर अलग-अलग तैयारी की हैं। अगर ये गोष्ठी नहीं होती तो मुझे लगता हैं कि ये लब्धिसार को देखते ही नहीं लब्धिसार रखा रहता और ये गोष्ठी हुई तो लब्धिसार ग्रंथों को अन्य जगह से मंगाया गया और मंगा करके सभी ने उसको पढ़ा। ये गोष्ठी बहुत अच्छा माध्यम हैं लोगों को पढ़ाने का वह अपने आप ही पढ़ रहे थे और लगे थे अपने-अपने की विषय की तैयारी करने में हमने कहा अच्छी बात हैं। यह एक माध्यम हैं जब किसी को ये जिम्मेदारी दी जाती हैं और उन्हें अपनी जिम्मेदारी समझ में आती हैं तो वे भी उसका अध्ययन करते हैं मैं समझता हूँ ऐसी गोष्ठी समय-समय पर समाज के द्वारा और साधुओं के द्वारा निरंतर होनी चाहिए जिससे सभी विद्वतजन एक साथ एकत्र होकर के अपनी-अपनी बात को भी कह सके और आपस में एक दूसरे से मेलजोल भी कर सकें अपने विचार विमर्श भी कर सके। कोई किसी तरह का चिंतन करता है कोई किसी तरह का, चिंतन अलग-अलग होते हैं और सभी अपने-अपने चिंतन एक दूसरे को शेयर करते हैं जब शेयर करते हैं तो निश्चित है उन्हें भी अपने चिंतन पर गर्व होता हैं तो सभी विद्वतजन यहाँ पर गोष्ठी में उपस्थित हुए और उपस्थित होकर उन्होंने बढ़िया अच्छी तरीके से तीनों टाइम उस गोष्ठी का संचालन किया। सभी ने अपनी-अपनी अध्यक्षता में किया और उसका भरपूर लाभ लिया। ऐसी गोष्ठिया निरंतर होती रहें मैं यही प्रयास करूँगा कि आगे, अभी तो वर्ष में एक बार हुई हैं हम चाहेंगे कि दो बार भी हो और दो बार समय मिलेगा तो दो बार भी रखेंगे। कभी-कभी जब कहीं कोई वाचना होती हैं लेकिन अब वाचनाएँ बंद हो गई अब लोग वाचना कहा सुन पाते हैं तो वाचनाएँ बंद होने जा रही है, वाचना होती है तो गोष्ठियाँ होने की सम्भावना बढ़ जाती हैं। इसलिए सभी लोग उस गोष्ठी में शामिल होते रहें और समय-समय पर धर्म का अध्ययन करते हुए शास्त्रों का अध्ययन करते हुए सभी समाज साधुओं के बीच में बैठकर धर्मलाभ लेते रहे और देते रहें। जय बोला परम पूज्य आचार्य श्री विरागसागर जी गुरुदेव की जय।

आत्मोत्थान का क्रमिक विकास श्रेणी आरोहण

–श्रमण मुनि विज्ञसागर

श्रुतज्ञान के अंग प्रविष्ट बारह भेदों के अन्तर्गत बारहवां अंग दृष्टिवाद है, उसके भी पाँच भेद हैं (1) परिकर्म (2) चूलिका (3) प्रथमानुयोग (4) पूर्वगत (5) सूत्र। इस प्रकार पूर्वगत के पाँचवें पूर्व की दसवीं वस्तु के तृतीय अधिकार (पेज्ज दोस) नामक अधिकार से कषाय पाहुड़ ग्रंथ की रचना हुई। उस ग्रंथ में 180 अथवा 233 गाथाओं की रचना स्वयं गुणधर आचार्य ने की थी। यद्यपि पेज्ज दोस नामक अधिकार सोलह हजार पदों के द्वारा स्वयं गणधर देव ने रचा हैं किंतु गुणधर भगवान् ने उन सोलह हजार पदों की विषय वस्तु को मात्र 180 गाथाओं में अपनी तीक्ष्ण बुद्धि से गुंथित किया है। उस कषाय पाहुड़ में पन्द्रह अधिकार हैं जिनमें अधिकार चारित्रोपशामना का है जिसे आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती ने लब्धिसार ग्रंथ में छटवें अधिकार में किया है। इस प्रकार उपशामना का कथन करते हैं।

कषाय पाहुड़ गाथा नं. 63 में अथवा 116 से गाथा नं 70 या 123 तक आठ गाथाऐं आयी है जिनमें चार गाथाओं में पृच्छा की गई वह इस प्रकार है। उपशामना कितने प्रकार की होती है? उपशम क्रिया किस कर्म की होता है? किस किस अवस्था विशेष में कौन–कौनसा कर्म उपशान्त रहता है? कौन–कौनसा कर्म अनुपशांत रहता है? इस प्रकार यह प्रथम गाथा हुई पुनः चारित्र मोहनीय कर्म की स्थिति, अनुभाग और प्रदेशाग्रों को किस समय कितना भाग उपशामित करता है? कितना भाग संक्रमण व उदीरणा करता है? तथा कितना भाग बाँधता है? इस प्रकार यह द्वितीय गाथा पृच्छा सूत्र है। चारित्र मोहनीय कर्म की प्रकृतियों का कितने काल तक उपशमन करता है? संक्रमण और उदीरणा कितने काल तक होती है? तथा कौन कर्म कितने काल तक उपशान्त व अनुपशान्त रहता है, तथा कौनसा कर्म कितने काल तक उपशान्त व अनुपशान्त रहता है? यह तृतीय पृच्छा गाथा सूत्र है। किस अवस्था में कौन करण व्युच्छिन्न हो जाता है और कौन करण अव्युच्छिन्न रहता है? तथा किस अवस्था विशेष में कौन करण उपशान्त व अनुपशान्त रहता है? इस प्रकार ये चतुर्थ पृच्छा गाथा सूत्र है। जिनका समाधान स्वयं यतिवृषभाचार्य ने चूर्णिसूत्रों में किया है शेष चार गाथाएँ ग्यारहवें गुणस्थान से पतन के विषय मेंनिबद्ध हैं जिनका विवेचन आगे करेंगे।

अनंतानुबंधी की विसंयोजना–प.पू. यतिवृषभाचार्य ने चूर्णिसूत्र में व नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती ने लब्धिसार ग्रंथ में कहा है यथा–

उवसम चरियाहिमुहो, वेदगसम्मो अणं विजोयित्ता।
अंतोमुहुत्त कालं अधापवतोऽपमत्तोय।।20।।

उपशम चारित्र के सम्मुख हुआ वेदक सम्यक्दृष्टि जीव सर्वप्रथम पूर्वोक्त विधि से अनंतानुबंधी की विसंयोजना करता है। आचार्य यतिवृषभ व आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती दोनों ही एकमत से कहते हैं अनंतानुबंधी की विसंयोजना किये बिना अन्य कषायों के उपशमाने रूप परिणाम नहीं होते हैं किंतु गोम्मटसार कर्मकाण्ड के अनुसार अनंतानुबंधी की विसंयोजना किये बिना भी उपशम श्रेणी चढ़ता है क्योंकि ग्यारहवें गुणस्थान में दो आयु बिना एक सौ छियालीस प्रकृतियों का सत्त्व पाया जाता है। गोम्मटसार कर्मकाण्ड में गाथा नं 391 में आचार्य कनकनंदी सिद्धांतचक्रवर्ती का मत प्रस्तुत करते हुए कहा है कि अनंतानुबंधी की विसंयोजना किए बिना भी उपशम श्रेणी चढ़ सकता है। गाथा इस प्रकार है–

णत्थि अणं उवसमगे, खवगापुव्वं खवित्तु अटठा य।
पच्छा सोलादीणं , खवणं इदि केइ णिद्दिट्ठं।।391।।

अर्थ–श्री कनकनंदी सिद्धांत चक्रवर्ती के सम्प्रदाय (पक्ष) में ऐसा कहते हैं कि उपशम श्रेणी वाले चार गुणस्थसानों में अनंतानुबंधी चार का सत्त्व नहीं है। उपशम श्रेणी के चार गुणस्थानों में अनंतानुबंधी के सत्त्व सहित 146 प्रकृतियों के सत्त्व को आदि लेकर बद्धायुष्क और अबद्धायुष्क की चार पंक्तियों में जो आठ स्थान कहे थे वे नहीं है इसलिए जो रूपस्थान कहे थे उनमें

आठ स्थान कम कर देने पर 16 स्थान ही हैं। क्षपक अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवर्ती प्रथम तो अप्रत्याख्यावरण प्रत्याख्यानावरण का क्षय करते हैं पश्चात् 16 प्रकृतियों का क्षय करते हैं। ऐसा किन्हीं आचार्यों के मतानुसार कहते हैं इस प्रकार का कथन प्राप्त है इसके अलावा ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य नेमिचन्द्र स्वामी भी इस मत से सहमत थे।

प्राकृतिक पंचसंग्रह में भी अनंतानुबंधी कषाय की सत्ता के साथ उपशम श्रेणी चढ़ने का समर्थन प्राप्त होता है गाथा इस प्रकार है–

तिण्णेगे एगेगं दो मिस्से पण णियट्ठीए।
तिण्णिय धूलेकार सुहूमे चत्तारि तिण्णि उवसंते।।509।।

क्योंकि उन्होंने गोम्मटसार कर्मकाण्ड में सत्त्व स्थानों का कथन करते हुए लिखा है यथा–

दुग छक्क तिण्णि वग्गे, णूणापुव्वस्स चउपडिं किच्चा।
णभ मिगिचउपणहीणं बद्धस्सियरस्सएगूणं।।383।।

अर्थ– उपशम श्रेणी के अपूर्वकरण गुणस्थान में दो–छह, तीन का वर्ग अर्थात् 9 प्रकृतियों से हीन तीन स्थान जानना उन स्थानों की चार पंक्तियाँ करके क्रम से शून्य 1–4 और 5 प्रकृति कम करें तो बद्धायुष्क एक के स्थान होते हैं और इतर अर्थात् अबद्धायुष्क के स्थानों में भी एक–एक प्रकृति कम करना चाहिए। इस प्रकार 24 स्थान हुए।

उपशम अपूर्वकरण गुणस्थानमें नरक तिर्यंचायु इस प्रकार इन दो प्रकृतियों को कम करके बद्धायुष्क 146, तीर्थंकर प्रकृति कम करके 145, आहारक चतुष्क कम करके तथा तीर्थंकर जोड़कर 142 प्रकृति का स्थान होता है तथा तीर्थंकर कम करके 141 प्रकृति का सत्त्व स्थान होता है। इसी प्रकार अबद्धायुष्क के चार भंग बनाकर आठ स्थान हुए ये स्थान गाथा में कहे **दुग** यानि दो प्रकृति कम करके आठ स्थान प्राप्त हुए इसी गाथा में **छक्क** यानि छह प्रकृतियाँ (चार अनंतानुबंधी दो आयु) कम करके 142 आदि आठ स्थान उपरोक्तानुसार बनाना चाहिए। पुन: गाथा में कहे तिण्णिवग्गेणूणा अर्थात् तीन का वर्ग नौ प्रकृति घटाकर इसी प्रकार आठ स्थान बनाना चाहिए।

कर्मकाण्ड एक प्रमाणिक ग्रंथ है इसे अन्य प्रमाण देने की आवश्यकता भी नहीं है इसलिए आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती के अनुसार अनंतानुबंधी की विसंयोजना किये बिना भी उपशम श्रेणी मांड सकता है। किंतु यतिवृषभाचार्य का समर्थन करते हुए उन्होंने लब्धिसार ग्रंथ में लिखा–

उवसम चरिया हि मुहो वेदग सम्मो अणं विजोयित्ता।
अंतोमुहुत्त कालं अधापवत्तोऽपमत्तोय।।205।।

उपशम चारित्र के सम्मुख हुआ वेदक सम्यग्दृष्टि जीव सर्वप्रथम पूर्वोक्त विधान अर्थात् जैसा प्रथमोशम सम्यक्त्व में कहा था उसी विधान से अनंतानुबंधी की विसंयोजना करता है। पश्चात् अन्तर्मुहूर्त काल तक अध: प्रवृत्त, अप्रमत्त अर्थात् स्वस्थान अप्रमत्त होता है।

जयधवलाकार जिनसेन स्वामी ने भी अनंतानुबंधी की विसंयोजनापूर्वक ही उपशम श्रेणी पर चढ़ना स्वीकार किया है। (ज.ध.पु. 13 पृ. 201)

आचार्य यतिवृषभ भी कषाय पाहुड ग्रंथ में लिखते हैं यथा– वेदय सम्माइट्ठी अणंताणुबंधी अविसंजोएदूण कसाए उवसामेदूणी उवट्ठादि सो ताव अणंताणुबंधी विसंयोजाएदि। (क.पा.मू.पृ. क्रमांक 678)

अर्थ–वेदक सम्यग्दृष्टि जीव अनंतानुबंधी कषाय की विसंयोजना किये बिना अन्य कषायों की उपशामना करने में प्रवृत्त नहीं होता। इसलिए द्वितीयोपशम सम्यक्त्व करने से पूर्व अनंतानुबंधी की विसंयोजना करता है। यहाँ एक बात और बता दें अनंतानुबंधी की विसंयोजना चारों गतियों में होती है तो यदि वह पहले से अनंतानुबंधी का विसंयोजक है तो उसे यहाँ विसंयोजना करने की आवश्यकता नहीं है। वह तो सीधा द्वितीयोपशम सम्यक्त्व प्राप्त करने के लिए प्रवृत्त होता है यदि क्षायिक सम्यग्दृष्टि है तो उसे

द्वितीयोपशम करने की आवश्यकता भी नहीं है क्योंकि वेदक सम्यग्दृष्टि ही द्वितीयोपशम करता है। वह तो सीधा चारित्र मोहनीय को उपशमाने के लिए तीन करण करता है। प्रसंगवश 28 प्रकृतियों की सत्ता वाला जीव प्रमताप्रमत्त गुणस्थान वाला तीन करण करता है। जिनका स्वरुप उपशम सम्यक्त्व में कहा जा चुका है और आगे भी कहेंगे अब अनंतानुबंधी की विसंयोजना का स्वरुप कहते हैं1 तीन करण करके अनिवृत्तिकरण के संख्यात बहुभाग प्रमाण समय बीत जाने पर अनंतानुबंधी को पर प्रकृति रूप से परिणमा देता है अर्थात् विसंयोजना कर सत्ता को समाप्त कर प्रमत्तसंयत या अप्रमत्त संयत होता है इस प्रकार हजारों प्रमत्ताप्रमत्त गुणस्थानों में हजारों बार परिवर्तन करता हुआ प्रमत्त गुणस्थान में बंधने योग्य प्रकृतियों को बंधता है। जैसे असाता वेदनीय, अयस्कीर्ति, अरति, शोक आदि प्रकृतियों का बन्ध करता है। अनंतानुबंधी की विसंयोजना रूप क्रिया समाप्त हो जाने के तत्काल बाद ही दूसरी क्रिया प्रारंभ नहीं करता किंतु अन्तर्मुहूर्त काल प्रमत्त अप्रमत्त स्वस्थान गुणस्थानों को प्राप्त कर संक्लेषतावश बाँधता है विशुद्धि वश नहीं बाँधता है। (ज.ध.पु. 13 पृ.201) उसके पश्चात् पुन: तीन करण करके कोई जीव तो दर्शन मोहनीय का क्षय कर उपशम श्रेणी चढ़ता है कोई जीव द्वितीयोपशम करके उपशम श्रेणी चढ़ता है। तीन करणों का स्वरूप जिस प्रकार प्रथमोपशम सम्यक्त्व में बतलाया है वैसा ही जान लेना चाहिए। अध:प्रवृत्तकरण में स्थिति काण्डक घात, गुणश्रेणी निर्जरा, गुणसंक्रमण, अनुभाग काण्डकघात नहीं होते है। लेकिन प्रत्येक समय अनंतगुणी विशुद्धि की वृद्धि होती जाती है। अन्तर्मुहूर्त अध:प्रवृत्त के पश्चात् अपूर्वकरण परिणाम होते है। अपूर्वकरण के माहात्म्य से स्थिति व अनुभाग काण्डकघात होता है, गुणश्रेणी भी हेाती है यदि दर्शन मोहनीय का क्षय करता है तो गुणसंक्रमण भी करता है किंतु उपशम करते समय यहाँ गुणसंक्रमण नहीं हेाता। अपितु विध्यात व अध:प्रवृत संक्रमण होता है पश्चात् अनिवृत्तिकरण में प्रवेश करता है, उसका स्वरुप पहले कह चुके हैं कहा भी है- णवरि गुण संकमोणत्थि विज्झदो चेव, अप्पसत्थ कम्माणं अधापवत्तो वा। (ध.पु. 6 पृ. 298, ल.सा.गा. 306, 307 आदि)

यहाँ पर स्थितिकाण्डकघात का प्रमाण अर्थात् प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त में पल्य का संख्यात वां भाग घटा देता है। इसी प्रकार बंधापसरण अर्थात् प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त में पल्य का संख्यातवां भाग हीन स्थिति बाँधता है, गुणश्रेणी निक्षेप अपूर्वकरण व अनिवृत्तिकरण दोनों के समय से कुछ कम हैं। एक-एक स्थितिकाण्डघात में हजारों अनुभाग काण्डक हो जाते हैं एक अन्तर्मुहूर्त में अप्रशस्त प्रकृतियों का अनंतबहुभाग कम कर देता है। (ज.ध.पु. 13 पृ. 303, 304)

अपूर्वकरण का काल समाप्त कर अनिवृत्तिकरण में प्रवेश करता है और पूर्व में अनिवृत्तिकरण का जो स्वरुप कहा है वैसा ही समझना चाहिए अनिवृत्तिकरण काल का संख्यात बहुभाग बीत जाने पर सम्यक्त्व प्रकृति के निषेकों में असंख्यात गुणी वृद्धि कर निर्जरा होती है उसे ही कहते हैं।

यहाँ एक बात और बता दें कि अपूर्वकरण में जो स्थिति सत्त्व होता है उससे अनिवृत्तिकरण में हजारों स्थिति-काण्डकों के द्वारा संख्यात गुणाहीन हो जाता है।

सम्यक्त्व प्रकृति के निषेक असंख्यात गुणे निर्जरा को प्राप्त होते है सो ही कहते हैं-

सम्मस्स असंखेज्जा समय पवद्धाणु दीरणा होदि।
तत्तो मुहुत्त अंते दंसण मोहंतरं कुणइ।।209।। लब्धिसार

अर्थ- अनिवृत्तिकरण परिणाम के संख्यात बहुभाग बीत जाने पर सम्यक्त्व प्रकृति के असंख्यात गुणे समय प्रबृद्धों की उदीरणा होती है तथा उसके आगे दर्शन मोहनीय का अंतर करता है। कषाय पाहुड चूर्णि सूत्रों में भी कहा है- दंसण मोहणीय उवसामणा अणियट्टिअद्धाए संखेज्जेसु भागेसु गदेसु सम्मत्तस्स असंखेज्जाणं समय पवद्धमुदीरणा। तदो दंसण मोहणीयस्स अंतरं करेदि। (क.पा.चू.पु.13 पृ. 205)

जो ऊपर गाथा का अर्थ है वही अर्थ यहाँ जानना चाहिए। अपूर्वकरण काल में प्रवेश होते ही अपूर्वकरण+अनिवृत्तिकरण से कुछ अधिक आयाम वाली गलितावशेष अपूर्वकरण काल व अनिवृत्तिकरण काल का संख्यात बहुभाग बीत गया एक भाग

शेष रहा उसमें जो अपूर्वकरण में सम्यक्त्व के अपकर्षित द्रव्य में पल्य के असंख्यात वे भाग का भाग देकर बहुभाग तो गुणश्रेणी शीर्ष के उपरितन भाग में क्षेपण करता है तथा एक भाग जो शेष था उसमें असंख्यात लोक का भाग देकर एक भाग तो उदयावली में गौपुच्छाकार से अर्थात् जिस प्रकार गाय की पूछ उद्गम स्थल पर तो मोटी है पश्चात् हीन-हीन अर्थात् चयहीन क्रम से देता है तथा जो शेष भाग था उसे गुणश्रेणी आयाम अर्थात् उदयावली के ऊपर प्रथम निषेक में जितना द्रव्य क्षेपण किया उससे आगे के निषेक में असंख्यात गुणा क्रम से निक्षेपण करता है यह क्रम गुणश्रेणी शीर्ष तक चालू रहता है और अपूर्वकरण के सम्पूर्ण काल में प्रत्येक समय में असंख्यात गुणे समय प्रवृद्ध ग्रहण कर गुणश्रेणी करता हुआ अनिवृत्तिकरण काल के संख्यात बहुभाग काल बीत जाने तक करता रहता है। पश्चात् यहाँ से सम्यक्त्व प्रकृति के अपकर्षित द्रव्य को पल्य के असंख्यातवें भाग से भाजितकर एक भाग को ग्रहण कर उदयावली में क्षेपण करता है शेष बहुभाग गुणश्रेणी में क्षेपण करता है पश्चात् जो पहले भाग देकर बहुभाग था उसको ऊपर की स्थिति में चयहीन क्रम से देता है। यहाँ देखना यह है कि पहले जिस द्रव्य में असंख्यात लोक का भाग देकर एक भाग ग्रहण कर एक भाग को उदयावली में दिया जाता था उसके स्थान पर यहाँ पल्य के असंख्यातवें भाग का भाग देकर एक भाग उदयावली में देता है यहाँ भागहार कम हो जाने से द्रव्य अधिक निकलता है यही इसका तात्पर्य है।

अंक संदृष्टि से माना सम्यक्त्व प्रकृति का अपकर्षित द्रव्य=1,00,000 है पल्य के असंख्यातवें भाग का प्रमाण =10 है असंख्यात लोक प्रमाण 100 है।

अपूर्वकरण के प्रथम समय में 1,00,000 अर्थात् 1,00,000-10,000=90,000

इस बहुभाग को गुणश्रेणी शीर्ष के ऊपर कर्म स्थिति प्रमाण निषेकों में हीन क्रम से देता है।

एक भगा 10,000 में असंख्यात लोक का भाग देने पर 10,000/100=100

एक भाग को उदयावली में (गौ पुच्छा) हीन क्रम से देत है। बहुभाग को उदयावली के ऊपर प्रथम निषेक से गुणश्रेणी शीर्ष तक असंख्यात गुणे क्रम से क्षेपण करता है। दूसरे समय में असंख्यात गुणे द्रव्य अपकर्षित करता है असंख्यात का प्रमाण यहाँ हम 10 मान लेते हैं।

1,00,000 **X** 10 =10,00,000 द्रव्य अपकर्षित किया और पूर्व की तरह क्षेपण करता है।

अनिवृत्तिकरण के बहुभाग बीत जाने पर माना 10,00,000,00 द्रव्य अपकर्षित किया।

		बहुभाग	एक भाग
अत: $\frac{10,00,00,000}{10}$	एक भाग	10,00,00,000-1,00,0000 = 9,00,00,000	1,00,00,000

पुन: 1,00,00,000 10,00,0000 एक भाग = अत: 10,00,000-10,000= 10,00,000

पल्य के असंख्यातवें भगा का भाग देने पर इसे उदयावली में क्षेपण करना है क्योंकि अभी तक असंख्यात लोक का भाग देते थे किंतु अब पल्य के असंख्यातवें भाग का भाग दिया है, जिससे द्रव्य अधिक निकलता है।

0
0
0
0
0
0 – उपरितन स्थिति
0
0

माना कि गुणश्रेणी आयाम = 16 समय

0 – 16 गुणश्रेणी शीर्ष
– 15
– 14
– 13
– 12
– 11
– 10 गलितावशेष गुणश्रेणी
– 9
– 8
– 7 अपूर्वकरण अनिवृत्तिकरण काल
– 6 से कुछ अधिक
– 5
– 4 एक भाग
– 3 9,00,00,000 परमाणु यहाँ क्षेपण करता है।
– 2 अनिवृत्तिकरण संख्यातवां भाग
– 1 रह जाने पर

0
0
0 – उदयावली
0
0 10,00,000 परमाणु क्षेपण करता है।

अपूर्वकरण के प्रथम समय में गुणश्रेणी

0
0
0
0
0 – उपरितन स्थिति
0
0
0

माना कि गुणश्रेणी आयाम = 16 समय

0 – 16 गुणश्रेणी शीर्ष
0 – 15
0 – 14 गुणश्रेणी आयाम
0 – 13
0 – 12
0 – 11
0 – 10
0 – 9
0 – 8
0 – 7
0 – 6
0 – 5
0 – 4
0 – 3 बहुभाग द्रव्य = 9999
0 – 2
0 – 1

0
0
0 – उदयावली एक भाग
0 100
0

इसके आगे अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् अन्तरकरण करता है अर्थात् नीचे और ऊपर की स्थिति को छोड़कर बीच की अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति में से दर्शन मोहनीय त्रिक के द्रव्य को खाली कर देता है इसी का नाम अन्तरकरण है। अन्तर आयाम का प्रमाण अन्तर्मुहूर्त है। यद्यपि प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्राप्ति के पहले जो अन्तरकरण किया जा रहा था इस समय मिथ्यात्व प्रकृति का बन्ध हो रहा था इसलिए उत्कर्षण करके द्रव्य प्रथम स्थिति का द्वितीय स्थिति में द्वितीय स्थिति का प्रथम स्थिति में दिया जा रहा था और अन्तरयाम के निषेकों का द्रव्य भी नीचे ऊपर क्षेपण हो रहा था किंतु यहाँ बन्ध का अभाव होने के कारण अन्तरायाम के निषेकों का द्रव्य अन्तरायाम के नीचे प्रथम स्थिति में क्षेपण होता है प्रथम स्थिति का आयाम उदय सहित सम्यक्त्व प्रकृति की प्रथम स्थिति अन्तर्मुहूर्त मात्र होती है तथा मिथ्यात्व व मिश्र प्रकृति की स्थिति आवली मात्र होती है। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त प्रमाण सम्यक्त्व प्रकृति की प्रथम स्थिति के निषेकों में अन्तरायाम के निषेकों का द्रव्य अर्थात् तीनों प्रकृति के द्रव्य को क्षेपण करता है इस प्रकार अन्तकरण क्रिया पूर्ण करता है।

यह कथन लब्धिसार गा. 212 के अनुसार–यहाँ लब्धिसार की गाथा क्रमांक–209, 2010, 11, 12, आदि द्रष्ठव्य हैं। यहाँ गुणश्रेणी किस प्रकार करता है– उदयावली के निषकों को छोड़कर शेष ऊपर के अर्थात् सभी उपरितन स्थितियों से अपकर्षित करके उसमें पल्य के असंख्यातवें भाग का भाग देकर बहुभाग द्रव्य को अन्तरायाम को छोड़कर शेष ऊपरितन (द्वितीय) स्थिति के निषेकों में निक्षिप्त करता है शेष एक भाग में पल्य के असंख्यात वे भाग का भाग देकर बहुभाग प्रथमस्थिति रूप गुणश्रेणी में तथा एक भाग उदयावली में निक्षिप्त करता है।

नोट–*[1] जिन प्रकृतियों का उदय है उन प्रकृतियों के द्रव्य को उदयावली में चयहीन क्रम से निक्षिप्त करता है, किन्तु जिन प्रकृतियों का उदय नहीं उन प्रकृतियों का उदयवली के ऊपर ही निक्षिप्त करता है।

*[2] जिन प्रकृतियों का अन्तरकरण किया है उन्हीं प्रकृतियों के द्रव्य को अन्तरकरण के बाहर क्षेपण करता है शेष प्रकृतियों के द्रव्य को सभी स्थितियों में क्षेपण करता है।

यहाँ इस प्रकार जानना चाहिए कि अन्तर आयाम का जो द्रव्य है, उसमें से अपकर्षित किया गया द्रव्य उपरितन स्थितियों में नहीं देता किंतु सम्यक्त्व प्रकृति की प्रथम स्थिति में ही देता है उसे ही कहते हैं।

निक्षेपण के विषय में विशेष खुलासा–

यहाँ मिथ्यात्व मिश्रमोहनीय की प्रथम स्थिति तो आवली मात्र है किंतु सम्यक्त्व प्रकृति की प्रथम स्थिति अन्तर्मुहूर्त है उसको छोड़कर ऊपर के निषेकों का अन्तर करता है उसमें जो मिश्र मोहनीय व मिथ्यातव के अन्तरायाम का प्रथम निषेक (प्रथम स्थिति के ऊपर) है उसका अपकर्षण कर सम्यक्त्व मोहनीय के प्रथम स्थिति के प्रथम निषेक (उदयावली के ऊपर) में निक्षिप्त करता है, द्वितीय निषेक को आवली के ऊपर द्वितीय निषेक में निक्षिप्त करता है। यहाँ पंडित टोडरमल की टीका व संस्कृत टीका में इस प्रकार से भी व्याख्यान है कि जितने निषेक प्रथम स्थिति में हैं उतने निषेक पर्यंत द्रव्य का विभाजन क्षेपण करता है (न तेषां निक्षेप विभागोऽस्ति यदुपरिस्थितान्तरायाभनिषेका: फालिगता: सर्वेपि पूर्वोक्त विधाने नैव सम्यक्त्व प्रकृति प्रथम स्थितौ गुणश्रेण्यामुदयावल्यां विभाज्य निक्षिप्तीत्यर्थ:। लब्धिसार गाथा 13/ की टीका पृ.178

यहाँ यद्यपि अन्तर आयाम का काल अधिक है और प्रथम स्थिति का काल कम है इसलिए यहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि प्रथम निषेक जो अन्तरायाम का है उसका सम्पूर्ण द्रव्य एक साथ प्रथम स्थिति के अन्तिम निषेक में निक्षिप्त हो जाता है यहाँ फालि का विधान नहीं है, क्योंकि टीका में स्पष्ट लिखा है ''तेषां न निक्षेप विभागो'' यहाँ निक्षेप का विभाग नहीं है अर्थात् इस निषेक में इतना देना, इस निषेक में इतना देना ऐसा विभाग नहीं है किंतु सारा द्रव्य एक ही निषेक में देना कब तक तो कहा जहाँ तक प्रथम स्थिति के निषेक उतने निषेकों का अपकर्षण करके देना उसके ऊपर (यत् उपरि स्थित अन्तरायाम निषेक:) अर्थात् उससे ऊपर अन्तरायाम के निषेक (फालिगत:) फालि के द्वारा (सर्वेऽपि पूर्वोक्त विधाने नैव) अर्थात् सभी स्थितियों में पूर्वोक्त विधान से अर्थात् गुणश्रेणी के द्वारा सम्यक्त्व प्रकृति की प्रथम स्थिति में तथा सम्यक्त्व प्रकृति का द्रव्य उदयावली से लेकर प्रथम

स्थिति के सभी निषेकों में क्षेपण करता है। जिस प्रकृति का उदय होता है उस प्रकृति का द्रव्य उदयावली में भी क्षेपण किया जाता है किंतु जिन प्रकृतियों का उदय नहीं है उन प्रकृतियों का द्रव्य उदयावली बाह्य क्षेपण किया जाता है यह इसका तात्पर्य है।

विशेषार्थ– जब अन्तरकरण क्रिया प्रारंभ होती है उस समय से लेकर जब तक अन्तरकरण होता है तब तक अन्तरकरण का द्रव्य तीनों प्रकृतियों का सम्यक्त्व प्रकृति की प्रथम स्थिति में ही क्षेपण होता है। किंतु उपरितन (द्वितीय) स्थिति का द्रव्य अपकर्षित करके अन्तरकरण को छोड़कर प्रथम स्थिति में भी दिया जाता है उदयावली में तथा द्वितीय स्थिति में जिस प्रकार गुणश्रेणी की विधि कही है उसी प्रकार दिया जाता है जब अन्तरकरण क्रिया में आवली–प्रत्यावली काल शेष रह जाता है उस समय उपरितन स्थिति का द्रव्य प्रथमस्थिति में आना बन्द हो जाता है। अन्तरकरण में से आने वाला द्रव्य जो समान स्थिति में समान रूप से दिया जा रहा था व द्विचरम फालि तक दिया जाता है उसके पश्चात् चरमफाली के द्वारा तीनों प्रकृतियों का द्रव्य सम्यक्त्व प्रकृति की प्रथम स्थिति में निक्षिप्त कर दिया जाता है।

अन्तरकरण काल में अथवा प्रथम स्थिति के काल में दो आवली शेष रहने पर दर्शन मोहनीय की गुणश्रेणी समाप्त हो जाती है इस प्रकार की गुणश्रेणी यहीं तक थी किन्तु अन्य कर्मों की सकल चारित्र वशात् गुणश्रेणी होती है। अन्तरकरण में एक समय अधिक एक आवली शेष रहने पर सम्यक्त्व प्रकृति की उदीरणा समाप्त हो जाती है।

प्रश्न–उदीरणा किसे कहते है?

उत्तर–अपकर्षित किये गये द्रव्य में से जो द्रव्य उदयावली में दिया जाता है उसकी उदीरणा संज्ञा है जो द्रव्य उदयावली के ऊपर क्षेपण किया जाता है उसकी अपकर्षण संज्ञा है। पश्चात् प्रथम स्थिति का कालपूर्ण होते ही अनिवृत्तिकरण का काल समाप्त हो जाता है।

उपरितन स्थिति अथवा द्वितीय स्थिति असंख्यात समय। माना कि अन्तरकरण का प्रमाण 16 समय है प्रथम स्थिति 8 समय, उदयावली = 4 समय

यहाँ से अपकर्षित किया हुआ द्रव्य पल्य के असंख्यातवें भाग से भजित एक भाग को प्रथम स्थिति में देता है गुणश्रेणी क्रम से और बहुभाग उपरितन स्थितियों में चयहीन क्रम से अतिस्थापना वली को छोड़कर क्षेपण करता है।

यहाँ से फालीरूप से अपकर्षित द्रव्य प्रथम स्थिति के सभी निषेकों में गुणश्रेणी क्रमानुसार निक्षिप्ति करता है।

अन्तरकरण

यहाँ से अपकर्षित करके

नोट–सम्यक्त्व प्रकृति के द्रव्य को जो कि उपरितन स्थिति से अपकर्षित किया था वह पल्य के असंख्यातवें भाग से भाजित एक भाग प्रथम स्थिति को पुन: पल्य के असंख्यातवें भाग से भाजित एक भाग को उदयावली में तथा बहुभाग को प्रथम स्थिति में देना चाहिए।

यहाँ क्षेपण किया यह अन्तरकरण का प्रथम निषेक प्रथम स्थिति के प्रथम निषेक में निक्षिप्त हुआ पुन: दूसरा निषेक दूसरे में

गाथा नं. 216

सम्मादिठिदिज्झीणे, मिच्छ द्दव्वादु सम्म संमिस्से।
गुण संकमो ण णियमा, विज्झादो संकमो होदि।।216।।

अर्थात् सम्यक्त्व मोहनीय की प्रथम स्थिति के क्षय होते ही मिथ्यात्व के द्रव्य में से सम्यक्त्व व स.मि. प्रकृति में गुण संक्रमण के द्वारा द्रव्य नहीं दिया जाता किंतु विद्यात संक्रमण के द्वारा दिया जाता है। क्योंकि प्रथमोपशम सम्यक्त्व में गुण संक्रमण के द्वारा द्रव्य जाता था वैसा यहाँ नहीं दिया जाता।

जयधवला पुस्तक तेरह में भी यही बात कही है। (ज.ध.पु.13 पृ.208)

यहाँ तो विशेषहीन क्रम से विद्यात संक्रमण होता है तथा शेष कर्मों का भी यहाँ से गुण संक्रमण व स्थितिकाण्डक घात नहीं होते किन्तु संयम के वश अवस्थित आयाम वाला गुणश्रेणी है। क्योंकि करण परिणाम निमित्तक गलितावशेष गुणश्रेणी का यहाँ अन्त हो जाता है। (ज.ध.पु. 13 पृ. 207-8)

प्रथम स्थिति का अन्त होते ही अन्तरकरण के उदयावली में प्रवेश कर प्रथम निषेक का उदय होने पर द्वितीयोपशम सम्यक्त्व होता है।

द्वितीयोपशम सम्यक्त्व में विशुद्धि व काल (ल.सा.गा. 217 व क.पा. सु.पृ. 680 व ज.ध.पु.13 पृ.208 पर कहा है।)

प्रथमोशम सम्यक्त्व को प्राप्त करने वाले जीव को जो गुणसंक्रमण का काल है उससे द्वितीयोपशम का काल संख्यात गुणा है और प्रत्येक अनंतगुणी विशुद्धि से बढ़ता हुआ है इसे ही एकांतानुवृद्धि कहा है तथा संख्यात गुणा होकर भी अन्तर्मुहूर्त ही है।

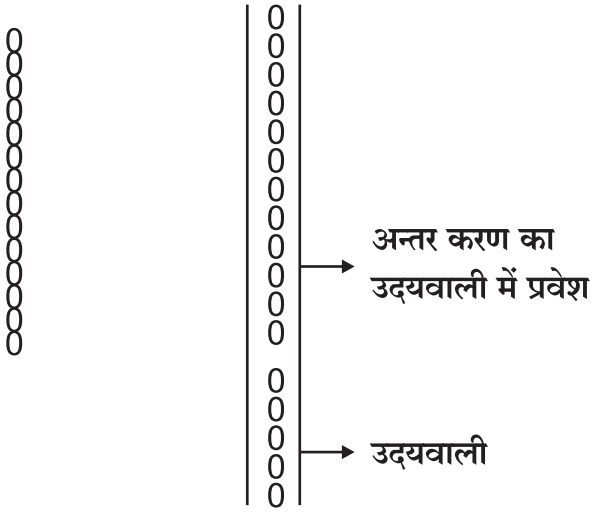

यहाँ दर्शन मोहनीय की तीनों प्रकृतियों का अभाव होने से जो निर्मल श्रद्धान रूप परिणाम होता है उसी का नाम द्वितीयोपशम सम्यक्त्व है क्योंकि यहाँ सम्यक्त्व प्रकृति का भी अभाव है।

एकांतानुवृद्धि के आगे हानिवृद्धि भी करता है= विशुद्धि करता हुआ विशुद्धि में हानि वृद्धि भी करता है जिसे प्रमत्त व अप्रमत्त संयत कहते है ऐसे सहस्रोबार परावर्तन करता है कदाचित हानिवृद्धि को प्राप्त न करके अवस्थित भी रहता है ऐसा ही लब्धिसार की संस्कृत टीका में कहा है तथा ज.ध.पु.13 पृ.209 पर भी यह कथन किया है।

उपशम श्रेणी में 21 प्रकृतियों का उपशम (गा. 219 की टीका) हजारों बार प्रमत्त-अप्रमत्त होता हुआ उपशम श्रेणी में इक्कीस प्रकृतियों के लिए उपशमाने को उद्यत होता है सात प्रकृति को पहले ही उपशम कर दिया है अब मात्र इक्कीस को ही उपशमाता है क्योंकि अन्य कर्म प्रकृतियों में उपशम नहीं होता है। यहाँ जिस प्रकार अनंतानुबंधी की विसंयोजना के पश्चात् प्रमत्त गुणस्थान में जिन प्रकृतियों का बन्ध करता है वैसा ही यहाँ जानना चाहिए।

उपशम श्रेणी में होने वाले आठ करण (गा. 220)

1. अध:करण 2. अपूर्वकरण 3. अनिवृत्तिकरण 4. स्थितिबन्धापसरण 5. देशघातीकरण 6. अन्तरकरण 7. क्रमकरण 8. उपशमकरण

अध:प्रवृत्तकरण-अप्रमत्त गुणस्थान के स्वस्थान में होता है और जैसा स्वरुप प्रथमोपशम सम्यक्त्व के समय कहा था वैसा ही जानना चाहिए, विशेषता इतनी है कि यहाँ संयमी के योग्य बन्ध, उदय, सत्त्व कहना चाहिए।

नोट–क्रमकरण अनिवृत्तिकरण में मोहनीय कर्म का बन्ध सबसे कम, ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय इन तीनों का बन्ध समान है किंतु मोहनीय से असंख्यात गुणा है। नाम, गोत्र का समान है किंतु पूर्व में विशेष अधिक है वेदनीय का विशेष अधिक है। जब तक इस क्रम से बन्ध होता है उसे क्रमकरण कहते हैं।

देशघाती करण– ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय कर्म का बन्ध जब देशघाती होने लगता है उसे देशघाती करण कहते हैं। अध:करण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, बन्धापसरणकरण, अन्तरकरण, उपशमकरण का स्वरुप प्रथमोपशम सम्यक्त्व में कहा है।

अपूर्वकरण में स्थिति काण्डक आयाम–

विदिय करणादिसमये, उवसंतदि दंसणे जहण्णेण।
पल्लस्स संख भागं, उक्कस्सं सायर पुधत्तं।।221।।
ठिदि खण्डयं तु खइए बराबरं, पल्लसंख भागोदु।
ठिदि बन्धोसरणं पुण, बराबरं तत्तियं होदि।।222।।

अर्थ–द्वितीयकरण अर्थात् अपूर्वकरण में उपशामक के जघन्य स्थिति काण्डक पल्य का असंख्यातवां भाग व उत्कृष्ट सागरोपम पृथक्त्व होता है। चूंकि यह द्वितीयोपशम सम्यक्त्व वाले का कथन है किंतु उपशम श्रेणी क्षायिक सम्यग्दृष्टि भी चढ़ता है किंतु उसके स्थितिकाण्डक नियम से पल्य का संख्यातवां भाग ही होता है उतना ही बन्धापसरण होता है बन्धापसरण बराबर है। स्थिति बन्ध अन्त: कोटा कोटी तथा अनुभाग काण्डक अप्रशस्त प्रकृतियों का अनंत बहुभाग एवं प्रशस्त का नहीं होता है। गुणश्रेणी गलितावशेष अर्थात् प्रत्येक समय में एक एक निषेक कम होता जाता है।

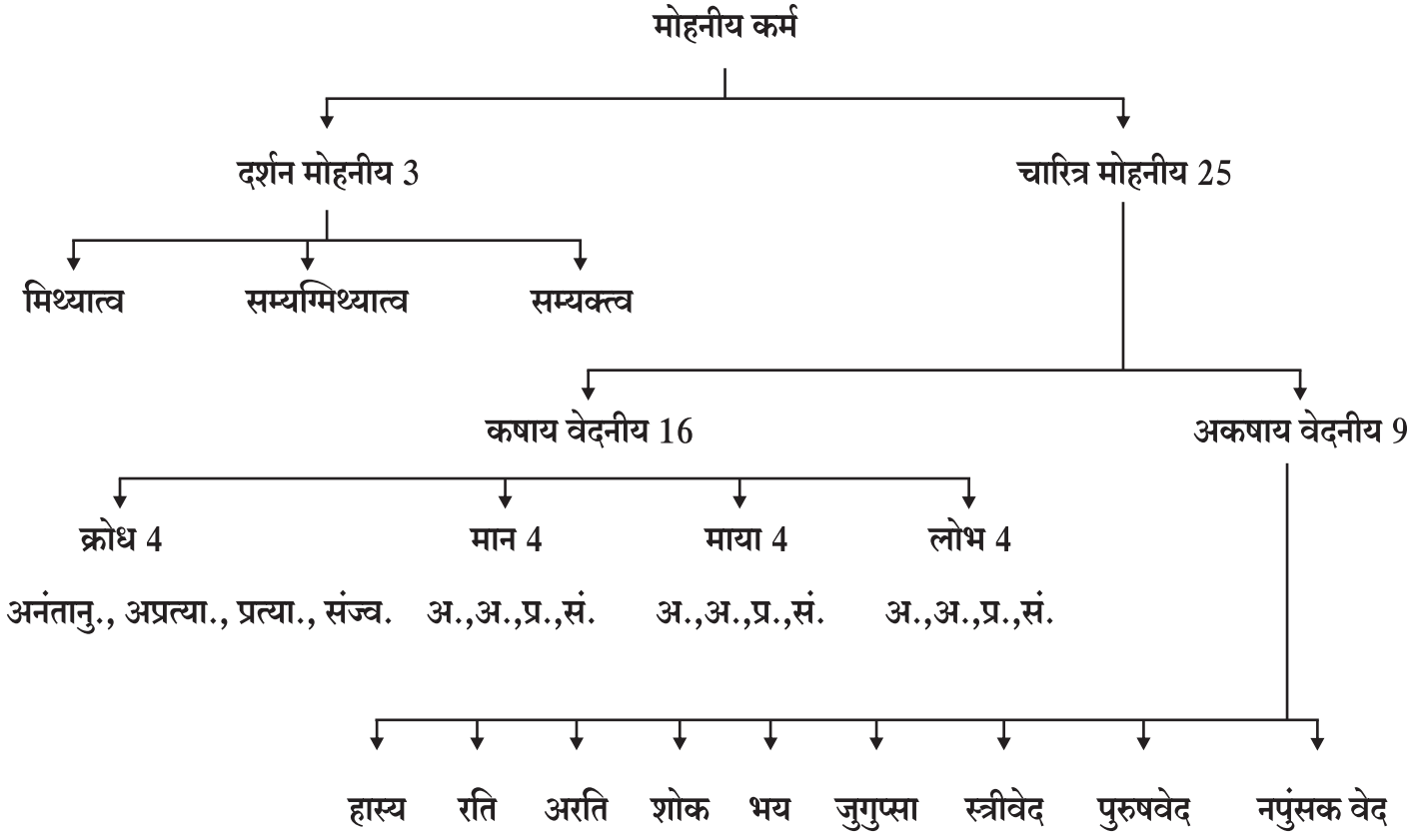

गुणश्रेणी आयाम– अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्म सांपराय के काल से कुछ अधिक होती हैं। कितनी अधिक होती है? उपशांत मोह के काल से संख्यातवें भाग अधिक होती है।

यह गुण श्रेणी उदयावली बाह्य होती है।

गुण संक्रमण–यही पर नपुंसक वेद आदि अबंध प्रकृतियों में गुणसंक्रमण प्रारंभ हो जाता है। (ज.ध.पु.13 पृ.224)

नोट–जयधवला में गुणश्रेणी का काल अपूर्वकरण अनिवृत्तिकरण के काल से साधिक बतलाया है, परंतु अल्प बहुत्व प्रकरण के प्रथम समय में गुणश्रेणी निक्षेप अपूर्वकरण अनिवृत्तिकरण सूक्ष्म सांपराय के काल से अन्तर्मुहूर्त अधिक है।

बन्ध व उदय व्युच्छित्ति – अपूर्वकरण के प्रथम भाग में निद्रा व प्रचला, छटवे भाग में तीर्थंकर आदि 30, सातवें भाग में हास्यादि चार नोकषाय इस प्रकार 36 प्रकृतियाँ बन्ध से व्युच्छिन्न होती है। तथा चरम समय में हास्यादि छ: नोकषाय उदय से व्युच्छिन्न होती हैं इस प्रकार अपूर्वकरण गुणस्थान में होने वाले कार्य हैं।

अनिवृत्तिकरण–अनिवृत्तिकरण के प्रथम समय में होने वाले कार्यों का निर्देश–

अणियट्ठिस्स य पढमे अण्णट्ठिदि खण्डपहुदि मारवई।
उव सामणा णिधत्ती णिकाचणा तत्थ वो च्छिण्णा।।226।।

अर्थ– अनिवृत्तिकरण के प्रथम समय अपूर्वकरण के अन्तिम समय से भिन्न स्थितिकाण्डक, अनुभाग काण्डक, स्थिति बन्धापसरण आरंभ करता है। वहीं (अनिवृत्तिकरण के प्रथम समय) सभी कर्मों का उपशम, निधत्ति व निकाचित इन तीन करणों की वयुच्छुत्ति करता है।

विशेष–अपूर्वकरण के प्रथम में जो स्थितिकाण्डकायाम होता है उससे उसी के अन्तिम समय में स्थितिकाण्डक आयाम संख्यात गुणाहीन होता है तथा अनिवृत्तिकरण के प्रथम समय में उससे भी संख्यात गुणा हीन जानना चाहिए। एक और विशेषता है कि अपूर्वकरण में नानापन था अर्थात् किसी का कम ज्यादा था लेकिन वैसा नानापन यहाँ नहीं पाया जाता। स्थितबन्ध अपूर्वकरण से पल्योपम का संख्यातवां भाग हीन होता है। अनुभाग काण्डक शेष का अनंतबहुभाग प्रमाण होता है।

गुणश्रेणी– जिस प्रकार अपूर्वकरण में होती थी उसी प्रकार गलितावशेष के क्रम से यहाँ भी होती है कोई फर्क नहीं है। गुणसंक्रमण भी वैसा ही होता है जैसा पूर्व में बतलाया गया है। यहाँ इतनी और विशेषता है कि हास्यादि जिन प्रकृतियों की व्युच्छित्ति हुई थी उनका यहाँ गुण संक्रमण प्रारंभ होता है। अप्रशस्त करण व्युच्छित्ति=अनिवृत्तिकरण के प्रथम समय में ही उपशम, निधत्ति निकाचन आदि इन तीनों करणों की व्युच्छित्ति हो जाती है।

उपशम करण– जो कर्म उत्कर्षण, अपकर्षण और पर प्रकृति संक्रमण के योग्य होकर पुन: उदीरणा के विरुद्ध स्वभाव रूप होने के कारण उदय स्थिति में अपकर्षित होने के अयोग्य है वह उस प्रकार से स्वीकार की गई अप्रशस्त उपशामना की अपेक्षा उपशान्त ऐसा कहलाता है। उसी का नाम उपशामना करण है। अर्थात् उदय के अयोग्य परमाणुओं की उपशम संज्ञा है।

निधत्तिकरण– जो कर्म अपकर्षण और उत्कर्षण के अविरुद्ध पर्याय के योग्य होकर पुन: उदय और पर प्रकृति संक्रमण रूप न हो सकने की प्रतिज्ञा रूप से स्वीकृत है उस अवस्था विशेष को निधत्तिकरण कहते हैं।

निकाचना करण– इन चारों के अयोग्य होकर अवस्थान की प्रतिज्ञा में प्रतिबद्ध हैं उनकी यह प्रतिज्ञा विशेष को निकाचनाकरण जानो।

(ज.ध.पु. 13 पृ. 231, ध.पु.6 पृ. 299, ध.पु.9 पृ. 236, ध.पु. 15 पृ. 276, गो.सा.क.का.गा. 440-444-450)

स्थिति सत्त्व व बन्ध– आयु के बिना 7 कर्मों का स्थिति सत्त्व व बन्ध अंत:कोटाकोटी सागर प्रमाण होता है। (गा. 227) इस प्रकार आगे हजारो बन्धापसरण हो जाने पर अब अनिवृत्तिकरण का बहुभाग व्यतीत हो जाने पर मोहनीय कर्म का हजार सागर नाम गौत्र का 1000x2 सा./7 ज्ञानावरण, दर्शनावरण अन्तराय, वेदनीय का 1000x3 सागर/7 कषायों का 1000x4/7 बन्ध स्थिति बन्ध होता है। इसी प्रकार संख्यात हजार स्थिति बन्धापसरण हो जाने पर चूंकि एक बन्धापसरण में पल्य का संख्यात

वां भाग स्थिति घटा देता है काण्डक घात भी इसी प्रकार चलता रहता है आगे 100 सागर, 50 सागर, 25 सागर, 1 सागर स्थिति बन्ध होता जाता है इसी प्रकार काण्डक घात भी होता रहता है और आगे जाकर पल्य प्रमाण स्थितिबन्ध होने लगता है ज्ञानावरणादि का बन्ध त्रैराशिक विधान से लगा लेना चाहिए। आगे पल्य प्रमाण स्थिति शेष रहने पर जब तक दूरापकृष्टि प्राप्त नहीं होती तब तक पल्य का बहुभाग बन्धापसरण होता है।

दूरापकृष्टि– बन्धापसरण होते हुए जब पल्य का असंख्यातवां भाग स्थिति बन्ध होने लगता है उसे दूरापकृष्टि कहते हैं। यहाँ से लेकर जब तक स्थिति संख्यात वर्ष प्रमाण नहीं होती तब तक पल्य का संख्यातवां भाग प्रमाण स्थिति बन्ध होता है।

क्रमकरण काल– यहाँ संख्यात हजार बन्धापसरण होते होते पहले सबसे अधिक बन्ध मोहनीय का था पश्चात् ज्ञानावरणादि तीसिया पश्चात् नाम, गौत्र का किन्तु हजारों बन्धापसरण व्यतीत होने पर सबसे अधिक मोह का उसके बाद नाम गौत्र पश्चात् ज्ञानावरणादि यह क्रम रह जाता है पश्चात् सबसे अधिक ज्ञानावरणादि का उससे कम मोह का उससे कम नाम गौत्र पुन: हजारों बन्धापसरण के पश्चात् मोहनीय कर्म का सबसे कम बीसियों का असंख्यात गुणा उससे अधिक तीसियों का यहाँ सर्वत्र पल्य का असंख्यातवां भाग बन्ध होता है। संख्यात हजार स्थिति काण्डक व्यतीत होने पर सबसे कम मोह उससे असंख्यात गुणा वीसिया उससे असंख्यात गुणा तीसियों का उससे असंख्यात गुणा वेदनीय का (साता वेदनीय)

क्रम विशेष– पल्य के असंख्यात बहुभाग आयाम वाले संख्यात हजार बन्धापसरण व्यतीत होने पर सबसे कम मोह का उससे असंख्यात गुणा तीसिय उससे असंख्यात गुणा वीसिय उससे डेढ़ गुणा वेदनीय कर्म का स्थिति बन्ध होता है।

नोट–यहाँ जो मोह कर्म का स्थिति बन्ध कहा जा रहा है यहाँ सर्वत्र संज्वलन व पुरुष वेद कषायों का लेना चाहिए क्योंकि मिथ्यात्व का व अन्य कषायों का यहाँ बन्ध नहीं है। इसलिए 1000x4/7 = इस क्रम से लेना चाहिए इसी क्रम से अन्य कर्मों का।

इस प्रकार पल्य का असंख्यात बहुभाग बन्धापसरण वाले हजारों बन्धापसरण इसी क्रम के प्रत्येक कर्म का यथायोग्य पल्य का असंख्यातवां भाग ही बन्ध होता है संख्यात वर्ष नहीं होता, संख्यात वर्ष अन्तरकरण करने पर होगा। हजारों स्थिति काण्डक घात करने पर भी स्थिति सत्त्व अन्त: कोड़ा कोड़ी सागर ही रहता है क्योंकि यहाँ स्थितिकाण्डक घात धीमी गति से होता है। अर्थात् कम आयाम वाला होता है।

उदीरणा– क्रम करण काल के प्रारंभ से अन्त तक हजारों बन्धापसरण व्यतीत होने पर मोहनीय कर्म का बन्ध जब पल्य के असंख्यातवें भाग मात्र होता है उस समय उदीरणा असंख्यात समय प्रबद्ध प्रमाण होती है अर्थात् इससे पहले अपकर्षित किये हुए द्रव्य में पल्य के असंख्यातवें भाग का भाग देकर बहुभाग तो गुणश्रेणी शीर्ष से उपरितन स्थिति तथा एक भाग में असंख्यात लोक का भाग देकर उदयावली में और बहुभाग गुणश्रेणी में क्षेपण करता था किंतु अब यहाँ अपकर्षित में पल्य के असंख्यातवें भाग का भाग देकर बहुभाग गुणश्रेणी शीर्ष से उपरितन स्थितियों तथा एक भाग में पल्य के असंख्यातवें भाग का भाग देकर बहुभाग गुण श्रेणी में एक भाग उदयावली में क्षेपण करता है। इस प्रकार अन्तर का जिक्र किया है। (क.पा.सु. पृ.688 सू. 115)

देशघाती करण–क्रमश: संख्यात हजार संख्यात हजार स्थिति बन्ध व्यतीत होने पर क्रमश: मन: पर्यय ज्ञानावरण व दानान्तराय कर्म का बन्ध देशघाती हो जाता है। इसके पश्चात् अवधि दर्शनावरण, अवधि ज्ञानावरण व लाभान्तराय उसके आगे हजारों बन्धापसरण बीत जाने पर श्रुतज्ञानावरण अचक्षुदर्शनावरण, भोगान्तराय पश्चात् हजारों बन्धापसरण व्यतीत होने पर चक्षु दर्शनावरण पुन: मतिज्ञानावरण और परिभोगान्तराय का पश्चात् वीर्यान्तराय कर्मों का अनुभाग देशघाती हो जाता है। स्थिति, बन्ध प्रत्येक पल्य का असंख्यातवां भाग ही है और प्रत्येक कर्म के बीच हजारों स्थिति बन्धापसरण लगा लेना चाहिए।

अन्तरकरण– इसके बाद हजारों स्थिति बन्धापसरण करने के पश्चात् मोहनीय कर्म की इक्कीस प्रकृतियों का अन्तर करण करता है। अन्तरकरण केवल मोहनीय कर्म में ही होता है अन्य कर्मों में नहीं। चारों संज्वलन व तीनों वेदों में से जिसका उदय है उसकी प्रथम स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थापित करता है शेष उन्नीस प्रकृतियों की प्रथम स्थिति आवली मात्र स्थापित करता है।

प्रश्न–अन्तरकरण किसे कहते हैं?

उत्तर–उदय रूप दोनों प्रकृतियों की प्रथम स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण छोड़कर ऊपर की कितनी ही स्थितियों को ग्रहणकर अन्तर करता है। अर्थात् उन स्थितियों में से मोहनीय कर्म के द्रव्य को ऊपरितन व प्रथम स्थिति में क्षेपण करता है तथा अन्तर स्थितियों में से सर्वद्रव्य को समाप्त कर देता है इसी को अन्तर कहते हैं। अनुदय रूप दो वेद व सात नो कषायों का जितना उपशामना काल होता है उतनी उदय रूप पुरुष वेद की प्रथम स्थिति होती है, किंतु उदय रूप कषाय की प्रथम स्थिति का काल इससे कुछ अधिक है। जिन प्रकृतियों का उदय नहीं है उन प्रकृति की उदयावली प्रमाण प्रथम स्थिति को छोड़कर आवली बाह्य स्थितियों को अन्तर के लिए ग्रहण करता है।

(ज.ध.13 पृ. 25.–54, क.पा.सु.पृ. 698)

यहाँ पर बतलाया जा रहा है कि अन्तर से ऊपर की सभी प्रकृतियों के निषेक समान हैं और नीचे असमान हैं। इसका अभिप्राय यह है कि जिन प्रकृतियों का उदय है उन प्रकृतियों की प्रथम स्थिति अन्तर्मुहूर्त है और जिनका उदय नहीं है उनकी प्रथम स्थिति आवली प्रमाण है अत: स्वमेव ही ऊपर नीचे होने के कारण विषमता सिद्ध है किन्तु अन्तर करण के ऊपर सभी निषेक एक समान है इसलिए ऊपर समान नीचे असमान है।

अन्तरकरण कितने समय में होता है? यहाँ अन्तरकरण के प्रथम समय में अन्य अर्थात् पहले जो स्थिति बन्धादि हो रहे थे उन्हें यहीं पर समाप्त कर अन्य स्थिति बन्ध को असंख्यात गुणा हीन रूप से बांधना आरंभ किया, अन्य स्थिति काण्डक पल्योपम के संख्यातवें भाग प्रमाण वाला ग्रहण किया और शेष अनुभाग के अनंत बहुभाग प्रमाण ग्रहण किया। ऐसे हजारों अनुभागकाण्डक प्रमाण एक स्थिति काण्डक होता है यही अन्तरकरण का भी काल होता है। (ल.सा.गा.244 ज.ध.पु. 13 पृ.255–56)

अन्तरकरण की विधि– अन्तरकरण करने के लिए उत्कीरित द्रव्य को अन्तरायाम में नहीं देता किंतु जिस प्रकृति का बंध व उदय है ऐसे पुरुष वेद व अन्य संज्वलन कषाय के द्रव्य को फाली द्वारा प्रथम व द्वितीय स्थि में निक्षिप्त करता है। जो प्रकृतियां केवल बंधती ही हैं उन प्रकृतियों के उत्कीरित द्रव्य को द्वितीय स्थिति में फाली रूप से देता है। जिन प्रकृतियों का मात्र उदय है बंध नहीं है उनके द्रव्य को मात्र प्रथम स्थिति में ही निक्षिप्त करता है। जिन प्रकृतियों का न बंध है न उदय है ऐसी प्रत्याख्यानावरण, अप्रत्याख्यानावरण व नोकषाय इनके द्रव्य को मात्र द्वितीय स्थिति में ही देता है। इस प्रकार उपर्युक्त कहे गये अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल के द्वारा अन्तरकरण की समाप्ति होती है।

नोट– किसी भी प्रकृति के उत्कीरित द्रव्य को अन्तरायाम में नहीं देता ऊपर नीचे ही देता है।

*1 आबाधा को छोड़कर सभी स्थितियों में देता है।

*2 बंधने वाली प्रकृति के द्रव्य को प्रथम द्वितीय स्थिति के निषेकों में आबाधा को छोड़कर ही निक्षिप्त करता है। (ज.ध.पु.13 पृ. 260, ल.सा. 245–46)

अन्तरकरण करने के पश्चात् होने वाली क्रिया विशेष–अन्तरकरण कर चुकने के पश्चात् मोहनीय कर्म संबंधी सात करण होते हैं। 1. मोहनीय कर्म का एकस्थानीय बंध 2. एक स्थानीय उदय 3. संख्यात वर्ष का स्थिति बंध 4. आनुपूर्वी संक्रमण 5. संज्वलन लोभ का असंक्रमण 6. नपुंसक वेद की उपशम क्रिया प्रारंभ छह आवलियों के बीत जाने पर मोहनीय कर्म की उदीरणा यद्यपि ये सभी करण सिर्फ मोहनीय कर्म में ही होते हैं।

सर्वप्रथम आनुपूर्वी संक्रमण – स्त्रीवेद व नपुंसकवेद के द्रव्य को पुरुष वेद में तथा पुरुष वेद, छ: नो कषाय तथा प्रत्याख्यान, अप्रत्याख्यान क्रोध के द्रव्य को क्रोध संज्वलन में संक्रमित करता है। इसी प्रकार क्रोध संज्वलन व दोनों प्रकार के मान को मान संज्वलन में एवं मान संज्वलन व दोनों प्रकार की माया कषाय के द्रव्य को माया संज्वलन में संक्रमित करता है। इसी प्रकार माया संज्वलन व दोनों प्रकार के लोभ को लोभ संज्वलन में देता है। इन सभी प्रकृतियों के प्रदेश पुंज को आनुपूर्वी क्रम से संक्रमित करना आनुपूर्वी संक्रमण कहलाता है। लोभ का असंक्रमण यह द्वितीय करण लोभ कषाय का संक्रमण नहीं होता।

मोहनीय कर्म का एक स्थानीय बन्ध- इससे पूर्व मोहनीय कर्म का बन्ध देशघाती द्विस्थानीय (लता.दारु का अनंतवा भाग) हो रहा था किन्तु यहा से परिणामों की विशुद्धि से एक स्थानीय बन्ध होता है। अर्थात् लता रूप ही होता है।

नपुंसक वेद का प्रथम समय उपशामक यह चौथाकरण है- यहाँ से नपुंसक वेद की उपशम क्रिया प्रारंभ होती है अन्य कर्मों की नहीं इसे आयुतकरण कहते हैं जिसका अर्थ है (उद्यत करण) अर्थात् उद्यत होना या प्रारंभ करना।

छह आवलियों के व्यतीत होने पर उदीरणा यह पाँचवां करण है-पहले कर्म बँधने के एक आवली (बन्धावली) व्यतीत होने पर वह कर्म उदीरणा आदि होने योग्य हो जाता है परन्तु यहाँ पर मोहनीय, ज्ञानावरणादि सभी कर्मों की उदीरणा, बन्ध होने के छह आवली व्यतीत होने पर ही होती है उससे पहले नहीं ऐसा ही यहाँ नियम होता है। यह करण यहीं आरंभ होता है।

मोहनीय कर्म का एक स्थानीय उदय छटवा करण- पहले मोहनीय कर्म का अनुभाग उदय द्विस्थान देशघाती था किंतु यहाँ से एक स्थानीय (लता रूप) उदय होने लगता है। यह अन्तरकरण के प्रथम समय से ही प्रारम्भ हो जाता है।

मोहनीय कर्म का संख्यात वर्ष प्रमाण स्थिति बन्ध-अभी तक मोहनीय कर्म का स्थिति बन्ध असंख्यात वर्ष प्रमाण था किन्तु सातवा करण अन्तरकरण के प्रथम समय से ही मोहनीय कर्म का संख्यात वर्ष स्थिति बन्ध होने लगता है किंतु अन्य कर्मों का स्थिति बन्ध अभी भी असंख्यात वर्ष ही है। इस प्रकार ये सातों करण अन्तरकरण करने के पश्चात् प्रथम समय से ही एक साथ प्रारंभ होते हैं। (ज.ध.पु. 13 पृ. 265-267, ल.सा.गा. 248-49, ध.पु. 6)

मोहनीय कर्म को उपशमाने का क्रम- प्रथम अन्तर्मुहूर्त में नुपंसक वेद को उपशमाता है तत्पश्चात् स्त्रीवेद को उसके बाद सात नो कषायों को उसके बाद तीनों (अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, संज्वलन) क्रोध को उसके बाद तीनों मान को उसके बाद तीनों माया को उसके बाद तीनों लोभ को उपशमाता है। प्रत्येक कर्म के उपशमाने का काल अन्तर्मुहूर्त है।

नपुंसक वेद के उपशम का विधान कहते हैं- अन्तरकरण करने के पश्चात् प्रथम समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त एक आयुत (उद्यत) करण के द्वारा प्रतिसमय असंख्यात गुणेश्रेणी रूप से नुपंसक वेद को उपशमाता है अन्य कर्मों को नहीं प्रथम समय जितना प्रदेश पुञ्ज उपशान्त होता है द्वितीय समय में उससे असंख्यात गुणा होता है। इस प्रकार श्रेणी रूप से असंख्यात गुणा क्रम से उपशमाता है क्योंकि यहाँ परिणाम विशेष का महात्म्य हैं। (ल.सा. 252, ज.ध.पु.13 पृ. 272-273)

यहाँ उदीरणा व उदयादि द्रव्य का अल्पबहुत्व लब्धिसार (गा.नं. 253 व ज.ध.पु.13 पृ.273-74) मूल ग्रंथ से जानें।

स्थिति व अनुभाग काण्डक घात- अन्तरकरण करने के पश्चात् मोहनीय कर्म का स्थिति व अनुभाग काण्डक घात नहीं होता किंतु स्थिति बन्धापसरण संख्यात गुणे हीन होते हैं। जबसे मोहनीय कर्म का स्थिति बन्ध संख्यात वर्ष होता है तबसे सभी प्रकृतियों के स्थिति बन्धापसरण संख्यात गुणेहीन होते हैं।

नोट- विशेष के लिए देखे लब्धिसार गा. 254-58 का विशेषार्थ

ल.सा.गा. 256, ज.ध.पु. 13 पृ.275-77

स्थिति बन्धापसरण का प्रमाण-सवेदी जीव के अन्तिम समय में संज्वलन कषायों का बत्तीस वर्ष प्रमाण स्थिति बन्ध होता है और प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त में एक अन्तर्मुहूर्त कम करता हुआ अवेदी भाग के प्रथम समय में अन्तर्मुहूर्त कम बत्तीस वर्ष संज्वलन कषायों का बन्ध करता है शेष कर्मों का संख्यात गुणेहीन क्रम से बन्ध को प्राप्त होता हुआ संख्यात हजार वर्ष जानना चाहिए। (ज.ध.पु.13 पृ.289-90)

इस प्रकार नपुंसक वेद को उपशमाकर पश्चात् स्त्रीवेद को उपशमाता हैं उसे ही कहते हैं- नपुंसक वेद के प्रति असंख्यात गुणी श्रेणी रूप से उपशमाता हुआ क्रम से उपशान्त होता है। इस प्रकार संख्यात हजार स्थिति बन्ध के व्यतीत होने पर स्त्री वेद का उपशम प्रारंभ करता है। उस समय मोहनीय कर्म के अतिरिक्त शेष कर्मों के पहले आरंभ किये गये स्थिति व अनुभाग काण्डकों की समाप्ति हो जाने के कारण अपूर्व स्थिति व अनुभाग काण्डक आरंभ करता है, परन्तु मोहनीय कर्म का स्थिति व अनुभाग घात नहीं होता। ज्ञानावरणादि कर्मों का असंख्यातगुणा व मोहनीय कर्म का संख्यात गुणाहानि रूप से अन्य स्थिति बन्ध प्रारंभ

करता है जिस प्रकार असंख्यात गुणी श्रेणी रूप से नपुंसक वेद को उपशमाता है उसी प्रकार श्रेणी रूप से स्त्रीवेद को भी उपशमाता है। (ज.ध.पु.13 पृ.278,79, ल.सा.गा. 259)

स्त्री वेद के उपशम काल का अन्तर्मुहूर्त प्रमाण संख्यातवां भाग व्यतीत होने पर तीन घातिया कर्मों का स्थिति बन्ध व जो पहले असंख्यात वर्ष का था यहाँ से संख्यात वर्ष प्रारंभ हो जाता है तथा केवल ज्ञानावरण व केवलदर्शनावरण को छोड़कर शेष घातिया कर्म प्रकृतियों का अनुभाग बन्ध देशघाती लता रूप से प्रारंभ करता है किंतु तीनों अघातिया कर्मों का स्थिति बन्ध अभी भी असंख्यात वर्ष है। यहाँ स्थिति बन्धापसरण संख्यात भागहीन ही होता है असंख्यात का व्यवहार नहीं हो सकता क्योंकि असंख्यात का व्यवहार संख्यात से नहीं हो सकता। इस प्रकार एक अन्तर्मुहूर्त में स्त्रीवेद का उपशम करता है।

सात नोकषायों का उपशम–स्त्रीवेद के उपशान्त हो जाने पर सात नो कषायों के उपशम को प्रारंभ करता है। उस समय मोहनीय कर्म को छोड़कर शेष कर्मों का स्थिति अनुभाग काण्डक घात विशेष होने लगता है। यहाँ से अर्थात् नो कषायों के उपशम काल के संख्यातवे भाग व्यतीत होने पर तीनों अघातिया कर्मों का स्थिति बन्ध संख्यात वर्ष प्रमाण है। अब सभी कर्मों का स्थिति बन्ध संख्यात वर्ष प्रमाण होता है इसका अल्प बहुत्व इस प्रकार है मोहनीय कर्म का बन्ध सबसे अल्प है तीनों घातिया कर्मों का स्थिति बन्ध संख्यात गुणा है उससे वेदनीय कर्म का स्थिति बन्ध विशेष अधिक है आगे प्रत्येक स्थिति बन्ध के पूर्ण होने पर संख्यात गुणा हीन अन्य स्थिति बन्ध प्रारंभ करता है। इस प्रकार हजारों स्थिति बन्ध करने के पश्चात् पुरुष वेद की प्रथम स्थिति के अन्तिम समय में सात नो कषायों का सम्पूर्ण उपशामक हो जाता है किन्तु इतनी विशेषता है कि पुरुष वेद का अन्तिम समय प्रबृद्ध (नवक समय प्रबद्ध) वह एक समय कम दो आवली तक अनुपशान्त रहता है क्योंकि एक आवली तक बन्धावली तक कर्मों में कोई प्रतिक्रिया नहीं होती पश्चात् एक आवली में एक एक निषेक करके उपशान्त हो जाता है। जो एक समय कम कहा है वह द्वि चरमावलि से कम करना चाहिए। विशेष के लिए देखे (लब्धि सा. गा. नं. 261–62, ज.ध.पु. 13 पृ. 280–82 व 85 ल.गा. 263)

पुरुष वेद के उपशमन काल के अन्तिम काल में स्थिति बन्ध की प्ररूपणा– सवेद भाग के अन्तिम समय में पुरुष वेद का 16 वर्ष प्रमाण व इससे दुगुणा अर्थात् 32 वर्ष प्रमाण स्थिति बन्ध होता है। शेष कर्मों का स्थिति बन्ध संख्यात हजार वर्ष प्रमाण होता है।

पुरुष वेद की प्रथम स्थिति में दो आवली शेष रहने पर होने वाले क्रियान्तर का प्रतिपादन करते हैं। (ल.गा. 264)

पुरुष वेद की प्रथम स्थिति में दो आवली शेष रहने पर आगाल और प्रत्यागल की व्युच्छित्ति हो जाती है। वहाँ प्रत्यावली में से उदीरणा होती है।

प्रश्न–आगाल प्रत्यागाल क्या हैं?

उत्तर–आगाल–द्वितीय स्थिति के प्रदेश पुंज का प्रथम स्थिति में आना आगाल है।

प्रत्यागाल–प्रथम द्वितीय के प्रदेश पुंज का द्वितीय स्थिति में प्रतिलोम रूप से जाना प्रत्यागाल है। (शेष देखें ज.ध.पु. 13 या.लब्धिसार गा. 265 का विशेषार्थ)

यहाँ एक और विशेषता है कि आनुपूर्वी संक्रमण प्रारंभ होने पर छह नो कषायों का द्रव्य पुरुष वेद में संक्रमित न होकर सीधा संज्वलन क्रोध में होता है। पुरुष वेद नवक समय प्रबद्ध–पूर्व में स्वस्थान में असंख्यात गुणे क्रम से उपशमाता था किंतु अवेदी काल में स्वस्थान में असंख्यात गुणे क्रम से उपशमाता है तथा पर प्रकृति में अध: प्रवृत्त संक्रमण के द्वारा क्रमश: हीन क्रम से संक्रमण करता है अर्थात् सम्पूर्ण समय प्रबद्ध प्रमाण द्रव्य में से प्रथम समय जो द्रव्य स्वस्थान में उपशमाता है और अध:प्रवृत्त भागहार से क्रोध संज्वलन में भी संक्रमित करता है।

द्वितीय समय में स्वस्थान में तो प्रथम समय की अपेक्षा असंख्यात गुणाउपशमाता है किन्तु संक्रमित हीन द्रव्य ही करता है क्योंकि शेष बचे हुए द्रव्य में ही अध:प्रवृत्त भागहार का भाग देकर जो द्रव्य प्राप्त होता है उसे ही संक्रमाता है। यहाँ नवीन द्रव्य

का आना रुक गया है और जो द्रव्य है वह क्रमश: कम होता जा रहा है, इसलिए संक्रमण हीन क्रम से होता है। इससे पूर्व आय हो रही थी इसलिए हीनता नहीं थी यहाँ आय का अभाव हो गया व्यय हो रहा है अत: सिद्ध हो जाता है कि संक्रमण हीन क्रम से ही होता है।

यहाँ एक बात और विचारणीय है किसी का प्रश्न हो सकता है कि अध: प्रवृत्त संक्रमण बन्ध के समय होता है यहाँ कैसे संभव है? उसका उत्तर है ऐसी अशंका नहीं करना चाहिए क्योंकि बन्ध के उपरत हो जाने पर भी तीन संज्वलन व पुरुष वेद का अध:प्रवृत्त संक्रमण होता है। (गा.267)

चारों संज्वलनों का अवेद भाग के प्रथम अन्तर्मुहूर्त में अंतर्मुहूर्त से हीन बत्तीस वर्ष प्रमाण स्थिति बन्ध होता है शेष कर्मों का संख्यात हजार वर्ष प्रमाण स्थिति बन्ध होता है। आगे अपगत वेदी होने पर क्रोध त्रय की उपशम विधि कहते हैं। (गा. 268-69)

पुरुष वेद के पुरातन कर्म के उपशान्त होने पर नवक बन्ध के उपशमन काल में ही तीनों प्रकार अर्थात् अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन क्रोध की उपशामना प्रारंभ करता है। इनकी वही पुरानी प्रथम स्थिति होती है। जब अन्तर करते समय पुरुष वेद की प्रथम स्थिति से विशेष अधिक संज्वलन क्रोध की प्रथम स्थिति स्थापित की थी, गलितावशेष से जितनी यहाँ पर शेष बची है वही यहाँ पर प्रवृत्त रहती है। प्रथम स्थिति में समय अधिक आवली काल शेष रहता है उस समय चारो संज्वलन का स्थिति बन्ध चार मास तथा शेष कर्मों का स्थिति बन्ध संख्यात हजार वर्ष होता है।

विशेष विधि- जब मान आदि की उपशम विधि प्रारंभ करता है। उस समय पुरुष वेद आदि से आवली अधिक (आवली अधिक तात्पर्य एक आवली लेना चाहिए) अपूर्व प्रथम स्थिति की रचना करता है, लेकिन इस प्रकार की रचना तीन प्रकार के क्रोध को उपसमाने में नहीं करता, क्रोध संज्वलन में जो पूर्व में प्रथम स्थिति रची गई थी वही यहाँ प्रवृत्त रहती है।

प्रत्येक स्थिति बन्ध के पूर्ण होने पर अन्तर्मुहूर्त हीन अन्य स्थिति बन्ध होता है। शेष कर्मों का संख्यात गुणा हीन होता है।

इस क्रम से क्रोध संज्वलन में आवली (उदयावली) प्रत्यावली (उदयावली के ऊपर) शेष रहने पर आगाल प्रत्यागाल की व्युच्छित्ति हो जाती है इसकी विधि पुरुष वेद में जैसी बतलाई थी वैसी जानना चाहिए। यह उत्पादानुच्छेद का आश्रय लेकर कथन किया गया है। उत्पादानुच्छेद क्या कहलाता है? जहाँ एक ही समय में दो कार्य होते हैं अर्थात् सद्भाव के अन्तिम समय में अभाव दिखलाना, सद्भाव व अभाव में समय भेद नहीं करना उत्पादानुच्छेद कहलाता है।

यहाँ पर दो आवली शेष अर्थात् उदयावली और उसके ऊपर की आवली काल तक आगाल प्रत्यागाल हो रहे थे लेकिन यही पर व्युच्छिन्न होकर एक समय कम होने पर वे बन्द हो जाते हैं। अब यहाँ से संज्वलन क्रोध की गुणश्रेणी भी बन्ध हो गई क्योंकि गुणश्रेणी आयाम जघन्य से भी आवली प्रमाण होता है उससे कम नहीं, यहाँ आवली से कम हो गया अब तो क्रोध संज्वलन का प्रत्यावलि में से ही अपकर्षण करके असंख्यात प्रदेशों की उदीरणा करता है। और प्रत्यावली में एक समय शेष रह जाने पर क्रोध संज्वलन की जघन्य स्थिति उदीरणा होती है।

चारों संज्वलनों का स्थिति बन्ध-उसी समय अर्थात् क्रोध संज्वलन की प्रथम स्थिति शेष रह जाने पर चारों संज्वलन का चार मास प्रमाण स्थिति बन्ध हो जाता है। शेष कर्मों का असंख्यात वर्ष प्रमाण स्थिति बन्ध होता है। क्योंकि प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त में संख्यात गुणा संख्यात गुणा हीन होते होते संख्यात हजार वर्ष रह जाता है।

क्रोध संज्वलन के संक्रमण विशेष का कथन-संज्वलन क्रोध में दो प्रकार (अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण) का क्रोध तब तक संक्रमण करता है जब तक क्रोध संज्वलन की प्रथम तीन आवलियाँ शेष रहती हैं। उसके बाद संज्वलन मान में संक्रमण होता है यहाँ गुण संक्रमण होता है। तीन आवलियाँ इस प्रकार है-

संक्रमणावलि- जब दोनों क्रोधों का संक्रमण संज्वलन मान में होता है तो यह एक आवली तक होता है इसलिए इसका नाम संक्रमावली हुआ।

उपशामनावली– एक आवली काल में तीनो प्रकार के क्रोधों का असंख्यात गुणित श्रेणी रूप से स्वस्थान में ही प्रशस्त विधि से उपशम हो जाता है यह क्रिया भी एक आवलि काल में हो जाती है। जिस काल में उपशामनावली समाप्त होती है उसी समय उच्छिष्टावली प्रारंभ होती है वहाँ तक तो क्रोध संज्वलन का बन्ध होता है अत: उसमें एक समय निकाल देने पर एक समय कम एक आवली+एक आवली में श्रेणी रूप से उपशम करता है व अध:प्रवृत्त संक्रमण करता है।

उच्छिष्टावली–प्रथम स्थिति में शेष बची आवली उसमें अर्थात् उपशामनावलि के समाप्त होते ही संज्वलन क्रोध की बन्ध व उदय व्युच्छित्त हो जाती है। अत: उसका नवक समय प्रबद्ध शेष रहता है उसका समय एक समय कम दो आवली प्रमाण है क्योंकि एक आवली तक कर्म जैसा का तैसा पड़ा रहता है और एक आवली में उपशम भाव को प्राप्त हो जाता है। जैसी विधि पुरुषवेद में कही थी उसी विधि से होती है। उसी समय उच्छिष्टावली प्रारंभ होती है वहाँ तक तो क्रोध संज्वलन का बन्ध है अत: उसमें एक समय निकाल देने पर एक समय कम एक आवली+एक आवली में श्रेणीरूप से उपशम करता है व अध:प्रवृत्तकरण से संक्रमण करता है।

प्रत्यावलि के उदयावलियों में प्रविष्ट होने पर संज्वलन क्रोध की प्रथम स्थिति में एक आवली शेष बचती है। इसी का नाम उच्छिष्टावली है। उच्छिष्टावलि के प्रथम समय में दो समय कम दो आवली तक नवक समय प्रबद्धों को छोड़कर संज्वलन क्रोध के सभी समय प्रबद्ध प्रशस्त उपशम विधि से उपशान्त भाव को प्राप्त हो जाते है। नवक समय प्रबद्ध को उपशमाने की विधि पुरुषवेद के समान है। जब क्रोध संज्वलन की प्रथम स्थिति में एक समय कम एक आवलि शेष रहती है। तभी क्रोध बन्ध का अभाव हो जाता है इससे पूर्व पूर्ण आवली का बन्ध व उदय होता था। वही उसका अन्तिम बन्ध व उदय होता है। अगले समय में व्युच्छित्ति हो जाती है। अगले समय में संज्वलन क्रोध का प्रथम निषेक संज्वलन मान में स्तिबुक संक्रमण के द्वारा संक्रमित हो जाता है इसी प्रकार एक–एक निषेक प्रति समय संक्रमण करते हुए एक समय कम किया गया है एक आवली में क्योंकि प्रथम समय में तो उदय था द्वितीय समय में अभाव है अत: एक समय कम हुआ। (ल.सा.गा. 270–71 की टीका, ज.ध.पु. 13 पृ.293–94)

मान कषाय की उपशम विधि–(गा.नं. 272–273)

एक समय कम उच्छिष्टावलि प्रमाण काल को छोड़कर क्रोध की प्रथम स्थिति को समाप्त कर उसके बन्ध उदय को समाप्त कर उसी समय संज्वलन मान का वेदक होता है। उसी समय उसकी प्रथम स्थिति की रचना करता है।

प्रथम स्थिति आयाम (लम्बाई) मान वेदक काल से एक आवली अधिक मान की प्रथम स्थिति आयाम है यही यहाँ गुणश्रेणी आयाम है।

अत: उपरितन स्थिति में से अपकर्षित द्रव्य को उदयावलि में कम द्रव्य प्रथम स्थिति में असंख्यात गुणा श्रेणी रूप से देता है पुन: अन्तरकरण को छोड़कर उपरितन (द्वितीय) स्थिति के प्रथम निषेक में प्रथम स्थिति (गुणश्रेणी शीर्ष) के अन्तिम निषेक में दिये गये द्रव्य से असंख्यात गुणा हीन देता है पुन: द्वितीय निषेक में चयहीन प्रमाण से अतिस्थापनावली के प्राप्त होने तक चय हीन क्रम से निक्षेप करता है।

नोट–द्रव्य विभाजन का क्रम गुणश्रेणी निर्जरा के समान जानना चाहिए जिसका व्याख्यान पूर्व में किया है।

अपकर्षित किये गये द्रव्य में पल्य के असंख्यातवें भाग से भाजित एक*[1] भाग को पुन: पल्य के असंख्यातवें भाग से भाजित एक भाग की उदयावलि में तथा बहुभाग को प्रथम स्थिति में देता है। पुन: असंख्यात बहुभाग को द्वितीय स्थिति में देता है। इसी प्रकार मान वेदक काल के द्वितीय समय यही क्रिया होती है, फर्क इतना है कि द्वितीयादि समयों में जो एक एक समय समाप्त होता जाता है तो शेष बचे समयों की प्रथम स्थिति में निक्षिप्ति करता है।

*[1] लब्धिसार की संस्कृत टीका

नोट–अन्तरकरण करते समय क्रोध वेदक की प्रथम स्थिति को छोड़कर शेष तीनों कषायों की प्रथम स्थिति एक आवली प्रमाण भी जो कि एक आवली काल में ही समाप्त हो गयी, अब यहाँ पुन: प्रथम स्थिति को स्थापित करता है। (ल.सा.गा. 272, आ. से प्रकाशित पृ.सं.238 का भावार्थ)

जिस समय क्रोध संज्वलन के बन्ध उदय व्युच्छिन्न होते हैं उसी समय तीनों मान (अप्रत्या.,प्रत्या.,सं.) आयुत (उद्यत) क्रिया द्वारा उपशामक होता है। (क.पा.सु.पृ.699 सू. 219–20, ज.ध.पु.13 पृ.297–98, ज.ध.मू.पृ.1854)

इसी समय तीनों संज्वलन कषायों का स्थिति बन्ध अन्तर्मुहूर्त कम चार मास होता है इससे पूर्व पूरा चार मास का क्योंकि बन्धापसरण का प्रमाण अन्तर्मुहूर्त है अन्य कर्मों का स्थिति बन्ध अभी भी संख्यात हजार वर्ष है इतनी विशेषता है कि पूर्व के बन्ध से संख्यात गुणा हीन है क्योंकि यहाँ बन्धापसरण का प्रमाण संख्यात हजार वर्ष है।

इस प्रकार तीनों मानों का वहीं उपशम प्रारंभ करके प्रति समय असंख्यात गुणे श्रेणी रूप से उपशमाने वाले के संख्यात हजार स्थिति बन्धों के द्वारा संज्वलन मान की गुणश्रेणी क्षीण होती है। (ज.ध.पु.13 पृ. 295–298)

मान संज्वलन की प्रथम स्थिति में एक समय अधिक एक आवली शेष रहने पर तीनों संज्वलन का स्थिति बंध दो मास शेष कर्मों का संख्यात हजार वर्ष होता है। (ज.ध.पु.13 पृ.299)

मान का संक्रमण– प्रथम स्थिति में तीन आवली शेष रहने तक अप्रत्या. मान व प्रत्या. मान का संज्वलन मान में संक्रमण होता है। एक समय कम तीन आवली शेष रहने पर तीनों प्रकार के मान को संज्वलन माया में संक्रमित करता है।

इसके आगे प्रत्यावली और उदयावली (प्रथम स्थिति में एक समय कम गलाकर) दो आवली शेष रहने पर आगाल, प्रत्यागाल व्युच्छिन्न हो जाते हैं। (ज.ध.पु.13 पृ.298–299)

मान संज्वलन की प्रथम स्थिति की प्रत्यावली के अन्तिम समय में तीनों प्रकार के मान का एक समय कम दो आवली प्रमाण नवक समय प्रबद्ध निषेकों को छोड़कर सम्पूर्ण द्रव्य उपशम भाव को प्राप्त हो जाता है मान कषाय की उदय उदीरणा बन्ध सब समाप्त हो जाता है, इसी समय मान संज्वलन की जघन्य उदीरणा होती है। (ल.सा.276, ज.ध.पु.13 पृ.299–300)

मानत्रिक की उच्छिष्टावलि का प्रथम निषेक संज्वलन माया कषाय के निषेक में स्तिबुक संक्रमण के द्वारा संक्रमित हो जाता है* क्योंकि यहाँ से लेकर अर्थात् मान कषाय की उदय व्युच्छित्ति होने के द्वितीय समय में ही माया संज्वलन का वेदक होता है। (*ल.सा.टी. 276)

उसी समय अर्थात् मान कषाय की अन्तिम आवली (उच्छिष्टावली) शेष रहने पर अर्थात् उपशान्त हो जाने पर संज्वलन माया की एक आवली अधिक अन्तर्मुहूर्त प्रमाण प्रथम स्थिति स्थापित करता है। यहाँ सारा कथन मान के समान जानना चाहिए। मान संज्वलन के निषेक स्तिबुक संक्रमण के द्वारा माया में संक्रांत होते रहते हैं। माया वेदक काल से लेकर, तीन प्रकार की माया का उपशामक होता है। यहाँ पर माया व लोभ का स्थिति बन्ध अन्तर्मुहूर्त कम दो माह प्रमाण होता है। शेष कर्मों का स्थिति बंध संख्यात हजार वर्ष है जो पूर्व स्थित बन्ध से संख्यात गुणाहीन है। इन्हीं कर्मों का स्थिति काण्डक पल्योपम के संख्यातवें भाग प्रमाण होता है तथा अनुभाग काण्डक अनंत गुणी हानि रूप होता है।

प्रश्न–स्तिबुक संक्रमण क्या कहलाता है?

उत्तर–उदय रूप से समान स्थिति में जो संक्रमण होता है वह स्तिबुक संक्रमण कहलाता है।

माया वेदक के प्रथम समय में पहले कहे गये मान संज्वलन के एक समय कम दो आवली प्रमाण नवक समय प्रबद्धों का प्रथम निषेक का निर्लेप होता है इसलिए उसे छोड़कर दो समय कम दो आवली प्रमाण नवक समय प्रबद्ध प्रमाण निषेक प्रत्येक समय में असंख्यात गुणे क्रम से उपशमाये जाते हैं। अत: माया वेदक काल के दो समय कम दो आवली काल में मान कषाय के सम्पूर्ण निषेक उपशम भाव को प्राप्त हो जाते हैं लेकिन मान संज्वलन के द्रव्य को विशेषहीन श्रेणीरूप से संक्रमण करता है कारण क्रोध के समान जानना चाहिए ये सर्व क्रिया मायावेदक के प्रथम समय में होती है। (ज.ध.पु. 13 पृ.300–302 व क.पा.सु.पृ.700)

मायात्रय का उपशाम–(गा. 278–79–80)

माया कषाय की प्रथम स्थिति में एक समय अधिक एक आवली काल शेष रहने पर माया व लोभ का स्थिति बन्ध एक मास प्रमाण व अन्य कर्मों का क्रोध कषाय के समान आलाप जानना माया संज्वलन की प्रथम स्थिति में जब तक तीन आवलियां शेष रहती हैं तब तक दोनों माया कषाय का संक्रमण संज्वलन माया में होता है। उसके बाद एक समय कम तीन आवलियां शेष रहने पर तीनों माया कषाय का द्रव्य संज्वलन लोभ में संक्रमित होता है।*[1] माया कषाय की प्रथम स्थिति के अन्तिम आवली के अन्तिम समय में नवक समय प्रबद्ध को छोड़कर शेष तीनों प्रकार की माया कषाय का द्रव्य उपशान्त हो जाता है। उसी समय माया संज्वलन का बन्ध उदय की व्युच्छित्ति होती है। क्योंकि उत्पादनुच्छेद में यह कथन बन जाता है। माया संज्वलन में एक समय कम एक आवली प्रमाण द्रव्य शेष है वह स्तिबुक संक्रमण के द्वारा संज्वलन लोभ में संक्रमण को प्राप्त होता है। शेष क्रिया जिस प्रकार मान में कही थी वैसी जानना चाहिए। (ज.ध.पु.13*[1]पृ.303*[2] 303–4)

लोभ कषाय का उपशम विधान (गा. 281)

से काले लोहस्सय पढ्मट्ठिदि कार वेदगो होदि।
ते पुण बादर लोहो माणं वा होदि णिक्खे ओ।।281।।

उसी समय अर्थात् माया कषाय की उच्छिष्टावलि शेष रहने पर संज्वलन लोभ की प्रथम स्थिति का कारक व वेदक होता है। द्वितीय स्थिति के प्रदेश पुंज को अपकर्षित कर श्रेणी रूप से उदयादि में निक्षेपण करता हुआ अन्तर्मुहूर्त प्रमाण प्रथम स्थिति को स्थापित करता है। यहाँ से लेकर सूक्ष्मसांपराय तक जितना लोभ संज्वलन का वेदक काल है उसके तीन भाग करने पर*[1] दो भाग तो बादर लोभ कषाय के है और *[2]एक भाग सूक्ष्म लोभ कषाय का वेदक काल है।

बादर लोभ वेदक काल की प्रथम स्थिति कुछ अधिक दो त्रिभाग लोभ वेदक काल की है। उसके ऊपर सूक्ष्म लोभ वेदक काल प्रारंभ होता है। सूक्ष्म लोभ वेदक काल से कुछ अधिक दो गुणे प्रमाण बादर लोभ वेदक काल को एक आवली प्रमाण अधिक करके बादर सांपरायिक जीव प्रथम स्थिति करता है। उस समय लोभ संज्वलन का स्थिति बन्ध एक अन्तर्मुहूर्त कम एक मास प्रमाण होता है क्योंकि उससे पूर्व पूरा एक मास था तथा यहाँ से आगे एक अन्तर्मुहूर्त कम हो जायेगा। शेष कर्मों का संख्यात हजार वर्ष प्रमाण है किंतु पूर्व के बन्ध से संख्यात गुणा हीन है, स्थिति काण्डक अभी भी पल्य का असंख्यातवां भाग, अनुभाग काण्डक अनंत गुणा क्रम से होता है। (क.पा.सु.पृ.701–2, ज.ध.पु. 13 पृ.304–6)

नोट– यहाँ लोभ वेदक काल के तीन भाग करने पर कुछ अधिक दो भाग तो अनिवृत्तिकरण के शेष भाग सूक्ष्म सांपराय का है। बादर लोभ वेदक काल से एक आवली अधिक प्रथम स्थिति है। **लोभ कषाय का दिवस पृथक्त्व स्थिति बन्ध–** संख्यात हजार स्थिति बन्धों के व्यतीत हो जाने पर बादर लोभ की प्रथम स्थिति का कुछ अधिक अर्धभाग बीत जाने पर लोभ कषाय का दिवस पृथक्त्व व शेष कर्मों का पृथक्त्व हजार वर्ष प्रमाण स्थिति बन्ध होता है।

(कषाय.पा.सु.पृ.701–2 ज.पु. 13 पृ.306)

कुछ कम अर्धभाग के शेष रहने पर कृष्टियों की रचना करता है। उनका प्रमाण स्पर्धक की वर्गणाओं के अनंतवे भाग प्रमाण है यहाँ बादर कृष्टियाँ नहीं होती क्योंकि बादर लोभ स्पर्धकगत हीन रहता है सीधा सूक्ष्मकरण होता है। वही कृष्टिकरण है कृष्टि का तात्पर्य अनुभाग शक्ति को कृश (क्षीण) करना घटाना आदि है और इतनी घटाना कि वह अत्यंत सूक्ष्म रह जाये इसी का नाम कृष्टि है, बादर सांपराय के काल में कृष्टि का कर्ता होता है और तत्पश्चात उन कृष्टियों का भोक्ता होता है इसी का नाम सूक्ष्म सांपराय गुणस्थान है।

यहाँ कृष्टियों में निक्षेपण किस प्रकार हेाता है इसका सविस्तार मूल में दिया गया है। यहाँ विस्तार न करते हुए कहा गया है कि प्रथम कृष्टि में जो अनुभाग शक्ति है वह पूर्वस्पर्धक से अनंत गुणीहीन है आगे भी अनंतगुणी हीन ही होती जाती है। उनकी संरचना इस प्रकार है।

कृष्टियाँ

बादर लोभ का अभी तक काण्डक घात होता था किन्तु अब काण्डक घात न होकर स्पर्धकगत अनुभाग का प्रतिसमय अनंतगुणा हीन करता है इसी का नाम कृष्टि है।

प्रश्न–कृष्टि किसे कहते हैं?

उत्तर–तनुकरणे धातु के आश्रय से कर्षण कृष्टि अर्थात् कर्म परमाणुओं की अनुभाग शक्ति का कृश करना (घटाना) कृष्टि कहलाती है। अथवा कृश्यत इति कृष्टि: के अनुसार प्रतिसमय पूर्व स्पर्धक की जघन्य वर्गणा से अनंतगुणी हीन अनुभागरूप वर्गणा को कृष्टि कहते हैं।

प्रश्न–कृष्टियाँ कितनी होती हैं? ल.सा. 283

उत्तर–एक स्पर्धक की वर्गणाओं में अनंत का भाग देने पर एक भाग प्रमाण कृष्टियाँ होती हैं। ज.ध.पु.13 पृ.307–8

नोट–उपशम श्रेणी में बादर कृष्टियाँ नहीं होती हैं क्योंकि बादर लोभ स्पर्धकगत ही होता है। सीधी सूक्ष्म कृष्टियाँ होती हैं। बादर लोभ का सूक्ष्म करना ही सूक्ष्म कृष्टि है।

प्रश्न–कृष्टि कब करता है? कैसे करता है?

उत्तर–बादर लोभ की प्रथम स्थिति के प्रथम अर्धभाग के व्यतीत हो जाने पर द्वितीय अर्ध भाग में अर्थात् प्रथम स्थिति की रचना की थी उस प्रथम स्थिति का पहला आधा भाग निकल गया अब दूसरा आधा भाग रह गया है उस समय कृष्टियों की रचना करता है। लोभ संज्वलन के अनुभाग सत्कर्म सम्बन्धी जघन्य स्पर्धक के नीचे अनंतगुणी हानि रूप से अपवर्तित कर अनुभाग कृष्टियों को करता है अर्थात् सबसे जघन्य लता समान स्पर्धक की प्रथम वर्गणा के अविभागी प्रतिच्छेदों से अनंतगुणे हीन अनुभाग युक्त सूक्ष्म कृष्टियों को करता है।

प्रश्न–एक जघन्य वर्ग (परमाणु) में शत्यंश (अविभागी प्रतिच्छेद) कितने हैं?

उत्तर–सम्पूर्ण जीव राशि से अनंतगुणे है इसी को जघन्य वर्ग समझना चाहिए। वर्ग के समूह का नाम वर्गणा है अर्थात् इतने–इतने परमाणु अविभागी प्रतिच्छेद सहित जितने कर्म परमाणु रूप वर्ग पाये जाते हैं। उनके समूह का नाम प्रथम वर्गणा है। संज्वलन लोभ के सत्ता में परमाणु है उनका अनुभाग कुछ अधिक डेढ़ गुणहानि का भाग देने पर जो प्रमाण प्राप्त होता है उतने परमाणु प्रथम वर्गणा में हैं। क.सा.पा. 284

प्रश्न–किस प्रकार कृष्टियों में द्रव्य का क्षेपण करता है?

उत्तर–प्रथम समय में संज्वलन लोभ के सर्वसत्त्व द्रव्य को अपकर्षण भागहार के द्वारा अपकर्षित कर उस एक भाग में भी पल्योपम के असंख्यातवें भाग का भाग देकर एक भाग प्रमाण द्रव्य को अनंतगुणी शक्ति से हीन करके सूक्ष्म कृष्टि रुप से स्थापित करता है उसमें भी प्रथम कृष्टि में जितना द्रव्य देता है उससे द्वितीय तृतीय आदि कृष्टियों में विशेष चय प्रमाण हीन द्रव्य क्रमश: देता है इस प्रकार पल्योपम से भाजित एक भाग प्रमाण द्रव्य की व्यवस्था है। शेष बहुभाग द्रव्य को पूर्व स्पर्धकों में क्रमश: चयहीन प्रक्रिया के द्वारा गुणहानि प्रतिगुण हानि के विधान से क्षेपण करता है। यह कार्य प्रथम समय का है द्वितीय समय का आगे बतलाते हैं।

चय का प्रमाण तथा प्रथम कृष्टिगत द्रव्य का प्रमाण लाने की विधि–

अर्थ संदृष्टि–अद्धणेण सव्वधणेखंडिदे मज्झिमधण दव्वमागच्छदि'' इस सूत्र के द्वारा उस एक प्रमाण भाग में कृष्टियों के प्रमाण रुप कृट्यायाम का भाग देकर मध्य धन प्राप्त होता है। इस मध्य धन को एक कम कृष्टि आयाम के आधे से अर्थात् = सर्वधन = मध्यधन, मध्यधन से हीन दो गुणा हानि का भाग देने पर चय का प्रमाण प्राप्त होता है।

$$\frac{\text{सर्वधन}}{\text{कृष्टिआयाम}} \quad \frac{\text{मध्यधन}}{\frac{\text{कृष्टिआयाम}}{2}}$$

उस चय प्रमाण को दो गुण हानि से गुणा करने पर प्रथम वर्गणा (आदि वर्गणा) का प्रमाण आता है। इतना द्रव्य प्रथम कृष्टि में निक्षिप्ति करता है।

अंक संदृष्टि = माना कि अपकर्षित किया गया द्रव्य 6400 है पल्य का प्रमाण = 4 है अत: 1600 हुआ इस द्रव्य को कृष्टि में विभाजन करना है माना प्रथम समय में कृष्टियों में विभाजन करना है माना प्रथम समय में कृष्टियों का आयाम = 8 है अत: 1600/8=200 यह मध्य धन प्राप्त हुआ कुछ कम कृष्टि आयाम का आधा अर्थात् 8-1/2=3½ प्राप्त हुआ अबगुण हानि अर्थात् निषकहार=8x2 = 16-3½=12½ इसका भाग मध्य धन में देने पर चय प्रमाण होता है अर्थात् 200x2 = 400 = 16 यह चय का प्रमाण प्राप्त हुआ।

$$\frac{\frac{25}{2}}{\quad} \qquad \frac{25}{\quad}$$

प्रश्न–निषेकहार किसे कहते हैं

उत्तर– गुणहानि आयाम को दूना करने पर जो राशि प्राप्त होती है उसे निषेकहार कहते हैं।

प्रथम वर्गणा=निषेकहारxचय =16x16=256 यह प्रथम कृष्टिगत द्रव्य प्राप्त हुआ द्वितीय कृष्टि चय प्रमाण हीन अर्थात् 256-16=240 हीन आया इसी प्रकार तृतीय कृष्ट में 240-16=224 लाना चाहिए। यह सब प्रथम (एक) समय का कार्य है यह प्रथम कृष्टि अनंतगुणा हीन अनुभाग सहित है।

कृष्टियों में अनुभाग = पूर्व स्पर्धकों के जघन्य वर्ग में अनुभाग के अविभाग प्रतिच्छेदों के, कृष्ट्यायाम का जितना प्रमाण है उतनी बार अनंत का भाग देने पर जो प्रमाण प्राप्त हो उतने प्रथम कृष्टि में अविभाग प्रतिच्छेद हैं। द्वितीय आदि कृष्टियों में क्रमश: अनंतगुणे अविभागी प्रतिच्छेद हैं। इसलिए एककम कृष्ट्यायाम मात्र बार अनंत से गुणा करने पर अन्तिम कृष्टि में पाये जाने वाले वे अनुभाग संबंधी अविभाग प्रतिच्छेद प्रथम कृष्टि से अनंत गुणा अधिक होते हैं। प्रथम कृष्टि को ही जघन्य कृष्टि कहते हैं तथा प्रथम समय में की गई कृष्टियों की पूर्वकृष्टि संज्ञा भी है आगे द्वितीय समय में अपूर्व कृष्टियों को करता है।

बहुभाग द्रव्य को पूर्व स्पर्धकों (निषेकों) में क्षेपण विधि संक्षेप में बतलाई है विस्तार से मूल ग्रंथ से जानें।

भावार्थ-यहाँ द्रव्य तो अधिक हैं किन्तु उसमें शक्तिहीन है जैसे प्रथम कृष्टि जिसे जघन्य कृष्टि कहा है उसमें कार्माण वर्गणाऐं अधिक है लेकिन शक्ति कम है द्वितीय कृष्टि में वर्गणाऐं कम हो गई लेकिन शक्ति जघन्य अनंतगुणी है। इसी प्रकार आगे भी जान लेना चाहिए।

गा. नं. 284 = कृष्टिकरण
कृष्टिरचना

माना कृष्टिगत द्रव्य = 1600 कृष्टि आयाम = 8 है।

क्षेपण विधि इस प्रकार =

144 अन्तिम कृष्टि (पूर्व)
160
176
192 विशेष चयहीन द्रव्य का क्षेपण
208 प्रथम समय संबंधी
224
240
256 जघन्य पूर्व कृष्टि

द्वितीय समय कृष्टि-गा. 285

प्रथम समय में जो द्रव्य अपकर्षित किया था उसकी अपेक्षा द्वितीय समय में यहाँ असंख्यात गुणे द्रव्य को अपकर्षित करता है किंतु कृष्टि असंख्यात गुणीहीन असंख्यात गुणी हीन ही प्रत्येक समय में रचना करता है। इस प्रकार प्रत्येक समय में द्रव्य तो असंख्यात गुणा अधिक व कृष्टि असंख्यात गुणी हीन क्रम से अन्तिम समय तक रचना करता हुआ कृष्टिकरण काल को समाप्त कर कृष्टि वेदक काल में प्रवेश करता है।

प्रश्न–कृष्टिकरण व कृष्टिवेदक काल किसे कहते हैं?

उत्तर–जिस काल में कृष्टियों की रचना की जाती है उसे कृष्टिकरण काल कहते हैं क्योंकि ये प्रथम स्थिति में की जाती है जो अभी उदयावली के ऊपर हैं, और जब उदयावली में प्रवेश कर उदय को प्राप्त होती हैं उस समय को कृष्टि वेदक काल कहते हैं। चूंकि यहाँ अनुभाग शक्ति अतिहीन सूक्ष्म है इसी काल को सूक्ष्म सांपराय भी कहते हैं।

कृष्टिकरण काल के प्रथम समय में की गई कृष्टियाँ अभव्यों से अनंतगुणी व सिद्धों के अनंतवें भाग प्रमाण होकर एक स्पर्धक की वर्गणाओं के अनंतवें भाग प्रमाण हैं तथा वे बहुत हैं। उसके अनंतर समय में जो अपूर्व कृष्टियाँ की जाती हैं वे असंख्यातगुणी हीन हैं। इस प्रकार अन्तिम समय तक जो अपूर्व कृष्टियाँ की जाती हैं। वे असंख्यात असंख्यात गुणी हीन क्रमशः जानना चाहिए। क्योंकि अपकर्षित सम्पूर्ण द्रव्य में से असंख्यातवें भाग प्रमाण द्रव्य को ही पूर्व कृष्टियों में आगमानुसार सिंचित करता है। शेष बहुभाग प्रमाण द्रव्य को उपरिम पूर्व की कृष्टियों में और स्पर्धकों में अपने–अपने विभाग के अनुसार क्षेपण करता है व निषेकों की रचना करता है।

प्रथम समय कृष्टियों में सबके जोड़ रुप से निक्षिप्ति हुआ द्रव्य अपकर्षित किये गये समस्त द्रव्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण होकर सबसे अल्प हो जाता है। तदनंतर दूसरे समय में विशुद्धि के माहात्म्यवश असंख्यातगुणे द्रव्य का अपकर्षण कर उसमें से असंख्यातवें भाग प्रमाण द्रव्य को ग्रहण कर पूर्वानुपूर्वी रुप से स्थिति कृष्टियों में सिंचित किया जाने वाला द्रव्य पूर्व के द्रव्य से असंख्यात गुणा होता है। क्योंकि तत्काल अपकर्षित किये जाने वाले द्रव्य में से कृष्टियों में दिये जाने वाले द्रव्य की उसी के प्रतिभाग के अनुसार प्रवृत्ति देखी जाती है। इसी प्रकार अन्तिम समय के प्राप्त होने तक तृतीयादि समयों की प्ररुपणा करना चाहिए। (ज.ध.पु. 13 पृ. 208–9)

द्वितीय समय में अपकर्षित द्रव्य का विभाजन–1. अधस्तन शीर्ष विशेषों में 2. उभय द्रव्य विशेषों में 3. अधस्तन कृष्टियों में 4. मध्यम खण्डों में इस प्रकार चार प्रकार के विभागों में निक्षिप्ति करता है।

अधस्तन शीर्ष विशेष द्रव्य– पूर्व समय में की गई कृष्टियों में से प्रथम कृष्टि में बहुत द्रव्य है द्वितीय कृष्टि में चय प्रमाण हीन द्रव्य है इसी प्रकार तृतीयादि में भी जानना चाहिए अब उन सभी कृष्टियों को समान द्रव्य वाली बनाने के लिए जो द्रव्य निक्षिति किया जाता है। उसे अधस्तन शीर्ष द्रव्य कहते हैं। उदाहरण–

	144	चरम कृष्टि
	160	
	176	
ये प्रथम समय में की गई कृष्टियाँ	192	
	208	
	224	
	240	द्वितीय कृष्टि
	256	प्रथम कृष्टि

पूर्वकृष्टि	अधस्तन शीर्ष	निक्षिप्ति द्रव्य	परिणामत: सर्वत्र समद्रव्य	पूर्व कृष्टि द्रव्य+अधस्तन विशेष द्रव्य (चय धन) 1600+28 चय धन (448) = 2048 सर्वत्र
144 +	सात	यहाँ चय का	256	
160 +	छ: चय	प्रमाण 16 है	256	
172 +	पाँच चय	अत: प्रथम	256	
192 +	चार चय	कृष्टि = 0	256	
208 +	तीन चय	द्वितीय = 16	256	
224 +	दो चय	तृतीय = 32	256	
240 +	एक चय	आदि-	256	
256 +	-		256	

सर्वत्र चय का प्रमाण निकलना= 16-प्रथम कृष्टि में पुन: उत्तर कृष्टियों में एक-एक चय अर्थात् 1+2+3 आदि 16+32+48 आदि क्रमश: से देना अत: एक कम पूर्व कृष्टि प्रमाण गच्छ=7 स्थापित किया पुन: गणित सूत्र =**पदमेगेण विहीणं सूत्र से-**

श्रेणी व्यवहार गणित सूत्र से =7-1=$\frac{6}{2}$=3 x 16 = 48 हुए

अर्थात् गच्छ सात में से एक घटाया = छ बचे पुन: दो का भाग दिया तीन बचे चय का गुणा किया तो अड़तालीस हुए पुन: उसमें गच्छ मिलाने पर (48+16=64) चौसठ हुए इनके गच्छ (7) से गुणा करने पर सम्पूर्ण अधस्तन शीर्षधन प्राप्त होता है अर्थात् 64x7=448 प्राप्त हुआ

अपूर्व कृष्टि रचना

प्रश्न-अपूर्वकृष्टि रचना किसे कहते हैं?

उत्तर-जो कृष्टि पहले रची गई पुन: उनमें द्रव्य क्षेपण किया जा रहा है उन्हें तो पूर्व कृष्टि तथा जो नवीन रचना हो रही है उन्हें अपूर्व कृष्टि कहते हैं।

प्रश्न-अपूर्वकृष्टि पूर्व कृष्टियों के बराबर हैं या हीनाधिक?

उत्तर-नहीं पूर्व कृष्टियों से अपूर्वकृष्टि असंख्यातगुणी हीन हैं। जैसे हम पूर्व में कृष्ट्यायाम = 8 मान चुके हैं असंख्यात की संख्या दो मान लेते हैं, अत: 4 = 4 अपूर्व कृष्टियों की रचना द्वितीय समय में करता है और इनमें समान द्रव्य देता है हीनाधिक नहीं देता तथा पूर्व कृष्टियों का जो स्वरूप नवीन बना है उतना द्रव्य प्रत्येक अपूर्वकृष्टि में देता है।

पूर्व कृष्टियों के प्रमाण में असंख्यात गुणे अपकर्षण का भाग देने पर अपूर्वकृष्टियों का प्रमाण आता है।

2. अधस्तन कृष्टि द्रव्य - जिस द्रव्य के द्वारा अपूर्वकृष्टियों की रचना होती है उसे अधस्तन कृष्टि द्रव्य कहते है। द्रव्य यहाँ सभी कृष्टियों में समान भाव से द्रव्य दिया गया है।

सम पट्टिका का = समान द्रव्य -

जैसे-

	256	चरम पूर्व कृष्टि	त्रैराशिक विधि से
	256		अपूर्व कृष्टियों का द्रव्य
	256		इच्छा रा. x फल रा.
	256		प्रमाण राशि
	256		$\frac{256 \times 4}{1} = 1024$
	256		
	256		
	256	प्रथम पूर्व कृष्टि	

	256	चरम अपूर्व कृष्टि	अपूर्व सम पट्टिका
द्वितीय समय कृत	256		
अपूर्व कृष्टियां	256		
	256	प्रथम अपूर्व कृष्टि	

अपूर्व कृष्टियों की संख्या = 4 है वे प्रथम कृष्टि के तुल्य है अत: 256+256+256+256=-1024 द्रव्य हुआ यह अधस्तन कृष्टि द्रव्य है।

उभय द्रव्य-सर्वप्रथम क्रमश: नीचे से अपूर्व कृष्टि को स्थापित करना चाहिए पश्चात् उसके ऊपर पूर्व कृष्टियों को क्रमश: स्थापित करें इस प्रकार पूर्व+अपूर्व अर्थात् 8-4=12 कृष्टियाँ हुई अब इनमें पूर्व कृष्टि की चरम (अन्तिम) कृष्टि में एक चय प्रमाण द्रव्य देना चाहिए पुन: द्वि चरम कृष्टि में दो चय प्रमाण पुन: तृतीय में तीन चय प्रमाण इस प्रकार प्रथम अपूर्व कृष्टि तक चय क्रम बढ़ते हुए द्रव्य देना। इस प्रकार कृष्टियाँ गोपुच्छाकार हो जाती है। उन कृष्टियों के सम्पूर्ण चय प्रमाण द्रव्य को जोड़ लेना चाहिए जो प्रमाण प्राप्त होता है उसे उभय द्रव्य जानना चाहिए। जैसे-

	पूर्व द्रव्य सर्वत्र सम द्रव्य	**+ मिलाय जाने वाला द्रव्य**	**उभय द्रव्य**	**गौपुच्छा कारता गौपुच्छाकार द्रव्य**	
चरम पूर्व कृष्टियाँ	256 +	1 चय	16	272	
द्वितीच पूर्व कृष्टियाँ	256 +	2 चय	32	288	उभय द्रव्य, विशेष
	256 +	3 चय	48	304	द्रव्य = 1 चय +
	256 +	4 चय	64	320	2 चय +3 चय +4 चय +
	256 +	5 चय	80	336	5 चय + 6 चय + 7 चय +
	256 +	6 चय	96	352	8 चय + 9 चय + 10 चय +
	256 +	7 चय	112	368	11 चय + 12 चय = कुल चय
प्रथम पूर्व कृष्टियाँ	256 +	8 चय	128	384	एकांतानुवृद्धि विधि
चरम अ. कृष्टियाँ	256 +	9 चय	144	400	$\frac{12}{2} = 6$
	256 +	10 चय	160	416	
	256 +	11 चय	176	432	पद = 12x6+6=78 चय हुए
प्र. अपू. कृष्टियाँ	256 +	12 चय	192	448	

कुल उभय = 78x16=1248 इस उभय द्रव्य को सभी कृष्टियों में मिलाया है जिससे सभी कृष्टियां गोपुच्छाकार हो गई।

	272	400	अपूर्व कृष्टियाँ
पूर्व	288	416	सभी गोपुच्छाकार हो जाती है।
कृष्टियां	304	432	
	320	448	
	336		
	352		
	368		
	364		

मध्यम खण्ड द्रव्य– द्वितीय समय में अपकृष्ट द्रव्य 3920 में से अधस्तनशीर्ष विशेष द्रव्य=448 अधस्तन कृष्टि द्रव्य = 1024 उभय विशेष द्रव्य = 1248 इन तीनों को घटाने पर अत: 3920–(448+1024+1248)=2720 अत: 3920–2720=1200 शेष बचा यही मध्यम खण्ड द्रव्य है। इसे समान भाग से सभी कृष्टियों मे क्षेपण करने पर इस प्रकार द्रव्य प्राप्त होता है।

272+100 = 372	चरम पूर्व कृष्टि
288+100 = 388	
304+100 = 404	
320+100 = 420	नोट– यहाँ संक्षेप में कहा है
336+100 = 436	विशेष जानने के लिए मूल ग्रंथ लबब्धिसार देखें।
352+100 = 452	
368+100 = 468	
384+100 = 484	प्रथम पूर्व कृ.
400+100 = 500	चरम अपूर्व कृ.
416+100 = 516	
432+100 = 532	
448+100 = 548	प्रथम अपूर्व

नोट–यहाँ इतना स्मरण रखना चाहिए कि उभय द्रव्य विशेष द्रव्य निकालने की निम्न विधि है।

सकल अपकृष्ट द्रव्य = 1600+3920=5520

सकल अपकृष्ट द्रव्य ÷ सकल कृष्टियाँ = 5520÷12 = 460 यह मध्य धन प्राप्त हुआ।

यहाँ एक गुणहानि = $17\frac{1}{8}$ प्राप्त हुई (यद्यपि गुणहानि कभी खण्ड रूप में प्राप्त नहीं होती परन्तु संदृष्टिया दृष्टांत तो दृष्टांत ही होता है वह दार्ष्टान्त से सर्व देश साम्य नहीं रखता है ऐसा जानना चाहिए। क्योंकि 548 रुप प्रथम कृष्टि $17\frac{1}{8}$ स्थानों को पार उसके आगे जाने पर आधी रह जाती है, अत: $17\frac{1}{8}$ स्थान आगे जाकर गुणहानि का प्रमाण होगा। यथा 512 परमाणु रुप निषेक से 8 स्थान से आगे नवमस्थान में 256 कर्म परमाणु रह जाते हैं तो वहाँ गुणहानि का (आयाम) प्रमाण 8 होता है। वैसे ही यहाँ पर 548 रूप प्रथम कृष्टि चय हीन होती हुई ऐसी जाती है– 548, 532, 516, 500, 484, 468, 452,

436, 420, 388, 372, 356, 340, 324, 308, 292, 276...। अब यहाँ चयहीन द्रव्य जाता हुआ 18वें स्थान पर 276 होता है। हमें 548 के आधे 274 अभीष्ट है। चूंकि एक स्थान आगे या पीछे जाने पर अर्थात् 17वें या 18वें स्थान पर जाने पर एक चय (16) की हानि या वृद्धि होती है, तो दो परमाणु की हीनता के लिए कितना-कितना स्थान आगे जाना पड़ेगा? उत्तर $\frac{1}{16} \times \frac{2}{16} = \frac{1}{8} = \frac{1}{8}$ अर्थात् $276\frac{1}{8}$ से स्थान आगे जाने पर वहीं कृष्टि का परमाणु परिमाण 274 हो जाता है जो कि 548 से ठीक आधा है तो 274 परमाणु का स्थान $17\frac{1}{8}$ वाँ हुआ इसलिए $17\frac{1}{8}$ वें स्थान में ही एक गुणहानि पूरी हो जाती है। ऐसा जानना चाहिए क्योंकि जहाँ द्रव्य आधा रह जाए उससे एक स्थान (पूरा पूरा) पहले जाने पर जो पहले निषेक स्थिति हो वहीं प्रथम गुणहानि का चरम स्थान होता है। अत: दो गुणहानि $17\frac{1}{8} \times 2 = 34\frac{1}{4}$ अब मध्य धन - एक कम गच्छ का आधे से न्यून दो गुणहानि चय अर्थात $460 \div 34\frac{1}{4} = \frac{11}{2}$ चय

$460 \div 28\frac{3}{4} = 460 - 28\frac{3}{4} = \frac{460}{1} \times \frac{4}{115}$ = अर्थात् चय = 16

सूत्रानुसार एक कम गच्छ 11 का आधा $5\frac{1}{2}$ को चय 16 को गुणित करने पर 88आये चय मिलाने पर 88+16= 104 = 104 x 12 (गच्छ) = 1248 हुए यही उभय द्रव्य विशेष द्रव्य है।

पूर्व कृष्टि

अन्तिम कृष्टि

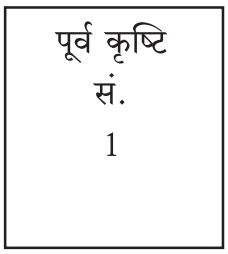

पूर्व कृष्टियों में अधस्तन शीर्ष द्रव्य मिलाने पर समान रुप पूर्व कृष्टि की रचना इस प्रकार होती है।

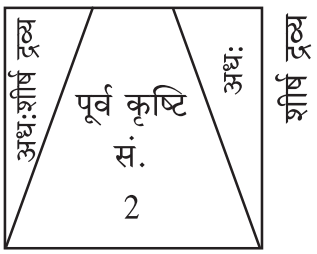

आदि कृष्टि

अधस्तन शीर्ष द्रव्य मिलाने पर समान रुप पूर्व कृष्टि की रचना के नीचे ही अधस्तन कृष्टि द्रव्य द्वारा सम पट्टिका रचना निम्न प्रकार होती है।

संदृष्टि 3 में उभय द्रव्य विशेष द्रव्य मिलाने पर संदृष्टि की आकृति निम्न प्रकार होती है इसे गौपुच्छ आकृति कहते हैं।

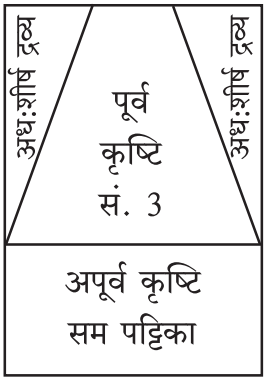

समान भाग लिए

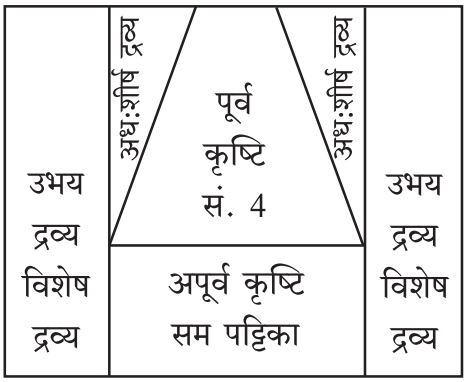

संदृष्टि नं. 4 में मध्यम खण्ड मिलाने पर संदृष्टि की आकृति निम्न प्रकार होती है। चित्र देखें ल.सा. पृ.सं. 232 पर गा. 287

गा. 287 के अल्प बहुत्व

चार प्रकार के कहे द्रव्य में अधस्तन शीर्ष विशेष द्रव्य सबसे कम = 448 उससे उभय द्रव्य = असंख्यात गुणा 1248 इससे अधस्तन कृष्टि द्रव्य अनंत गुणा 1024 इससे मध्यम खण्ड द्रव्य असंख्यात गुणा है।

नोट–गाथा के अन्तर्गत इसी प्रकार की रचना है किंतु अंकसंदृष्टि में अन्तर है इसका तात्पर्य यही हो सकता है कि समझने की दृष्टि है। किंतु विचार किया जाए तो अंक संदृष्टि भी सही बैठती है।

तृतीय समय में कृष्टि रचना

गाथा नं. 288–289

प्रथम समय में अपकर्षित किये गये समस्त प्रदेश पुंज के असंख्यातवें भाग को ग्रहण कर कृष्टियों में निक्षिप्त करता हुआ जघन्य कृष्टि में बहुत प्रदेश पुंज देता है उससे अनंतर उपरिम दूसरी आदि कृष्टियों में विशेष हीन क्रम से देता है। कितना हीन देता है? तो दो गुण हानि के प्रतिभाग के अनुसार अनंतवें भाग विशेष हीन देता हुआ अन्तिम कृष्टि तक जानना चाहिए। इतनी विशेषता है कि परंपरोपनिधा की अपेक्षा से भी गणना करने पर प्रथम कृष्टि में निक्षिप्ति हुए प्रदेश पुंज से अन्तिम कृष्टि में निक्षिप्ति प्रदेश पुंज अनंतवां भाग हीन होता है, क्योंकि कृष्टियों का आयाम एक स्पर्धक की वर्गणाओं के अनंतवें भाग प्रमाण है। पुन: अन्तिम कृष्टि में निक्षिप्ति हुए प्रदेश पुंज से ऊपर जघन्य स्पर्धक की आदि वर्गणा में अनंत गुणे हीन प्रदेश पुंज को देता है। विशेष के लिए देखें जय धवला पुस्तक 13 पृ. 311

प्रथम समय में अपकर्षित द्रव्य से असंख्यातगुणे द्रव्य को अपकर्षित कर द्वितीय समय पूर्व अपूर्व कृष्टियों में द्रव्य को देता है। द्वितीय समय तत्काल रचित अपूर्व कृष्टि की प्रथम, जघन्य (आदि) कृष्टि में प्रथम समय में अन्तिम कृष्टि से असंख्यात गुणा प्रदेश पुंज निक्षिप्ति करता है। इस आदि कृष्टि से द्वितीय अपूर्व कृष्टि में अनंतवें भाग हीन देता है। इस प्रकार अपूर्व कृष्टियों के अन्तिम कृष्टि तक असंख्यात भाग हीन क्रम से ले जाना चाहिए। इसके ऊपर जो प्रथम समय में रचित पूर्व कृष्टि की जघन्य, प्रथम कृष्टि में विशेष हीन अर्थात् असंख्यात वे भाग हीन और अनंतवें भाग प्रमाण कम देता है, क्योंकि प्रथम समय में पूर्व कृष्टियों में निक्षिप्ति द्रव्य से दूसरे समय में निक्षिप्ति किया जाने वाला द्रव्य अपकर्षित किये गये द्रव्य के माहात्म्यवश असंख्यात गुणा होता है। इसलिए पूर्व कृष्टियों की जघन्य कृष्टि में पहले का अवस्थित द्रव्य इस समय सिंचित किये जाने वाले असंख्यात वें भाग प्रमाण होता है। अत: उतना द्रव्य (अर्थात् अधस्तन कृष्टि द्रव्य) या पूर्व अवस्थित द्रव्य कम करके पुन: एक गोपुच्छ विशेष अर्थात् उभय द्रव्य विशेष और कम करके प्रदेश विन्यास होता है, अन्यथा कृष्टियों में एक गोपुच्छ विशेष श्रेणी की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इससे आगे ओघ उत्कृष्ट कृष्टि की अपेक्षा प्रथम समय में रची गई कृष्टियों में अन्तिम कृष्टि के प्राप्त होने तक सर्वत्र अनंतवां भाग प्रमाण विशेष हीन विन्यास होता है। पुन: उसेस जघन्य प्रदेश की आदि की वर्गणा में अनंतगुणा हीन प्रदेश पुंज दिया जाता है। (इस प्रकार चय प्रमाण घटते हुए) उससे उत्कृष्ट स्पर्धक उत्कृष्ट वर्गणा के प्राप्त होने तक अनंतवा भाग प्रमाण विशेष हीन प्रदेश विन्यास होता है।

जघन्य अतिस्थापना प्रमाण स्पर्धक नीचे सरक कर स्थित हुए वहाँ के स्पर्धक प्रदेश के विन्यास का जैसा क्रम दूसरे समय में कहा गया है वैसा शेष समयों में भी जान लेना चाहिए क्योंकि मान अर्थात् दिये जाने वाले द्रव्य की यह श्रेणी प्ररूणा है। दृश्यमान द्रव्य की श्रेणी अपेक्षा प्रथम कृष्टि में दृश्यमान द्रव्य बहुत है। उससे दूसरी में अनंतवां भाग हीन है इस प्रकार अन्तिम कृष्टि तक उत्तरोत्तर अनंतवां भाग ही हीन जानना चाहिए। स्पर्धक की वर्गणाओं में भी दृश्यमान द्रव्य विशेष हीन होता है। ज.ध. पु. 13 पृ. 310–14

गाथा 290

अनुभाग शक्ति की अपेक्षा अल्प बहुत्व अनुभाग की अपेक्षा जघन्य अपूर्व कृष्टि के अनुभाग प्रतिच्छेदों से द्वितीय कृष्टि

के अनुभाग प्रतिच्छेद अनंतगुणे हैं। इसी प्रकार अनंत गुणित क्रम पूर्व कृष्टियों की अन्तिम कृष्टि तक ले जाना चाहिए। इस प्रकार बादर लोभ वेदक काल का द्वितीयार्थ काल समाप्त होता है।

विशेषार्थ– जघन्य कृष्टि सदृश धन वाले परमाणुओं में से एक परमाणु के अविभागी प्रतिच्छेदों को ग्रहण कर एक कृष्टि होती है यह स्तोक है। दूसरी कृष्टि के एक परमाणु संबंधी अविभाग प्रतिच्छेद अनंतगुणे हैं। इस प्रकार एक–एक परमाणु को ग्रहण कर अनंत गुणित क्रम से अन्तिम कृष्टि के प्राप्त होने तक ले जाना चाहिए। अथवा सदृश धन वाले अनंत परमाणुओं को कृष्टिरूप से ग्रहण कर यह कथन करना चाहिए क्योंकि उत्तरोत्तर एक–एक अविभाग प्रतिच्छेदों की क्रमवृद्धि यहाँ नहीं पायी जाती इसलिए इनकी कृष्टि संज्ञा है। पुन: अन्तिम कृष्टि के ऊपर जघन्य स्पर्ध की प्रथम वर्गणा अनंत गुणी है।

नोट– लोभ वेदक काल के द्वितीय त्रिभाग की कृष्टि करण काल संज्ञा है क्योंकि यहाँ पर स्पर्धकगत अनुभाग का अपर्वतन कर कृष्टियों को करता है। जिस प्रकार क्षपक श्रेणी में कृष्टियों को करता हुआ सभी पूर्व अपूर्वस्पर्धकों का पूर्ण रुपेण अपवर्तन करता हुआ कृष्टियों को ही स्थापित करता है, उस प्रकार उपशम श्रेणी में संभव नहीं है, क्योंकि सभी पूर्व स्पर्धकों के अपने–अपने स्वरुप को छोड़े बिना उसी प्रकार अवस्थित रहते हुए सर्व स्पर्धकों में से असंख्यात प्रमाण द्रव्य का अपकर्षण कर एक स्पर्धक की वर्णणाओं के अनंतवें भाग प्रमाण सूक्ष्म कृष्टियों की रचना होती है।

इस प्रकार कृष्टि का कथन पूर्ण हुआ।

इस प्रकार कृष्टिकरण काल को पूर्ण करता है। कृष्टिकरण काल के संख्यात वे भाग को प्राप्त होता है। वहाँ संज्वलन लोभ का अन्तर्मुहूर्त तथा शेष घातिया कर्मों का दिवस पृथक्त्व स्थिति बंध होता है। कृष्टिकरण काल के द्विचरम स्थिति बन्ध समाप्त होने तक अघातिया कर्मों का स्थिति बन्ध संख्यात हजार वर्ष है।

क्योंकि घातिया कर्मों के समान अघातिया कर्मों का अपसरण होना असंभव है।

कृष्टिकरण काल में स्थिति बन्ध लोभ कषाय का अन्तर्मुहूर्त प्रमाण घातिया कर्मों का कुछ कम एक दिन प्रमाण अघातिया कर्मों का कुछ कम दो वर्ष प्रमाण स्थिति बन्ध होता है।

संक्रमण की अवधि का विचार–कृष्टिकरण काल में एक समय कम तीन आवलिया शेष रहने पर दोनों लोभ (अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण) संज्वलन लोभ में संक्रमण नहीं होता अपितु स्वस्थान (अपने रूप) ही उप समाये जाते हैं। (गा.294, क.पा.सु.पृ.703 सू. 266)

आवली और प्रत्यावलि के शेष रहने पर आगाल प्रत्यागाल व्युच्छिन्न हो जाते हैं प्रत्यावलि में एक समय शेष रहने पर लोभ संज्वलन की जघन्य स्थित उदीरणा होती है। (ज.ध.पु. 13 पृ.317–18, क.पा.सु.पृ. 709 सू. 267, ध.पु.6 पृ.314)

लोभत्रय की उपशामना विधि– जब प्रत्यावली में एक समय शेष रहता है उस समय उच्छिष्टावलि और नवक समय प्रबद्ध को छोड़कर तथा कृष्टियों को छोड़कर शेष तीनों प्रकार का लोभ उपशान्त हो जाता है यही बादर सांपराय (अनिवृत्तिकरण) का अन्तिम समय है। यहाँ तीन प्रकार का द्रव्य उपशान्त नहीं होता है। 1. उच्छिष्टावली–उदयावली 2. नवक समय प्रबद्ध–अन्तिम समय में बन्ध होने वाले द्रव्य 3. कृष्टिगत द्रव्य–जो द्रव्य कृष्टिरूप परिणमन कर गया है। (ल.सा.गा. 295, ज.ध.पु. 13 पृ.218–19)

सूक्ष्मसांपराय में होने वाले कार्य–(गा. 296)

अनिवृत्तिकरण काल के क्षीण होने पर अनन्तर काल में सूक्ष्म कृष्टियों की प्रथम स्थिति का कर्ता है, तथा उसी का वेदक होता है। अर्थात् सूक्ष्म सांपराय संयत जीव उसी समय दूसरी स्थिति में अपकर्षण भागहार के द्वारा कृष्टिगत प्रदेश पुंज को ग्रहण कर उदयादि श्रेणी रूप से अन्तर्मुहूर्त आयाम को लिए हुए प्रथम स्थिति की रचना करता है।

बादर लोभ की प्रथम स्थिति – कुछ कम अर्धभाग प्रमाण अर्थात् कुछ कम 1/2 भाग प्रमाण सूक्ष्म सांपराय संयत के काल प्रमाण प्रथम स्थिति की रचना होती है।

ज्ञानावरणादि की गुणश्रेणी रचना– सूक्ष्म सांपराय से विशेष अधिक है और उदयावलि के बाह्य होती है। क्योंकि अपूर्वकरण गुणस्थान के प्रथम समय जो गुणश्रेणी रची गई थी उसका गलितावशेष के द्वारा जो समय शेष है वही यहाँ गुणश्रेणी आयाम है। (ध.पु.6 पृ.315, ज.ध.पु. 13 पृ. 219-20)

कृष्टि वेदन काल प्रथम समय– प्रथम समय में की गई कृष्टियों में उपरितन पल्य के असंख्यातवे भाग प्रमाण कृष्टियों को छोड़कर तथा कृष्टिकरण काल के अन्तिम समय में की गई कृष्टियों में से नीचे की पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण कृष्टियों को छोड़कर शेष बहुभाग प्रमाण कृष्टियों के द्रव्य में तथा प्रथम व अन्तिम समयगत कृष्टियों के अलावा शेष समयों में रची गई अपूर्व कृष्टियों के द्रव्य में अपकर्षण भागहार का भाग देकर द्रव्य का अपकर्षण कर उदयादि को प्राप्त कराई जाती है। यह कथन सदृश धन को लेकर करना चाहिए जो सदृश धन वाला द्रव्य है उसी की उदीरणा होती है अर्थात् सदृश धन वाले प्रदेश पुंज को देता है। प्रथम समय में जो कृष्टियाँ छोड़ी गई हैं उनमें शक्ति अधिक है तथा नीचे जो कृष्टियां छोड़ी है उनमें शक्ति अंश कम है इसलिए उनके प्रदेश पुंज को छोड़कर यह मध्यम प्रदेश पुंज को ग्रहण किया गया है।

प्रथम समय में रची गई कृष्टियों का यहाँ बहुभाग को ग्रहण किया एक भाग बचता है। अत: उनका ही यहाँ वेदन होता है शेष बचे हुए पल्योपम के असंख्यातवें भाग का यहाँ उदयाभाव होने से सूक्ष्म सांपराय के प्रथम समय में वेदन नहीं होता है, ऐसा नीचे व ऊपर दोनों स्थानों पर जानना चाहिए। यहाँ एक और विशेषता है कि पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण जो अनुदीर्माण कृष्टियाँ है वे अपने स्वभाव रूप उदीरित न होकर परभाव अर्थात् अनंतगुणी हीन होकर उसी प्रथम समय उदीरित होती हैं जैसे माना कि मिथ्यात्व का द्रव्य परिणाम विशेष के बल से अपनी शक्ति को अनंत गुणीहीन करके सम्यक्त्व प्रकृति रूप परिणमन कर जाता है, उसी प्रकार जिन कृष्टियों में अधिक शक्ति है उनकी शक्ति अनंतगुणी हीन होकर उदीरित होती है। किंतु शेष समयों की अपूर्व कृष्टियों का प्रदेश पुंज अपने स्वरूप से ही उदीरित होता है, इसलिए यह बतलाया है। यहाँ मध्यम प्रदेश पुंज के उदय का आश्रय लिया है। अत: ऊपर कृष्टियाँ जो अधिक शक्ति वाली हैं उन्हें छोड़ा गया है तथा नीचे की कृष्टियाँ है जो अत्यंत हीन शक्ति अंश वाली हैं उन्हें भी छोड़ा गया है। उनकी उदीरणा शक्ति अंश बढ़कर उदीरित होता है। अत: मध्यम प्रदेश पुंज बनाकर उदय में दिया जाता है। यही इस कथन का आशय है।

जैसे- सम्यक्त्व व सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के स्पर्धक अपने स्वरूप को छोड़कर मिथ्यात्व प्रकृति रूप होकर उदय को प्राप्त होते हैं। अपने स्वरूप से उदय को प्राप्त कराने का निषेध है किंतु पर रूप से उदय को प्राप्त कराने का निषेध नहीं है। यह कथन (ध.पु.6 पृ.315, क.पा.सु.पृ. 704 सूत्र-274-77, ज.ध.पु.13 पृ. 220-221, 220-23)

यहाँ अंक संदृष्टि से कथन करते हैं।

माना कि सम्पूर्ण कृष्टियों की संख्या = 1,000 है और पल्य का असंख्यातवां भाग = 5 है अत: 1000/5=200 इन कृष्टियों में अधस्तन व उपरितन दोनों प्रकार की सम्मिलत है अत: अधस्तन कितनी है उपरितन कितनी है? सो कहते हैं अधस्तन व उपरितन कृष्टियों के सम्मिलत द्रव्य में पल्य को अलग रख दें शेष बहुभाग को आधा करके एक आधे में जो एक भाग अलग रखा था उसको मिला दे यही द्रव्य उपरितन कृष्टियों का है और जो बहुभाग का आधा किया था वह द्रव्य अधस्तन कृष्टियों का है। एक भाग प्राप्त हुआ सो ये कृष्टियाँ उदय में नहीं आती हैं अध:स्तन = 200/5= एक भाग, बहुभाग 200 = 40 अत: 40 एक भाग है और 200-40=160 बहुभाग है। 200-40 = 160/2=80 अत: अध:स्तन कृष्टियाँ=80 है ऊपर की कृष्टि=120 है जो अपने रूप उदय होकर नहीं आ रही हैं। उदय रुप कृष्टियाँ 800 है जिनमें से अपकर्षण भागहार का भाग देकर उदय रूप वेदन कर रहा है।

द्वितीय समय में- दूसरे समय में उदीर्ण हुई कृष्टियों के अग्राग्र से पल्य के असंख्यातवें भाग को छोड़ता है तथा नीचे से अपूर्व असंख्यातवें भाग को स्पर्श करता है। (क.पा.सु. पृ. 705 सू. 281)

अर्थात् जो पहले समय में अनुदीर्ण कृष्टियां थी उनमें से ऊपर की कृष्टियों में से पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण कृष्टियों को छोड़ देता है तथा नीचे की कृष्टियां जो अनुदीर्ण थी उनमें से पल्य के असंख्यातवें भाग उदय रूप देता है, इस प्रकार जो पूर्व समय जितनी कृष्टियों का उदय था द्वितीय समय में उनसे पल्य के असंख्यातवें भाग हीन कृष्टियां स्वमुख उदय रूप है, तथा शेष कृष्टियां अनंत गुणी अनुभाग शक्ति से हीन रूप उदीरणा को प्राप्त होती है। जिसका कथन पूर्व में किया ही है।

अंक संदृष्टि = प्रथम समय में उपरितन अनुदीरित कृष्टियाँ = 120 अत: 120/5=24 अध:स्तन कृष्टियाँ =80

अत: 80/5 = 16

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि उपरितन कृष्टि जो अनुदीर्ण रूप थी उनमें 24 कुष्टियां और मिल जाती है जो अनुदीर्ण रूप से उपस्थित हो जाती हैं। और नीचे की जो 80 कृष्टियां अनुदीर्ण रूप थी उनमें से पल्य के असंख्यातवें भाग अर्थात् 80/5=16 कृष्टियाँ उदीर्णा रूप हो जाती है इस प्रकार ऊपर से कम हो जाती है नीचे बढ़ जाती है अत: 24-16=8 प्रथम समय में 800 कृष्टियाँ उदय रूप थी, द्वितीय समय में 800-8=792 कृष्टियाँ उदीर्णा रूप हैं इनकी उदीरणा अपने स्वरूप से होती है, शेष ऊपर की 144 तथा नीचे की 64 कृष्टियों की उदीर्णा अनंतगुणीहीन अनुभाग सहित होती है इसी प्रकार तृतीय समय आदि सूक्ष्म सांपराय के अंत समय पर्यंत जानना चाहिए। यही इस गाथा का आशय है।

विशेषार्थ-यहाँ सूक्ष्म सांपराय के प्रथम समय से द्वितीय समय का अनुभाग अनंतगुणा हीन होता है तृतीय समय का अनंतगुणाहीन इस प्रकार से सूक्ष्म सांपराय के अंत तक जानना चाहिए। यदि ऊपर की कृष्टियां जिनमें अनुभाग अधिक है यदि इन्हें कम नहीं किया जायेगा तो अनंतगुणाहीन अनुभाग संभव नहीं हो पायेगा नीचे वाली कृष्टियों का अनंतगुणा हीन-हीन है इसलिए वे मिलती जाती हैं। अब इनका क्रम इस प्रकार है ऊपर से लेकर पल्य के असंख्यातवे भाग तक क्रम से कृष्टियों को छोड़ता है जैसे (एक) से लेकर 144 तक की कृष्टियों को छोड़ देता है, तथा उसके नीचे 145 से लेकर 936 वे नं. तक की कृष्टि को वेदन करता है उसके नीचे की 64 कृष्टियों को छोड़ देता है। यहाँ 16 अपूर्व कृष्टियों को वेदन करता है अर्थात् जिनका पूर्व में वेदन नहीं कर रहा था। यहाँ प्रथम समय में उदीर्ण हुई कृष्टियों से द्वितीय समय में उदीरित होने वाली कृष्टियां विशेषहीन हैं क्योंकि अपूर्व लाभ भाग से उपरि परित्याग भाग बहुत है। शेष सुगम है।

इस प्रकार सूक्ष्म सांपराय गुणस्थान का पालन करता हुआ आवली प्रत्यावलि शेष रहने पर आगाल प्रत्यागाल की व्युच्छित्ति हो जाती है। पश्चात् एक समय अधिक एक आवली शेष रहने पर जघन्य स्थिति उदीरणा करके सूक्ष्म सांपराय का अन्तिम समय प्राप्त होता है। **सूक्ष्म कृष्टि द्रव्य के उपशमाने की विधि व सूक्ष्मसांपराय के अन्त में** स्थिति बन्ध-(गा. 299-300)

यहाँ सूक्ष्म सांपराय के प्रथम समय से लेकर अन्तिम समय तक प्रत्येक समय में असंख्यात गुणित क्रम से सभी कृष्टियों के प्रदेश पुंज को उपशमाता है वह इस प्रकार है

प्रथम समय में = सर्व कृष्टि गत प्रदेश पुंज पल्योपम का असंख्यातवां भाग

द्वितीय समय = सर्वकृष्टि गत प्रदेश पुंज **X** असं./पल्यों का असंख्यातवां भाग अथवा

सर्वकृष्टिगत प्रदेश पुंज

पल्योपम का असंख्यातवां भाग

असंख्यात

तृतीय समय = द्वितीय समय में उपशमाय द्रव्य **X** असंख्यात

चतुर्थ समय = तृतीय समय में उपशमाया द्रव्य **X** असंख्यात

इसी क्रम से सूक्ष्म सांपराय के अन्तिम समय तक जानना चाहिए। इस प्रकार गुणश्रेणी के क्रम से उपशमाता हुआ केवल इसी द्रव्य को नहीं उपशमाता है किंतु दो समय कम दो आवली प्रमाण नवक समय प्रबद्ध स्पर्धक हैं उन्हें भी असंख्यात गुणित श्रेणी रूप से उपशमाता है। बादर सांपराय के अंत समय स्पर्धक गत उच्छिष्टावली शेष रह गई थी वह यहाँ पर कृष्टिरूप से परिणमकर स्तिबुक संक्रमण के द्वारा विपाक को प्राप्त होती है।

स्थितिबन्ध = छ: कर्मों का बन्ध यहाँ होता है क्योंकि आयु कर्म की बन्ध व्युच्छित्ति पूर्व में अप्रमत्त गुणस्थान में हो गई मोहनीय कर्म की बादर सांपराय गुणस्थान में हो गई, शेष छ: कर्म बचे हैं उनका यहाँ बन्ध होता है। अत: ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय का अन्तर्मुहूर्त प्रमाण तथा वेदनीय का चौबीस मुहूर्त प्रमाण, नाम–गौत्र का सोलह मुहूर्त प्रमाण होता है। यह बन्ध क्षपक श्रेणी में इससे आधा अर्थात् 1/2 होता है। यहाँ सभी कर्मों की बन्ध व्युच्छित्ति हो जाती है केवल वेदनीय कर्म एक समय की स्थिति को लिए बन्ध हो प्राप्त होता है क्योंकि स्थिति अनुभाग बन्ध के कारण भूत कषायों की यहाँ पर समाप्ति हो जाती है। यह बन्ध उपशांत मोह से लेकर सयोग केवली तक होता है। (ज.ध.पु.13 पृ.223–26, क.पा.सु.पृ. 705, ध.पु. 6 पृ. 316)

उपसंहार = इस प्रकार पुरुष वेद के उच्छिष्ट मात्र निषेक संज्वलन क्रोध की प्रथम स्थिति में तद्रुप परिणमन कर उदय होते हैं, इसी प्रकार संज्वलन क्रोध का संज्वलन मान में इत्यादि से बादर लोभ के उच्छिष्टावली संबंधी निषेक सूक्ष्म कृष्टियों में परिणमित होकर उदय को प्राप्त होते हैं। इसका कथन पूर्व में किया जा चुका है।

उपशांत कषाय = सूक्ष्म सांपराय का काल बिताकर मोहनीय कर्म का बन्ध, उदय, उदीरणा, उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण आदि सभी करणों का उपशम अर्थात् शांत हो जाना ही उपशम कहलाता है, और यहाँ सभी करण शांत हैं इसलिए इस गुणस्थान को उपशांत मोह गुणस्थान कहते हैं। इसे उपशांत मोह छद्मस्थ वीतराग भी कहते हैं और अन्तर्मुहूर्त काल तक रहता है। सभी कषायों के उपाशांत हो जाने से उपशांत कषाय तथा राग के उपाशांत हो जाने से वीतराग तथा क्षयोपशम ज्ञान होने के कारण छद्म और वहाँ अवस्थित होने से छद्मस्थ कहलाता है। कषायों के उपशम हो जाने पर उपशम के प्रथम समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त काल तक स्वच्छ निर्मल परिणाम सहित अवस्थित रहता है। सम्पूर्ण काल में समान परिणाम रहता है क्योंकि परिणामों की हानि वृद्धि में कारण भूत कषायें उपशांत है इसलिए समान परिणाम बाला ही होता है। इसका काल अन्तर्मुहूर्त मात्र ही होता है इससे अधिक नहीं यहाँ यथाख्यात चारित्र से सहित होता है। (ल.सा.गा. 303, क.पा.सु.पृ. 705– सूत्र 288, ध.पु.6 पृ. 316, 317, ज.ध.पु. 13 पृ. 325–27)

उपशांत कषाय गुणस्थान का काल– उपशांत कषाय गुणस्थान का काल अन्तर्मुहूर्त है, और उसके संख्यातवें भाग मात्र प्रमाण आयाम वाली अवस्थित गुणश्रेणी होती है।

कषा. पाहु. सु. 705 सू. 288, ज.ध.मू.पृ. 1866–67, ध.पु. 6 पृ. 310

यहाँ पर मोहनीय कर्म की गुणश्रेणी निर्जरा तो होती ही नहीं है, आयुकर्म की भी नहीं होती है, शेष रहे ज्ञानावरणादि कर्मों की गुणश्रेणी निर्जरा उदयावली से लेकर गुणश्रेणी शीर्ष तक होती है। यद्यपि पहले अपूर्वकरण के प्रथम समय से लेकर सूक्ष्म सांपराय तक मोहनीय कर्म की निर्जरा उदयावली सहित गुणश्रेणी शीर्ष तक होती थी शेष ज्ञानावरणादि की गुणश्रेणी से ऊपर गलितावशेष क्रम से होती थी किंतु यहाँ पर मोहनीय कर्म की तो होती नहीं शेष कर्मों की उदयावली से लेकर गुणश्रेणी शीर्ष तक अवस्थि गुण श्रेणी होती है। क्योंकि यहाँ गलितावशेष गुणश्रेणी नहीं होती अवस्थित ही होती है और प्रदेश पुंज भी अवस्थित ही क्षेपण होता है।

गुणश्रेणी आयाम = अपूर्वकरणादि में जो गुणश्रेणी थी वह गलितावशेष थी अर्थात् एक निषेक निकल जाने पर वह गुणश्रेणी में कम हो जाता था किंतु ऐसा यहाँ नहीं है यहाँ एक निषेक निकल जाने पर उपरितन स्थिति में से एक निषेक गुणश्रेणी में आ जाता है इस उपशांत काल में जितने आयाम वाली गुणश्रेणी है उतना ही रहता है। अर्थात् प्रथम समय में जितना आयाम है उतना ही द्वितीय समय में रहता है उतना ही तृतीयादि समयों में रहता है प्रदेश पुंज यहाँ अवस्थित परिणाम होने से प्रथम समय में जितना प्रदेश पुंज दिया जाता था उतना ही द्वितीयादि समयों में दिया जाता है इसलिए अपकर्षित द्रव्य भी अवस्थित परिमाण वाला ही प्रदेश पुंज है।

उपशांत कषाय के प्रथम समय में निक्षिप्ति गुणश्रेणी निक्षेप की अग्रस्थिति वह प्रथम गुणश्रेणी शीर्ष है। उस प्रथम गुणश्रेणी

शीर्ष के उदय होने पर ज्ञानावरणादि का उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है, क्योंकि वहाँ वहाँ एक पिण्ड होकर अन्तर्मुहूर्त प्रमाण वाली गौ पुच्छाओं का एक साथ उदय होता है।

भवार्थ– प्रथम समय में उपशांत मोह का जो गुणश्रेणी शीर्ष होता है उसमें सर्वाधि प्रदेश पुंज पाया जाता है, क्योंकि प्रत्येक समय में अर्थात् प्रथम समय द्वितीय समय आदि की गौ पुच्छाओं का एक समूह (पिण्ड) हो जाता है इस लिए वहाँ अधिकद्रव्य होता है। यद्यपि द्वितीयादि समयों में भी गौपुच्छाओं का समूह है किंतु वहाँ एक–एक प्रकृति गौपुच्छा चय प्रमाण हीन क्रम से पाया जाता है इसलिए उसी निषेक में प्रदेश पुंज अधिक है।

यदि कहा जाए कि अपूर्वकरण में जो गुणश्रेणी शीर्ष था जो कि उपशांत कषाय के नीचे ही उदय को प्राप्त हुआ है उसमें द्रव्य अधिक होना चाहिए क्योंकि उसमें अधिक गौपुच्छाओं का संचय होता है। तो ऐसा भी नहीं है क्योंकि परिणामों के महात्म्यवश उस अपूर्वकरण के अन्तिम गुणश्रेणी शीर्ष के द्रव्य से उपशांत मोह के प्रथम समय में रचित गुणश्रेणी शीर्ष में संचित द्रव्य असंख्यात गुणा होता है।

अत: सिद्ध है कि ज्ञानावरणादि उत्कृष्ट प्रदेशाग्र यही पर उदीरणा को प्राप्त होता है। ल.सा.गा. 304–5, ज.ध.पु. 13 पृ. 327–30 तक

नोट– यहाँ आदेश निर्देश है ओघ निर्देश क्षपक श्रेणी में उत्कृष्ट प्रदेशाग्र की उदीरणा पायी जाती है।

ग्याहरवें गुणस्थान में अवस्थित व अनवस्थित वेदन– यहाँ कुछ प्रकृतियाँ परिणाम प्रत्यय व कुछ प्रकृतिया भव प्रत्यय होती है। जो प्रकृतियाँ परिणाम प्रत्यय हैं उनका उदय हानि वृद्धि को लिए हुए होता है जो भव प्रत्यय प्रकृतियां हैं उनका उदय समान होता है। यहाँ कुल उदय योग्य प्रकृतियाँ 59 हैं जिनमें 25 प्रकृतियां परिणाम प्रत्यय है शेष 34 प्रकृतियाँ भव प्रत्यय है।

परिणाम प्रत्यय– 1. तैजस 2. कार्माण शरीर, 6 वर्णादिचार, 7 स्थिर, 8 अस्थिर, 9 शुभ, 10 अशुभ, 11 अगुरुलघु, 12 निर्माण सुभग, आदेय यश:कीर्ति, ये नाम कर्म की पन्द्रह उच्चगोत्र, अन्तराय की 5, केवलज्ञानावरण, केवलदर्शनावरण, निद्रा, प्रचला, इस प्रकार ये 25 प्रकृतियाँ परिणाम प्रत्यय हैं। परिणाम रहता है हानिवृद्धि नहीं होती।

यद्यपि पाँचों अन्तराय की प्रकृतियाँ क्षयोपशम प्रकृतियाँ हैं क्योंकि नीचे के गुणस्थान में इनकी छह वृद्धि छह हानि रूप उदय रूप प्रवृत्ति देखी जाती है किन्तु यहाँ अवस्थित रूप से ही उदय पाया जाता है।

भव प्रत्यय–34 प्रकृतियाँ– चार ज्ञानावरण, तीन दर्शनावरण, वेदनी दो, मनुष्यायु, मनुष्यगति, पंचेन्द्रिय जाति, औदारिकद्विक, आदि के तीन सहनन, छह संस्थान, उपघात, परघात उच्छ्वास दो विहायोगति, प्रत्येक, त्रस, बादर, पर्याप्त, दो स्वर ये प्रकृति भव प्रत्यय कहलाती हैं। इनका उदय छह प्रकार की हानिवृद्धि रूप से होता है।

निद्रा प्रचला– ये प्रकृतियाँ अध्रुवोदयी है इनका कदाचित उदय होता है कदाचित नहीं होता है यदि होता है तो अवस्थित होता है क्योंकि यहाँ आत्म परिणाम अवस्थित है।

अन्तराय– यद्यपि ये प्रकृतियाँ क्षयोपशम लब्धिरूप है। नीचे के गुणस्थानों में छह हानि वृद्धिरुप से उदय होता है किंतु यहाँ अवस्थित रूप से ही होता है, कारण ऊपर के समान जानना चाहिए।

चार ज्ञानावरण व तीन दर्शनावरण 3 – इन प्रकृतियों का तीनों प्रकार का अनुभागोदय होता है हानि, वृद्धि और अवस्थित क्योंकि ये लब्धि कर्माश है। जो प्रकृतियाँ क्षयोपशम रूप होती है उनकी लब्धि कर्माश संज्ञा कहलाती है। यद्यपि ये प्रकृतियाँ परिणाम प्रत्यय है। अत: उनकी छह प्रकार वृद्धि हानि और अवस्थान उपशांत मोह में पाया जाता है।

उपशांत मोह में यदि अवधि ज्ञानावरण का क्षयोपशम नहीं है तो यहाँ उसका अवस्थित उदय पाया जाता है। यदि क्षयोपशम है तो देशावधि परमावधि आदि असंख्यात लोक प्रमाण विकल्प पाये जाते हैं इसलिए यहाँ तीनों विकल्प बन जाते है। अत: अवधिज्ञानावरण संबंधी क्षयोपशम के अवस्थित परिणाम होने पर भी छह हानि वृद्धि और अवस्थित के बाह्याभ्यन्तर कारणों की अपेक्षा तीनों स्थान पाये जाते हैं।

सबसे उत्कृष्ट क्षयोपशम से परिणत हुए उत्कृष्ट अवधिज्ञानी जीवों में अवधि ज्ञानावरण का अनुभागोंदय अवस्थित होता है। उससे अन्यत्र अवधि ज्ञानावरण का रसोदय छह प्रकार की हानिवृद्धि तथा अवस्थित भी होता है। इसी प्रकार अवधि दर्शनावरण तथा मन:पर्यय ज्ञान का जानना चाहिए।

इसी प्रकार शेष ज्ञानावरण व दर्शनावरण का कथन आगमानुसार करना चाहिए। नाम कर्म और गोत्र कर्म की जो प्रकृतियां जिन प्रकृतियों का उदय होता है वे सभी अवस्थित अनुभागोदय वाली होती हैं। इस प्रकार उपशम श्रेणी का संक्षेप में विवेचन किया, विस्तार से जानने के लिए धवला जी, लब्धिसार, कषाय पाहुड़ आदि ग्रंथों से जानना चाहिए। उपशांत मोह गुणस्थान से अध: पतन दो कारणों से होता है, भवक्षय और कालक्षय। यदि कोई जीव मरण करता है तो उपशांत मोह गुणस्थान से सीधा अविरत में आ जाता है इसे ही भव क्षय कहते हैं। काल क्षय यानि उस गुणस्थान से सीधा अविरत में **काल क्षय** यानि उस गुणस्थान का काल समाप्त हो जाने पर क्रमश: सूक्ष्म सांपराय गुणस्थान में आता है पश्चात् बादर सांपराय, अपूर्वकरण, अप्रमत्तसंवत प्रमत्त संयत होता है आगे और पतन हो तो संयतासंयत अविरत, सासादन, सम्यग्मिथ्यात्व मिथ्यात्व को भी प्राप्त हो सकता है। इसके पश्चात् अर्द्ध पुद्गल परावर्तन प्रमाण संसार में भ्रमण भी कर सकता है। यदि प्रमत्ताप्रमत्त है तो अन्तर्मुहूर्त के बाद पुन: उपशम श्रेणी अथवा क्षपक श्रेणी भी माड़ सकता है। एक जीवन काल में दो बार तथा सम्पूर्ण संसार काल मे ंचार बार उपशम श्रेणी माड़ सकता है। इस प्रकार उपशम श्रेणी का कथन पूर्ण हुआ।

।। ॐ नम: ।।

सासादन गुणस्थान में आने को कारण व अन्य विशेषताये

– श्रमण मुनि विनुतसागर (संघस्थ)

जीव के परिणामों का आरोहण तथा अवरोहण गुणस्थान कहलाता है। पूज्य आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने गुणस्थान की परिभाषा करते हुये कहा है–

जेहिं दु लखिज्जंते उदयादिसु सम्भवेहिं भावेहिं।
जीवा ते गुणसण्णा, णिदिद्ट्ठा सव्व दरसीहिं।।8।।

दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदि अवस्थाओं के होने पर उत्पन्न होने वाले जिन भावों से जीव लक्षित किये जाते हैं उन्हें सर्व दर्शियो ने गुणस्थान से निर्देश किया है।

* सामान्यत: मोह और योग के निमित्त से परिणामों की तारतम्यता को गुणस्थान कहते हैं।

गुणस्थान 14 होते हैं हम 14 गुणस्थान में से सासादन गुणस्थान के बारे में चर्चा करते हैं।

सासादन किसे कहते हैं?

स+आसादन = ''सासादन'' जिस जीव ने सम्यक्त्व की विराधना कर दी है उसे यह गुणस्थान होता है।

सम्यक्त्वरूपी रत्नपर्वत के शिखर से च्युत मिथ्यात्व रूपी भूमि के सम्मुख सम्यक्त्व के नाश को प्राप्त जीव सासादन सम्यग्दृष्टि कहलाता है यह गुणस्थान प्रथम मिथ्यादृष्टि गुणस्थान की अपेक्षा श्रेष्ठ कहा जा सकता है परन्तु वास्तव में यह आत्मा की पतनोन्मुख अवस्था का प्रतीक है कोई प्रथम गुणस्थान से विकास करके इसमें नहीं आता, परन्तु ऊपर की श्रेणी से पतित होकर पुनः मिथ्यात्व को प्राप्त होने के पूर्व इसको प्राप्त करता है। (19/1 पंच संग्रह प्राकृत)

इस गुणस्थान में गिरने वाले जीव का सम्यक्त्व आभाष जैसा होता है सम्यक्त्व की अवहेलना करने से इस गुणस्थान की प्राप्ति होती है यह गुणस्थान मध्य की स्थिति है।

* जब प्रथमोपशम अथवा द्वितीयोपशम सम्यक्त्व के काल में उत्कृष्ट से 6 आवली जघन्य से एक समय शेष रह जाने पर परिणामों के गिरने से अनंतानुबंधी चतुष्क (क्रोध, मान, माया, लोभ) में से किसी एक का उदय होता तब सासादन गुणस्थान होता है।

उपशम सम्यक्त्व से गिरा हुआ जीव ही सासादन गुणस्थान में आता है क्षयोपशम सम्यक्त्व वाला नहीं, क्षयोपशम सम्यक्त्व वाला तो सम्यक् मिध्यात्व या मिथ्यात्व गुणस्थान में ही जाता है

* यहाँ एक बात विशेष है कि बिना अनन्तानुबन्धी के मिथ्यात्व प्रतरावली तक और बिना मिथ्यात्व के अनन्तानुबन्धी 6 आवली तक रह सकती है

* सासादन गुणस्थान में जीव कहाँ से आ सकता है इस गुणस्थान में जीव 4,5,6,7 गुणस्थान से आ सकता है मगर जाता पहले में ही है।

शंका–सासादन गुणस्थान में कितने जीव होते हैं?

समाधान–सासादन गुणस्थान में कम से कम एक जीव होगा अथवा ऐसा भी हो सकता है कि एक भी जीव ना हो और अधिक से अधिक एक समय में पल्य के असंख्यातवें भाग जीव भी हो सकते हैं।

शंका–सासादन गुणस्थान का एक जीव की अपेक्षा और नाना जीवापेक्षा जघन्य व उत्कृष्ट काल कितना है?

समाधान–सासादन गुणस्थान का एक जीव की अपेक्षा जघन्य काल एक समय उत्कृष्ट काल 6 आवली है।

शंका–नाना जीवापेक्षा जघन्य व उत्कृष्ट काल कितना है?

समाधान–नानाजीवापेक्षा जघन्य काल एक समय है ऐसा हो सकता है कि एक समय बाद कोई जीव ना हो। नानाजीवापेक्षा उत्कृष्ट काल पल्योपम का असंख्यात वें भाग अर्थात् ऐसा भी हो सकता है कि लगातार पल्योपम के असंख्यात वें भाग तक उपशम सम्यक्त्व से गिरकर जीव आते रहे।

शंका–सासादन गुणस्थान का अन्तर एक जीव की अपेक्षा जघन्य व उत्कृष्ट कितना है?

समाधान– सासादन गुणस्थान का अन्तर एक जीव की अपेक्षा जघन्य पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग है क्योंकि सासादन सम्यक्त्व उपशमपूर्वक ही होता है और उपशम सम्यक्त्व एक बार होने के बाद यदि वह जीव मिथ्यात्व में चला जाये और पल्योपम के असंख्यातवें भाग तक क्षयोपशम नहीं कर पाये तो पुनः प्रथमोपशम पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग काल बीत जाने पर करेगा। क्योंकि जब सम्यक्त्व प्रकृति, सम्य. मिथ्यात्व रूप और सम्य. मिथ्या., मिथ्यात्व रूप जब पूर्ण रूपेण पलट जाती है तब पुनः प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है।

और सासादन गुणस्थान का एक जीव की अपेक्षा उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम अर्द्धपुद्गल परावर्तन है।

शंका–यहाँ पर प्रश्न उठता है कि अर्द्धपुद्गल परावर्तन में कुछ कम क्यों कहाँ ?

समाधन–क्योंकि अर्द्ध पुद्गल परावर्तन में नियम से मोक्ष प्राप्त कर लेता है इसलिये कुछ कम कहा। (यहाँ एक बार सम्यक्त्व को प्राप्त करने वाला)

जैसे- किसी अनादि मिथ्यादृष्टि जीव ने पहली बार प्रथमोपशम सम्यक्त्व किया। अन्तर्मुहूर्त रहकर मिथ्यात्व में आ गया और कुछ कम अर्द्ध पुद्गल परावर्तन काल तक मिथ्यात्व में रहा। जब मिथ्यात्व का सम्पूर्ण द्रव्य सम्यक्त्व प्रकृति से लौटकर पुन: मिथ्यात्व में आया तब वह पुनः प्रथमोपशम सम्यक्त्व करने के योग्य हुआ प्रथमोपशम के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त में क्षयोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त हुआ उसमें कुछ काल रहकर क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त हुआ आयु क्षय होने पर देव गति को प्राप्त हुआ वहाँ से आयु चय कर मनुष्यगति को प्राप्त हुआ उस पर्याय में निर्ग्रन्थ पर्याय को धारण कर निर्वाण को प्राप्त हुआ। इस प्रकार सासादन का उत्कृष्ट काल कुछ कम अर्द्ध पुद्गल परावर्तन हुआ।

शंका– चारों गतियों में प्रथमोपशम सम्यक्त्व जन्म लेने के कितने समय बाद हो सकता है?

समाधान– मनुष्यों में जन्म लेने के 8 वर्ष बाद, नारकियों में व देवों में अन्तर्मुहुर्त बाद तिर्यंचों में 7 या 8 दिन बाद प्रथमोपशम सम्यक्त्व हो सकता है।

* दूसरे गुण में विशेषता ये है कि सासादन सम्यग्दृष्टि मरकर नरक नहीं जाता इसलिये नरक गति में अपर्याप्तक अवस्था में दूसरा गुणस्थान नहीं होता है मगर शेष तीन गतियों में पर्याप्तक और अपर्याप्तक अवस्था में सासादन सम्यक्त्व हो सकता है।

शंका–सासादन गुणस्थान से मरण करके कहाँ-कहाँ नहीं जाता और कहाँ-कहाँ जाता है?

समाधान–* सासादन गुणस्थानवर्ती सासादन में मारणान्तिक समुद्घात करे तो त्रस नाली से बाहर नहीं जाता इसलिये उसका सर्वलोक नहीं बनता।

* सासादन गुणस्थानवर्ती जीव और 1-2 स्वर्ग के देव मरण करके अग्निकायिक, वायुकायिक, साधारण, सप्रतिष्ठित, लब्ध्य अप. इनमें नहीं जाता शेष सभी एकेन्द्रियों में (जैसे - पृथ्वीकायिक, जलकायिक, वनस्पति कायिक बादर पर्याप्तकों में जा सकता है।)

अथवा सासादन गुणस्थानवर्ती मरण करके एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय अपर्याप्तकों में भी जा सकता है। अथवा यहाँ विशेषता यह है कि-

* द्वितीयोपशम सम्यक्त्व में तो मरण हो सकता है मगर प्रथमोपशम सम्यक्त्व में कभी मरण नहीं होता।

* सासादन गुणस्थान में 101 प्रकृतियों का बंध, 145 की सत्ता, 111 का उदय होता है यह गुणस्थान चारों गतियों में, पंचेन्द्रिय को, त्रस काय में, तीनों वेदों में, 25 कषाय सहित, तीन कुज्ञान सहित, असंयत, 6 लेश्या, भव्य को, संज्ञी को, आहारक व अनाहारक को, 6 पर्याप्ति 10 प्राण सहित व अपर्याप्तक में 7 प्राण सहित होता है इसमें जीवों की संख्या पल्य के असंख्यातवे भाग, मनुष्यों की अपेक्षा 52 करोड़ होती है।

गुणश्रेणी निर्जरा का स्वरुप

श्रमणी आर्यिका विमलश्री माताजी

मंगलाचरण

ॐकारं बिंदु संयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः।
कामदं मोक्षदं चैव ॐकारय नमो नमः।।
नमः नेमिचन्द्राचार्यः पंच लब्धि बोधकः।
सम्यक्त्व प्रकाशाय यत् मोक्षस्य साधनम्।।

जिनधर्म सनातन है अपना, मैं उसकी गाथा गाता हूँ।
महावीर ने जो उपदेश दिया, मैं उसको तुम्हें सुनाता हूँ।
महावीर की अनुपम धारा को, गणधर देवों ने धारा है।
उस धारा को आचार्यों ने अनुयोग रूप में सँवारा है।।
उनमें नेमिचन्द देव गुरु, सिद्धान्त चक्री को नमाता हूँ।
महावीर ने.....

गौतम स्वामी से लेकर वर्तमान सदी के सर्वाचार्यों को त्रय भक्ति युत नमस्कार करती हूँ। साथ ही

वर्तमान में वर्द्धमान की छवि को धारण करने वाले गणधर पीठ पर विराजित मम श्रद्धालय के देवता, शिक्षा दीक्षा संस्कार प्रदाता गुरुवर के चरणों में त्रयभक्ति युत नमस्कार करती हूँ। आप सभी को विदित है कि जिस प्रकार सूर्य के आगे जुगनू, चन्द्रमा के आगे तारे अपना प्रकाश फैलाने का प्रयास करें, जैसे बूँद किसी की प्यास बुझाने का प्रयास करे तो पास नहीं होते वरन् हास्य का ही पात्र बनती है वैसे ही नय, न्याय, आगम, सिद्धान्त, तर्क और चिंतन रुप षट् खण्डाधिपति गुरुदेव जब साक्षात् विराजमान हैं और उनके समक्ष कुछ कहना विद्वानों के सामने विद्वत्ता का परिचय देना हास्य का ही पात्र बन रही हूँ। फिर भी जिनाज्ञा का सूत्र है ''गुरु आज्ञा शिरोधार्य'' उसी सूत्रानुसार गुरुदेव की छत्रछाया में बैठकर जो भी जाना समझा ग्रहण किया है उसी को हम आप सभी से शेयर करना चाहेंगे। गोष्ठी किस ग्रन्थ पर है उससे आप सभी अवगत हैं। हम आपको अपने विषय से अवगत करवाते हैं।

करणानुयोग का ग्रंथ यहाँ, यह लब्धिसार प्रसिद्ध हुआ
पणलब्धि का वर्णन जिसमें
उसमें गुणश्रेणी निर्जरा का, क्या रुप कार्य यहाँ बतलाती हूँ।
महावीर ने जो...

तीर्थंकर देवों की अक्षुण्ण परम्परा में वर्तमान शासन नायक भगवान महावीर की दिव्य देशना से निःसृत वाणी को गौतम गणधर सहित 11 गणधरों ने ग्रहण किया तथा द्वादशांग रुप से गुंथित कर प्रभुवाणी को आगे श्रुतकेवली आदि को प्रदान करने का महान कार्य किया। श्रुत केविलयों से आगे बढ़कर यह दिव्यवाणी आचार्य परम्परा को प्राप्त हुई।

परम्परागत अर्वाचीन व आरातीय आचार्यों के द्वारा लिपिबद्ध जिनवाणी को प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग रूप अनुयोग चतुष्टय में विभाजित किया है। अनुयोग-चतुष्टय में करणानुयोग सम्बन्धी कषाय पाहुड़, षट्खण्डागम, महाबंध आदि ग्रन्थों का वीरवाणी से साक्षात् संबंध रहा है।

क्रमशः धरसेनाचार्य के पास सुरक्षित वह ज्ञान पुष्पदंत भूतवली आचार्यद्वय को प्राप्त हुआ। तत्पश्चात् आचार्यद्वय के द्वारा

ग्रन्थरुप में निबद्ध तथा अन्य आचार्यों द्वारा प्रनिबद्ध समग्र जिनवाणी को लोगों तक पहुँचाने का भागीरथ प्रयत्न किया गया।

अनुयोग चतुष्टय में करणानुयोग सिद्धान्त का प्रतिपादक है। पुष्पदन्त भूतबली आचार्यद्वय ने षट्खण्डागम की रचना की है। उन छह खण्डों में प्रतिपादित सिद्धान्त एवं कषाय पाहुड़ ग्रन्थ के 15 अधिकारों का मनन करके व चिंतन से पारायण करके 10वीं 11वीं सदी में ''सिद्धान्त चक्रवर्ती नेमीचन्द्राचार्य देव'' ने गोम्मटसार जीवकाण्ड कर्मकाण्ड तथा लब्धिसार-क्षपणासार आदि ग्रन्थों की रचना कर हम सभी पर परम उपकार किया है। छ: खण्ड के ज्ञाता चक्रवर्ती थे। (जीवस्थान, खुद्धाबंध, बंध स्वामित्व, वेदनाखंड, वर्गणाखंड और महाबंध)

लब्धिसार ग्रन्थ में आचार्यश्री जी ने 391 गाथाओं के द्वारा पंच अधिकारों में ''प्रथमोपशम सम्यक्त्वलब्धि, क्षायिक सम्यक्त्व, देशचारित्र, सकल संयम और औपशमिक चारित्र तक इन पाँचों अधिकारों का विस्तार से कथन किया है। इसके अलावा क्षपणासार भी इसी का एक अधिकार है वह कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं है क्योंकि इस ग्रंथ का नाम ही लब्धिसार क्षपणासार है इस प्रकार इस ग्रंथ में छह अधिकार व 653 गाथाऐं है।

उन्हीं में प्रथम प्रथमोपशम सम्यक्त्व के प्रतिपाद्य विषय में संक्रमण काल में होने वाली त्रिकरण अवस्था में होने वाली क्रिया में अपूर्वकरण व अनिवृत्तिकरण में गुणश्रेणी निर्जरा होती है। इस ''गुणश्रेणी निर्जरा का क्या स्वरुप है''

हम इसमें जिन बातों का जानेंगे वो इस प्रकार हैं- कि गुणश्रेणी निर्जरा क्या है? कब होती है? कौन करता है? इसका फल क्या है?

गुणश्रेणी निर्जरा क्या है?

गुण शब्द का अर्थ है गुणकार तथा श्रेणी का अर्थ है उसकी पंक्ति या आवली। यह गुणश्रेणी कहलाती है।

''गुणो गुणगारो तस्स सेडी ओली पंत्ती गुणसेडी णाम।'' (धवला पु. 12)

''सुहुम गुणादो अहिया अवट्ठिदुदयादि गुणसेढी।।'' (क्षपणासार)

जब तक अपकृष्ट किया द्रव्य सूक्ष्म से लेकर असंख्यात गुणा क्रम से अवस्थिति आदि आयामों में दिया जाता है उसका नाम गुणश्रेणी है।

अपूर्वकरण का स्वरुप बतलाते हुए गुणश्रेणी निर्जरा कही है।

उदयावली काल के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त मात्र जो गुणश्रेणी के आयाम का जो काल प्रमाण कहा है उसमें दिया हुआ द्रव्य सो उस काल का प्रथमादि समय में जो पूर्व के निषेक थे उनके साथ क्रम से असंख्यात गुणा असंख्यात गुणा होकर निर्जरित होता है यह ही गुणश्रेणी निर्जरा है।

गुणश्रेणी का स्वरुप तथा गुणश्रेणी के प्रकार-परिणामों की विशुद्धि से उपरितन स्थिति में स्थित परमाणुओं का अपकर्षण करके अन्तर्मुहूर्त काल पर्यन्त प्रतिसमय उत्तरोत्तर असंख्यात गुणित वृद्धि क्रम से कर्म प्रदेशों की निर्जरा के लिए जो रचना होती है उसे गुणश्रेणी कहते है। (ल.सा.55) यह गुणश्रेणीचार प्रकार की होती है- 1. उदयादि गुणश्रेणी 2. उदयावली बाह्य गुणश्रेणी 3. गलितावशेष गुणश्रेणी 4. अवस्थित गुणश्रेणी।

पडिसमयमोक्कडदि असंखगुणिदक्कमेण सिंचदि य।
इदि गुणसेढी करणं आउगवज्जाण कम्माणं।। (ल.सा. 74)

असंख्यात गुणित क्रम से द्रव्य का अपकर्षण करके सिंचन करता है। आयु के बिना शेष कर्मों की इस प्रकार गुणश्रेणी करता है।

गुणश्रेणी दीहत्तमपुव्व दुगादो दु साहिदं होदि।
गलियवसेसे उदयावलि बाहिरदो दु णिक्खेवो।। (55)

गुणश्रेणी की दीर्घता अर्थात् गुणश्रेणी आयाम अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणकाल की अपेक्षा थोड़ा अधिक होता है वह गुणश्रेणी आयाम गलितावशेष है तथा उदयावली से बाहर निक्षेप होता है।

गुणश्रेणी का क्या उदाहरण– जिस प्रकार कोई मजदूर किसी मिट्टी की खदान को खोदता है तो गेंती फावड़ा से एक-एक तसला मिट्टी भरता है और बाहर निकालने जाता है यह सामान्य निर्जरा है और वहीं पर अचानक वहाँ पर यदि जे.सी.बी. (J.C.B.) मशीन लगा दी जाए तो हर एक समय में कई गुणा मिट्टी खुदती है और उसी के द्वारा तसला से कई गुणा मिट्टी एक बार में बाहर आ जाती है और कुछ ही समय में बहुत सी मिट्टी बाहर निकल जाती है ऐसी गुणश्रेणी निर्जरा है जो प्रतिसमय असंख्यात गुणा कर्मों की निर्जरा होती है वह गुणश्रेणी निर्जरा है।

एक बार किसी ने वीडियों दिखाया जिसमें एक व्यक्ति एक दिन में एक वृक्ष को काटता है वह एक मशीन के द्वारा एक दिन में 10 हजार वृक्षों का काटकर गट्ठर बना कर रख देती है। इसी प्रकार एक सामान्य व्यक्ति जितने कर्मों की निर्जरा करता है उससे एक व्रती व्यक्ति असंख्यात गुणे कर्मों की निर्जरा कर देता है। अब बात आती है कि गुणश्रेणी में जो द्रव्य का निक्षेपण होता है वह किस प्रकार होता है उस निक्षेपण की विधि इस प्रकार है।

गुणश्रेणी आयाम–जितने निषेकों में असंख्यात गुणश्रेणी रुप से प्रदेशों का निक्षेपण होता है वह गुणश्रेणी आयाम है। हम सभी जानते हैं कि सत्ता में हमेशा कुछ कम डेढ़ गुण हानि से गुणित समय प्रवद्ध प्रमाण द्रव्य सत्ता में रहता हैं। इसे समझने का प्रयास करते हैं।

सम्पूर्ण द्रव्य कुछ कम डेढ़ गुणहानि से गुणित समय प्रबद्ध प्रमाण है।

इसमें उत्कर्षण अपकर्षण भागहार का भाग देकर एक भाग प्रमाण द्रव्य को अपकर्षित करता है। उसमें पल्य के असंख्यातवें भाग का भाग देकर एक भाग गुणश्रेणी आयाम में गुणित क्रम से क्षेपण करता है शेष बहुभाग द्रव्य को गुणश्रेणी शीर्ष के ऊपर चय हीन क्रम से अतिस्थापनावली को प्राप्त होने तक क्षेपण करता है। यह कार्य एक समय का है।

दूसरे समय में इससे असंख्यात गुणाद्रव्य अपकर्षित करता है और इसी क्रम में क्षेपण करता है।

विशेष ज्ञातव्य यह है कि–जिन प्रकृतियों का उदय है उन प्रकृतियों संबंधी गुणश्रेणी निर्जरा उदयावली में होती है। जैसे अपकर्षित किये हुए द्रव्य में पल्य के असंख्यातवें भाग का भाग देकर एक भाग में भी असंख्यातलोक का भाग देकर एक भाग उदयावली में गोपुच्छाकार से क्षेपण करता है। शेष बहुभाग गुणश्रेणी आयाम में देता है।

प्रति समय कुछ कम डेढ़ गुणहानि से गुणित समयप्रवद्ध प्रमाण द्रव्य सत्ता में रहता है- यह जीव प्रत्येक समय एक समय प्रवद्ध प्रमाण कर्मों की निर्जरा करता आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती ने भी गो.क.का. गाथा 5 में कहा भी है-किन्तु प्रयोग विशेष से विशेष तप आदि के द्वारा अनेक समय प्रबद्धों की भी निर्जरा हो जाती है। फिर भी कुछ कम डेढ़ गुण हानि से गुणित-समयप्रवद्ध द्रव्य सत्ता में हमेशा रहता है।

जीरदि समयपबद्धं पओगदो णेग समयबद्धं वा।
गुणहाणीण दिवड्ढं समयपबद्धं हवे सत्तं।।

दृष्टांत-जिस प्रकार तिजोरी में प्रतिदिन कुछ धन आता है और प्रतिदिन उसमें से कुछ धन निकलता है फिर भी बहुत सा धन तिजोरी में स्थिर रहता है।

* जैसे कुंड में पानी प्रवेश द्वार से आता रहता है और दूसरे द्वार से निकलता रहता है फिर भी कुंड भरा रहता है।
* जैसे ट्रेन में यात्री चढ़ते उतरते हैं फिर भी ट्रेन यात्रियों से भरी रहती है।
* जैसे प्रतिदिन 10 बच्चों का जन्म हुआ और 10 ही मृत्यु को प्राप्त हुए फिर भी संसार में भीड़ बनी रहती है। उसी प्रकार यह आत्मा सिद्धराशि के अनंतवे भाग और अभव्यों से अनंतगुणा एक समय में कर्म परमाणुओं को बाँधता है और प्रति

समय कर्म परमाणुओं का एक-एक समय प्रबद्ध झड़ जाया करता है। फिर भी कुछ कम डेढ़ गुणहानि गुणित समय प्रबद्ध प्रमाण द्रव्य सत्ता में रहता है।

गुणश्रेणी निक्षेपण– प्रथम समय से दूसरे समय तथा दूसरे समय से तीसरे समय में इस प्रकार उत्तरोत्तर गुणश्रेणी निक्षेप का जितना काल है उसके प्रत्येक समय में निर्जरा के लिए उत्तरोत्तर गुणित रुप से विवक्षित निषेकों में अपकर्षित द्रव्य का देना गुणश्रेणी निक्षेप कहलाता है।

गुणश्रेणी निक्षेप दो प्रकार का होता है-1. गलितावशेष गुणश्रेणी 2. अवस्थित गुणश्रेणी

गलितावशेश गुणश्रेणी निक्षेप– जिसमें अधस्तन एक-एक निषेक के गलित हो जाने के कारण उत्तरोत्तर गुणश्रेणी निक्षेप में एक-एक समय कम होता जाता है। अर्थात् समय पूर्ण होने पर गुणश्रेणी निक्षेप समाप्त हो जाता है। अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त ही गलितावशेष गुणश्रेणी निक्षेप होता है। असंख्यातगुणित रुप से द्रव्य निर्जीर्ण होता है।

अवस्थित गुणश्रेणी निक्षेप– जिसमें अधस्तन एक-एक निषेक के गलित होने पर ऊपर (उपरितन स्थिति में से) एक-एक निषेक की वृद्धि होती जाती है। जैसे 9 समय का गुणश्रेणी आयाम है। उसमें एक-एक निषेक के गलित होने पर उपरितन स्थिति में एक-एक निषेक आता जाता है जिसमें 9 समय का गुणश्रेणी आयाम अवस्थित रहता है। इसलिए अवस्थित गुणश्रेणी निक्षेप संज्ञा है।

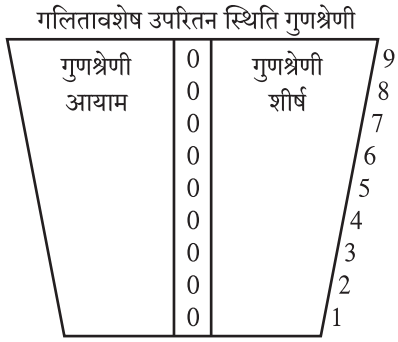

9 निषेकों की गलितावशेष 9 में से एक निषेक काल गल जाने पर शेष 8 रह जाता है।

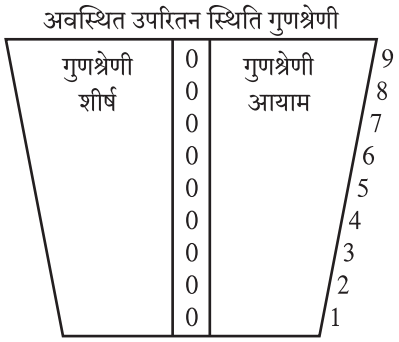

1 नं. का निषेक गल जाने पर अथवा निर्जीण हो जाने उपरितन स्थिति में से निषेक मिल जाता है।
9 समय ही रहते हैंनिषेकों की गुणश्रेणी

यहाँ प्रकरण में गलितावशेष गुणश्रेणी निक्षेप विवक्षित है। इसका आयाम (दीर्घता) अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण के काल से कुछ अधिक है। इस अधिक का प्रमाण अनिवृत्तिकरण काल के संख्यातवें भाग प्रमाण है।

यहाँ पर एक बात ज्ञातव्य है कि-आयु कर्म का गुणश्रेणी निक्षेप नहीं होता है शेष सात कर्मों का होता है। क्योंकि ऐसा स्वभाव है कि आयुकर्म में गुणश्रेणी निक्षेपण की प्रवृत्ति असंभव है उसमें भी जिन प्रकृतियों का वर्तमान में उदय होता है उनका उदय समय से लेकर निक्षेप होता है और जिन प्रकृतियों का वर्तमान में उदय नहीं होता उनका उदयावली के उपरिम समय में निक्षेप होता है।

उदयावली प्रकृतियों के गुणश्रेणी रुप से निक्षेपण की विधि

अपूर्वकरण के प्रथम समय में कुछ कम डेढ़ गुणहानि से गुणित समय प्रवद्ध प्रमाण द्रव्य को अपकर्षण उत्कर्षण भागहार से भाजित कर वहाँ लब्ध एक खण्ड प्रमाण जो द्रव्य प्राप्त हो उसे पल्य के असंख्यातवे भाग से भाजित कर पुन: एक खण्ड को ग्रहण कर उसमें असंख्यात लोक का भाग देकर एक भाग प्रमाण द्रव्य को उदयावली के भीतर गोपुच्छाकार रुप से निक्षिप्त करता हुआ बाहर के अनन्तर स्थिति में असंख्यात समय प्रबद्ध प्रमाण द्रव्य को निक्षिप्त करता है। उससे उपरिम स्थिति में असंख्यात गुणे द्रव्य को निक्षिप्त करता है।

इस प्रकार अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण के काल से विशेष अधिक गुणश्रेणी शीर्ष के प्राप्त होने तक उत्तरोत्तर असंख्यात गुणित श्रेणी रूप से निक्षिप्त करता है। पुन: गुणश्रेणी शीर्ष से उपरिम अनन्तर स्थिति में असंख्यात गुणा हीन द्रव्य देता है।

उसके बाद अतिस्थापनावली के पूर्व की अंतिम स्थिति तक उत्तरोत्तर क्रम से विशेष हीन द्रव्य का निक्षेप करता है। यह उदयावली प्रकृतियों की गुणश्रेणी की अपेक्षा निषेक रचना है तथा जिन प्रकृतियों का प्रकृत में उदय न हो उनमें उदयावलि को छोड़कर पूर्ववत् गुणश्रेणी निक्षेप की विधि जानना चाहिए। यहाँ अपूर्वकरण के प्रथम समय में जैसे गुणश्रेणी निक्षेप की विधि का निर्देश किया उसी प्रकार आगे भी द्वितीयादि समयों में इस विधि को घटित करना चाहिए।

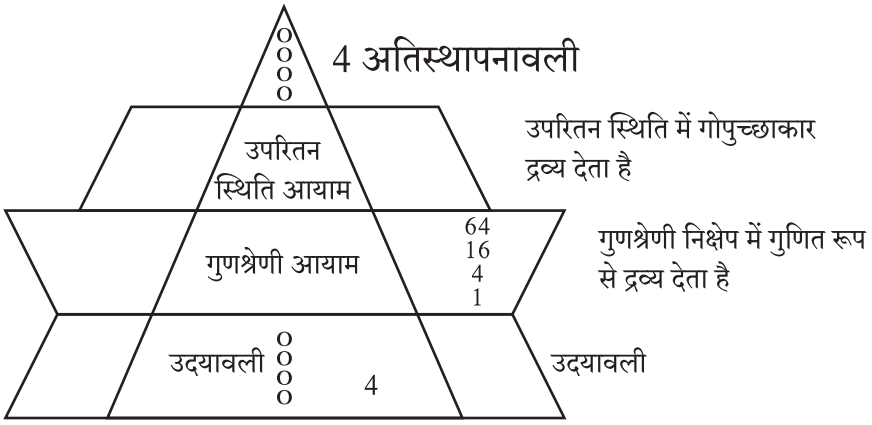

द्वितीयावली का आदि निषेक अर्थात् उदयावलि के अनन्तर उपरिम निषेक में से द्रव्य अपकर्षित करके नीचे उदयावलि में देता है तब आवलि का त्रिभाग तो जघन्य निक्षेप है तथा आवलि के शेष निषेक जघन्य अतिस्थापना है इसे अंक संदृष्टि से समझाने का प्रयास किया है। माना आवली का प्रमाण 16 समय है तब प्रथमादि 16 निषेक प्रथमावली उसके ऊपर 16 निषेक द्वितीयावली जब 17वें निषेक का द्रव्य अपकर्षण के द्वारा नीचे देता है चूंकि आवली का प्रमाण सम संख्या में होता है इसलिए 16 में से एक कम करना शेष 15 में तीन का भाग देना शेष 5 में एक मिलाना 6 निषेक में द्रव्य दिया, वह जघन्य निक्षेप है।

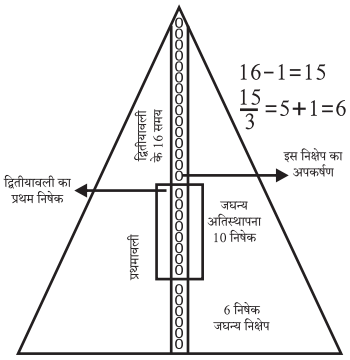

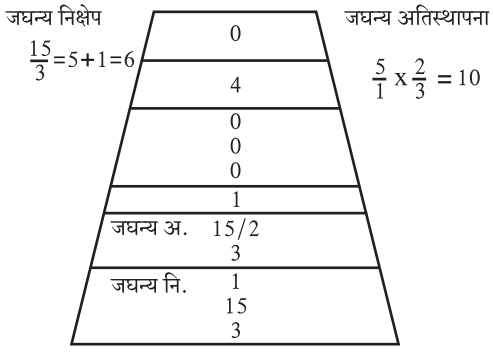

आबाधावली/अचलावली–बंध के समय से लेकर एक आवली तक कर्मों की उदीरणा आदि नहीं होती है, अत: आवली को अचली या अचलावली या आबाधावली या बंधावली कहते हैं।

अतिस्थापनावली–जिन आवली मात्र निषेकों में द्रव्य का निक्षेपण नहीं किया जाता है उसे अतिस्थापनावली कहते हैं।

उदयावली/प्रत्यावली–वर्तमान समय से लेकर आवली मात्र काल को और उस काल में स्थित निषेकों की आवली को उदयावली कहते हैं।

द्रव्य का निक्षेपण अथवा निक्षेप–अन्य निषेकों के परमाणुओं को अन्य निषेकों में निक्षिप्ति करने को अर्थात् देने को द्रव्यनिक्षेपण अथवा निक्षेप कहते हैं।

स्थितिकाण्डक घात–

* उपरितन निषेकों का क्रम से अधस्तन निषेकों में क्षेपण करना।

* स्थिति काण्डकघात द्वारा विवक्षित अग्रस्थिति समूह के निषेक पूर्णत: खाली होकर नीचे आ जाते हैं।

फालि = फांक

* बड़े समुदाय को छोटे-छोटे समूहों में विभाजित करने को फालि कहते है।

जैसे-बड़े कुमड़ा को फांकों के रुप में विभाजित किया जाता है उसी प्रकार कर्मों के समूह को विभाजित करना।

* जैसे-उपशम काल के प्रथम समय में जितने द्रव्य का उपशम किया जाता है वह प्रथम फालि है और दूसरे समय में जितने द्रव्य का उपशम किया जाता है वह द्वितीय फालि है।

गोपुच्छाकार–

चय के अनुसार क्रम से घटते हुए निषेकों की रचना विशेष को गोपुच्छा कहते हैं। गोपुच्छा (गाय की पूँछ) जैसा आकार बनने से यह संज्ञा रूढ़ हुई हुई है।

गुणश्रेणी निर्जरा कब होती है?

जब कोई जीव दर्शन मोह की उपशामना करने के लिए उद्यत अनंतानुबंधी की विसंयोजना, चारित्र लब्धि देश चारित्र लब्धि में तथा दर्शन मोह की क्षपणा के समय चारित्र मोहनीय की उपशामना के समय चारित्र मोहनीय के क्षपणा के समय होता है जब जीव तीन करण करता है अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण के काल में यह कार्य होता है। इसके अलावा संयम गुण के माहात्म्य से भी प्रति समय असंख्यात गुणश्रेणी होती है।

प्रथमोपशम सम्यक्त्व के साथ गुणरेणी का स्वरुप दर्शन मोह का उपशम करने वाले जीव का प्रथम समय में निर्जरा को प्राप्त होने वाला द्रव्य स्तोक है। उसके द्वितीय समय में निर्जरा को प्राप्त हुआ द्रव्य असंख्यातगुणा है। उससे तीसरे समय में निर्जरा को प्राप्त हुआ द्रव्य असंख्यात गुणा है। इस प्रकार दर्शन मोह के उपशामक के अन्तिम समय तक ले जाना चाहिए। यह गुणकार पंक्ति गुणश्रेणी है। यह उक्त कथन का तात्पर्य है। तथा गुणश्रेणी का गुण गुणश्रेणी गुण अर्थात् गुणश्रेणी गुणकार कहलाता है।

गुणश्रेणी निर्जरा के आवश्यक अधिकार कौन-कौन है?

गुणश्रेणी निर्जरा के समय कुछ आवश्यक कार्य या अधिकार होते हैं जो इस प्रकार हैं-

1. गुणश्रेणी शीर्ष, 2. गुणश्रेणी आयाम, 3. गलितावशेष गुणश्रेणी आयाम, और 4. अवस्थित गुणश्रेणी आयाम इतने अधिकार हैं। इन सबका विवेचन आगे करेंगे।

गुणश्रेणी में तीन पर्व होते हैं-1. गुणश्रेणी, 2. अन्तर स्थिति और 3. द्वितीय स्थिति। अपकृष्ट किया हुआ द्रव्य इन तीनों में विभक्त किया जाता है। इस प्रकार गुणश्रेणी निर्जरा का कथन संक्षेप से किया है।

बंधापसरण का शास्त्रीय विवेचन व चारों गतियों में बंधापसरण

श्रमणी आर्यिका विनेहश्री माताजी

मंगलाचरण

सिद्धे जिणिंद चंदे आयरिय उवज्झाय साहुगणे।
सम्मद्दंसण वंदिय चरित्त लद्धिं परूवेमो।।
आदि महावीर विमलं च सम्मदि विराय विणम्म सूरिओ।
मण वयण काय जुत्तो तं पणमामि गुरु सेट्ठं।।

1. प्रस्तावना (लब्धिसार ग्रंथ का संक्षिप्त परिचय)
2. कर्म बंधकी प्रक्रिया
3. कब से बंधा है कर्म
4. सदियों से बंधन है जीव व कर्म का
6. जीव बंध क्या है
7. भावबंध रूप जीवबंध कैसे
8. लब्धियों के द्वारा जीव का विचार
9. प्रायोग्य लब्धि क्या है।। प्रथमोपशम सम्यक्त्व के अभिमुख स्थितिबंध परिणामों का कथन
10. बंधापसरण का लक्षण/प्रायोग्य लब्धि में प्रकृति बंधापसरण
11. प्रकृति बंधापसरण कब-कब होते हैं।
12. चौतीस प्रकृति बंधापकरणों का कथन
13. चारों गतियों में कितने व कौन-कौनसे बंधापसरण होते हैं।

सर्वप्रथम अनंत सिद्ध परमात्माओं को कोटि-कोटि नमन करते हुए जैन नगर नंदीश्वर द्वीप में विराजित मूलनायक नेमिनाथ तीर्थंकर की चरण वंदना करते हुए करणानुयोग दीपक गोम्मटसार जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड, लब्धिसार, क्षपणासार आदि जटिल विषयों के रचनाकार परम पूज्य सिद्धांत चक्रवर्ती नेमिचंदाचार्य को कोटि-कोटि नमोस्तु करते हुए पूर्वाचार्यों व परम्पराचार्यों को बारंबार नमन करती हुई गणधर की पीठ पर साक्षात् विराजमान जो ज्ञान के क्षेत्र में चमकते हुए सूर्य के समान है, दर्शन के क्षेत्र में महकते हुए पुष्प के समान है. चारित्र के क्षेत्र में दमकते हुए हीरे के समान है। श्रमण संस्कृति का अग्रदूत, साहित्य जगत के दैदीप्यमान नक्षत्र सिद्धान्तज्ञ,भक्तामर महोदधि उच्चारणाचार्य परम पूज्य 108 विनम्रसागर जी महामुनिराज की चरण वंदन करते हुए तथा गुरुदेव की चरण सन्निधि में रहते हुए जो ज्ञानार्जन किया है, जो सीखा है, जाना है, समझा है, गुरुदेव की आज्ञा की पालना करते हुए अपनी अल्प बुद्धि के द्वारा राष्ट्रीय विद्वत् संगोष्ठी श्री लब्धिसार ग्रंथराज पर चल रही है जिसमें मेरा विषय है- बंध, बंधापसरण, प्रकृति बंधापसरण व चारों गतियों में कौन-कौन से बंधापसरण होते हैं. यद्यपि विषय जटिल है फिर भी जटिल विषय को सरल तरीके से समझा सकूँ। मनीषी सारस्वती पुत्रों के समक्ष प्रयास कर रही हूँ। आप सभी सुधी जन निर्यापक मुनि श्री विज्ञसागर जी मंचासीन सभी मुनिजन व गुरुदेव मुझ अल्पज्ञ का आलेख सुनकर सुधार करें व मुझे क्षमा प्रदान करें।

श्री नेमिचन्द्र आचार्य प्रवर ने–लब्धिसार शुभ ग्रंथ रचा–2 ऽऽ हो–ऽ
सिंद्धात ग्रंथ के अन्तर्गत–करणानुयोग सरताज कहा–2 ऽऽ हो–ऽ
बंध– अबंध बंधापसरण का– कुछ विषय–2 तुम्हें बतलाती हूँ।
महावीर ने जो उपदेश दिया– मैं उसको आज सुनाती हूँ– जय हो जय हो ऽऽऽ

लब्धिसार का अर्थ– लब्धि का तात्पर्य है प्राप्ति। सार को प्राप्त करना है लब्धिसार जैसे नीबू में सार तत्त्व है– रस, दूध का सार है–घी, वैसे ही मानव जीवन का सार है– सम्यक्त्व, संयम, चारित्र की प्राप्ति। आत्महित की प्राप्ति पूज्य गुरुदेव कहते हैं– अंतिम वस्तु की प्राप्ति होना है उस वस्तु में से अंत में जो निकाला जाता है वह है सार, यही है लब्धिसार

लब्धिसार ग्रंथ का विषय परिचय –

लब्धिसार ग्रंथ का विषय परिचय–सिंद्धात चक्रवर्ती करणानुयोग सरताज आचार्य श्री नेमिचन्द्र द्वारा लब्धिसार ग्रंथराज में 391 गाथाओं में पंच लब्धियों का पूर्ण विवेचन है, जिसमें प्रथमोपशम सम्यक्त्व, क्षायिक सम्यक्त्व, देशचारित्रलब्धि सकल संयम लब्धि व चारित्र मोह उपशमाधिकार का विशद वर्णन किया है। लब्धिसार 8 गाथाओं में क्षयोपशम लब्धि विशुद्धिलब्धि, देशना लब्धि, प्रायोग्यलब्धि का सविस्तार वर्णन किया है। जिसमें से प्रायोग्य लब्धि में होने वाले बंधापसरणों को समझेगें। अथाह संसार समुद्र से पार होने के लिए जहाज सदृश यह ग्रंथ अत्यधिक उपयोगी सिद्ध होता है।

कर्म बंध की प्रक्रिया – जिस प्रकार घड़ी में चाबी भरी होने पर वह चलती ही रहती है। चाहे दिन हो या रात, देश हो या विदेश, सुबह हो या शाम हर समय चलती ही रहती है। उसी प्रकार भलाई करे या बुराई कुछ भी करें कहीं भी कर्म बंध की प्रक्रिया दिन रात हमेशा आठों याम चलती ही रहती है।

कब से बंधा है कर्म–

कर्मकाण्ड गाथा/2

पयडी सील सहावो जीवंहगाणं अणाइ संबंधो।
कणयोवले मलं वा ताणत्थित्तं सयं सिद्ध।।2।।

आ. नेमीचंद्र सिंद्धात चक्रवर्ती कहते हैं –

जीव और कर्म का संबंध अनादि से है। जैसे–स्वर्ण पाषाण में व किट्टिकालिमा का संबंध अनादि से हैं वैसे ही जीव व कर्म का संबंध भी सभी संसारी प्राणियों के अनादि से हैं। जैसे दूध पानी का, तिल व तेल का, तृण व चावल का, स्वर्ण व मिट्टी का संबंध अनादि से है वैसे ही कर्म व जीव का संबंध भी अनादि से है।

कर्मों की अदृश्य जंजीर ऐसी जंजीर है जो जो झट बंधती है और लिपटती रहती है।

कर्मों की परम्परा बीज व वृक्ष की तरह अनादि काल से चली आ रही है। इसी प्रकार कर्म और आत्मा की परम्परा अनादि से है– राग, द्वेष कषाय मोह आदि के कारण यह जीव निरंतर कर्मों का बंध करता रहता है इसलिए आत्मा व कर्म का संबंध अनादि से है।

कर्मों की दस अवस्थाओं में प्रथम अवस्था है बंध–

बंध का स्वरुप – धवला पु. 13 में आचार्य भगवन कहते हैं।

एकीभावो बन्धः जीव व कर्म की एकरूपता होने को बंध कहते हैं। – दूध पानी की तरह कर्म परमाणुओं का आत्मा के प्रदेशों के साथ मिल जाना. एकमेक हो जाना बंध है।

संश्लेष संबंधः होना बंध है– दूध पानी की तरह

राजवार्तिककार ने लिखा है– बध्यतेऽनेन बंधनमात्र वा बंधः– जिनसे कर्म बँधे वह कर्मों का बंधना बंध है।

रा.वा. 2/4/17/26/30 बन्ध इव बंधः- बंध की भांति होने से बंध है। वह नाति बहयतेऽसौ, बंधन मात्र या बंधः जो बंधे व जिसके द्वारा बाँधा जाये या बंधन मात्र को बंध कहते हैं। रा. वा./8/2/11 बंध शब्द करणादि साधन में देखा जाता है। करण साधन की विवक्षा में जिनके द्वारा कर्म बंधता है वह बंध है।

करणादि साध नेष्वयं बंध शब्द द्रष्टव्यः तत्र करण साधन स्तावते वध्यते बन्ध

कर्म का बंध

सदियों से बंधन है जीव व कर्म का – संसार में प्रत्येक जीव बंधन में है। गाय को बंधन है रस्सी का, हाथी को बंधन है अंकुश का, तोते को बंधन है पिंजरे का, कैदी को बंधन है कारागृह का ठीक इसी प्रकार आत्मा को बंधन है कर्म का आत्मा को जब तक इस कर्म रूपी बंधन से मुक्ति नहीं मिलेगी, तब तक कर्मों के अधीन यह जीव चतुर्गति रूप संसार में भ्रमण करता रहेगा है।

दुनियाँ की बड़ी से बड़ी शक्ति कर्म की शक्ति के सामने हार मान लेती है। कर्मों की शक्ति का ही प्रभाव है ग्यारहवें गुणस्थान में उपशम श्रेणी पर चढ़ने के बाद भी यह जीव अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल तक संसार में भटक सकता है जिस प्रकार फुटबाल के मैदान में फुटबाल कभी इधर तो कभी उधर ठोकरें खाती है वैसे ही आत्मा भी कर्मों से बंधी संसार के मैदान में ठोकरें खाती रहती है।

कर्मों की प्रचंड शक्ति का ही प्रभाव है उसी भव से मोक्ष जाने वाले पांडवों को भी बारह वर्ष वनवास में रहना पडा। वनवास के उपरांत एक वर्ष का अज्ञातवास व्यतीत करना पड़ा. दर दर की ठोकरें खाना पड़ी यह पूर्व कर्म बंध का परिणाम ही उदय में आकर फलीभूत हुआ।

अतः यह संसार अपने ही कर्मो की प्रतिध्वनि है हम दुसरों को यदि प्रेम करते हैं तो हमें भी प्रेम मिलता है तथा हम दूसरों से नफरत करते हैं तो हमें भी नफरत मिलती है क्योंकि हम जैसा सोचते हैं, जैसा बोलते हैं और जैसा करते हैं वैसा ही कर्मों का शुभ-अशुभ, अच्छा बुरा संस्कार हमारी चेतना पर अंकित हो जाता है तथा -वैसा ही कर्म का बंध हो जाता है और कालान्तर में जब कर्म उदय में आता है तो वैसा ही फल हमें मिलता है। कहा है

अतीत में हमारे द्वारा स्वयं किया हुआ कर्म ही वर्तमान में भाग्य के रूप में सामने आता है और उसी भाग्य के उदय में हमारी प्रतिक्रिया भविष्य के लिए संचित हो जाती है।

जैसे -टेप रिकॉर्डर में हम कैसेट भरने के लिए रिकॉर्डिंग का बटन ऑन कर देते हैं उसके सामने जो कुछ भी बोलते हैं. यदि हम गीत गाते तो गीत अंकित हो जाता है, गाली देते तो गाली अंकित हो जाती है, जब प्ले का बटन दबाते हैं तो वहीं सुनायी देता है। ठीक ऐसे ही हमारी मन-वचन-काय की प्रवृत्ति होती है वैसी ही कर्म की कैसेट भर जाती है, यदि योगों की प्रवृत्ति शुभ होती तो शुभ कर्म बँधते है व अशुभ प्रवृत्ति होती है तो अशुभ कर्म बंधते हैं।

बंध के कारण

मिथ्यादर्शना विरति-प्रमाद-कषाय-योगा बंध हेतवः।

मिथ्यादर्शन अवरति प्रमाद, कषाय व योग बंध के हेतु हैं इन कारणों के मिलने पर बंध होता है।

जीव व प्रदेशों का परस्पर बंध

आत्मकर्मणोरन्योन्य प्रदेशानु प्रदेश लक्षणो बंधः-कर्म प्रदेशों का आत्मा प्रदेशों के साथ एक क्षेत्रावगाह हो जाना बंध है। जैसे दूध व पानी का एकमेक हो जाना।

जीव बंध क्या है? धवला पु. 13

एगसरीरटिठ्दाणमणंताणं ताणं ताणं णिगोद जीवाणं अण्णोण बंधो सो

जेण कम्मेण जीवा अणंताणंता एक्कम्मि सरीरे अच्छंति तं कम्मं जीव बंधो णाम–एक शरीर में स्थित अनंतानंत निगोद जीव तथा जिसकर्म के कारण से वे इस प्रकार रहते हैं वह कर्म भी जीवबंध है।

भावबंध रूप जीवबंध कैसे ? रा–वा. में 2/10

क्रोधादिपरिणामवशीकृतो भावबंधः क्रोधादि परिणाम भावबंध है।

भगवती आराधना/38/34/19 बध्यन्ते अस्वतन्त्रीक्रियन्ते कार्माणि द्रव्याणि तेन परिणामेन आत्मनः स बंधः

कर्म को परतन्त्र करने वाले आत्म परिणामों का नाम भाववंध है।

जब कर्म वर्गणाएँ अपने पुद्गल नाम को छोड़कर ज्ञानावरणादि नाम को पाकर जीव के योग व मोहभाव के कारण आत्मा के क्षेत्र में ठहर जाती है उनमें जीव के गुणों को ढ़ाकने की व साता व असाताकारी संबंध के मिलाने की शक्ति हो जाती है इस कार्य को बंधकरण कहते हैं। जिस समय कर्मों का आस्रव होता है, उसी समय उनका बंध होता है। बंध होते समय प्रकृति, स्थिति, अनुभाग व प्रदेश चारों बाते एक साथ हो जाती है।

प्रकृति	– किस जाति के कर्म बंधे।	प्रदेश बंध है
प्रदेश	– कितनी संख्या बँधी।	स्थिति बंध है
स्थिति	– कितने काल की मर्यादा पड़ी।	
अनुभाग	– तीव्र व मंद फलदान शक्ति कैसी पड़ी।	वह जिस स्थान पर है

अबंध किसे कहते हैं–पूर्व में किश्रसी कर्म का बंध किया लेकिन वर्तमान में विशुद्धि उत्तरोतर वृद्धि को प्राप्त होने के कारण बंध नहीं हो रहा है अबंध है।

लब्धियों के द्वारा जीव का विचार

जब मोटर ठंडी हो जाती है तब पट्टा चढ़ाते हैं, पुरुषार्थ करते हैं, धक्का लगाते हैं तब मोटर चलने लगती है। ठीक वैसे ही क्षयोपशम लब्धि से अप्रशस्त कर्मों का अनुभाग मंद हो जाता है जिससे जीप स्व–पर, हित–अहित, तत्त्व –अतत्त्व का विचार करने में समर्थ हो जाता है। विशुद्धि लब्धि से धर्म के प्रति अनुराग रूप परिणाम होता है। अतः देव–शास्त्र–गुरु के प्रति अनुराग होता है कि हमारी ये आत्मा दुःखों से कैसे छूटे। देशना लब्धि में उपदेश को सुनकर और धारण कर जो प्रयोजनभूत तत्त्व है उनके अनुसार ऐसा चिंतन करता है कि वस्तु का स्वरूप ऐसा ही है अन्य नहीं। अतः प्रायोग्यलब्धि से ऐसी पात्रता आ जाती है जिससे करण लब्धि के परिणाम ठहर सकें। इसमें 34 बंधापसरणों में 46 प्रकृतियों का बंध रुक जाता है।

उदाहरण जैसे राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, मुख्यमंत्री, बड़े–बड़े नेताओं के आने पर अथवा राजा महाराजा नगर सेठ के आने पर ट्राफिक रुक जाता है, वैसे ही सम्यक्त्वरूपी महाराजा के आने से पूर्व प्रायोग्य लब्धि में होने वाले चौतीस बंधापसरणों में नरकायु आदि 46 प्रकृतियों का बंध रुक जाता है।

प्रायोग्य लब्धि किसे कहते हैं? सम्यक्त्व के पूर्व योग्यता को प्राप्त होना प्रायोग्य लब्धि है।

लब्धिसार गाथा नं 7 पृ. 6 में आचार्य भगवन् प्रायोग्य लब्धि को समझाते हुए कहते हैं।

अंतो कोडा कोडी विट्ठाणे ठिदिरसाणं जं करणं।
पाउग्ग लद्धिणामा भव्वाभव्वेसु सामणा।।

कर्मों की स्थिति को अन्तः कोड़ा कोडी तथा अनुभाग को द्विस्थानिक करने को प्रायोग्यलब्धि कहते हैं । यह लब्धि भव्य व अभव्य सभी जीवों के समान रूप से होती है।

अंतः कोडा कोडी सागर कर्म स्थिति रह जाने पर संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीव के प्रथमोपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति की योग्यता होती है। इस लब्धि में इतनी विशेषता हो जाती है कि सर्व कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति कांडकघात के द्वारा घात करके अन्तः कोडाकोडी सागर प्रमाण स्थिति कर देता है तथा अप्रशस्त प्रकृतियों के चतुःस्थानीय अनुभाग को घात करके द्विस्थानीय अनुभाग

में स्थापन कर देता है किंतु प्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग गुड़–खांड–शर्करा व अमृतरुप चतुस्थानीय ही होता है क्योंकि विशुद्धि के द्वारा प्रशस्त प्रकृतियों के अनुभाग का घात नही होता है। इन अवस्थाओं के होने पर करण लब्धि के होने के योग्य भाव ठहरने लगते हैं तब 34 बंधापसरणों में 46 प्रकृतियो का बंध रुक जाता है।

अनुभाग काण्डक घात

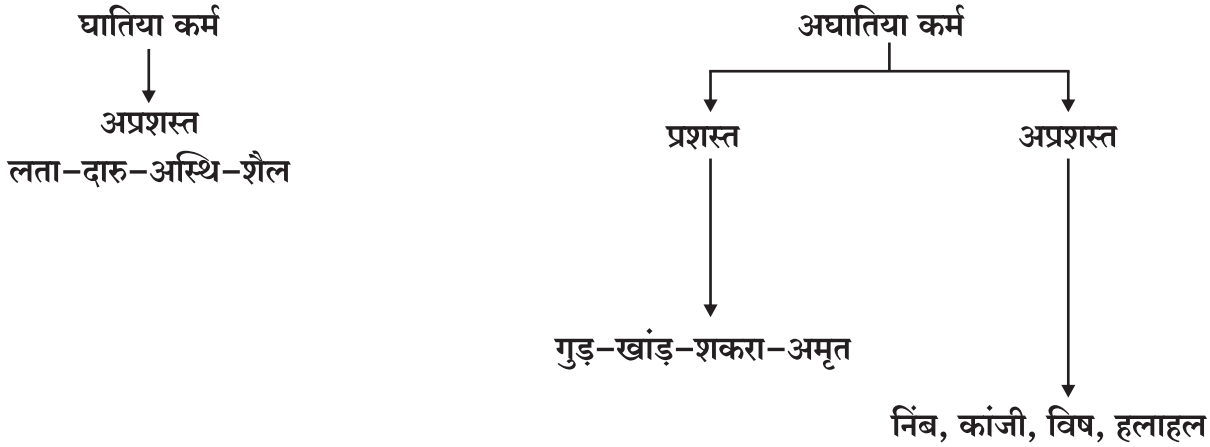

1. **घातिया कर्म अप्रशस्त ही है।**
2. **अघातिया कर्म दोनों प्रकार का है प्रशस्त–अप्रशस्त**

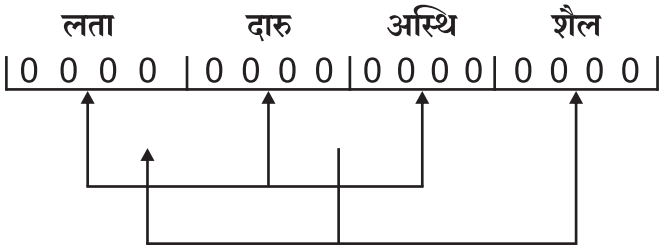

घातिया कर्म के अनुभाग को घात करके अर्थात् अस्थि और शैलरुप शक्ति को लता–दारु रूप करता हैं अर्थात् शक्ति कम करता है जैसे शैल (पत्थर) कठोर होता है, उससे कम कठोर अस्थि है, उससे कम कठोर दारु और उससे कम कठोर लता है।

अघातिया अप्रशस्त

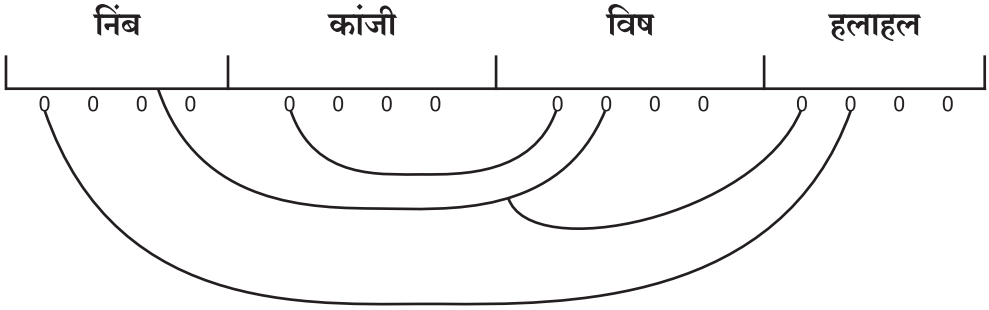

प्रथमोपशम सम्यक्त्व के अभिमुख जीव के स्थिति बंध परिणामों को कहते हैं।

सम्मत्तहिमुहमिच्छो विसोहिवड्ढीहि वड्ढमाणो हु।
अंत्तो कोड़ाकोडि सत्तण्हं बंधणं कुणदी।। (लबब्धिसार गाथा 9 पृ. 9, 10)

विशुद्धि में वृद्धि के द्वारा तथा प्रथमोपशम सम्यक्त्व के अभिमुख मिथ्यादृष्टि जीव (आयुकर्म को छोड़कर) सात कर्मों का अन्त:कोड़ा कोड़ी सागर प्रमाण स्थिति बंध करता है। धवला पु. 6 पृ. 135

प्रथमोपशम समयक्त्व के अभिमुख सभी मिथ्यादृष्टि जीव एक कोड़ाकोड़ी के भीतर की स्थिति अर्थात् अन्त: कोड़ाकोड़ी सागरोपम को बाँधता है, इससे अधिक स्थिति को नहीं बाँधता। जय धवला पु. 12 पृ. 213

कहा है–स्थिति बंध भी इन्हीं बँधने वाली प्रकृतियों का अन्त: कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण ही होता है, क्योंकि यह प्रथमोपशम सम्यक्त्व के अभिमुख जीव विशुद्धतर परिणमों से सहित होता है।

बंधापसरण– विशुद्धि के द्वारा जब प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त में पल्य के असंख्यातवें भाग कर्म को घटाते–घटाते जब (पृथक्त्व सागर) 700–800 सागर की स्थिति घट जाती है तब एक बंधापसरण होता है।

बंध का अपसरण– बंध का घटना–कम करना

बंधापसरण का तात्पर्य है–बंध को विशुद्धि के द्वारा प्रकृतियों का बंध रुक जाता है।

* पुराने द्रव्य में स्थिति कांडक घात होता है।

* नये द्रव्य में बंधापसरण होता है।

स्थिति को घटाना स्थिति है, तथा प्रकृतियों का बंध से रुकना बंधापसरण है।

प्रायोग्य लब्धिकाल में प्रकृति बंधापसरण को कहते हैं–

तत्तो उदय सदस्य य पुधत्तमेत्तं पुणो पुणोदरिय।
बंधम्मि पयडि बंधुच्छेदपदा होंति चोत्तीसा।। (लब्धिसार गाथा 10 पृ. 9)

विशुद्धतर परिणामों से सहित अंत:कोड़ाकोड़ी सागर स्थिति से पृथक्त्व सौ सागर हीन स्थिति को बांधकर पुन: पृथक्त्व 100 सागर घटाकर स्थिति बंध करने पर प्रकृति बंध व्युच्छित्ति के 34 स्थान होते हैं।

प्रकृति बंधासरण– परिणामों की विशुद्धता से प्रवृति बंध का क्रम से बंध का रुक जाना प्रकृति बंधापसरण है।

प्रथमोपशम सम्यक्त्व के अभिमुख जीव को स्थिति बंध परिणामों को कहते हैं।

प्रथमोपशम सम्यक्त्व के अभिमुख जीव के स्थिति बंध योग्य परिणाम बतलाते हैं।

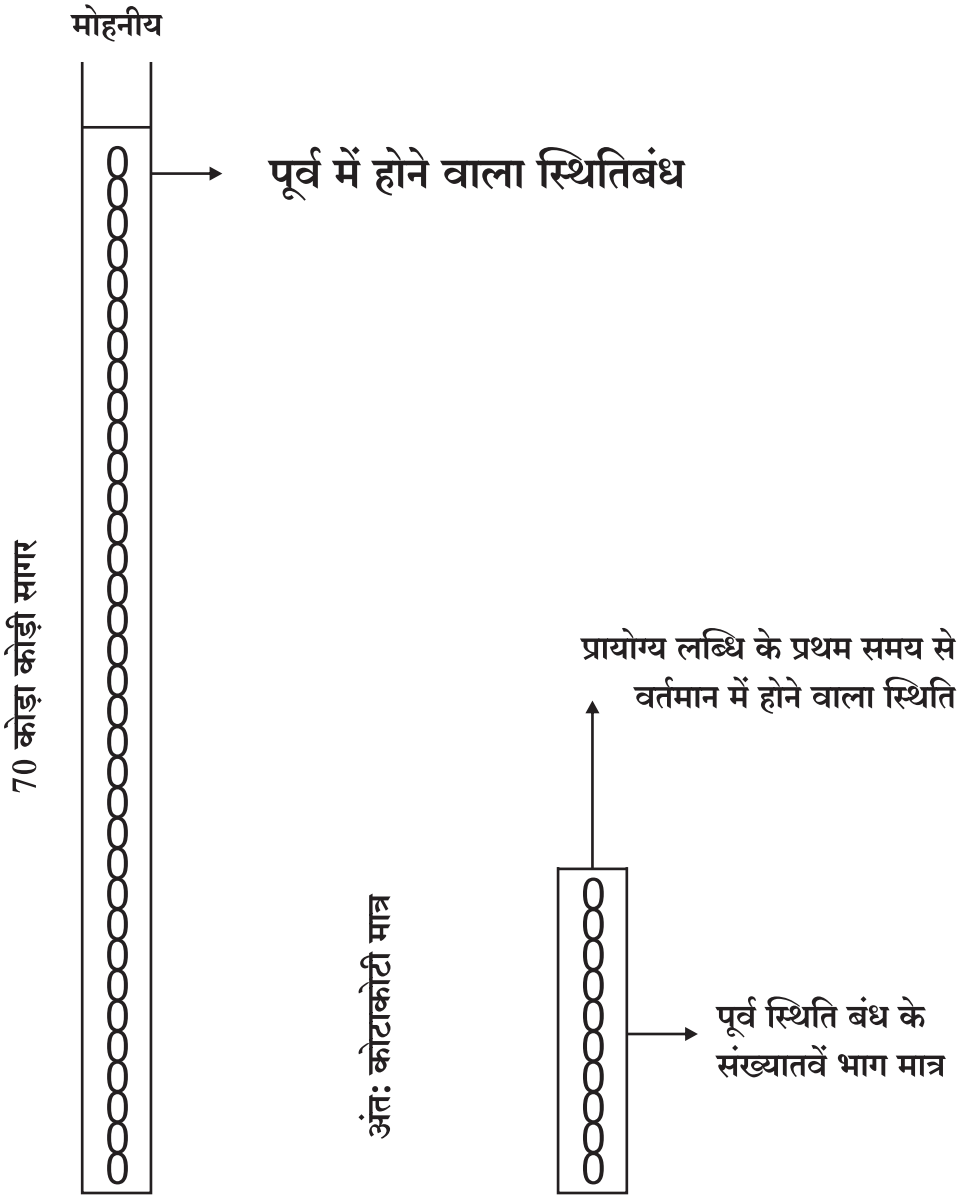

बंध का घटना, विशुद्धि के द्वारा कम होना बंध का अपकर्षण है जैसे राजा श्रेणिक ने क्रोधावेश के कारण, यशोधर मुनिराज की निंदा की, अपमानित किया, गालियाँ दी, 500 कुत्तों को उनके पास छोड़ दिया। अंत में मरा हुआ सर्प डाल दिया, अनन्तर मुनिराज उपसर्ग समझकर ध्यान में ही रहे लेकिन इस गलत कृत्य के कारण राजा श्रेणिक ने सप्तम नरक (तेंतीस सागर) की आयु का बंध कर लिया। तदनंतर रानी चेलना के समझाने पर पश्चाताप हुआ, मुनिराज के पास आयें दोनों ने उपसर्ग निवारण किया, मुनिराज ने समतापूर्वक दोनों को आशीर्वाद दिया। राजा श्रेणिक रोने लगे, प्रायश्चित्त कर, क्षमा याचनाकर विशुद्धि को बढ़ाते हुए आयु का अपकर्षण कर पहले नरक की आयु अर्थात् 84 हजार वर्ष की आयु का बंध कर लिया।

अंतः कोड़ा कोडी सागरोपम स्थितिबंध से पृथक्त्व 100 सागर प्रमाण स्थितिबंध घटने का क्रम इस प्रकार है–

अन्तः कोडाकोडी सागर प्रयाण स्थितिबंध

से पल्य के संख्यातवें भाग से हीन स्थिति को अन्तर्मुहूर्तपर्यंत समानता लिए हुए ही बाँधता है। फिर उससे पल्य के संख्यातवें भाग हीन स्थिति को अन्तमुहूर्त तक बाँधता हैं। इस प्रकार पल्य के संख्यातवें हीन क्रम से एक पल्य हीन अन्तःकोड़ा कोडी सागरोपम स्थिति को अंतर्मुहूर्त तक बाँधता है। तथा इसी पल्य के संख्यातवें भाग हीन क्रम से स्थिति बंधापसरण करता हुआ दो पल्य से हीन, तीन पल्य से हीन आदि स्थिति को अंतर्मुहूर्त तक बांधता है। पुनः इसी क्रम से आगे आगे स्थिति बंध का ह्रास करता हुआ एक सागर से हीन, दो सागर से हीन, तीन सागर से हीन, चार सागर से हीन इत्यादि सात–आठ सौ सागरोपमों से हीन अंतः कोटा कोटी प्रमाण स्थिति को जिस समय बाँधने लगता है उस समय प्रकृतिबंध–व्युच्छित्ति रूप एक बंधापसरण होता है। क्रम–क्रम से ही स्थितिबंध का ह्रास होता है और जब वह में सागरोपम शत पृथकत्व प्रमित हो जाता है तब प्रकृतिबंध व्युच्छित्ति रूप दूसरा बंधापसरण होता है। यही क्रम आगे भी जानें।

प्रकृति बंध कब–कब होते हैं उदाहरण द्वारा समझेंगे 7.

माना कि अन्तः कोड़ाकोड़ी सागर = 10,00,000

पल्योपम का संख्यातवां भाग – 10 वर्ष

पल्य का प्रमाण = 10

सागर का प्रमाण = 100.

अंतः कोड़ा कोड़ी सागर – पल्योपम का संख्यातवां भाग

एक पल्यहीन – 1,00,000 – 10 = 99990 को अन्तर्मुहूर्त में बाँधा

पल्य के संख्यातवे भाग हीन क्रम से पल्य का संख्यातवां हीन

99990–10 = 99980

से तीन पल्य हीन = 99980–10 = 99970

चार पल्य हीन = 999–70–10 =299960

पांच पल्यहीन = 99960–10 = 99950

प्रमाण हो गया इसी प्रकार एक एक पल्य हीन करते करते जब 99,900 शेष बचे तब एक सागर का प्रमाण होगा।

इस तरह 700–800 पृथक्त्व सागर प्रमाण स्थिति हीन अंतः कोडा कोडी सागर रह जाता तब एक बंधापसरण होता है।

जय धवला. पु. 12/पृ. 221 से 225 तक, धवला पु. 6 प्र. 134 से 139. प्रकृति बंधापसरणों को पांच गाथाओं में कहते हैं। लब्धिसार गा. (11 से 15 पृ. 10–11)

सात–आठ सौ सागरोपम से हीन अन्तः कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण स्थिति को जिससमय बाँधने लगता है उस समय एक नरकायु प्रकृतिबंध से व्युच्छिन्न होती है, उससे सागरोपमशत पृथक्त्व नीचे उतरकर तिर्यंचायु की बंध व्युच्छित्ति होती है, उससे सागरोपमशत पृथक्त्व नीचे उतरकर मनुष्यायु का बंध व्युच्छेद होता है तथा उससे सागरोपमशत पृथक्त्व नीचे उतरकर देवायु की बंध व्युच्छित्ति होती है, उससे सागरोपमशत पृथक्त्व नीचे नरकगतिऔर नरकगत्यानुपूर्वी इन दोनों प्रकृतियों का एक साथ बंधव्युच्छेद होता है उससे सागरोपमशत पृथक्त्व नीचे उतरकर बादर अपर्याप्त साधारण शरीर परस्पर संयुक्त इन तीनों प्रकृतियों का युगपत बंधव्युच्छेद होता है। उससे सागरोपमशत पृथकृत्व नीचे जाकर सूक्ष्म–अपर्याप्ति–प्रत्येक परस्पर संयुक्त इन तीन प्रकृतियों का बंध व्युच्छेद होता है। उससे सागरोपमशत पृथकृत्व नीचे उतरकर बादर अपर्याप्त–साधारण शरीर परस्पर संयुक्त इन तीन प्रकृतियों का युगपत बंध व्युच्छेद होता, उससे सागरोपमशत पृथक्त्व नीचे जाकर बादर–अपर्याप्त प्रत्येक शरीर इन तीन प्रकृतियों की एक साथ बंध व्युच्छित्ति होती हैं उससे सागरोपमशत पृथकत्व नीचे उतरकर परस्पर संयुक्त द्वीन्द्रिय जाति व अपर्याप्त इन दोनों प्रकृतियों का बंध व्युच्छेद होता है। उससे सागरोपमशत पृथक्त्व नीचे उतरकर परस्पर संयुक्त तीन्द्रिय जाति अपर्याप्त इन

दो की बंध व्युच्छित्ति एकसाथ । उससे सागरोपमशत पृथक्त्व नीचे परस्पर संयुक्त चतुरिन्द्रिय जाति व अपर्याप्त, इन दो का एक साथ बंध व्युच्छेद होता है। उससे सागरोपमशत पृथक्त्व नीचे उतरकर परस्पर संयुक्त पंचेन्द्रिय जाति व अपर्याप्त परस्पर संयुक्त इन दो प्रकृतियों का बंध व्युच्छेद युगपत् होता है। उससे सागरोपम नीचे उतरकर परस्पर संयुक्त संज्ञी पंचेन्द्रिय जाति व अपर्याप्त इन दो प्रकृतियों की एक साथ बंध व्युच्छित्ति होती है। इससे सागरोपमशत पृथक्त्व नीचे उतरकर परस्पर संयुक्त सूक्ष्म पर्याप्त, साधारण शरीर इनकी व्युच्छित्ति होती हे। उससे सागरोपम शत पृथक्त्व नीचे उतरकर

सुक्ष्म पर्याप्त प्रत्येक शरीर ये तीनों प्रकृतियाँ युगपत् बंध से व्युच्छिन्न होती हैं नीचे सागरोपमशत पृथक्त्व उतरकर परस्पर संयुक्त युगपत् बादर पर्याप्त साधारण शरीर इन तीनों प्रकृतियों का बंध में व्युच्छेद होता है। इससे सागरोपम शत पृथक्त्व नीचे उतरकर परम्पर संयुक्त बादर, पर्याप्त प्रत्येक शरीर–एकेन्द्रिय आतप–स्थावर ये छः प्रकृतियों की बंध व्युच्छित्ति एक साथ होती है।

इससे सागरोपमशत पृथक्त्व नीचे उतरकर परस्पर संयुक्त द्वीन्द्रिय जाति पर्याप्त इन दो प्रकृतियों का बंध व्युच्छेद होता है।

इससे सागरोपमशत पृथक्त्व नीचे उतरकर त्रीनेन्द्रिय जाति व पर्याप्त इन दोनों का बंध व्युच्छेद होता है इससे सागरोपमशत पृथक्त्व नीचे आकर चतुरिन्द्रिय जाति व पर्याप्त युगपत् दोनों का व्युच्छेद।

* इससे सागरोपमशत पृथक्त्व नीचे उतरकर असैनी पंचेन्द्रिय जाति व पर्याप्त दोनों का बंध व्युच्छेद
* इससे सागरोपमशत पृथक्त्व नीचे उतरकर – तिर्यंच गति, तिर्यंचगत्या. व उद्योत तीनों का बंध व्युच्छेद
* इससे सागरोपमशत पृथक्त्व नीचे उतरकर, नीच गोत्र की बंध व्युच्छित्ति होती है।
* इससे सागरोपमशत पृथक्त्व अप्रशस्तविहायो दुर्भग, दुस्वर अनादेय इन चार की बंध व्युच्छित्ति
* इससे हुंडक संस्थान व असंप्राप्तासृपाटिका संहनन दो प्रकृति की बंध व्युच्छित्ति
* इससे नपुंसकवेद का बंध व्युच्छेद होता है।
* इससे वामन संस्थान व कीलित संहनन दो की बंध व्युच्छित्ति
* इससे कुब्जक संस्थान व अर्धनाराच संहनन इन दो की बंध व्युच्छित्ति
* इससे स्त्रीवेद का बंध व्युच्छेद होता है।
* स्वाति संस्थान व नाराच शरीर संहनन इन दो की बंध व्युच्छित्ति
* न्यग्रोध परिमंडल संस्थान वज्रनाराचसंहनन इन दो की बंध व्युच्छित्ति होती है।

इससे मनुष्यगति, मनुष्यगत्या. औदारिक शरीर–औदारिक आंगोपांग व वज्रवृषभनाराच संहनन इन पाँच प्रकृतियों की युगपत बंध व्युच्छिति होती है।

इससे सागरोपमशत पृथक्त्व नीचे उतरकर अरति, शोक, अस्थिर, अशुभ, अयशकीर्ति, असातावेदनीय इन छः प्रकृतियों का बंध व्युच्छेद होता है।

शंका– इन चौतीस प्रकृतियों का यह क्रम किस कारण से है।

समाधान

1–अशुभ, अशुभतर व अशुभतम के भेद से प्रकृतियों का अवस्थान किया जाता है उसी अपेक्षा से प्रकृतियों का बंध व्युच्छेद का क्रम है।

बंध व्युच्छेद का यह क्रम विशुद्धि को प्राप्त होने वाले भव्य और अभव्य मिथ्यादृष्टि जीवों में साधारण अर्थात् समान है। (धवला पु. 6 पृ. 136–139)

2–जय धवलाकार ने कहा है– जो अभव्यों के योग्य विशुद्धि से विशुद्ध हो रहा है उसके तत्प्रायोग्य अन्तः कोड़ाकोडी सागर प्रमाण स्थितिबंध की अवस्था में एक भी कमप्रकृति की बंध व्युच्छित्ति नहीं होती। (जय धवला पु.6 पृ. 221)

विशेष–अंतिम 34 वे बंधापसरण में– असातावेदनीय, अरति, शोक, अस्थिर, अशुभ व अयशकीर्तिः इन छः प्रकृतियों की बंध व्यु. प्रथमोपशम सम्यक्त्व के अभिमुख मिथ्यादृष्टि जीव के हो जाती है।।

34 बंधापसरण के नाम व चारों गतियों में बंधापसरण

बंधापसरण के नाम क्रमशः	मनुष्य	तिर्यंच		देवगति		नरकगति	
	मनुष्य	तिर्यंच	भवनत्रिक सौधर्म यगुल	तीसरे स्वर्ग से बाहरवें स्वर्ग तक	तेरहवें स्वर्ग से नवग्रैवेयक तक	पहले से छह नरक तक	सप्तम नरक
	34 बंधा.	34 बंधा.	14 बंधा.	13 बंधा.	11 बंधा.	14 बंधा.	10 बंधा.
1. नरक आयु व्युच्छित्ति (इससे सागरोपशत पृथक्त्व नीचे उतरकर)	✔	✔	x	x	x	x	x
2. तिर्यंच आयु	✔	✔	✔	✔	x	✔	✔
3. मनुष्यायु	✔	✔	✔	✔	✔	✔	x
4. देवायु	✔	✔	x	x	x	x	x
5. नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी (युगपत)	✔	✔	x	x	x	x	x
6. सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण (तीनों एक साथ व्यु.)	✔	✔	x	x	x	x	x
7. सूक्ष्म अपर्याप्त, प्रत्येक (युगपत व्यु.)	✔	✔	x	x	x	x	x
8. बादर अपर्याप्त-साधारण	✔	✔	x	x	x	x	x
9. बादर अपर्याप्त-प्रत्येक	✔	✔	x	x	x	x	x
10. बेइन्द्रिय अपर्याप्त	✔	✔	x	x	x	x	x
11. त्रीन्द्रिय अपर्याप्त	✔	✔	x	x	x	x	x
12. चतुन्द्रिय अपर्याप्त	✔	✔	x	x	x	x	x
13. असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त	✔	✔	x	x	x	x	x
14. संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त	✔	✔	x	x	x	x	x
15. सूक्ष्म पर्याप्त साधारण	✔	✔	x	x	x	x	x
16. सूक्ष्म पर्याप्त प्रत्येक	✔	✔	x	x	x	x	x
17. बादर पर्याप्त साधारण	✔	✔	x	x	x	x	x
18. बादर पर्याप्त, प्रत्येक एकेन्द्रिय, आतप, स्थावर	✔	✔	✔	x	x	x	✔
19. बादर पर्याप्त दो इन्द्रिय	✔	✔	x	x	x	x	x
20. बादर त्रीन्द्रिय पर्याप्त	✔	✔	x	x	x	x	x
21. बादर चतुन्द्रिय पर्याप्त	✔	✔	x	x	x	x	x
22. बादर असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त	✔	✔	x	x	x	x	x
23. बादर तिर्यंचगति, तिर्यंच गत्या. उद्योत	✔	✔	✔	✔	x	✔	x
24. नीच गोत्र	✔	✔	✔	✔	✔	✔	x
25. अप्रशस्त विहायो. दुर्भग, दुःस्वर, अनोदय	✔	✔	✔	✔	✔	✔	✔
26. हुंडक संस्थान, सृपाटिका संहनन	✔	✔	✔	✔	✔	✔	✔
27. नपुंसक वेद	✔	✔	✔	✔	✔	✔	✔
28. वामन संस्थान, कीलित संहनन	✔	✔	✔	✔	✔	✔	✔
29. अर्धनाराच संहनन, कुब्जक संस्थान	✔	✔	✔	✔	✔	✔	✔
30. स्त्री वेद	✔	✔	✔	✔	✔	✔	✔
31. स्वाति संस्थान	✔	✔	✔	✔	✔	✔	✔
32. न्यग्रोध परिमंडल संस्थान, वज्रनाराच संहनन	✔	✔	✔	✔	✔	✔	✔
33. मनुष्यगति मनु.गत्या.औदारिक शरीर, औदा. वज्रवृषभनाराच संहनन	✔	✔	x	x	x	x	x
34. अस्थिर, अशुभ, अयश, अरति, शोक, असाता नामकर्म (ये छह)	✔	✔	✔	✔	✔	✔	✔

अबंध– प्रथमोपशम सम्यक्त्व के अभिमुख मनुष्य व तिर्यंचों के प्रथमोपशम सम्यक्त्व के अभिमुख देव तथा सातवें नरक को छोड़कर (छह पृथ्वी के नारकी जीवों को नहीं बँधने वाली (अबंध) प्रकृतियों का स्पष्टीकरण इस प्रकार है–

असाता वेदनीय, स्त्री वेद, नपुंसक वेद, अरति वेद, शोक, चारों आयु, नरक गति, तिर्यंचगति, देवगति, एकेन्द्रिय जाति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, वैक्रियक शरीर, आहारक शरीर समचतुरस्र संस्थान को छोड़कर शेष पाँच संस्थान, वैक्रियिक शरीर व आंगोपांग, वज्रवृषभनाराच संहनन नरकगति, गत्यानुपूर्वी देवगति, गत्यानुपूर्वी, अप्रशस्त विहायोगति, आतप, उद्योत, स्थावर सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण शरीर, अशुभ, दुर्भग, दु:स्वर, अनादेय, अयशकीर्ति, नीच गोत्र व तीर्थंकर। (ध.पु.6 पृ. 141)

इनमें से अपनी–अपनी बंध अयोग्य प्रकृतियों को घटाकर शेष प्रकृतियों का बंधापसरणों द्वारा बंध व्युच्छेद हो जाता है।

भवनत्रिक (भवनवासी, वानव्यंतर, ज्योतिष) देवों व सौधर्म ऐशान स्वर्ग के देवों में तिर्यंचायु, मनुष्यायु, एकेन्द्रिय, आतप, स्थावर, तिर्यंचगति, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी उद्योत, नीचगोत्र, अप्रशस्त विहायोगति, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय, हुंडक संस्थान, असंप्राप्ता सृपाटिका, नपुंकक वेद, वामन सं. कीलित संहनन, कुब्जक संस्थान, अर्धनाराच संहनन, स्त्रीवेद, स्वाति संस्थान, नाराच संहनन, न्यग्रोध संहनन, वज्रनाराच संहनन, अस्थिर, अशुभ अयशकीव्रि, अरति, शोक, असाता वेदनीय इन 31 प्रकृतियों की बंध व्युच्छित्ति प्रथमोपश सम्यक्त्व के अभिमुख जीव के होती है।

प्रथम आदि छह नरक और तीसरे स्वर्ग से बारहवें स्वर्ग तक के जीवों में इन 31 प्रकृतियों में से बंध के अयोग्य एकेन्द्रिय जाति, आतप और स्थावर इन तीन प्रकृतियों को कम करने से शेष 28 प्रकृतियों की बंध व्युच्छित्ति सम्यक्त्व के जीव के होती है।

13 वें स्वर्ग से 16 स्वर्ग तथा नौग्रैवेयक– के देवों में इन 28 प्रकृतियों में बंध के अयोग्य तिर्यंगायु, तिर्यंचगति, तिर्यंच गत्यानुपूर्वी व उद्योत इन चार प्रकृत को कम करने से शेष 24 प्रकृतियों की बंध व्युच्छित्ति प्रथमोपशम सम्यक्त्व के अभि जीव के होती है।

प्रश्न– जिस प्रकार मनुष्य व तिर्यंचों के औदारिक शरीर व औदारिक आंगोपांग इन प्रकृतियों की बंध व्युच्छित्ति होती है। उसी प्रकार उसी विशुद्धि में वर्तमान देव व नारकी के औदारिक शरीर व औदारिक अंगोपांग का बंध व्युच्छित्ति क्यों नहीं होता।

उत्तर– सहकारी कारण रुप मनुष्यगति और तिर्यंचगति के उदय से वर्जित केवल विशुद्धि वर्तमान देव व नारकियों के औदारिक शरीर व औदारिक शरीर आंगोपांग का बंध व्युच्छित्ति करने में समर्थ नहीं है, क्योंकि कारण सामग्रादि से उत्पन्न होने वाले कार्य की विकल कारण से उत्पत्ति का विरोध है। देव और नारकियों में औदारिक शरीर आदि का ध्रुवबंध होता है अत: उनकी बंध व्युच्छित्ति नहीं होती। (ध.पु. 6 पृ.141)

जय ध.पु. 12 पृ. 233, ध.पु. 8 पु. 110, गो.कर्म.गा.107, गो.कर्म गा. 105 से 107/कषाय पा.पृ. 619

लब्धिसार गाथा 16 में सातवें नरक में बंधापसरण बंध व्युच्छित्ति पदों को कहते हैं– सातवें नरक में मनुष्यायु बंध योग्य नहीं है इसलिए तीसरा बंधापसरण कम किया है। प्रथमोपशम सम्यक्त्व के अभिमुख सातवें नरक के नारकी जीव के नीच गोत्र की बंध व्युच्छित्ति नहीं होती। अत: 24वाँ बंधापसरण कम किया है। मिथ्यादृष्अि, सप्तम पृथ्वी के नारकी के तिर्यंचायु की बंध व्युच्छित्ति हो जाती है अत: दूसरा बंधापसरण मिलाया गया है। इस प्रकार सातवें नरक में बंधापसरण होते हैं। जिनके द्वारा 23 प्रकृतियों की बंध व्युच्छित्ति होती है।

सप्तम नरक में बंध योग्य 96 प्रकृतियाँ हैं उसमें से 23 प्रकृतियों की बंध व्युच्छित्ति हो जाने पर 73 प्रकृतियाँ बंध योग्य शेष रह जाती है। इन 73 प्रकृतियों में उद्योत प्रकृति का बंध होता भी है और नहीं भी होता है। यदि उद्योत प्रकृति बँधती है तो 73 प्रकृतियों का बंध व 72 प्रकृतियों का बंध उद्योत प्रकृति के न बँधने पर होता है।

इस प्रकार आप सभी मनीषियों ने बड़े ही मनोयोग से बंधापरण जैसे जटिल विषय को सुना।

अब मैं इस आलेख को लिख रही थी कि मेरे मन में अनेक प्रकार के विचार उभरकर सामने आ रहे थे, अज्ञानतावश राग द्वेष, कषाय, मिथ्यात्व आदि के वशात् जो शुभ अशुभ कर्म किये वह शीघ्र ही विशुद्धि के द्वारा, सुसंस्कारों के द्वारा उपदेश आदि के द्वारा ही प्रायश्चित्त आदि की भावना करके सर्व दोषों की क्षमायाचना करके जो कम बंधे थे वह शीघ्र ही घटकर, व्युच्छिन्न हो जाये, अंबंध हो जाये, नये कर्मों को बंध न हो तथा पुराने कर्मों का निर्बन्धन हो,

कहा हूँ– बंध से निर्बन्ध हूँ में चेना का छंद हूँ मैं
समय ने जिसकी उतारी आरती का बंध हूँ मैं।

शुभ अशुभ भावों से बंध होता है भाव क्रिया न करने से अबंधहीन भावों की सीढ़ी पर मोक्ष का महल खड़ा है बंधुओं मोक्ष का प्रबंध भी भावों से होता है। यही अन्तरंग भावना से ऐसे उत्तम, श्रेष्ठ, सर्वोत्कृष्ट विचार हो जिससे मोक्ष तक का प्रबंध हो जायें त्रय भक्तिपूर्वक गुरुदेव के पावन चरणों में कोटि–कोटि नमोऽतु

उपशम सम्यक्त्व में सात या पाँच प्रकृति का उपशम तथा अनंतानुबंधी का उपशम

–आर्यिका विपुलश्री माताजी

उपशम का अर्थ होता है दब जाना, कार्य रुप परिणत यहाँ उपशम का व्युत्पत्ति अर्थ सम धातू पूर्वक ''उप'' उपसर्ग लगकर होता है। सम का अर्थ शमन होना दब जाना आदि में प्रयोग किया जाता है यद्यपि उपशम करण की अपेक्षा देखा जाये तो आठों कर्मों में होता है लेकिन वह अप्रयत्न पूर्वक होता है, किंतु विशुद्धि के द्वारा जो प्रयत्नपूर्वक होता है वह केवल मोहनी कर्म में ही होता है। उसी का यहाँ विवेचन करने का प्रयास किया जा रहा है। कर्मों के क्षय उपशम आदि का कथन शास्त्रों में विस्तार से किया गया है किंतु यहाँ अपनी बुद्धि के अनुसार जो गुरुमुख या चरणों के प्रसाद से सीखा है उसमें से ही कुछ कहने का प्रयास किया जा रहा है। इस आलेख में सर्वप्रथम दस कारणों के नाम उसके पश्चात् उपशम करण का कथन करते हैं।

अनंतानुबंधी की उपशामना सात या पाँच प्रकृतियों का उपशम कब? क्यों? कैसे?

उपशमकरण– कर्मबन्ध के समय प्रत्येक कर्म में दशकरण होते हैा, जिनके नाम इस प्रकार हैं।

1. बन्ध 2. उदय 3. उदीरणा 4. सत्त्व 5. उत्कर्षण 6. अपकर्षण 7. संक्रमण 8. उपशम 9. निधत्त 10. निकाचित्

उपशम दो प्रकार से होता है एक तो प्रत्येक समय कर्मबन्ध के समय दस करणों में तब इसे अप्रशस्त उपशम भी कहते हैं। क्योंकि जब कर्म आता है उस समय एक आवली तक तो उसमें कोई प्रक्रिया नहीं होती वैसा ही पड़ा रहता है, एक आवली के पश्चात् सभी करण प्रारंभ हो जाते हैं। उनमें किन्हीं परमाणुओं का उत्र्षण होता है किन्हीं का अपकर्षण होता है किन्हीं का संक्रमण होता है, इस प्रकार सभी करण व्याप्त हैं कोई परमाणु ऐसे भी हैं जो उपशम करण में चले जाते हैं अर्थात् दब जाते हैं। यह अप्रशस्त उपशम प्रत्येक कर्म के साथ चलता है और यह उपशम अप्रयत्न उपशम है। दूसरा प्रयत्न पूर्वक विशुद्ध परिणामों के द्वारा उपशम होता है। यह उपशम केवल मोहनी कर्म में ही होता है शेष ज्ञानावरणादि में नहीं होता।

सात पाँच प्रकृतियों का उपशम– कहा जाता है जब प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है उस समय सात प्रकृतियों का अथवा पाँच प्रकृतियों को दबा कर होता है।

उपशम क्या है? अध:करण अपूर्वकरण ये दो करण के पश्चात् अनिवृत्ति करण होता है उसका संख्यात बहुभाग समय व्यतीत होने पर अन्तरकरण करता है।

अन्तरकरण क्या? अन्तरकरण से तात्पर्य है उदयावली से ऊपर प्रथम स्थिति और उसके ऊपर अन्तर्मुहूर्त की द्वितीय स्थिति तथा उसके ऊपर कर्म स्थिति प्रमाण उपरितन स्थिति इस प्रकार निषेकों की पंक्ति बना लेना चाहिए, द्वितीय स्थिति में से मिथ्यात्व का द्रव्य निकालकर नीचे की प्रथम स्थिति व उपरितन स्थितियों में क्षेपण कर देता है। इस प्रकार फालीरुप से अन्तर्मुहूर्त में द्वितीय स्थिति को खाली कर देता है।

इधर एक-एक निषेक प्रति समय निकल रहा है, जैसे ही प्रथम स्थिति को गलाकर द्वितीय स्थिति के निषेक उदयावली में प्रवेश कर उदय को प्राप्त होते हैं तो उसमें मिथ्यात्व का द्रव्य न होने से वहाँ जो निर्मल श्रद्धान रुप परिणाम होता है उसी का नाम प्रथमोपशम सम्यक्त्व है यानि उदय में आने वाले निषेकों का अभाव और ऊपर की स्थिति में द्रव्य मौजूद है लेकिन उदय में नहीं है इसी का उपशम है। यह उपशम अन्तरकरण के पश्चात् होता है।

अनंतानुबंधी का अंतरकरण नहीं–यहाँ अनंतानुबंधी का अन्तर करण नहीं होता। अनंतानुबंधी का द्रव्य उदयावली में भी प्रवेशकर रहा है किंतु उसका परिणाम विशेष के कारण स्तिबुक संक्रमण के द्वारा अन्य कषाय रुप परिणमन हो जाता है।

इसलिए उसका उपशम न होकर संक्रमण होता है इससे सिद्ध है। कि उपशम सात या पाँच का नहीं 1, 2, 3 का होता है लेकिन स्वमुख उदय न होने से उनका भी उपशम कह दिया जाता है। ल.सा. रतनचन्द्र मुक्तार पृ.100

यद्यपि अनंतानुबंधी का उपशम नहीं होता पहले हम बतला चुके हैं यहाँ एक और परिभाषा उपशम की देख लेते हैं, जहाँ सभी करण उपशांत हो जाते हैं उसे सर्वोपशम कहते हैा और यह उपशांत मोह गुणस्थान में होता है। किंतु उपशम सम्यक्त्व में मिथ्यात्व प्रकृति के द्रव्य का गुण संक्रमण व सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के द्रव्य का विद्यात संक्रमण होता है अत: यहाँ देशोपम कहा जाता है। क्योंकि यहाँ संक्रमण करण चालू है।

सात प्रकृति का उपशम–कोई सादी मिथ्यादृष्टि जिसके मोहनी कर्म की अट्ठाईस प्रकृतियों की सत्ता है वह जब सम्यक्त्व से मिथ्यात्व में गया था उस समय उसके अन्तर्मुहूर्त काल तक सम्यक्त्व व सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति का द्रव्य अध: प्रवृत्त संक्रमण के द्वारा मिथ्यात्व में जाता है, पश्चात् उद्वेलना संक्रमण प्रारंभ हो जाता है। पल्य के असंख्यातवें भाग तक उद्वेलना संक्रमण के द्वारा सम्यक्त्व व सम्यग्मिथ्यात्व का द्रव्य मिथ्यात्व में जाता है और जब तक पृथक्त्व सागर प्रमाण स्थिति सम्यक्त्व प्रकृति की रहती है तब तक का काल वेदक काल कहलाता है। यही स्थिति एकेन्द्रिय के एक सागर की रह जाती है उसके पहले तक का काल वेदक काल कहलाता है। अर्थात् इतने काल (पल्य के असंख्यातवें भाग) तक यदि सम्यक्त्व प्राप्त करता है। तो नियम वेदक सम्यक्त्व ही प्राप्त करता है। अन्य सम्यक्त्व नहीं ऐसा समझना चाहिए।

उससे आगे अर्थात् संज्ञी पंचेन्द्रिय के पृथकत्व सागर से नीचे और एकेन्द्रिय के एक सागर से नीचे सम्यक्त्व प्रकृति की स्थिति रह जाती है उसे उपशम काल कहते हैं अर्थात् अब यदि सम्यक्त्व प्राप्त करेगा तो उपशम करेगा अन्य नहीं कर सकता। गो.सा.कर्मकाण्ड गा. 615

इस प्रकार वेदक व उपशम काल कहे अब देखना यह है कि यहाँ सत्ता तीनों प्रकृति की है अत: अन्तर करण तीनों प्रकृति का करेगा और वह अन्तर आयाम उदयावली में प्रवेश कर उपशम सम्यक्त्वी हो जायेगा। इस प्रकार तीन व चार इस प्रकार सात अर्थात् अनंतानुबंधी चार दर्शन मोहनीय की तीन इस प्रकार सात प्रकृतियों का उपशामक कहा जाता है।

पाँच प्रकृति का उपशम–किंतु जो अनादि मिथ्यादृष्टि जीव है उसके मात्र मिथ्यात्व प्रकृति का ही सत्त्व होता है अत: जब अन्तर करण करता है उस समय एकमात्र मिथ्यात्व का ही अन्तर करता है। अन्तर आयाम में प्रवेश कर उपशम सम्यक्त्व प्राप्त करता है उसी समय मिथ्यात्व कर्म तीन भागों में बंट जाता है, सम्यक्त्व, सम्यग्मिथ्यात्व और मिथ्यात्व किंतु जिस समय अन्तर किया था उस समय मात्र एक मिथ्यात्व था अत: इस अपेक्षा से चार अनंतानुबंधी एक मिथ्यात्व इस प्रकार पाँच प्रकृति का उपशामक कहलाता है।

उसी प्रथमोपशम सम्यक्त्व के समय में मिथ्यात्व का द्रव्य गुण संक्रमण के द्वारा सम्यक्त्व व सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति में आना प्रारंभ होता है। इस प्रकार उपशम काल में यह निरंतर चलता रहता है। उपशम सम्यक्त्व के द्वितीय समय से ही सम्यग्मिथ्यात्व का द्रव्य सम्यक्त्व प्रकृति में विद्यात संक्रमण के द्वारा आना प्रारंभ हो जाता है। इस प्रकार सात पाँच प्रकृति के उपशम का कथन किया।

शंका–सम्यक्त्व व सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति की स्थिति अधिकतम व जघन्य कितनी होती है?

समाधान–सम्यक्त्व व सम्यग्मिथ्यात्व की जघन्य स्थिति अन्त: कोटा कोटी सागर होती है व उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त कम 70 कोड़ाकोड़ी सागर होती है।

शंका–वह कैसे?

समाधान–किसी जीव ने प्रथमोपशम सम्यक्त्व से पूर्व प्रायोग्य लब्धि के द्वारा मिथ्यात्व प्रकृति की स्थिति को अन्त:

कोड़ाकोड़ी सागर कर लिया और वही अंत: कोड़ी कोड़ी वाला द्रव्य संक्रमण के द्वारा सम्यक्त्व प्रकृति में चला गया। सम्यग्मिथ्यात्व में चला गया तो उन दोनों का स्थिति सत्त्व उक्त प्रमाण होता है परन्तु कोई उपशम या वेदक सम्यग्दृष्टि मिथ्यात्व को प्राप्त हुआ। उत्कृष्ट संक्लेशता के द्वारा मिथ्यात्व प्रकृति का 70 कोड़ा कोड़ी सागर का बन्ध कर लिया पश्चात् विशुद्धि को प्रात हो अन्तर्मुहूर्त में वेदक सम्यग्दृष्टि हो गया।

यहाँ न तो प्रायोग्य लब्धि होती है न ही स्थिति काण्डक घात होता है, क्योंकि बिना करण परिणामों के ही वेदक सम्यक्त्व प्राप्त हो जाता है अत: स्थिति घात किये बिना वेदक सम्यग्दृष्टि हो जाने पर उतनी स्थिति वाला मिथ्यात्व का द्रव्य सम्यक्त्व प्रकृति में संक्रमण हो जाता है। अन्तर्मुहूर्त विशुद्धि का कम करके सम्यक्त्व प्रकृति की उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त कम 70 कोड़ा कोड़ी सागर प्रमाण प्राप्त होती है। कषाय पा. (ज.ध.पु.3)

अनंतानुबंधी का उपशम–अन्तरकरण न होने के कारण प्रति समय स्तिबुक संक्रमण के द्वारा अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण अथवा संज्वलन रुप होकर निकल जाती है। परन्तु जघन्य से एक समय उत्कृष्ट 6 आवली काल उपशम सम्यक्त्व में शेष रहने पर यदि परिणाम बिगड़ जाये तो अनंतानुबंधी अपने रुप उदय होकर आ जाती है चूंकि अभी अन्तर आयाम चल रहा है अत: मिथ्यात्व का द्रव्य तो यहाँ है नहीं अनंतानुबंधी उदय में आ गई तो सम्यक्त्व की तो विराधना कर दी और मिथ्यात्व है नहीं इसलिए इस अवस्था को ही सासादन कहते हैं। उसके बाद जैसे ही उदयावली में मिथ्यात्व प्रवेश कर उदय को प्राप्त होता है तो मिथ्यादृष्टि हो जाती है। ल.सा.गा. 100, ज.ध.पु.4 पृ. 24, 10 पृ. 12–24, 12 पृ. 302

प्रश्न–उपशामना किसे कहते हैं?

उत्तर–कर्मों का उदय, उदीरणा आदि परिणमन के बिना उपशान्त रुप से अवस्थान को उपशामना कहते हैं।

प्रश्न–उपशामना कितने प्रकार की होती है?

उत्तर–उपशामना दो प्रकार की होती है 1. करणोपशामना 2. अकरणोपशामना

करणोपशामना– प्रशस्त व अप्रशस्त परिणामों के द्वारा कर्म प्रदेशों का उपशांत भाव से रहना करणोपशामना है अथवा करणों की उपशामना को करणोपशामना कहते हैं अप्रशस्त निधत्ति निकाचित आदि आठ करणों को अप्रशस्त उपशामन द्वारा उपशान्त करना करणोपशामना है।

अट्ठ विह ताव करणं जहा–अप्पसत्थ उवसामण करणं, णिधत्ति करणं णिकाचण करणं, बंधणकरणं, उदीरणाकरणं ओकड्डणकरणं, उक्कडुणकरणं, संक्रमणकरणं च। कषाय पा. सुतृत 358 पृ. 712, ज.ध.मू.पृ.1884

आठ प्रकार के करण– अप्रशस्त उपशामना करण, निधत्ति करण, निकाचित करण, बंधकरण, उदीरणाकरण, उत्कर्षकरण, अपकर्षणकरण, संक्रमण करण।

अकरणोपशामना–इससे भिन्न लक्षण वाली अरणोपशामना है। प्रशस्त, अप्रशस्त परिणामों के बिना उदय अप्राप्त काल वाले कर्म प्रदेशों के उदय रुप परिणाम के अवस्थित रहने को अकरणोपशामना कहते हैं। इसी का दूसरा नाम अनुदीरणोपशामना है।

प्रश्न–उदय किसे कहते हैं?

उत्तर–द्रव्य, क्षेत्र काल भाव का आश्रय लेकर कर्मों के होने वाले विपाक परिणाम को उदय कहते हैं।

इस प्रकार के उदय से परिणत कर्मों को उदर्ण कहते हैं।

प्रश्न–अनुदीर्ण किसे कहते हैं?

उत्तर–उदीर्ण दशा से भिन्न (उदयावस्था को नहीं प्राप्त हुए) दशा को अनुदीर्ण कहते हैं। अनुदीर्ण कर्म की उपशामना अर्थात् उदय को प्राप्त नहीं होने वाले कर्मों का अनुदीर्णोपशामना कहते हैं, क्योंकि करण परिणामों की अपेक्षा नहीं होती इसलिए इसको अकरणोपशामना भी कहते हैं इसका विस्तार पूर्वक वर्णन कर्म प्रवाद नामक आठवें पूर्व में है।

विशेषार्थ–कर्म बन्ध में दश अवस्थाएँ होती हैं, उनके नाम क्रमश: 1. बन्ध, 2. उदय, 3. उदीरणा, 4. सत्त्व, 5. उत्कर्षण, 6. अपकर्षण, 7. संक्रमण, 8. उपशम, 9. निधत्त, 10. निकाचना। इस प्रकार की दश अवस्थायें ज्ञानावरणादि सभी कर्मों में पायी जाती हैं उन्हीं अवस्थाओं में एक अवस्था उपशम भी है जिसे अकरणोपशामना अनुदीर्णोपशम आदि नामों से जाना गया है जिसका वर्णन ऊपर किया गया है। यह उपशामना सभी कर्मों में पायी जाती है किन्तु करणोपशामना तीन करण करके परिणमन विशेष के द्वारा केवल मोहनी कर्म में ही होती है अन्य कर्मों में नहीं।

प्रश्न–करणोपशामना के कितने भेद हैं?

उत्तर–करणोपशामना के दो भेद हैं–1. देशकरणोपशामना 2. सर्व करणोपशामना

देश करणोपशामना–प्रशस्त उपशम करणादि (अप्रशस्त उपशम करण, निधत्ति, निकाचित करणादि) के द्वारा कर्म प्रदेशों के एक देश उपशान्त करने को देश करणोपशामना कहते हैं किंतु कुछ आचार्य कहते हैं कि देश करणोपशामना का लक्षण इस प्रकार करने का इसका अन्तर्भाव अकरणोपशामना में हो जायेगा।

इसका लक्षण इस प्रकार है–(i) दर्शन मोहनी कर्म उपशमित हो जाने पर अप्रशस्तोपशम, निधत्ति, निकाचित, बन्धन, उत्कर्षण, उदीरणा व उदय ये सात करण उपशान्त हो जाते हैं तथा अपकर्षण और पर प्रकृति रुप संक्रमण ये दो करण अनुपाशान्त रहते हैं। अत: कुछ करणों के उपशांत तथा कुछ करणों के अनुपशान्त रहने को देश करणोपशामना कहते हैं।

अथवा (ii) उपशम श्रेणी चढ़ने वाले जीव के अनिवृत्तिकरण के प्रथम समय में अप्रशस्त उपशम करण, निधत्तिकरण, निकाचित करण ये तीन करण अपने अपने स्वरुप से विनष्ट हो जाते है। संसार अवस्था में इन तीनों करणों के कारण उदय, संक्रमण, उत्कर्षण अपकर्षण उपशान्त थे अर्थात् होते नहीं थे किंतु इन तीन करणों का विनाश होने से उपशम का अभाव नहीं होता, क्योंकि पूर्व संसारावस्था में उपशम करण आदि तीन करणों के द्वारा गृहीत प्रदेशों का इस स्वरुप से (अप्रशस्तोपशम, निधत्ति, निकाचित स्वरुप) जो विनाश होता है उसे देशोपशम कहते हैं।

(iii) अप्रशस्त उपशम आदि तीन करणों का विनाश होने से अपकर्षण आदि क्रिया संभव होने से अनिवृत्ति करण व सूक्ष्म सांपराय में देश करणोपशामना होती है।

अथवा (iv) नपुंसकवेद के प्रदेशाग्र का उपशम करते हुए जब तक उसका सर्वोपशम नहीं हो जाता तब तक उसका नाम देशकरणोपशामना है।

अथवा (v) नपुंसकवेद के उपशान्त होने पर जो शेष कर्मों के अनुपशान्त रहने की अवस्था विशेष को देश करणोपशामना कहते हैं, क्योंकि करण परिणामों के द्वारा (विवक्षित एक भाग रुप हुई है) कर्म प्रदेशें की उपशांत अवस्था हुई है।

सर्वकरणोपशामना–करण परिणामों के द्वारा अप्रशस्त उपशम, निधत्ति, निकाचित आदि आठ प्रकार के करणों का अपनी क्रिया को छोड़कर प्रशस्त उपशामना के द्वारा जो सर्वोपशम होता है वह सर्वकरणोपशामना है। क.पा.सु.पृ.709

शंका–यदि सर्व करणोपशामना में अपकर्षण आदि क्रिया का अभाव है तो अप्रशस्तोपशम, निधत्ति, निकाचित करणों में भी अपकर्षण आदि का अभाव संभव है। अपकर्षण आदि क्रिया के अभाव में अप्रशस्तोपशमकरणादि की उत्पत्ति का प्रसंग आ जाने से उनका उपशम कैसे संभव है?

समाधान–यह कोई दोष नहीं है क्योंकि अनिवृत्तिकरण में प्रवेश के प्रथम समय में ही अप्रशस्त उपशमकरण, निधत्तिकरण, निकाचितकरण नष्ट हो जाते हैं और उनकी संतति अविच्छिन्न रुप से चली जाने से उनकी प्रवृत्ति संभव नहीं है। अत: सर्वोपशामना में उन प्रशस्त उपशमकरण, निधत्तिकरण आदि का उपशम सिद्ध हो जाता है। सर्वोपशामना करण में अपकर्षणादि का अभाव होने पर अप्रशस्त उपशमादि की उत्पत्ति नहीं होती। संसार अवस्था में अपकर्षणवादि संभव होने पर भी बन्ध के समय अंतरंग कारण के वेश से कितने ही कर्म परमाणुओं का उदीरणा उदय आदि का न होना अप्रशस्त उपशम करण आदि का व्यापार है। ज.ध.पृ. 1872–73

श्री यतिवृषभाचार्य ने कषाय पाहुड़ पर रचित चूर्णि सूत्रों में देश करणोपशामना का कथन इस प्रकार किया है। देशकरणोपशामना के दो नाम है–

जयधवलाकार ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है संसार प्रायोग्य अप्रशस्त परिणाम निबंधन होने से इस करण देश करणोपशामना को अप्रशस्तोपशामना कहा गया है अप्रशस्त परिणामों का निबंधन असिद्ध भी नहीं है क्योंकि अतितीव्र संक्लेश के वश से अप्रशस्तोपशामना करण, निधत्तिकरण, निकाचित करण की प्रवृत्ति देखी जाती है। क्षपक श्रेणीव उपशम श्रेणी में विशुद्ध परिणामों के द्वारा इनका विनाश हो जाता है इसलिए अप्रशस्त भाव की सिद्धि हो जाती है इस प्रकार जो अप्रशस्तोपशामना है देशकरणोपशामना है। कर्म प्रकृति प्राभृत में अर्थात् दूसरा पूर्व की पंचम वस्तु उसकी चतुर्थ प्राभृत के कर्म प्रकृति अधिकार में देश करणोपशामना का सविक्तार कथन किया है।

सर्वकरणोपशामना– इसके भी दो नाम है सर्व करणोपशामना और प्रशस्तोपकरण उपशमामना। प्रथम करणोपशामना का कथन पूर्व में किया जा चुका है। अब यहाँ प्रशस्त करणोपशामना को कहते हैं, क्योंकि प्रशस्त करण परिणाम कारण हैं। कषायोपशामना की प्ररूपणा के अवसर में सर्व करणोपशामना की विवक्षा है। अकरणोपशामना व देश करणोपशामना का यहाँ प्रयोजन है।

(i) मोहनीय कर्म के अतिरिक्त अन्य कर्मों का उपशम नहीं होता क्योंकि ज्ञानावरणादि कर्मों के उपशामना रुप परिणाम संभव नहीं हैं। अकरणोपशामना और देश करणोपशामना उन कर्मों में होती है, किंतु यहाँ प्रशस्तोपशामना का प्रकरण है इसलिए मोहनीय कर्म की ही प्रशस्त उपशामना के द्वारा उपशम होता है। अनिवृत्तिकरण गुणस्थान के प्रथम समय में ही सभी कर्मों के अप्रशस्त उपशामना निधत्ति और निकाचित ये तीनों करण व्युच्छिन्न हो जाते हैं। उपशम श्रेणी में दर्शन मोहनीय कर्म का उपशम नहीं होता क्योंकि दर्शन मोहनीय का उपशम या क्षय पूर्व में ही हो जाता है। अनंतानुबंधी कषाय का भी उपशम नहीं होता क्योंकि पहले अनंतानुबंधी कषाय की विसंयोजना करके पश्चात् उपशम श्रेणी चढ़ता है। बारह कषाय व नव नो कषाय का उपशम होता है। इस प्रकार उपशम सम्यक्त्व करण व सात या करणोंपश पाँच प्रकृति के उपशम का कथन करके करणोंपशामना व अकरणोपशामना का कथन किया है जो कि लब्धिसार, कषाय पाहुड़, धवला पुस्तक छह, जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड आदि ग्रन्थ से संकलित किया गया जो सम्यक्त्व व सम्यग्ज्ञान को बढ़ाने वाला कर्म निर्जरा में कारण है अत: अपने आलेख को पूर्ण करते हुए यही प्रार्थना व भावना है कि मुझे निर्विकल्पज्ञान अर्थात् क्षायिक ज्ञान की प्राप्ति हो व पाठकों के लिए भी सद्ज्ञान (सम्यग्ज्ञान) की प्राप्ति हो।

यहाँ पर उपशमकरण तथा प्रथमोपशम सम्यक्त्व का कथन अति संक्षेप में किया है। अब अकरणोपशामना का कथन किया जाता है।

अधः प्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण इन तीनों की अवधारणा

–श्रमणी आर्यिका विमुदश्री माताजी (संघस्थ)

मंगलाचरण

वंदे उसह जिणिंदं, चउबीस जिणं सदा वंदे।
करणत्तय वोच्छामि, सव्व गुरुणां पदं वंदे।।

अन्तिम तीर्थंकर वर्धमान स्वामी की दिव्य ध्वनि से निःसृत गौतम गणधर द्वारा द्वादशांग रूप से गूंथित तथा परम्परागत अर्वाचीन आचार्यों के द्वारा लिपिबद्ध जिनवाणी को प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग व द्रव्यानुयोग रूप अनुयोग चतुष्टय में विभाजित किया है। इनमें से करणानुयोग संबंधी कषाय पाहुड, षट्खण्डागम, कर्मकाण्ड, जीवकाण्ड, त्रिलोकसार, लब्धिसार आदि ग्रंथ है।

इनमें से लब्धिसार नामक ग्रंथ जो आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती द्वारा विरचित है, इसके अनेक अत्यन्त जटिल विषय है, इन जटिल विषयों को सरल भाषा में समझने के लिए यहाँ एकत्रित हुए हैं। इस लब्धिसार ग्रंथ में से मेरा विषय हैं – ''अधःकरण, अपूर्वकरण व अनिवृत्तिकरण इन तीनों करणों की अवधारणा''।

करण शब्द के अनेक अर्थ होते है पर यहाँ करण शब्द का अर्थ ''परिणाम'' है। जिस परिणाम विशेष के द्वारा दर्शनमोह का उपशमादि भाव उत्पन्न किया जाता है वह विशेष परिणाम ''करण'' कहलाता है। इन करण परिणामों की प्राप्ति को ही ''करण लब्धि'' कहते हैं। पाँच लब्धियों में से यह पाँचवीं लब्धि हैं।

पाँच लब्धियों के नाम– क्षयोपशम लब्धि, विशुद्धि लब्धि, देशना लब्धि, प्रायोग्य लब्धि और करण लब्धि।

इनमें से पूर्व की चार लब्धि तो भव्य व अभव्य दोनों प्रकार के जीवों को हो सकती है। परन्तु पाँचवीं करण लब्धि भव्य जीवों को ही होती है।

प्रायोग्य लब्धि के पश्चात् अभव्य के योग्य परिणामों को उल्लंघन कर भव्य जीव मिथ्यात्वरूपी काष्ठ के ऊपर अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण की ये तीनों आरी चलाता है तब मिथ्यात्व रूपी काष्ठ के तीन टुकड़े करता है।

अधःप्रवृत्तकरण–

''जम्हा हेट्ठिमभावा उवरिम भावेहिं सरिसगा होंति।
तम्हा पढमं करणं अधापवत्तोति णिद्दिट्ठं।।''

(लब्धिसार गाथा नं. 35 व गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा नं. 48)

अर्थ–अधस्तन (नीचे के) भाव उपरितन भावों के साथ सदृश होते हैं। अधः प्रथमकरण को अधःप्रवृत्तकरण कहा गया है।

अधःप्रवृत्तकरण– जिस करण में ऊपर–ऊपर के समयवर्ती जीवों के परिणाम पूर्व–पूर्व के समयवर्ती जीवों के परिणामों से सदृश व विदृश अर्थात् समान व असमान दोनों होते हैं, उस करण को ''अधःप्रवृतकरण'' कहते हैं। जिस करण में नीचे व ऊपर के परिणामों का अनुसंधान किया जाता है, उसे ''अधःप्रवृत्त करण'' कहते हैं।

दृष्टांत–जैसे ठीक 12 बजे पाँच साईकिल वालों को रवाना किया। वे गति की अपेक्षा आगे–पीछे हो जाते हैं, जैसे– सम्मेदशिखर जी की यात्रा में एक साथ चढ़ने वाले यात्री आगे–पीछे हो जाते हैं। इसी प्रकार यहाँ उन पाँच साईकिल वालों में एक तो आगे बढ़ गया और तीन उससे पीछे रह जाते हैं तथा एक उनसे भी पीछे रह जाता है। इस प्रकार तीन भेद हो जाते है।

अब 12 बजकर 1 मिनट पर फिर से पाँच साईकिल वाले रवाना हुए उनमें भी एक की तीव्रगति होने पर भी 12 बजे निकलने वाले साईकिल सवारों में जा सबसे आगे था उस तक तो नहीं पहुँच पाता लेकिन बीच में जो तीन साईकिल वाले थे उनकी बराबर कर लेता है और एक दो जो पीछे वाले थे उसके साथ हो जाते है और एक उससे भी पीछे रह जाता है।

अब 12 बजे व 12 बजकर 1 मिनट पर रवाना हुए थे उनकी समानता मिल गई। ठीक उसी प्रकार जिन्होंने पहले अधः करण को प्राप्त किया उनकी विशुद्धि कम थी और जिन्होंने बाद में अधःकरण को प्राप्त किया उनकी विशुद्धि अधिक थी तो पहले वाले के बराबर हो जाए, उनसे मिल जाए उसे ही अधःकरण कहते हैं।

अधः प्रवृत्तकरण के शब्दार्थ से नाम की सिद्धि– इस प्रथम करण में उपरितन समयवर्ती भाव (परिणाम) अधःस्तन समय संबंधी भावों के समान होते हैं, इसलिए प्रथम करण का ''अधःप्रवृत्तकरण'' ऐसा अन्वर्थ नाम कहा गया है।

यहाँ मैं उन साईकिल वालों की बात नहीं कर रही हूँ जो रेस लगा रहे हैं, मैं तो उनकी बात कर रही हूँ जो सम्यक्त्व प्राप्ति के लिए विशुद्धि को बढ़ा रहे हैं, जिनकी सम्यक्त्व प्राप्ति ही मंजिल हैं।

अधःप्रवृत्तकरण की विशेषताएँ– इस करण में गुणश्रेणी निर्जरा, गुण–संक्रमण, स्थितिकाण्डक घात, अनुभाग काण्डक घात ये चार प्रकार की विशुद्धियाँ नहीं होती परन्तु प्रति समय अनन्तगुणी विशुद्धि से वृद्धि को प्राप्त होता है।

* प्रशस्त प्रकृतियों का गुड़–खाण्ड–शर्करा–अमृत रूप–चतुःस्थानीय अनुभाग बंध तथा अप्रशस्त प्रकृतियों का निम्ब–कांजीर रूप द्विस्थानीय अनुभाग बंध होता है। प्रतिसमय प्रशस्त प्रकृतियों का, अनन्तगुणे क्रम सहित बन्ध होता है और अप्रशस्त प्रकृतियों का अनन्तवें भाग प्रमाण अनुभाग बन्ध होता है।

* एक–एक अन्तर्मुहूर्त अन्तराल से पल्य का संख्यातवाँ भाग घटता हुआ स्थितिबंध होता रहता है। इस प्रकार अधःप्रवृत्त काल में संख्यात हजार स्थिति बंधापसरण होते रहते हैं।

* अधःप्रवृत्तकरण के प्रथम समय संबंधी स्थितिबन्ध से उसी का अन्तिम समय संबंधी स्थितिबंध संख्यात गुणाहीन होता है।

* अधःप्रवृत्तकरण के चरम समय में प्रथमोपशम सम्यक्त्व के अभिमुख जीव के जो स्थितिबंध होता है उससे प्रथमोपशम सम्यक्त्व सहित संयमासंयम के अभिमुख जीव का स्थितिबन्ध संख्यात गुणा हीन होता है। इससे प्रथमोपशम सम्यक्त्व सहित सकल संयम के अभिमुख जीव का स्थितिबंध संख्यातगुणा हीन होता है।

अर्थात् प्रथमोपशम सम्यक्त्व सहित चौथे गुणस्थान में जाने वाले जीव से संख्यात गुणा हीन स्थिति बंध पाँचवें गुणस्थान में जाने वाले जीव के होता है और इससे भी संख्यात गुणा हीन स्थितिबंध 7 वें गुणस्थान में जाने वाले जीव के होता है। क्योंकि मिथ्यात्व गुणस्थान से प्रथमोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करने वाले जीव चौथे, पाँचवें और 7वें गुणस्थान में जाते हैं।

कोई साधारण श्रावक प्रथमोपराम सम्यक्त्व करता है तो चौथे गुणस्थान में जाता है, व्रती, क्षुल्लक–क्षुल्लिका, माताजी अगर प्रथमोपशम सम्यक्त्व करते है तो पाँचवे गुणस्थान में जाते हैं और मुनिराज प्रथमोपशम सम्यक्त्व करते हैं तो 7वें गुणस्थान को प्राप्त करते हैं। साधारण श्रावक से व्रती, क्षुल्लक–ऐलक, आर्यिका माताजी की विशुद्धि अधिक होती है और मुनिराज की विशुद्धि इनसे भी अधिक होती है इसलिए स्थितिबंध भी हीनता के क्रम से संख्यातगुणा हीन–हीन होता है)

* अन्तर्मुहूर्त प्रमाण समयों की पंक्ति को ऊर्ध्व आकार से स्थापित करके उन समयों के प्रायोग्य परिणामों का प्ररूपण करते हैं –

अधःप्रवृत्त करण में प्रथम समयवर्ती जीवों के योग्य परिणाम असंख्यात लोक प्रमाण है। द्वितीय समयवर्ती जीवों के योग्य परिणाम भी असंख्यात लोक प्रमाण है। इसी प्रकार प्रतिसमय के परिणामों के प्रमाण का निरुपण अधःप्रवृत्त करण काल के अन्तिम समय तक करना चाहिए। प्रथम समय संबंधी परिणामों से द्वितीय समय के योग्य परिणाम विशेष अधिक होते हैं। वे विशेष अधिक कितने होते है? इसको जानते हैं–

यहाँ विशेष अर्थात् अन्तर्मुहूर्त प्रतिभागी है अर्थात् प्रथम समय संबंधी परिणामों के प्रमाण में अन्तर्मुहूर्त का भाग देने पर जितना प्रमाण प्राप्त होता है उतना अधिक है। यही विशेष का प्रमाण है। यहाँ परिणाम तो विशेष अधिक होते हैं परन्तु विशुद्धि अनन्त गुणी होती है।

इसी प्रकार द्वितीय समय संबंधी परिणामों से तृतीय समय के परिणाम विशेष अधिक होते हैं। यह क्रम अन्तिम समय तक ले जाना चाहिए।

अनुकृष्टि–पुनरुक्त व अपुनरुक्त भाव का अनुसंधान करना अनुकृष्टि हैं अथवा परिणामों की परस्पर समानता का विचार करना अनुकृष्टि है। अनुकृष्टि का काल अन्तर्मुहुर्त मात्र अवस्थित स्वरूप हैं क्योंकि यह काल अधःप्रवृतकरण काल के संख्यातवें भाग प्रमाण है।

निर्वर्गणाकाण्डक–अधःप्रवृत्तकरण के प्रथम समय के लेकर यथाक्रम विशेष अधिक के क्रम से रचना करके प्रथम समय के परिणामों के (अधःप्रवृत्त करण काल के संख्यातवें भाग प्रमाण) अन्तर्मुहूर्त के जितने समय हैं मात्र उतने खण्ड करना चाहिए यही निर्वर्गणा काण्डक का प्रमाण है।

निर्वर्गणा काण्डक के व्यतीत होने पर अनुकृष्टि का विच्छेद होता है।

अधःप्रवृत्त करण के समय व परिणामों की संदृष्टि

समय	परिणामों का प्रमाण					
16	222	54	55	56	57	चतुर्थ निर्वर्गणाकाण्डक
15	218	53	54	55	56	
14	214	52	53	54	55	
13	210	51	52	53	54	
12	206	50	51	52	53	तृतीय निर्वर्गणाकाण्डक
11	202	49	50	51	52	
10	198	48	49	50	51	
9	194	47	48	49	50	
8	190	46	47	48	49	द्वितीय निर्वर्गणाकाण्डक
7	186	45	46	47	48	
6	182	44	45	46	47	
5	178	43	44	45	46	
4	174	42	43	44	45	प्रथम निर्वर्गणाकाण्डक
3	170	41	42	43	44	
2	166	40	41	42	43	
1	162	39	40	41	42	
		प्रथम खण्ड	द्वितीय खण्ड	तृतीय खण्ड	चतुर्थ खण्ड	

अध:प्रवत्त करण के प्रथम समय संबंधी प्रथम खण्ड के परिणाम उपरिम समय संबंधी परिणामों में से किन्हीं भी परिणामों के समान नहीं होते। वहीं दूसरे खण्ड के परिणाम (40) दूसरे समय के प्रथम खण्ड (40) के परिणामों के समान होते हैं। इसी प्रकार आगे भी जानना चाहिए।

अपूर्वकरण

अपूर्वकरण– जिस करण में प्रति समय अपूर्व-अपूर्व परिणाम होते हैं उसे अपूर्वकरण कहते हैं। अर्थात् ऐसे परिणाम जो पूर्व में कभी न हुए हो, उसे अपूर्वकरण कहते हैं।

* जहाँ भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणाम भिन्न और समान समयवर्ती जीवों के परिणाम समान व असमान दोनो हो सकते हैं, उसे अपूर्वकरण कहते हैं।

दृष्टांत– जैसे पाँच साईकिल वाले 12 बजे रवाना हुए और उनमें कुछ आगे हो गए कुछ पीछे रह गए तात्पर्य यह है कि एक समयवर्ती जीवों के परिणामों में तारतम्यता पाई जाती है। लेकिन 12 बजकर 1 मिनट पर जो रवाना हुए वे भी आगे पीछे हो गए लेकिन कितनी भी तीव्रगति से चले तो भी पहले वालों की बराबरी नहीं कर पायेंगे अर्थात् भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणामों में विसदृशता ही पाई जाती है, सदृशता नहीं पायी जाती।

अपूर्वकरण की विशेषताएँ–

अपूर्वकरण परिणाम का कार्य विशेष बताने के लिए गाथा सूत्र कहते हैं –

''गुणसेढी गुणसंकम ठिदि रसखंडा अपुव्वकरणादो।
गुणसंकमेण सम्मा मिस्साणं पूरणोत्ति हवे।।(लब्धिसार गाथा नं. 53)

अर्थ– अपूर्वकरण के प्रथम समय से लेकर, गुण संक्रमण से सम्यक्त्व-मिश्रद्वय प्रकृति के पुरने के काल के चरम समय पर्यन्त गुणश्रेणी, गुणसंक्रमण, स्थितिकाण्डक घात और अनुभागकांडक घात होते हैं।

* प्रथमोपशम सम्यक्त्व के अभिमुख जीव के अपूर्वकरण के प्रथम समय से गुणसंक्रमण प्रारम्भ नहीं होता है क्योंकि अभी तो मिथ्यात्व के टुकड़े हुए ही नहीं है, सम्यक्त्व की सत्ता हुई ही नहीं तो मिथ्यात्व का संक्रमण किसमें होगा?

* मिथ्यात्व का गुणसंक्रमण, विध्यात संक्रमण आदि सम्यक्त्व प्रकृति की सत्ता होने पर ही होता है। अन्तर्मुहूर्त काल तक गुणसंक्रमण होता है उसके पश्चात् उपशम सम्यक्त्व के अन्त तक विध्यात संक्रमण होता है।

* अपूर्वकरण से ही गुणश्रेणी निर्जरा, गुणसंक्रमण, स्थिति काण्डक घात, अनुभाग काण्डक घात ये चार कार्य प्रारम्भ हो जाते है, जो सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व के पूरण होने के काल तक होते रहते है।

* अध:प्रवृत्तकरण के काल को व्यतीत कर अपूर्वकरण के प्रथम समय में ही स्थिति काण्डक और अनुभाग काण्डक घात प्रारम्भ करता है क्योंकि अपूर्वकरण की विशुद्धि से युक्त परिणामों में इन दोनों के घात करने की हेतुता है।

* गुणश्रेणी रचना आयु कर्म की नहीं होती, शेष सभी कर्मों की गुणश्रेणी रचना होती है।

* अपूर्वकरण के प्रथम समय संबंधी प्रशस्त-अप्रशस्त प्रकृतियों का जो अनुभाग सत्त्व है वह प्रति समय विशुद्धि होने के कारण प्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग सत्त्व अनन्तगुणा बढ़ता हुआ तथा अप्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग काण्डक घात के माहात्म्य से अनन्त गुणाहीन होता जाता है और चरम समय में अनन्तवां भाग अनुभाग सत्त्व रह जाता है।

* अपूर्व-अपूर्व परिणाम होने के कारण एक समय वाली ही निर्वर्गणा स्वीकार की गई है।

* इस करण का अल्पबहुत्व दो प्रकार है-

1. विशुद्धियों की तीव्रता-मंदता संबंधी अल्पबहुत्व।

2. परिणामों की पंक्तियों की दीर्घता (संख्या) संबंधी अल्पबहुतत्व।

* इस करण का काल अध:प्रवत्तकरण काल के संख्यातवें भाग प्रमाण है। यह काल भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ही है। इस अन्तर्मुहूर्त काल में सर्वत्र प्रत्येक समय में असंख्यात लोक प्रमाण परिणाम स्थान होते हैं। प्रथम समय के परिणामों में अन्तर्मुहूर्त का भाग देने पर जो एक भाग लब्ध आवे उतना प्रथम समय से लेकर उत्तरोत्तर वृद्धि या चय का प्रमाण है।

अनिवृत्तिकरण

अनिवृत्तिकरण परिणामों का स्वरुप और उसका कार्य कहते हैं-

विदियं व तदियकरणं पडिसमयं एक्क एक्क परिणामो।
अण्णं ठिदिरसखंडे अण्णं ठिदिबंधमाणुवई।।

(लब्धिसार गा.नं. 83, धवला पु.नं. 6 पृ. 229-30 तथा जयधवला पु.नं.12 पृ.271)

अर्थ-दूसरे करण (अपूर्वकरण) के समान ही तृतीय करण (अनिवृत्तिकरण) होता है,किन्तु प्रति समय एक-एक परिणाम होता है। अन्य स्थिति कांडक, अन्य अनुभाग कांडक, अन्य अनुभाग कांडक और अन्य स्थितिबंध को प्रारम्भ करता है।

अनिवृत्तिकरण-नाना जीवों के परिणामों में निवृत्ति अर्थात् परस्पर भेद जिसमें नहीं हैं वह अनिवृत्तिकरण है।

* समान समयवर्ती जीवों के परिणाम समान व असमान समयवर्ती जीवों के परिणाम असमान होते है, इसे ही अनिवृत्तिकरण कहते है।

दृष्टांत-मान लो 12 बजे पाँच साइकिल वाले रवाना हुए वे सब एक साथ ही रहे आगे पीछे नहीं हुए और 12 बजकर 1 मिनट पर जो साइकिल वाले रवाना हुए वे भी आगे पीछे न होकर एक साथ ही रहे। अत: अनिवृत्तिकरण में एक समयवर्ती जीवों के परिणामों में समानता और पूर्वोत्तर समयवर्ती जीवों के परिणामों में असमानता ही होती है।

अनिवृत्तिकरण की विशेषताऐं- अनिवृत्तिकरण में भी स्थितिकांडक घात, अनुभाग काण्डक घात, स्थिति बंधापसरण, गुणश्रेणी निर्जरा ये सभी क्रियाऐं अपूर्वकरणवत् होती है किन्तु इनका प्रमाण अन्य होता है।

* अनिवृत्तिकरण में प्रविष्ट होने के प्रथम समय से ही अपूर्वकरण के अन्तिम स्थिति काण्डक से विशेषहीन अन्य स्थितिकाण्डक का आरम्भ होता है। पूर्व के स्थिति बन्ध से पल्योपम के संख्यातवें भाग प्रमाणहीन अन्य स्थिति बन्ध का भी आरम्भ होता है तथा घात करने से शेष रहे अनुभाग के अनन्त बहुभाग प्रमाण अनुभाग काण्डक का भी वहीं पर ग्रहण होता है किन्तु गुणश्रेणी निक्षेप पूर्व का ही रहता है।

* अपूर्वकरण में प्रत्येक समय के परिणाम असंख्यात लोक प्रमाण होते हैं किन्तु अनिवृत्तिकरण में प्रत्येक समय में नाना जीवों के एक सा ही परिणाम होता है।

* अनिवृत्तिकरण काल का संख्यात बहुभाग बीत जाने पर अर्थात् संख्यातवां भाग शेष रहने पर दर्शन मोहनीय कर्म का अन्तकरण करता है।

अन्तरकरण की परिभाषा- अनिवृत्तिकरण के संख्यातवां भाग प्रमाण काल शेष रहने पर उन कर्मों की अध:स्तन और उपरिम स्थितियों को छोड़कर मध्य की अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थितियों के निषेकों का परिणाम विशेष के कारण अभाव करने को ''अन्तरकरण'' कहते है।

अन्तर से नीचे की कर्म स्थि अर्थात् प्रथम स्थिति से और द्वितीय स्थिति से (अन्तर से ऊपर की कर्म स्थिति) तब तक आगाल-प्रत्यागाल होता रहता है जब तक प्रथम स्थिति में आवलि-प्रत्यावलि शेष रहती है।

द्वितीय स्थिति के कर्म परमाणुओं का प्रथम स्थिति में अपकर्षण वश आना ''आगाल'' है। प्रथम स्थिति के कर्म परमाणुओं का द्वितीय स्थिति में उत्कर्षण वश जाना ''प्रत्यागाल'' है। प्रथम स्थिति में आवलि और प्रत्यावलि शेष रहने पर

विवक्षित कर्मों की गुणश्रेणी, आगाल-प्रत्यागाल नहीं होता किन्तु प्रत्यावलि में से ही उदीरणा होती है। आवली प्रमाण प्रथम स्थिति के शेष रहने पर उदीरणा भी नहीं होती किन्तु प्रथम स्थिति के अन्तिम समय तक स्थितिकाण्डक घात और अनुभाग काण्डक घात सम्भव है क्योंकि वहाँ पर अन्तिम स्थिति बन्ध के साथ उनकी परिसमाप्ति देखी जाती है। इसी प्रकार प्रथम स्थिति की समाप्ति के साथ-साथ अनिवृत्तिकरण काल समाप्त हो जाता है।

तीनों करणों के काल का अल्प बहुत्व-

तीनों करणों के काल का अल्प बहुत्व सहित कथन करते हैं-

अंतोमुहुत्तकाला तिण्णिवि करणा हवंति पत्तेयं।
उवरीदो गुणियकमा कमेण संखेज्ज रूवेण।। (लब्धिसार गाथा नं. 34)

अर्थ-तीनों करणों में से प्रत्येक करण का अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल होता है, किन्तु ऊपर से नीचे के करणों का काल संख्यात गुणा कम लिये हुए है।

तीनों करणों में से प्रत्येक करण का काल अन्तर्मुहूर्त है। इनमें भी अनिवृत्तिकरण का काल स्तोक (सबसे कम) है। इससे संख्यात गुणा अपूर्वकरण का काल है, इससे भी संख्यात गुणा अध: प्रवृत्तकरण का काल है क्योंकि अन्तर्मुहूर्त काल के अनेक भेद हैं।

तीन करण कहाँ-कहाँ होते है-

1) प्रथमोपशम सम्यक्त्व उत्पन्न होने से पूर्व अर्थात् दर्शन मोहनीय की उपशामना में
2) अनंतानुबंधी की विसंयोजना से पूर्व
3) क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न होने से पूर्व अर्थात् दर्शन मोहनीय की क्षपणा से पूर्व
4) उपशम चारित्र अर्थात् चारित्र मोहनीय की उपशामना से पूर्व
5) क्षायिक चारित्र अर्थात् चारित्र मोहनीय की क्षपणा से पूर्व
6) द्वितीयोपशम सम्यक्त्व से पूर्व।

उपर्युक्त इन सभी के पूर्व तीनों करण (अध:करण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण) होते हैं। परन्तु-

* यदि कोई क्षयोपशम सम्यक्त्व के साथ देश संयम और सकल संयम प्राप्त करते है तो इससे पूर्व दो करण होते हैं। (अध:प्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण) और उपशम सम्यक्त्व के साथ देश संयम और सकल संयम प्राप्त करते है तो इससे पूर्व तीनों करण होते हैं।

इस आलेख से हमने तीनों करणों के बारे में जाना। इनको जानने से हमें बहुत लाभ हुआ, इतनी सूक्ष्म बातों को जानकर हमारे अन्दर आश्चर्य प्रकट होता है कि मात्र अन्तर्मुहूर्त में ही जीव कहाँ से कहाँ पहुँच जाता है, इन्हें बताने वाले पूर्वाचार्यों के प्रति श्रद्धा, समर्पण भाव विशेषता से प्रकट होता है। हमारे आचार्यों ने सूक्ष्म से सूक्ष्म समयों में होने वाले परिणामों को प्रकट किया है, इससे उनके प्रति बहुमान प्रकट होता है। हमारे अन्दर विशुद्धि बढ़ती है, अनन्तगुणी कर्मों की निर्जरा होती है। मैं भगवान से गुरुदेव से यही प्रार्थना करती हूँ कि मेरी विशुद्धि बढ़ती जाए और कर्मों की निर्जरा होती रहे, जिससे एक दिन मैं भी इन करण परिणामों को प्राप्त कर सम्यक्त्व प्राप्त करके श्रेणी आरोहण करके कर्मों का क्षय करते हुए मुक्ति को प्राप्त करूँ।

सकल संयम...लब्धि

बा.ब्र. दर्शनाचार्य प्राची दीदी शास्त्री

Jainism is like a beautiful garden. There are many flowers which are spreading their fragrance all over the world. Amidst all those beautiful flowers i'm very tiny pad. Hence i don't have the capacity to sprakes something about the jainism but my duty to obey the order of my preceptor P.P. Uchcharnacharya 108 Shri Vinamra Sagar Ji Mahamuniraj I'm trying to say something about jainism.

विश्ववंद्य तीर्थंकरों की दिव्यध्वनि के अर्थ व्याख्यान की साकार शब्द रूपतता गणधरदेव एवं परम्पराचार्यों के ग्रंथों का महत्वपूर्ण स्थान है। कुछ महापुरुषों की विश्वविहारी प्रज्ञा, हमें बैठे-बैठे समूचे विश्व का ही नहीं लोक-अलोकों का विहार करने के लिए उद्यत करती है। आज उनकी औदारिक देह हमारी बीच भले ही नहीं हो लेकिन उनकी अक्षरदेह सदा-सदा के लिए हमारा पथ प्रदर्शन करती है। जो हम जैसे जनमानस को घोर तिमिर से निकालकर उज्ज्वल प्रकाश से प्रकाशित करती है। ऐसे ही सिद्धांतज्ञ श्री नेमिचन्द्राचार्य ने लब्धिसार नामक महान ग्रंथ को लिखा-

श्री नेमिचन्द्र आचार्य प्रवर ने, लब्धिसार महाग्रंथ रचा,
क्षयोपशम, उपशम क्षायिक भेद से, सकल चारित्र को यहाँ कहा।
गुरुमुख से उसका अध्ययन-2 मैं सबको आज बताती हूँ।
महावीर ने जो उपदेश दिया, मैं गाती और सुनाती हूँ।।

पंचसनिदो तिगुत्तो पंचेन्द्रिय संबुड़ो जिदकसाओ।
दंसणणाणसमग्गो समणो संजदो भणिदो।।240।। प्र.सा./मू.

संयम- धवलाकार धवला पु. 7 में कहते हैं ''सम्यक् यमो वा संयम:'' सम्यक् रूप से यम अर्थात् नियन्त्रण या जीवन पर्यंत का संकल्प को संयम कहते हैं।

* संयम प्रेक्टिकल है यह किताबों से नहीं अनुभव से आता है। जैसे-साइकिल चलाना।
* संयम जानना, मानना, फिर पाना है।
* आत्मा-पावर हाउस, मन-मीटर, इन्द्रिय-स्विच हैं

संयम के भेद

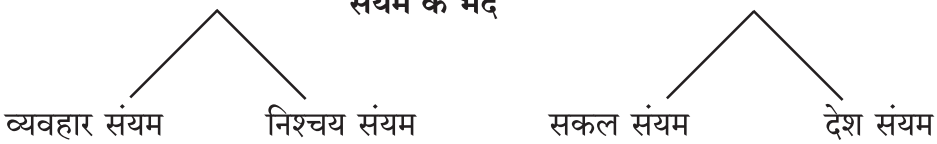

* **सकल संयम-** दुविहा चरित्तलद्धी देसे सयले। सकल चारित्र सम्पूर्ण संयम या महाव्रत जिसके धारण करने वाले श्रमण कहलाते हैं।

जैन धर्म में नाम नहीं पाखण्डों का, ठर्रा बीड़ी पीने वाले पंडों का,
जैन धर्म की महिमा बड़ी निराली है, जिसकी सम्यक्दर्शन जैसी ताली है।
इन्द्रिय मन को वश में करना होता है, तलवारों की धार पे चलना होता है,
साधु बनना खेल नहीं है बच्चों का, तेल निकल जाता है अच्छे-अच्छों का।।

सयलचरित्तं तिविहं खशउवसमि उवस्वं च खइयं च।
सम्मत्तुप्पतिं वा उवसमसम्मेण गिणहदो पढमं।।180।।

देश या सकल संयम के लिए चढ़ते समय इन्हें प्राप्त करने के अधिकारी मिथ्यादृष्टि व सम्यग्दृष्टि, सकल चारित्र क्षयोपशम, उपशम क्षायिक के भेद से तीन प्रकार का होता है। उपशम सम्यक्त्व सहित जो क्षयोपशम चारित्र ग्रहण होता है, उसका विधान प्रथमोपशम सम्यक्त्व की उत्पत्ति के समान है।

* प्रथमोपशम स. की उत्पत्ति मिथ्यात्व पूर्वक होती है। अत: मिथ्यादृष्टि जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्व सहित सकल चारित्र को ग्रहण करता है।

* क्षयोपशमिक चारित्र प्रमत्त व अप्रमत्त संयत इन दो गुणस्थानों में ही होता है, क्योंकि ऊपर के गुणस्थान उपशम या क्षपक श्रेणी में ही होते हैं और उनमें उपशम या क्षायिक चारित्र होता है।

* प्रथमोपशम स. उपशम या क्षपण श्रेणि पर आरोहित नहीं हो सकता अत: उसके अप्रमत्त गुणस्थान से ऊपर के गुणस्थान संभव नहीं है।

* सकलचारित्र सहित प्रथमोपशम सम्यक्त्व को ग्रहण करने वाले मनुष्य के करणलब्धि में इतने विशुद्ध परिणाम हो जाते हैं कि वह जीव अप्रमत्त गुणस्थान में ही जाता है, बाद में गिरकर प्रमत्तगुणस्थान को प्राप्त होता है।

* वेदक स. के योग्य मिथ्यादृष्टि जीव संयमलब्धि की उत्पत्ति करता है तब वह जीव तीन करण। अध:करण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण करके ही संयम लब्धि की उत्पत्ति करता है।

दूसरी ओर यदि कोई जीव क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि अथवा सादि मिथ्यादृष्टि है जिसका अभी वेदक प्रायोग्य काल चल रहा है ऐसा जीव संयम लब्धि के लिए प्रारम्भ के दो अध:करण, अपूर्वकरण ही करेगा तथा तो जीव क्षायिक सम्यग्दृष्टि से करेगा वह भी प्रारम्भ के दो ही करण करेगा। अब एक शंका उत्पन्न होती है–

प्रश्न–वेदक प्रायोग्य काल किसे कहते हैं?

जब कोई जीव सम्यक्त्व प्राप्त करके पुन: मिथ्यात्व में चला जाए उस समय वह सम्यक्त्व प्रकृति की उद्वेलना कर रहा है और उद्वेलना करते–करते जब सागरोपम पृथक्त्व/पृथक्त्व सागरोपम स्थिति रह जाती है, उसके पहले–पहले के काल को वेदक प्रायोग्य काल कहते है। अर्थात् पल्य के असंख्यातवें भाग काल तक यदि वह सम्यक्त्व प्राप्त करता है तो उसे वेदक सम्यक्त्व प्राप्त होता है। इसे ही वेदक सम्यक्त्व कहते हैं। उसके बाद नीचे उतरकर ऐसा जीव नियम से उपशम सम्यक्त्व प्राप्त करेगा, उसे ही उपशम काल कहते हैं।

(विशेष–यह व्याख्या संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीव की अपेक्षा है, एकेन्द्रियों का वेदक काल अलग है (विषयान्तर्गत न होने से यहाँ नहीं बताया गया है)

* देश संयम के समान सकल संयम में होने वाली प्रक्रिया कहते हैं– संयम ग्रहण के प्रथम समय से अन्तर्मुहूर्त काल तक जीव चारित्रलब्धि से एकान्तानुवृद्धि को प्राप्त होता है, क्योंकि अलब्धपूर्व संयम को प्राप्त होने से संवेग सम्पन्न मनुष्य के एकान्तानुवृद्धि पाई जाती है।

एकान्तानुवृद्धि–अर्थात् प्रतिपद्यमान परिणाम जो असंख्यात लोक प्रमाण होते हैं। उस जीव के प्रतिसमय उत्तरोत्तर अनंतगुणी विशुद्धि से प्रतिसमय असंख्यात गुणी श्रेणी से कर्म स्कन्धों की निर्जरा होती है। जब तक एकांतनुवृद्धि से वृद्धि को प्राप्त होता है तब तक आयुकर्म को छोड़कर शेष सर्वकर्मों के सहस्रों स्थितिकाण्डकों और सहस्रों अनुभाग कांडकों का घात होता है।

स्थितिकाण्डक घात– कर्म की स्थिति को कम कर देना। जैसे अन्तर्मुहूर्त में पल्य के संख्यातवें भाग कर्म स्थिति कोकम कर देना।

जैसे– कर्म बंध 10 वर्ष के लिए हुआ घात होकर 5 वर्ष रह गया।

अनुभागकाण्डक घात– एक स्थितिकाण्डक घात में हजारों अनुभाग काण्डक घात हो जाते हैं (अनुभाग अर्थात् कर्मों के फल देने की शक्ति)

एक अनुभाग के समय में कर्म की अनंत बहुभाग अनुभाग शक्ति कम हो जाती है।

जैसे – 1. एक्सीडेण्ट मृत्यु-----फेक्चर

2. एक्सीडेण्ट फेक्चर----खरोंच

विशेष– अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण में प्रशस्त व अप्रशस्त दोनों स्थिति का घात किंतु अनुभाग घात मात्र अप्रशस्त कर्मों का ही होता है।

एकांतानुवृद्धि काल तक इस जीव की संज्ञा 'अपूर्वकरण' होती है, क्योंकि अपूर्व–2 परिणामों के द्वारा वृद्धि को प्राप्त होने वाले जीव के 'अपूर्वकरण' संज्ञा की सिद्धि में कोई बाधा नहीं अथवा अपूर्वकरण काल के समाप्त हो जाने पर भी अपूर्वकरण के समान प्रतिसमय अपूर्व–2 परिणामों के द्वारा स्थितिगत आदि कार्य होते है।

एकांतानुवृद्धि काल समाप्त होने पर तत्पश्चात् अध:प्रवृत्त संयत होता है। यहाँ स्थितिघात और अनुभागघात नहीं है, परंतु जब तक संयत है तब तक अवस्थित आयाम वाली गुणश्रेणि होती है।

गुणश्रेणी–श्रेणी रूप से कर्म निर्जरा होती है। सम्पूर्ण द्रव्य कुछ कम 1½ गुणहानि प्रमाण से सम्पूर्ण द्रव्य कुछ कम 1½ गुण हानि प्रमाण से द्रव्य में उत्कर्षण x अपकर्षण भागहार भाग देने, जो द्रव्य आता है उसमें पल्य के असंख्यातवां भाग का भाग देने पर एक भाग गुणश्रेणि आयाम में असंख्यात गुणे क्रम से निक्षेपण करता है शेष बहुभाग को गुणश्रेणि शीर्ष से ऊपरचय प्रमाणहीन क्रम से अतिस्थापनावली प्राप्त न होते तक श्रेपण करता है यह गुणश्रेणि में एक समय का कार्य है–2–3... अन्तर्मुहूर्त।

विशेष– प्रथम समय में गुणश्रेणि के लिए जितना द्रव्य अपकर्षण किया द्वितीय समय उससे असंख्यात गुणे द्रव्य का अपकर्षण करता है।

गुणश्रेणि

अवस्थित गलितावशेष

सकल संयम सम्बन्धी प्रतिपतादि भेदों को बताते हुए प्रतिपात स्थानों की ओर चलते हैं।

* प्रतिपात संयम लब्धिस्थान– संयम स्थान से गिरते हुए मिथ्यादृष्टि संक्लेश परिणामी के जघन्य प्रतिपातस्थान होता है अर्थात् सर्व संक्लेश से परिपूर्ण मिथ्यात्व के सम्मुख संयम के अंतिम समय में बनता है। यह जघन्य प्रतिपात स्थान है। इस जघन्य प्रतिपात स्थान से असंख्यात लोक प्रमाण प्रतिपात स्थान होते हैं जो षट्गुणीहानि वृद्धि के लिए होते हैं।

* उत्कृष्ट प्रतिपात लब्धिस्थान– संयम स्थान से च्युत होकर अगले ही समय में देश संयम को प्राप्त हुआ।

* प्रतिपद्यमान लब्धिस्थान– उत्कृष्ट प्रतिपात स्थान से असंख्यात लोक प्रमाण अन्तर देकर जघन्य प्रतिपद्यमान स्थान हेाता है।

* अनुभय स्थान– उत्कृष्ट प्रतिपद्यमान स्थान से असंख्यात लोक प्रमाण अंतर देकर सामायिक अनुभय छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि संयम संबंधी अनुभय स्थान प्रारम्भ होते हैं इससे अवस्थित गुणश्रेणि चलती है। संक्लेशता तीव्र तो कम द्रव्य का क्षेपण, कम तो अधिक द्रव्य का क्षेपण।

प्रतिपद्यमान स्थानों का कथन–

तत्तो पडिवज्जगया अज्जमिलिच्दो मिलेच्छअज्जे य।
कमसो अवरं अवरं वरं वरं होदि संखं वा।।195।।

आर्यखण्ड का मिथ्यादृष्टि मनुष्य संकल संयम को प्राप्त कर प्रथम समय वाला जघन्य प्रतिपद्यमान स्थान का स्वामी होता है। उसके ऊपर असंख्यात लोक प्रमाण जाकर म्लेच्छ खण्ड का मिथ्यादृष्टि मनुष्य प्रथम समय का संयमी उसका स्थान उससे असं. लोक प्रमाण जाकर म्लेच्छ खंड को मनुष्य का स्थान उससे असंख्यात लोक प्रमाण जाकर आर्य खण्ड के मनुष्य का लब्धि स्थान होता है। (यह सभी स्थान षट्गुणीहानि वृद्धि का रूप होते है)

शंका–म्लेच्छ संयम कैसे धारण करेंगे?

चक्रवर्ती की दिग्विजय के समय म्लेच्छ खंड की कन्याओं के साथ विवाह करने पर जो संताने उत्पन्न होती हैं, वे सकलसंयम को ग्रहण करने के अधिकारी हो जाते हैं।

इस प्रकार गुरु मुख से अध्ययन कर यह छोटा सा अध्याय यहाँ प्रस्तुत किया। पूज्य गुरुदेव से अंत में बस यही प्रार्थना है।

देश संयम दिया, पूर्ण संयम भी दो
गुरु कृपा प्राप्त कर, लब्धियाँ पूर्ण हो
सकल संयम की हो, साधना
पूज्य गुरुवर से है प्रार्थना.....

अपूर्वकरण, अनिवृतिकरण परिणामों में विशेषता होने वाले कार्यों का विवेचन

अनिल कुमार जैन, प्राचार्य, जयपुर

करण – करण परिणामों की संज्ञा है। ऐसे परिणामों को जिनके होने पर यह जीव नियम से दर्शनमोहनीय और चारित्र मोहनीय का यथासम्भव उपशम और क्षय करता है उन्हें करण कहते हैं।

करण के तीन भेद हैं – अध:करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण। इनमें से प्रत्येक का काल अन्तर्मुहूर्त है। उसमें भी अधःकरण का काल सबसे अधिक है, उसका संख्यातवां भाग अपूर्वकरण का काल है और उसका भी संख्यातवां भाग अनिवृत्तिकरण का काल है। नीचे के समयवर्ती किसी जीव के परिणाम ऊपर के समयवर्ती अन्य किसी जीव के परिणामों के सदृश हो सकते हैं, इसलिए इसकी अध:प्रवृत्त करण संज्ञा है। इसकी कहीं-कहीं यथाप्रवृत्त करण संज्ञा भी पाई जाती है।

अधःप्रवृत्त करण में गुणश्रेणी रचना, गुण संक्रमण, स्थिति काण्डक घात और अनुभाग काण्डक घात ये चार कार्य नहीं होते किन्तु प्रत्येक समय में उत्तरोत्तर अनन्तगुणी विशुद्धि होने से अप्रशस्त कर्मों के अनुभाग में अनन्तगुणी हानि, प्रशस्त कर्मों के अनुभाग में अनन्तगुणी वृद्धि होती रहती है। इसके साथ संख्यात हजार स्थिति बन्धापसरण भी होते हैं। एक स्थिति बंधापसरण का प्रमाण पल्योपम के संख्यात वें भाग प्रमाण है। इस प्रकार अध:प्रवृत्तकरण के प्रथम समय में जितना स्थितिबंध होता है, उसके अन्तिम समय में वह घटकर संख्यात गुणा हीन हो जाता है। यदि वही जीव प्रथम सम्यक्त्व के साथ देशसंयम और सकलसंयम को प्राप्त करता है तो उक्त स्थितिबन्ध असंयत के जितना होता है उससे और भी संख्यातगुणा हीन हो जाता है।

परिणामों की अपेक्षा विचार करने पर नाना जीवों की अपेक्षा इस करण के प्रत्येक समय में असंख्यात लोकप्रमाण परिणाम होते हैं, जो उत्तरोत्तर एक-एक समय में विशेष अधिक होते जाते हैं। परिणामों की यह वृद्धि समानरूप से होती है। यहाँ विशेष का प्रमाण लाने के लिए प्रतिभाग का प्रमाण अन्तर्मुहूर्त है। प्रकृत में अधःप्रवृत्तकरण का जितना काल होता है उसके संख्यात वें भाग-प्रमाण अनुकृष्टिकाल (अनुकर्षणमनुकृष्टि अर्थात् परिणामों की परस्पर समानता का विचार

करना अनुकृष्टि है) होता है। इसे निर्वर्गणा काण्डक के जितने समय हो उतने प्रत्येक समय के परिणामों के खण्ड होते हैं, जो प्रथम खण्ड से लेकर उत्तरोत्तर एक-एक चय प्रमाण अधिक होते हैं। यहाँ चय का प्रमाण लाने के लिए प्रतिभाग का प्रमाण अन्तर्मुहूर्त है। इस प्रकार प्रत्येक समय में जितने खण्ड प्राप्त होते हैं उनमें से एक-एक खण्ड में असंख्यात लोकप्रमाण परिणाम होते हैं। जो षट्स्थान पतित वृद्धि से युक्त होते हैं। प्रथम और अन्तिम समय के प्रथम और अन्तिम खण्ड विसदृश होते हैं तथा शेष सभी खण्ड यथा सम्भव सदृश होते हैं। इस प्रकार प्रत्येक समय के परिणामों की क्रमवार रचना बनती है उसके अनुसार द्विचरम समय तक के प्रथम खण्ड और अन्तिम समय के सभी खण्डों की विसदृश पंक्ति बन जाती है।

अपूर्वकरण –

जम्हा उवरिसभावा हेट्ठि भावेहिं णत्थि सरिसत्तं।
तम्हा विदियं करणं अपुव्वकरणो त्ति णिद्दिट्ठं।।

अर्थात् जिसमें ऊपर समयवर्ती परिणामों की नीचे के समयवर्ती परिणामों से समानता नहीं होती उन परिणामों को पूर्वकरण कहते हैं अपूर्वकरण में प्रत्येक समय में होने वाले परिणाम अपूर्ण-अपूर्व होते हैं, इसलिए यहाँ भिन्न समय वाले जीवों के परिणाम भिन्न होते हैं तथा एक समय वाले जीवों के परिणाम सदृश और विसदृश दोनों प्रकार के होते हैं।

अपूर्वकरण में असंख्यात लोक प्रमाण परिणाम होकर भी प्रत्येक समय के परिणाम भी असंख्यात लोक प्रमाण होते हैं। ये परिणाम प्रथम समय से अन्तिम समय तक उत्तरोत्तर सदृश वृद्धि को लिए हुए है।

इस अवस्था में आत्मा दृढ़ संकल्पपूर्वक संघर्ष के लिए तत्पर हो जाता है एवं राग और द्वेषरूपी कर्म शत्रुओं के परास्त हो जाने से आत्मा जिस आनन्द का पान करता है, वह सभी पूर्व अनुभूतियों से विशिष्ट प्रकार के होते हैं। इसलिए यह प्रक्रिया अपूर्वकरण कहलाती है।

अपूर्वकरण में विशुद्धि –

अपूर्वकरण के प्रथम समय से अंतिम समय पर्यन्त जघन्य व उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुणी है अर्थात् अपूर्वकरण के प्रथम समय के जघन्य परिणाम की विशुद्धि की अपेक्षा उसी समय के उत्कृष्ट परिणाम की विशुद्धि अनन्तगुणी है। उससे ऊपर के समय का जघन्य विशुद्धि परिणाम अनन्तगुणा है। उससे उस ही समय का द्वितीय परिणाम अनन्तगुणा है उससे उस ही समय का उत्कृष्ट विशुद्धि परिणाम अनन्तगुणा है।[2]

अपूर्वकरण के चार आवश्यक–

अपूर्वकरण अवस्था में आत्मा कर्म शत्रुओं पर विजय लाभ करते हुए जिन प्रक्रियाओं को करता है, उन्हें अपूर्वकरण के चार आवश्यक कहा जाता है।

उनके नाम – 1 गुणश्रेणी 2. गुणसंक्रमण

3. स्थितिकाण्डक घात 4. अनुभागकाण्डक घात

गुणश्रेणी – इसमें जीव कर्मों के उपरितन निषेकों में से अपकर्षित द्रव्य का प्रत्येक समय में असंख्यातगुण क्रम से गुणश्रेणी आयाम में क्षेपण करना गुणश्रेणी है।

गुणसंक्रमण – इस अवस्था में कर्मों का अवान्तर प्रकृतियों में रूपान्तर हो जाता है जैसे वेदनीय कर्म की असाता प्रकृति का उसी कर्म की साता में रूपान्तर हो जाना ।

स्थितिकाण्डकघात – इसमें कर्मों की सत्तागत स्थिति खण्डित हो जाती है। अर्थात् यदि किसी कर्म की स्थिति अधिक हो तो विशुद्ध परिणामों के फलस्वरूप उसकी स्थिति कम हो जाती है। इसी को स्थिति घात या स्थिति खण्डन कहा जाता है।

अनुभाग काण्डकघात– इसमें कर्मों की तीव्रता अर्थात् प्रगाढ़ता में कमी आ जाती है अर्थात् कर्मों की शक्ति मन्द हो जाती है, जिससे जीव का आवरण धीमा पड़ जाता है। यह मन्दता अशुभ कर्म में ही आती है, शुभ प्रकृतियों का अनुभाग घात नहीं होता।

अपूर्वकरण के प्रथम समय के प्रशस्त प्रकृतियों के अनुभाग सत्त्व की अपेक्षा अंतिम समय में अनुभाग सत्त्व अनन्त गुणित होता है क्योंकि प्रत्येक समय में अनन्त गुणी विशुद्धि होने पर प्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग सत्त्व अनन्तगुणित होता है। शेष अप्रशस्त प्रकृतियों के प्रथम समय के अनुभाग सत्त्व की अपेक्षा अंतिम समय में अनुभाग सत्त्व अनन्तगुणा हीन होता है।

अपूर्वकरण में विशेषता–

अपूर्वकरण में क्रियमाण क्रियाओं से होने वाले बन्ध का अल्पकालिक और अल्पतर मात्रा में ही बन्ध होता है। जिसे बन्धापसरण कहा जाता है सत्तागत स्थिति का खण्डन और वर्तमान क्रियाओं से होने वाले बन्ध का अल्पकालिक बन्धापसरण होना दोनों एक ही समय में घटित होते हैं। स्थिति खण्डन और बन्धापसरण दोनों का काल अन्तर्मुहुर्त मात्र होता है।[6] बन्धापसरणादि उसी अवस्था में होते हैं जबकि जीव के अन्तःकरण से अशुभ विचारों की तीव्रता का अभाव होता है इससे वर्तमान क्रियाओं के प्रति अनासक्ति हो जाती है और इससे आगामी कर्म बन्ध में हीनता और कम शक्ति और कम स्थिति को लेकर कर्म बन्ध होता है।

अनिवृत्तिकरण–

इसके प्रत्येक समय में एक ही परिणाम होता है इसलिए इस करण का जितना काल उतने इसके परिणाम जानना चाहिए।[7] अनिवृत्ति का अर्थ करते हुए वीरसेन स्वामी ने कहा है– निवृत्तिव्यावृत्तिः न विद्यते निवृत्तिर्वेषां तेऽअनिवृत्तयः।[8] 'अर्थात् निवृत्ति

शब्द का अर्थ व्यावृत्ति है, व्यावृत्ति का तात्पर्य है नहीं छूटना । कभी व्यावृत्त न होने वाले परिणामों को ही अनिवृत्ति कहते है और इस प्रकार के परिणामों को विकसित करने वाली प्रक्रिया अनिवृत्तिकरण कहलाती है।

अनिवृत्तिकरण में प्रत्येक समय के परिणाम असंख्यात लोकप्रमाण होते हैं, परन्तु अनिवृत्तिकरण के प्रत्येक समय में नाना जीवों के एक समान ही परिणाम होते हैं।

अनिवृत्तिकरण में स्थिति कांडकघात, अनुभाग–कांडकघात, स्थिति बंधापसरण और गुणश्रेणि ये सभी क्रियायें अपूर्वकरण के समान ही होती है, परन्तु इनका प्रमाण अन्य होता है।

अनिवृत्तिकरण का संख्यातवां भाग काल शेष रहने पर दर्शन मोहनीय का अन्तरकरण प्रारंभ होता है। प्रथम स्थिति और उपरितन स्थितियों को छोड़कर मध्य की अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति के निषेकों के अभाव करने को अन्तरकरण कहते हैं। एक स्थितिकाण्डक घात में जितना समय लगता है उतना ही अन्तरकरण का काल है। अन्तर का प्रमाण गुणश्रेणी शीर्ष से संख्यातगुणा है। अन्तरकरण क्रिया सम्पन्न होने के पश्चात् द्वितीय स्थिति में स्थित दर्शनमोह को उपशम करता है। तदनन्तर प्रथम स्थिति के गलने के पश्चात् अन्तर के प्रथम समय में वह जीव प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि हो जाता है और यहीं से मिथ्यात्व के द्रव्य को मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति इन तीन भागों में विभक्त करता है। जब गुण संक्रमण का काल पूरा हो जाता है तब विध्यात संक्रमण के द्वारा मिथ्यात्व के द्रव्य को सम्यक् प्रकृति रूप में परिणमाता है। यहाँ दर्शन मोहनीय के स्थिति काण्डकघात और अनुभाग काण्डक घात नहीं होते, शेष कर्मों के होते हैं। मिथ्यात्व आदि तीन प्रकृतियों को दृष्टांत के माध्यम से इस प्रकार समझा जा सकता है– सम्यक्त्व प्रकृति श्वेत कांच का आवरण है, मिश्र प्रकृति हल्के रंगीन कांच का आवरण है और मिथ्यात्व प्रकृति गहरे रंगीन काँच का आवरण है। प्रथम में सत्य का स्वरूप वास्तविक दिखाई देता है, दूसरे में कुछ विकृत रूप में और तीसरे में उससे भी विकृत दिखाई देता है।

दर्शनमोह का उपशम करने वाला जीव मरण को प्राप्त नहीं होता और सासादन गुणस्थान को भी प्राप्त नहीं होता। किन्तु उपशम सम्यग्दृष्टि होने के पश्चात् उसके काल से अधिक से अधिक छह आवली और कम से कम एक समय शेष रहने पर वह सासादन गुणस्थान को प्राप्त हो सकता है।

संक्रमण सामान्य निर्देश पूर्वक मोहनीय कर्मों में होने वाले संक्रमण

प्रो. (डॉ.) सुदर्शनलाल जैन, लालघाटी, भोपाल

जैन धर्मानुसार प्रतिसमय बंधने बाले कर्म मूल रूप से 8 प्रकार के हैं–1. ज्ञानावरणीय, 2. दर्शनावरणीय, 3. वेदनीय, 4. मोहनीय, 5. आयु, 6. नाम, 7. गोत्र और 8 अन्तराय। इनमें प्रत्येक की अवान्तर कर्म प्रकृतियाँ क्रमश: निम्न है– 5, 9, 2, 28, 4, 93, 2, 5=148 प्रकृतियाँ हैं। इनमें से 120 प्रकृति का बन्ध होता है और उदय 122 का अर्थात् 28 प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता (क्योंकि सम्यक्त्व और मिश्र दर्शन मोहनीय, 5 बन्धन, 5 संघात, 16 वर्णादि) है, परन्तु सम्यक्त्व और मिश्र दर्शन मोहनीय का उदय होता है अत: उदय योग्य 122 प्रकृतियाँ स्वीकृत हैं।

इन कर्मों का बन्ध होने के बाद 10 अवस्थायें (करण) होती हैं– बन्ध, सत्ता, उदय, उदीरणा, उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण, उपशम, निधत्ति और निकाचित्त। इनमें से निधत्ति अवस्था में उदीरणा और संक्रमण नहीं हेाता तथा निकाचित में उत्कर्षण, अपकर्षण, उदीरणा और संक्रमण नहीं होता।

आत्मा के साथ जब पुद्गल कर्मों (कार्माण वर्गणाओं) का एकाकार रूप परिणमन होता है तब द्रव्यबन्ध होता है और द्रव्यबन्ध में कारण होता है वह भाव बन्ध (आत्मा के राग–द्वेषादि विकार भाव)। यह भी एक प्रकार का संक्रमण है क्योंकि कार्माण वर्गणायें भिन्न स्वभाव को प्राप्त हो जाती हैं। दैनिक जीवन में भी निमित्त के मिलने पर संक्रमण (सर्द–गर्म मौसम आदि के निमित्त से सर्दी जुकाम बुखार आदि रुप संक्रमण) देखा जाता है। कर्म का आत्मा के साथ जब द्रव्य बन्ध होता है तब वह शुभाशुभ परिणामों के अनुसार चार भागों में विभक्त या संक्रमित हो जाता है, जिसे पारिभाषिक शब्दों में प्रकृति बन्ध (ज्ञानादि को रोकने का आवरण स्वभाव), (2) प्रदेश बन्ध (कर्म परमाणुओं की संख्या द्वारा कितना प्रदेश आयात किया), (3) स्थिति बन्ध (वहाँ रुकने की काल सीमा) और (4) अनुभाग बन्ध (फल देने की शक्ति)। इन चार प्रकार के बन्धों में प्रथम दो बन्ध योग (मन, वचन, काया की प्रवृत्ति) के निमित्त से होते हैं तथा परवर्ती दो बन्ध कषायों की हीनाधिकतानुसार होते हैं। ये चारों कार्य बन्ध के समय ही हो जाते हैं। यह भी संक्रमण या विपरिणमन है। वस्तुत: यहाँ विचारणीय संक्रमण का लक्षण है–

जो प्रकृति पूर्व में बांधी थी उसका अन्य प्रकृति रूप परिणमन हो जाना संक्रमण है संक्रमणमणत्थगदी गो. कर्मकाण्ड गाथा 438।

संक्रमण के प्रकारान्तर से भेद–

(1) स्वस्थान संक्रमण (2) परस्थान संक्रमण* (3) अनुवर्ती संक्रमण (4) फालि संक्रमण (5) काण्डक संक्रमण (समूह में) और (6) स्तिबुक संक्रमण। ये भेद भी आगम में पाए जाते हैं। (गो.जी.गा. 504)

भागाहार वाले संक्रमण के 5 भेद– (गो.कर्म.गा. 409)

(1) उद्वेलन संक्रमण, (2) विद्यात संक्रमण, (3) अध:प्रवृत्त संक्रमण, (4) गुण संक्रमण और (5) सर्व संक्रमण के भेद से 5 भेद हैं। इनका ही यहाँ विशेष विचार किया गया है।

संक्रमण सम्बन्धी नियम–

1. बन्ध प्रकृतियों में स्वजातीय उत्तर प्रकृतियों में ही संक्रमण होता है। दर्शन मोहनीय को छोड़कर। अर्थात् अबन्ध सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व दर्शन मोहनीय इन दो अबन्ध प्रकृतियों में भी अध:प्रवृत्त संक्रमण होता है।

2. मूल प्रकृतियों में संक्रमण नहीं हेाता है स्वजातीय उत्तर प्रकृतियों में ही होता है। चारित्र मोहनीय और दर्शन मोहनीय में परस्पर संक्रमण नहीं होता। आयुकर्म की प्रकृतियों में भी संक्रमण नहीं होता। ज्ञानावरणीय का दर्शनावरणीय की उत्तर प्रकृतियों में परस्पर संक्रमण नहीं होता। गो.कर्म.गा. 410

3. चारित्र मोहनीय की कषायों तथा नोकषायों में परस्पर संक्रमण होता है क्योंकि उनमें परस्पर प्रत्यासत्ति है। ऐसी प्रत्यासत्ति दर्शन मोहनीय के साथ चारित्र मोहनीय की नहीं है। (मिल जाती है)। स्वजाति में ही संक्रमण होता है।

4. दर्शन मोहनीय की तीनों प्रकृतियाँ (मिथ्यात्व, सम्यक्त्व और मिश्र) का स्व उदयकाल में (प्रथमत्तर गुणस्थानों में संक्रमण नहीं होता।)

नोट–एक आवली काल में उदय में आने योग्य कर्मनिषेकों की पंक्ति को उदयावली कहते हैं।

5. स्थिति बन्ध पर्यन्त ही संक्रमण होता है। अत: बन्धरुप प्रदेशों का संक्रमण सूक्ष्म सांपराय गुणस्थान (10वां) पर्यन्त ही होता है।

6. अचलावलि (आवली काल) काल तक कर्म निश्चल रहते हैं उनमें संक्रमण आदि नहीं होता। उसके बाद ही उनमें (कर्म प्रदेशों में) वृद्धि, हानि संक्रमण आदि भजनीय (हों भी सकते, नहीं भी हो सकते) हैं।

7. संक्रमण द्वारा अनुदय प्रकृतियों का भी उपान्त्य समय में पररूप से संक्रमण हो जाता है अर्थात् अनुदय प्रकृति भी पररूप से संक्रमण करके उदय में लाई जाती है।

8. कर्म जब तक उदयावली में प्रवेश नहीं करता है तब तक कोई भी संक्रमण हो सकता है। उदयावली में आने पर स्थिबुक संक्रमण होगा।

उद्वलेना संक्रमण	विद्यात संक्रमण	अध:प्रवृत्त संक्रमण	गुण संक्रमण	सर्व संक्रमण
विशुद्धि आदि करणों के बिना संक्रमण यह काण्डक रूप से होता है।	मन्द विशुद्धि होने पर तथा बन्ध के रुक जाने पर 1–8 गुण. तक	जहाँ तक बन्ध होता है वहाँ तक बन्ध व्युच्छित्ति के बाद नहीं। मिथ्यात्व को छोड़कर	असंख्यात गुणश्रेणी क्रम से। यह 8 से 11 गुणस्थान तक बंध रहित अप्रशस्त प्रकृतियों का होता है।	अन्तिम फालि में शेष सर्व संक्रमण 9वें गुण में सर्व संक्रमण
भागहार – अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण	अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण	पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण	पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण	एक अंक प्रमाण
उद्वेलना बन्ध स्थान के पूर्व हीन स्थान पर होती है। जैसे आहारकद्वय का बंध अप्रमत्त गुणस्थान में और उद्वेलना असंयत से				

नोट– गुण संक्रमण मिथ्यात्वादि गुणस्थानों में भी पाया जाता है जैसे सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक्त्व प्रकृति का

तिर्यगेकादश प्रकृतियाँ–(11)

ये वे प्रकृतियाँ हैं जिनका उदय तिर्यञ्चों में ही होता है।

1. तिर्यञ्चगति, 2. तिर्यञ्चगत्यानुपूर्वी, 3. एकेन्द्रिय जाति, 4. द्वीन्द्रिय जाति, 5. त्रीन्द्रिय जाति, 6. चतुरेन्द्रिय जाति, 7. आतप, 8. उद्योत, 9. स्थावर, 10. सूक्ष्म, 11. साधारण। गो.कर्म.गा. 44

पाँच प्रकार के संक्रमण

केवल उद्वेलना योग्य प्रकृतियाँ (13)– अध:करण आदि तीन करणों के परिणामों तथा विशुद्धि एवं संक्लेश रुप के बिना जो कर्म–प्रकृतियों का अन्य प्रकृति रूप संक्रमण होता है वे उद्वेलन प्रकृतियाँ हैं। यह संक्रमण उपान्त्य काण्डक (अन्त के समीपवर्ती) पर्यन्त होता है तथा अन्त के काण्डक में नियम से गुण संक्रमण होता है। तथा अन्तिम काण्डक की अन्तिम फाली का नियम से सर्व संक्रमण ही होता है ये 13 प्रकृतियाँ है–

1. आहारक शरीर, 2. आहारक शरीराङ्गोपाङ्ग, 3. सम्यक्त्व (दर्शन मोहनीय), 4. सम्यग्मिथ्यात्व (दर्शन मोहनीय), 5. देवगति, 6. देवगत्यानुपूर्वी, 7. नरकगति, 8. नरकगत्यानुपूर्वी, 9. वैक्रियिक शरीर, 10. वैक्रियिक शरीराङ्गोपाङ्ग, 11. उच्चगोत्र, 12. मनुष्यगति, और 13. मनुष्यगत्यानुपूर्वी। गो.क.गा. 415

यह संक्रमण उसी प्रकार है जैसे बटी हुई रस्सी को पलटना अर्थात् पहले परिणमित हुई प्रकृति का पुन: पूर्व रुप प्राप्त कराना। इसका भागाहार सबसे (अंगुल का असंख्यातवां भाग) अधिक है। अत: इनके द्वारा बहुत कम द्रव्य परिणमित (संक्रमित) होता है। इसमें बिना प्रयत्न विशेष (परिणामों की विशुद्धि आदि के बिना) के धीरे–धीरे कार्य का होना पाया जाता है। इसमें प्रकृति का फल उदय में आने से पूर्व ही नष्ट कर दिया जाता है। जो प्रकृति उस समय बंधती नही है और न उस प्रकृति को बांधने की जीव में योग्यता है उन्हीं प्रकृतियों की उद्वेलना होती है। यह उद्वेलना काण्डक रूप में होती है अर्थात् प्रथम अन्तर्मुहूर्त काल में चय हीन क्रम से तथा द्वितीय अन्तर्मुहूर्त में उससे दुगुने चयहीन क्रम से होती है।

यह मिथ्यात्व गुणस्थान में होता है। मोहनीय की 28 प्रकृतियों की सत्ता वाला मिथ्यादृष्टि जीव पहले सम्यक्त्व प्रकृति की उद्वेलना करता है पश्चात् सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति की उद्वेलना करके 26 प्रकृतियों (मोहनीय) की सत्ता बाला हो जाता है। उद्वेलना संक्रमण काण्डक रूप से होता है वह भी उपान्त्यकाण्डक पर्यन्त।

केवल विद्यात संक्रमण योग्य प्रकृतियाँ–(67)

यह मन्दविशुद्धि वाले जीव के द्वारा स्थिति और अनुभाग कम करने पर होता है। यह बन्ध की व्युच्छित्ति होने पर असंयत से अप्रमत्त (4–7) गुणस्थान पर्यन्त होता है। इस गुणस्थान के बाद गुण संक्रमण होता है। इसके योग्य 67 प्रकृतियाँ है। 1–12 (उद्वेलन की 13 में से सम्यक्त्व मोहनीय के बिना), 13–15 (स्त्यानगृद्धि, निद्रा–निद्रा, प्रचला–प्रचला), 16–27 (अनन्तानुबंधी–अप्रत्याख्यान–प्रत्याख्यान की 12 कषायें), 28 स्त्री वेद, 29 नपुंसक वेद, 30 अरति, 31 शोक, 32 तिर्यञ्चगति, 33 तिर्यञ्चगत्यानुपूर्वी, 34–37 (एकेन्द्रियादि 4 जातियाँ), 38 आतप, 39 उद्योत, 40 स्थावर, 41 सूक्ष्म, 42 साधारण, 43 असातावेदनीय, 44 अप्रशस्त विहायोगति, 45–49 संहनन पाँच (वज्रर्षभनाराच संहनन छोड़कर), 50–54 पाँच संस्थान (समचतुरस्र संस्थान छोड़कर), 55 नीचगोत्र, 56 अपर्याप्त, 57 अस्थिर, 58 अशुभ, 59 दुर्भग, 60 दु:स्वर, 61 अनादेय, 62 अयश:कीर्ति, 63 वज्रर्वृषभनाराच संहनन, 64 औदारिक शरीर, 65 औदारिक आङ्गोपाङ्ग, 66 तीर्थङ्कर और (67) मिथ्यात्व। (गो.कर्म.गा. 426)

इसका भागाहार अंगुल का असंख्यातवां भाग है परन्तु उद्वेलना के भागाहार से असंख्यात गुणा हीन है। अतएव इसके द्वारा प्रतिसमय संक्रमित किया जाने वाला द्रव्य उद्वेलना से बहुत अधिक है। मिथ्यात्व तथा मिश्र मोहनीय इन दो प्रकृतियों को जीव

जब सम्यक्त्व प्रकृतिरुप परिणमाता है। (उद्वेलना से उल्टा) तब विध्यात संक्रमण होता है। वेदक सम्यग्दृष्टि जीव क्षपणा प्रारम्भ करता हुआ अध:प्रवृत्त के अन्तिम समय तक बराबर करता रहता है। उपशम सम्यक्त्व में भी उसी प्रकार निरन्तर करता रहता है परन्तु वह प्रथम अन्तर्मुहूर्त में गुण संक्रमण के बाद विध्यात संक्रमण करता है। बन्ध व्युच्छित्ति होने के बाद उन प्रकृतियों का 4 से 7 गुणस्थानों में विद्यात संक्रमण होता है। इस गुणस्थान के बाद गुण संक्रमण होता है।

अध:प्रवृत्त संक्रमण प्रकृतियाँ–

यह संक्रमण मिथ्यात्व को छोड़कर उदय योग्य 122 प्रकृतियों में से 121 प्रकृतियों में होता है। यह संक्रमण नियम से 'फालि' रूप होता है। एक समय में होने वाले संक्रमण को 'फालि' कहते हैं। यह अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त ही होता है। काण्डक रूप संक्रमण में अन्तर्मुहूर्त काल बीतने पर भागहार क्रम से इकट्ठा द्रव्य उठाता है, संक्रमण करने के लिए परन्तु फालि रूप से अन्तर्मुहूर्त तक बराबर (निरन्तर) भागाहार हानि क्रम से उठाकर संक्रमाता है। जब जीव मिथ्यात्व गुणस्थान को (पतन के समय) प्राप्त होता है तो सम्यक्त्व दर्शन मोहनीय और सम्यग्मिथ्यात्व दर्शनमोहनीय दोनों का अन्तर्मुहूर्त तक अध:प्रवृत्त संक्रमण होता है। बंधी हुई कर्म प्रकृतियों का बन्ध के समय अपनी संक्रमित प्रकृतियों (स्वजातीय) में परमाणुओं का प्रदेश संक्रमण होना अध:प्रवृत्त संक्रमण है। अर्थात् सत्ता रूप प्रकृतियों का बन्धकाल में या उस प्रकृति की बन्ध की योग्यता रखने पर बन्ध होते समय यह संक्रमण होता है। यह संक्रमण तब तक होता है (उसी गुणस्थान तक होता है) जब तक वह प्रकृति बन्ध से व्युच्छिन्न नहीं हो जाती है। इसका भागाहार पल्य का असंख्यातवां भाग है जो विद्यात संक्रमण से असंख्यात गुणाहीन है। अतएव इसके द्वारा प्रतिसमय ग्रहण किया गया द्रव्य विद्यात की अपेक्षा बहुत अधिक है। इसमें थोड़े द्रव्य का संक्रमण होता है सर्वद्रव्य का नहीं क्योंकि इसके पीछे उद्वेलना संक्रमण शुरु हो जाता है पश्चात् गुण व सर्व संक्रमण के द्वारा शत समाप्त कर देता है।

क्रोध कषाय का स्वजातीय (प्रत्याख्यानादि) भेदों में अथवा 'मान' आदि विजातीय भेदों में अध:प्रवृत्त संक्रमण परिणमाता है। मिथ्यात्व गुणस्थान को प्राप्त होने पर जैसे उद्वेलना संक्रमण सम्यक्त्व और मिश्र दर्शन मोहनीय को काण्डक रूप से प्रवर्तता है वैसे ही अध:प्रवृत्त संक्रमण फालिरुप से प्रवर्तता है। परन्तु मिथ्यात्व प्रकृति का अध:प्रवृत्त संक्रमण नहीं होता। (गो.क.गा. 411) मिथ्यात्व गुणस्थान को प्राप्त होने पर सम्यक्त्व और मिश्र मोहनीय प्रकृतियों का अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त अध:प्रवृत्त संक्रमण होता है। यह संक्रमण नियम से घातिरूप होता है। उद्वेलना नामक संक्रमण द्विचरम काण्डक पर्यन्त नियम से प्रवर्तता है। उद्वेलन प्रकृतियों का अन्त के काण्डक में नियम से गुण संक्रमण होता है पश्चात् अन्त की फालि में सर्वसंक्रमण होता है। इस तरह सम्यक्त्व और मिश्र दर्शन मोहनीय प्रकृतियों की उद्वेलना में चार संक्रमणों का क्रम रहता है। (गो.क.गा. 412–413)

गुण संक्रमण योग्य कर्म प्रकृतियाँ (75) गो.कर्म.गा. 428, 413

जब प्रतिसमय असंख्यात गुणश्रेणी के क्रम से कर्म परमाणु अन्य प्रकृतिरूप परिणमन करें तब गुणसंक्रमण होता है। अपूर्वकरण से उपशान्त कषाय (8–11) गुणस्थानों तक में बंध रहित अप्रशस्त प्रकृतियों का गुण संक्रमण होता है। प्रथमोपशम सम्यक्त्व आदि समयों में भी यह संक्रमण पाया जाता है। सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व दर्शन मोहनीय प्रकृति के पूरणकाल में तथा मिथ्यातव के क्षय करने में अपूर्वकरण परिणामों के द्वारा मिथ्यात्त्व के अंतिम काण्डक के उपान्त्य में फालि पर्यन्त भी गुण संक्रमण होता है। बाद में अंतिम फालि में सर्वसंक्रमण होता है।

गुण संक्रमण की 75 प्रकृतियाँ निम्न है–

1–5 (स्त्यानगृद्धि, निद्रा निद्रा, प्रचला प्रचला, निद्रा, प्रचला) 6 असाता वेदनीय 7–18 (अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरणी, प्रत्याख्यानावरणी 12 कषायें), 19–26 (पुं. वेद छोड़कर (8 नोकषायों), 27 सम्यग्मिथ्यात्व, 28 सम्यक्त्व, 29 मिथ्यात्व,

30-37 (चारों गति और चारों गत्यानुपूर्वी), 38-41 (पंचेन्द्रिय को छोड़कर 4 जाति), 42-43 (औदारिक शरीर आङ्गोपाङ्ग), 44-45 (वैक्रियिक शरीर-आङ्गोपाङ्ग), 46-50 (न्यग्रोध, स्वाति कुब्जक, हुंडक वामन संस्थान), 51-55 (संहनन, वज्रर्षभनाराच को छोड़कर), 56-59 (अशुभ वर्णादि 4), 60 उपघात, 61 आतप, 62 उद्योत, 63 अप्रशस्त विहायोगति, 64 साधारण शरीर, 65 स्थावर, 66 दुर्भग, 67 दु:स्वर, 68 अशुभ, 69 सूक्ष्म, 70 अपर्याप्त, 71 अस्थिर, 72 अनादेय, 73 अयश:कीर्ति, 74 उच्चगोत्र, 75. नीचगोत्र।

इस प्रकार ये 75 प्रकृतियों गुण संक्रमण वाली कहलाती है अत: इनका भागहार पल्य का असंख्यातवाँ भाग है परन्तु अध:प्रवृत्त संक्रमण से असंख्यात गुणहीन है। अतएव प्रतिसमय इसके द्वारा ग्रहण किया जाने वाला द्रव्य बहुत अधिक होता है। उपान्त्य काण्डक पर्यन्त विशेष हानि क्रम से ग्रहण करता रहता है। यहां तक उद्वेलना संक्रमण है परन्तु अन्तिम काण्डक की अंतिम फालि पर्यन्त गुणश्रेणी रूप से ग्रहण करता है।

जिन प्रकृतियों का बन्ध हो रहा है उनका गुण संक्रमण नहीं होता, अबन्धरूप प्रकृतियों का होता है। यह स्वजाति में ही होता है

नो कर्मों का गुणश्रेणी निर्जरा नहीं होती।

किन प्रकृतियों में कितने संक्रमण

केवल सर्वसंक्रमण योग्य प्रकृतियाँ (52) – (गो.कर्म.गा. 417)

अन्त के काण्डक की अन्त की फालि (एक समय) के सर्व प्रदेशों से जो अन्य प्रकृति रूप नहीं हुए है उन परमाणुओं का अन्य प्रकृति रूप संक्रमण करना सर्वसंक्रमण है। इसके अन्तर्गत 52 कर्म प्रकृतियाँ आती है-

1-11 (तिर्यगेकादश), 12-24 (उद्वेलन प्रकृतियाँ), 25-49 (सम्यक्त्व, सम्यग्मिथ्यात्व और संज्वलन लोभ छोड़कर) मोहनीय की 25), 50-52 (स्त्यानगृद्धि निद्रा निद्रा प्रचला प्रचला 3 निद्रायें)।

अन्त की फालि में शेष बचे सभी प्रदेशों का अन्य प्रकृति रूप परिणमन करना सर्व संक्रमण है क्योंकि इसका भागहार एक है।

प्रदेशाग्र और भागहार– सर्वसंक्रमण का भागहार एक रूप होता है। गुण संक्रमण का भागहार असंख्यात गुणा है सर्वक्रमण से उद्वेलन संक्रमण में सबसे कम प्रदेश संक्रमण होता है क्योंकि इसका भागहार अंगुल के असंख्यातवें भाग है। विद्यात संक्रमण में असंख्यातगुणा (उद्वेलन से) प्रदेश संकमण है। इसका भी भागहार अंगुल के असंख्यातवें भाग है परन्तु यह उद्वलेन संक्रमण के भागहार में असंख्यातगुणा हीन है।

विद्यात संक्रमण से हीन– अध:प्रवृत्त संक्रमण का भागहार पल्य के असंख्यातवें भाग है। अत: प्रदेशाग्र असंख्यात गुणा है। पल्य के असंख्यात भाग से अंगुल का असंख्यातवां भाग बड़ा है।

संक्रमण से हीन गुण संक्रमण का भागहार है जो पल्य के असंख्यातवें भाग है अत: द्रव्य भी असंख्यात गुणा संक्रमित होता है।

गुण से ज्यादा – सर्वसंक्रमण का भागहार सबसे कम क्योंकि एक अंक प्रमाण है। उससे असंख्यातगुणा गुण संक्रमण उससे असंख्यात गुणा अध: प्रवृत्त उससे असंख्यात गुणा विद्यात और विध्यात से असंख्यात गुणा उद्वेलन का भागहार है। यदि भागहार अधिक है तो संक्रामक द्रव्य कम होता यदि भागहार कम है तो संक्रामक द्रव्य अधिक होगा।

केवल एक अध:प्रवृत्त संक्रमण के योग्य प्रकृतियाँ (39)

सूक्ष्म साम्पराय नामक 10वें गुणस्थान में बन्ध व्युच्छिन्न होने वाली घाति कर्म की 14 प्रकृतियाँ (5 ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण, 5 अन्तराय), साता वेदनीय, संज्वलन लोभ, पंचेन्द्रिय जाति, तैजस शरीर, कार्मणशरीर, समचतुरस्र संस्थान, प्रशस्त वर्णादि 4, अगुरुलघु, परघात, उच्छ्वास, प्रशस्त विहायोगति, त्रसादि 10 (बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यश:कीर्ति, निर्माण।) इनमें उद्वेलन आदि संक्रमण नहीं होता क्योंकि 5 ज्ञानावरण, 4 दर्शनावरण और 5 अन्तराय का मिथ्यादृष्टि से लेकर सूक्ष्म सांपराय नामक 10वें गुणस्थान के अन्तिम समय तक ही इनका बन्ध होता है। बन्ध व्युच्छित्ति के हो जाने से उनका संक्रमण नहीं हेाता क्योंकि प्रतिग्रह (जिनमें विवक्षित प्रकृतियाँ संक्रान्त होती हैं) प्रकृतियों का यहां अभाव है।

शेष साता वेदनीय आदि 24 प्रकृतियों (संज्वलन लोभ छोड़कर) की बन्ध व्युच्छित्ति हो जाने से विद्यात तथा गुण संक्रमण नहीं होता है किन्तु ये प्रशस्त प्रकृतियाँ हैं अत: विद्यात व गुण संक्रमण नहीं होता।

संज्वलन लोभ का अध:प्रवृत्त संक्रमण ही होता है क्योंकि बन्ध के होने पर ही क्रमश: आनुपूर्वी संक्रमण (क्रोध का मान में, मान का माया में, माया का लोभ में) होता है, अन्य नहीं।

सर्व संक्रमण भी इनका नहीं होता क्योंकि अन्य प्रकृतियों में इनका प्रक्षेपण (संक्रमण) करके इनका क्षय नहीं होता। (गो.कर्म.गा. 419-420)

विद्यात और अध:प्रवृत्त इन दो के योग्य प्रकृतियाँ (गो.क. 425)- औदारिक शरीर, औदारिक आङ्गोपाङ्ग, वज्रवर्षभनाराच संहनन, तीर्थङ्कर इन चार प्रकृतियों में विद्यात और अध:प्रवृत्त संक्रमण ये दो संक्रमण होते हैं।

अध:प्रवृत्त और गुण संक्रमण इन दो के योग्य 7 प्रकृतियाँ (गो.क. 421-422)- निद्रा, प्रचला, अशुभ वर्णादि 4 और उपघात ये सात प्रकृतियाँ।

अध:प्रवृत्त और सर्व संक्रमण इन दो के योग्य 4 प्रकृतियाँ- संज्वलन क्रोध, मान, माया तथा पुरुष वेद ये 4 हैं। (गो.कर्म 424)

विद्यात, अध:प्रवृत्त और गुण संक्रमण इन तीन के योग्य 20 प्रकृतियाँ- असाता वेदनीय, अप्रशस्त विहायोगति, 5 संहनन (वज्रर्षभनाराच बिना), 5 संस्थान (प्रथम बिना), नीच गोत्र, अपर्याप्त, अस्थिरादि 6 (अशुभ, दुर्भग, दु:स्वर, अनादेय, अयश:कीर्ति)। (गो.क.गा. 422)

अध:प्रवृत्त, गुण संक्रमण एवं सर्व संक्रमण इन तीन के योग्य 4 प्रकृतियाँ- हास्य, रति, भय और जुगुप्सा ये चार प्रकृतियाँ। (गो.क. 425)

विद्यात, गुण और सर्व संक्रमण इन तीन के योग्य एक प्रकृति- मिथ्यात्व मात्र । (गो.क.गा. 423)

उद्वेलना के बिना चार संक्रमणों के योग्य 30 प्रकृतियाँ (गो.क.गा. 420-421)- स्त्यानगृद्धि, निद्रा निद्रा, प्रचला प्रचला, 12 कषाय (संज्वलन छोड़कर), नपुंसकवेद, स्त्री वेद, अरति शोक और तिर्यगेकादश।

विद्यात के बिना चार संक्रमणों के योग्य एक प्रकृति (गो.क.गा. 423)-सम्यक्त्व मोहनीय मात्र।

पाँचों संक्रमणों के योग्य 12 प्रकृतियाँ (गो.क.गा. 424)- सम्यक्त्व मोहनीय के बिना 12 उद्वेलन प्रकृतियाँ।

आगमोक्त अन्य संक्रमण-

(क) आनुपूर्वी संक्रमण- नियमपूर्वक क्रमश: एक से दूसरी प्रकृति में संक्रमण करना आनुपूर्वी संक्रमण है। जैसे-

(1) स्त्रीवेद और नपुंसक वेद प्रकृति के द्रव्य को पुरुषवेद में ही संक्रमण होना। पश्चात्

(2) पुरुषवेद, हास्यादि छह तथा अप्रत्याख्यान व प्रत्याख्यान क्रोध का संज्वलन क्रोध में संक्रमण करना।

(3) संज्वलन क्रोध, अप्रत्याख्यान व प्रत्याख्यान मान का संज्वलन मान में नियम से संक्रमण करना।

(4) संज्वलन मान, अप्रत्याख्यान माया और प्रत्याख्यान माया का संज्वलन माया में संक्रमण करना।

(5) संज्वलन माया, अप्रत्याख्यान लोभ व प्रत्याख्यान लोभ का संज्वलन लोभ में नियम से संक्रमण होना। (अन्य में नहीं) यह आनुपूर्वी संक्रमण है।

(ख) स्तिबुक संक्रमण– यह संक्रमण उदय काल में होता है। गति, जाति आदि पिण्ड प्रकृतियों में से किसी एक विवक्षित प्रकृति के उदय में आने पर अनुदय प्राप्त शेष प्रकृतियों का उदय विवक्षित प्रकृति में संक्रमण करके उदय में आना। जैसे– एकेन्दिय जीवों के उदय प्राप्त एकेन्द्रिय जाति नाम कर्म में अनुदय प्राप्त द्वीन्द्रिय जाति आदि का संक्रमण होकर उदय में आना। यह स्तिबुक संक्रमण है।

(ग) अर्थ संक्रान्ति– अर्थ परिवर्तन। द्रव्य का पर्याय रूप में परिणमन और पर्याय को छोड़कर द्रव्य को प्राप्त होना।

(घ) व्यञ्जन संक्रान्ति– एक श्रुत वचन का आलम्बन लेकर दूसरे श्रुत वचन का आलम्बन लेना। पुन: अन्य वचन रुप आलम्बन लेना।

(ङ) योग संक्रान्ति– काय योग को छोड़कर दूसरे योग को स्वीकार करना पुन: दूसरे योग को छोड़कर काय योग को स्वीकार करना योग संक्रान्ति है।

दर्शन और चारित्र मोहनीय की प्रकृतियो में संक्रमण व्यवस्था

मिथ्यात्व प्रकृति– मिथ्यात्व दर्शन मोहनीय में तीन संक्रमण पाये जाते हैं–विद्यात, गुण और सर्व संक्रमण। मिथ्यात्व प्रकृति स्वोदयी प्रकृति है तथा मिथ्यात्व के उदय में ही उसका बन्ध होता है। मिथ्यात्व का उदय पहले गुणस्थान में ही होता है। अध:प्रवृत्त संक्रमण बन्ध प्रकृति का ही होता है। अत: उद्वेलना और अध:प्रवृत्त संक्रमण ये दोनों स्वभावत: नहीं पाए जाते।

उपशम सम्यक्त्व होने के काल में जब कुछ समय शेष रह जाता है जब विद्यात संक्रमण (मन्द विशुद्ध परिणामों के कारण) प्रारम्भ हो जाता है। जो अध:करण के अंतिम समय तक होता रहता है। इसके बाद (अध:करण के बाद) अपूर्वकरण गुणस्थान से गुण संक्रमण प्रारम्भ हो जाता है। यह संक्रमण अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त विधि अनुसार होता है। अन्तिम समय में सर्वसंक्रमण होता है। दर्शन मोहनीय के क्षपणा काल में भी उपशमवत् है, परन्तु क्षपणाकाल में एक समय शेष रहने तक गुण संक्रमण होता है, बाद में सर्व संक्रमण होता है।

मिथ्यात्व प्रकृति के तीन खण्ड होते हैं–मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व। अत: उपशम सम्यक्त्व होने के समय में जितना अंश (द्रव्य–कर्म परमाणु) होता है उस अंश में से मिथ्यात्व जितना अंश सम्यक्त्व प्रकृति को देता है उससे असंख्यात गुणा द्रव्य सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति को संक्रमित करता है। प्रथम समय में जितना द्रव्य सम्यग्मिथ्यात्व को दिया था उससे असंख्यात गुण द्रव्य द्वितीय समय में सम्यक्त्वप्रकृति को देता है। उसी समय सम्यक्त्व प्रकृति से (द्वितीय समय में ही) असंख्यात गुणा द्रव्य सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति को संक्रमित करता है। यही क्रम आगे भी अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त चलता है। जैसे– गुण संक्रमण में निकलने वाला द्रव्य पल्य का असंख्यातवां भाग = 10 है

मिथ्यात्व प्रकृति (कल्पित द्रव्य) 1,000 परमाणु हैं तो प्रथम समय में सम्यक्त्व को 10 कर्म परमाणु रुप द्रव्य मिला तो 10X10=100 कर्म परमाणु रूप द्रव्य सम्यग्मिथ्यात्व को मिला।

द्वितीय समय में सम्यक्त्व को 100X10=1,000 परमाणु मिले तथा सम्यग्मिथ्यात्व को 1,000X10=1,0000 परमाणु मिले। यहाँ असंख्यात का मानक 10 लिया गया है।

सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति– इसमें पाँचों संक्रमण पाए जाते हैं। उपशम सम्यक्त्व होने के द्वितीय समय से ही सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के द्रव्य (अंगुल का असंख्यातवें भाग से भाजित एक भाग प्रमाण द्रव्य) में विद्यात संक्रमण द्वारा सम्यक्त्व प्रकृति में संक्रमित हो जाता है। अध:करण के अंतिम समय तक यह क्रम चलता रहता है। यदि वह बीच में वेदक सम्यक्त्व (क्षयोपशम सम्यकत्व) को प्राप्त कर लेता है। तब भी यह क्रम चलता रहता है। इसके बाद अपूर्वकरण से गुण संक्रमण प्रारम्भ हो जाता है और जीव असंख्यात गुण क्रम से संक्रमण (सम्यक्त्व प्रकृति रूप से) करने लगता है।

जो जीव क्षपणा देशव्रती, अव्रती, महाव्रती प्रारम्भ करते हैं वे तीन करणों (अध:करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण) में से प्रथम अध:करण के अन्तिम समय तक विद्यात संक्रमण पश्चात् द्वितीय अपूर्वकरण के प्रथम समय से लेकर अन्तिम स्थिति काण्डक घात की द्विचरम फालि तक गुण संक्रमण पश्चात् अन्तिम फालि में सर्व संक्रमण करता है। उपशम सम्यग्दृष्टि मिथ्यात्व में जाकर अध:प्रवृत्त के बाद उद्वेलना पश्चात् अन्तिम स्थिति काण्डक में द्विचरम फालि तक गुण संक्रमण उसके पश्चात् चरम फालि में सर्व संक्रमण करता है।

जब जीव (उपशम या वेदक सम्यग्दृष्टि) सम्यक्त्व से च्युत होकर मिथ्यात्व को प्राप्त कर लेता है उस समय सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति का अध:प्रवृत्त संक्रमण करता है। इसका भागहार पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण लेना। यह अन्तर्मुहूर्त तक चलता है। शेष कार्य पूर्ववत् जानना।

अध: प्रवृत्त संक्रमण के बाद अंगुल के असंख्यातवें भागहार वाला उद्वेलना संक्रमण प्रारम्भ करता है जो पल्य के असंख्यातवें भाग तक होता है। पश्चात् अंतिम मुहूर्त में पूर्ववत् गुण और सर्वसंक्रमण होता है। सर्व संक्रमण का भागहार एक है।

सम्यक्त्व प्रकृति– इसमें विद्यात को छोड़कर शेष चारों संक्रमण पाए जाते हैं। सम्यक्त्व का उदय अध:करण के अन्त तक पाया जाता है अत: इसमें विद्यात संक्रमण नहीं पाया जाता। अपूर्वकरण में भी सम्यक्त्व का उदय रहने से वहाँ गुण संक्रमण नहीं होता। शेष संक्रमण सम्यग्मिथ्यात्व की तरह जानना। सम्यक्त्व प्रकृति का स्वमुख से ही क्षय होता है, परमुख से नहीं।

विशेष– वेदक सम्यग्दृष्टि जीव के उदयावली में तीनों (मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व) प्रकृतियाँ उपस्थित रहती हैं तथा तीनों का उदय भी चल रहा होता है किन्तु परिणामों के निमित्त से (तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के निमित्त से) तीनों सम्यक्त्व रूप से उदय में आकर (स्तिथबुक संक्रमण से) फल देती हैं।

चारित्र मोहनीय

अनन्तानुबंधी (कषाय चतुष्क)– उद्वेलना को छोड़कर शेष चार संक्रमण होते हैं। प्रथम और द्वितीय गुणस्थान में अनन्तानुबंधी कषायों का बन्ध पाया जाने के कारण वहाँ अध:प्रवृत्त संक्रमण होता है। तीसरे गुणस्थान (मिश्र) से लेकर सप्तम अप्रमत्त गुणस्थान तक विद्यात संक्रमण पाया जाता है क्योंकि इन गुणस्थानों में अनन्तानुबंधी कषायों का बन्ध नहीं होता ऐसा जीव उपशम सम्यग्दृष्टि या वेदक सम्यग्दृष्टि होता है, यदि उन दोनों में अनन्तानुबंधी की विसंयोजना (अनंतानुबंधी कषायों को अप्रत्याख्यानावरण रूप संक्रमण होता) नहीं की हो तो उनकी सत्ता में चारित्र मोहनीय की सभी 28 प्रकृतियाँ रहती है। अत: जब उपशम सम्यग्दृष्टि या वेदक सम्यग्दृष्टि अनन्तानुबंधी कषायों की विसंयोजना करने के लिये तीन करण करता है तो अध:करण के अन्तिम समय तक विद्यात संक्रमण करता है तथा अपूर्वकरण के प्रथम समय से लेकर अन्तिम स्थिति काण्डक की द्विचरम फालि तक गुण संक्रमण करता है पश्चात् अंतिम फालि में सर्वसंक्रमण होता है पूर्ववत्। विसंयोजना कर देने पर वह उनकी (अनंतानुबंधी कषाय चतुष्क की) सत्ता से रहित हो जाता है।

अनन्तानुबंधी का अन्तरकरण नहीं होता क्योंकि उसका उदय निरन्तर चल रहा है परन्तु वह उदय मिथ्यात्व के अभाव में विशुद्ध परिणामों वाला होता है। अत: अनंतानुबंधी कषाय का स्वमुख से उदय नहीं होता किन्तु स्तिबुक संक्रमण के द्वारा परमुख से (पर प्रकृति रूप होकर) होता है। यदि वह उपशम सम्यग्दृष्टि अव्रती है तो अप्रत्याख्यानावरण रुप से, यदि देशव्रती है तो प्रत्याख्यानावरण रूप से और यदि महाव्रती है तो संज्वलनकषाय रुप से उदय में आकर अपना फल देती है। यह स्तिबुक संकमण क्रमश: होता है परिणामों के अनुसार क्योंकि अप्रत्याख्यानावरण प्रकृतियाँ भी स्वमुख से नष्ट नहीं होती हैं। इसे ही आगे बतलाते हैं–

अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क में भी उद्वेलना संक्रमण छोड़कर शेष चार संक्रमण होते है। मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर चतुर्थ असंयत गुणस्थान तक अध:प्रवृत्त संक्रमण होता है क्योंकि वहाँ तक अप्रत्याख्यानावरण कषाय का बन्ध पाया जाता है। पश्चात् पूर्ववत् अप्रमत्त गुणस्थान के अन्तिम समय तक विद्यात संक्रमण पश्चात् क्रमश: गुण संक्रमण और सर्व संक्रमण होते है। प्रत्याख्यानावरण कषाय में अध:प्रवृत्त संक्रमण पंचम गुणस्थान तक पाया जाता है, शेष पूर्ववत्। उदयावली में स्तिबुक संक्रमण जानना। यह परमुख से क्षय होने पर होता है।

संज्वलन क्रोध, मान और माया में दो संक्रमण (अध:प्रवृत्त और सर्व) पाए जाते हैं तथा संज्वलन लोभ में केवल एक अध:प्रवृत्त संक्रमण पाया जाता है। यहाँ यह जानना आवश्यक है कि अध:प्रवृत्त संक्रमण मिथ्यात्व से अनिवृत्तिकरण गुणस्थान तक पाया जाता है क्योंकि यहाँ तक ही इन कषायों का बन्ध पाया जाता है। इसके बाद इनका संक्रमण नहीं होता अपितु स्वमुख से क्षय होता है। जहाँ बन्ध व्युच्छित्ति होती है, वहाँ पर नवक समय प्रवद्ध को छोड़कर समस्त संचित कर्मद्रव्य एक साथ पर प्रकृति रूप संक्रमण कर जाता है। अर्थात् जब क्रोध का उदय होता है तो शेष मान, माया और लोभ का द्रव्य संक्रमण करके क्रोध रूप हो जाता है। इसी तरह जब मान का उदय होता है तो क्रोधादि का द्रव्य मानरूप संक्रमित हो जाता है। यह संक्रमण विधि–चारों प्रकार की कषायों में लगा लेना चाहिए और यह संक्रमण स्तिबुक संक्रमण से होता है। इसमें संज्वलन लोभ कषाय का संक्रमण (अध:प्रवृत्त को छोड़कर) नहीं होता। क्योंकि इसका स्वमुख से क्षय होता है। संज्वलन लोभ का बन्ध नवम् अनिवृत्तिकरण गुणस्थान तक ही पाया जाता है।

यहाँ इतना विशेष है कि क्रोधादि कषायों के क्षय के समय 'आनुपूर्वी' संक्रमण होता है–क्रोध का मान में, मान का माया में और माया का लोभ कषाय में यह आनुपूर्वी संक्रमण होता है। स्तिबुक संक्रमण उदयावली में उदय के समय होता है।

नौ नोकषायों में संक्रमण–

(क) हास्य, रति, भय और जुगुप्सा इन चार नोकषायों में अध:प्रवृत्त, गुण और सर्व ये तीन संक्रमण पाए जाते हैं। इन चारों कषायों का बन्ध अपूर्वकरण के षष्ठ भाग तक पाया जाता है इसके बाद बन्ध व्युच्छित्ति हो जाती है। अत: पूर्ववत् अपूर्वकरण के छठे भाग तक अध:प्रवृत्त संक्रमण होता है, बाद में क्रमश: गुण और सर्व संक्रमण होते हैं। यथास्थान स्तिबुक संक्रमण भी होता है।

(ख) अरति और शोक नोकषायों में उद्वेलना को छोड़कर चार संक्रमण होते हैं। मिथ्यात्व से प्रमत्त गुणस्थान तक इन दोनों नोकषायों का बन्ध होने से वहाँ तक अध:प्रवृत्त संक्रमण होगा। पश्चात् अप्रमत्त गुणस्थान में इनका बन्धाभाव होने से वहाँ विध्यात संक्रमण होता है। अपूर्वकरण के प्रथम समय से लेकर (अनिवृत्तिकरण तक) आगे क्रमश: पूर्ववत् गुण और सर्व संक्रमण होते है तथा स्तिबुक संक्रमण भी यथावसर होता है।

(ग) नपुंसक वेद उद्वेलना के बिना चार संक्रमण होते हैं। प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान में अध:प्रवृत्त संक्रमण होता है क्योंकि यहाँ इसका बन्ध होता है। द्वितीय सासादन गुणस्थान से अप्रमत्त गुणस्थान तक मन्द विशुद्धि से विद्यात संक्रमण पश्चात्

अपूर्वकरण के प्रथम समय से अन्त तक पूर्ववत् क्रमश: गुण और सर्व संक्रमण होते हैं। यथावसर स्तिबुक संक्रमण भी उदयावली में होता है किञ्च, नपुंसक वेद का द्रव्य **स्त्रीवेद** या **पुरुषवेद** में संक्रमित होता रहता है।

(घ) पुरुषवेद नोकषाय में दो संक्रमण होते हैं- अध:प्रवृत्त और सर्व। पुरुषवेद का बन्ध नौवें अनिवृत्तिकरण गुणस्थान तक होता है। इसकी बन्ध व्युच्छित्ति एवं उदय व्युच्छित्ति दोनों एक साथ होती हैं। अत: अंतिम फालि का सर्व संक्रमण क्रोध कषाय में हो जाता है। क्योंकि इसका क्षय स्वमुख से न होकर परमुख से होता है उदयावली में स्तिबुक संक्रमण भी होता है। प्रथम गुणस्थान से नवम अनिवृत्तिकरण गुणस्थान तक (एक फालि पूर्व तक) अध:प्रवृत्त संक्रमण होता है पश्चात् सर्व संक्रमण।

स्थिति और अनुभाग बन्ध– सूक्ष्म सांपराय नामक 10वें गुणस्थान तक है क्योंकि स्थिति और अनुभाग का कारण कषायें हैं जो इसके बाद नहीं है।

उपसंहार– कर्म बन्ध के समय पुद्गल कर्म वर्गणायें आठ प्रकृति (स्वभाव) रूप में परिणमित हो जाती हैं। आयु कर्म को छोड़कर शेष ज्ञानावरणादि कर्म प्रकृतियाँ प्रतिसमय जीव के साथ बन्ध को प्राप्त होती रहती हैं। बन्ध होने के बाद चार रूपों में संक्रमित (विभक्त) हो जाती हैं- प्रकृति बन्ध, प्रदेश बन्ध, स्थिति बन्ध और अनुभाग बन्ध। जो प्रकृति-बन्धादि चार रूपों में आत्मा के साथ बन्ध को प्राप्त हुई थी, उनका अन्य रूप में परिणमित हो जाना संक्रमण है। यह संक्रमण चार रूपों में होता है- 1. प्रकृति संक्रमण, 2. प्रदेश संक्रमण, 3. स्थिति संक्रमण और 4. अनुभाग संक्रमण।

पूर्व बन्ध कर्म प्रकृति का अन्य प्रकृति रूप में परिणमन हो जाना ही संक्रमण है। जैसे असाता वेदनीय का साता वेदनीय के रूप में उदय होना। यह संक्रमण कर्म प्रदेशों (द्रव्य संख्या) में, उनके स्वभाव में, उनकी बन्ध स्थिति काल में तथा उनके फल प्रदान करने की शक्ति रूप भी देखा जाता है।

कर्म बँधने पर उनकी दश अवस्थायें (करण) होती है- बन्ध, सत्त्व, उदय, उदीरणा, अपकर्षण, उत्कर्षण, संक्रमण, उपशम, निधत्ति और निकाचित। इनमें से यहाँ संक्रमण का विचार किया गया है। इसके पाँच प्रकार प्रमुख हैं- 1. उद्वेलना, 2. विद्यात, 3. अध:प्रवृत्त, 4. गुण और 5. सर्व संक्रमण।

(1) उद्वेलना संक्रमण– 13 प्रकृतियों में पाया जाता है। यह संक्रमण अध:करणादि के बिना होता है। जैसे सम्यक्त्व से मिथ्यात्व में जाना। यह रस्सी को उधेड़ने के समान है। यह काण्डक (समूह) रूप में होता है, उपान्त्य काण्डक तक पश्चात् गुण संक्रमण होता है। उद्वेलना का भागहार अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण है जिससे इसमें सबसे कम द्रव्य संक्रमित होता है।

(2) विध्यात संक्रमण– इसमें मन्द विशुद्ध परिणामों से स्थिति और अनुभाग में कमी देखी जाती है। बन्ध की व्युच्छित्ति के पूर्व तक होने से 7 गुणस्थानों में होता है। यह उद्वेलना के विपरीत कार्य वाला है। इसका भी भागहार अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण (उद्वेलना से कम) है तथा संक्रमित द्रव्य राशि उद्वेलना से अधिक है। यह 67 प्रकृतियों में होता है। इसके बाद गुण संक्रमण होता है।

(3) अध:प्रवृत्त संक्रमण– यह मिथ्यात्व रहित 121 प्रकृतियों में होता है। यह जहाँ तक बन्ध होता है वहाँ तक होता है, बन्ध व्युच्छित्ति के बाद नहीं। यह फालि (एक समय) रूप होता है। इसका भागहार पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण है अत: इसका संक्रमित द्रव्य विध्यात से असंख्यातगुणा है। यह संक्रमण मिथ्यात्व प्रकृति में नहीं होता।

(4) गुण संक्रमण– यह गुण श्रेणी रूप में होता है। गुण संक्रमण की 75 प्रकृतियाँ है। जिन प्रकृतियों का बन्ध हो रहा होता है उनका उस समय गुण संक्रमण नहीं होता। इसका भागहार पल्य का असंख्यातवां भाग प्रमाण है। अत: इसका द्रव्य संक्रमण अध:प्रवृत्त से ज्यादा है 8-11 गुणस्थान तक।

(5) सर्व संक्रमण– इसका भागहार एक अंक प्रमाण है। संक्रमित द्रव्य सर्वाधिक। यह 52 प्रकृतियों में होता है। अंतिम काण्डक की अंतिम फालि में होता है। इसमें शेष बचे समस्त द्रव्य का संक्रमण हो जाता है। 9वें गुणस्थान में होता है आनुपूर्वी और स्तिबुक (उदयकाल में) संक्रमण भी यथावसर होते हैं।

10 करण व्यवस्था (कर्म अवस्था) कर्म प्रकृतियों का गुणस्थानानुसार (गो.कर्म.गा. 441–450)

10 करण– 1. बन्ध, 2. उत्कर्षण, 3. अपकर्षण, 4. संक्रमण, 5. उदीरणा, 6. सत्त्व, 7. उदय, 8. उपशम, 9 निधत्ति, 10. निकाचित।

1. सभी कर्म प्रकृतियों में 10 करण सामान्य रूप से पाए जाते हैं। परन्तु नरकायु आदि चारों आयु कर्मों में संक्रमण के बिना शेष 9 करण पाए जाते हैं।
2. देवायु का अपकर्षण करण उपशान्त कषाय नामक 11वें गुणस्थान तक पाया जाता है।
3. नरकायु असंयत नामक चतुर्थ गुणस्थान तक तथा तिर्यञ्चायु के पंचम गुणस्थान तक 3 करण (उदय, सत्त्व और उदीरणा) पाए जाते हैं।
4. प्रथम गुणस्थान से 7वें अप्रमत्त गुणस्थान तक 10 करण होते हैं।
5. 9वें तथा 10वें गुणस्थान में आदि के 7 करण होते हैं।
6. 12वें गुणस्थान से 13वें सयोग केवली तक 6 करण हैं। (संक्रमण, उपशम, निधत्ति और निकाचित छोड़कर)।
7. अयोग केवली नामक 14वें गुणस्थान में दो करण (सत्त्व और उदय) होते हैं।
8. उपशान्त कषाय नामक 11वें गुणस्थान में मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व दर्शन मोहनीय का सम्यक्त्व मोहनीय में संक्रमण होने से यहाँ 11वें गुणस्थान में इस अपेक्षा का अन्यथा 6 करण है।
9. बंध और उत्कर्षण करण ये दोनों अपनी–अपनी प्रकृतियों की बन्ध व्युच्छित्ति पर्यन्त होते हैं।
10. स्वजातीय उत्तर प्रकृतियों के बंध व्युच्छित्ति के पूर्व तक संक्रमण करण भी होता है।
11. अयोगी को 85 सत्त्व प्रकृतियों का 13वें सयोग केवली के अन्त समय तक अपकर्षण करण होता है।
12. क्षीण कषाय नामक 12वें गुणस्थान में सत्त्व से व्युच्छित्त 16 प्रकृतियाँ (ज्ञानावरण की 5, अन्तराय की 5, दर्शनावरण की 4 तथा निद्रा और प्रचला ये दो निद्रायें) तथा सूक्ष्म साम्पराय नामक 10वें गुणस्थान में सत्त्व से व्युच्छित्त सूक्ष्मलोभ इन 17 प्रकृतियों (स्वमुखोदयी प्रकृतियों) का क्षय होने के पूर्व तक अपकर्षण करण पाया जाता है। इन स्वमुखोदयी 17 प्रकृतियों का एक समय अधिक एक आवली प्रमाण काल शेष रहने पर क्षय होता है तथा एक आवली प्रमाण काल शेष रहने पर अपकर्षण करण होता है।
13. क्षपक श्रेणी में मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व तथा सम्यक्त्व मोहनीय प्रकृति ये 3 तथा नौवे अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में क्षय होने वाली 16 प्रकृतियों के (अन्तकाण्डक की अंतिम फालि पर्यन्त) अपकर्षण करण होता है। वे 16 प्रकृतियाँ हैं– नरकद्विक, तिर्यञ्चद्विक, एकेन्द्रियादि 4 जाति, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण, आतप, उद्योत तथा स्त्यानगृद्धि आदि तीन निद्रा।
14. क्षपक अवस्था में नौवें अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में ही क्षय होने वाली शेष 20 प्रकृतियों का भी अपने–अपने क्षयदेश पर्यन्त अपकर्षण करण होता है। ये बीस प्रकृतियाँ हैं– 4 अप्रत्याख्यानावरण कषाय, 4 प्रत्याख्यानावरण कषाय, 9 नोकषाय तथा 3 संज्वलन क्रोध, मान, माया।

15. उपशम श्रेणी में मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व दर्शन मोहनीय ये तीन तथा नरकद्विक आदि 16 प्रकृतियों का उपशान्त कषाय नामक 11वें गुणस्थान तक अपकर्षण करण है। शेष 8 कषायादिक 20 प्रकृतियों का अपने-अपने उपशम स्थान पर्यन्त अपकर्षण करण है।
16. अनन्तानुबन्धी चार कषायों का जहाँ विसंयोजन हो (अप्रत्याख्यानावरण कषाय में) वहाँ तक अपकर्षण करण होता है। यह विसंयोजन 4-7 गुणस्थानों में यथा स्थिति संभव है।
17. नरकायु का चौथे असंयत गुणस्थान पर्यन्त तथा तिर्यञ्चायु का पंचम गुणस्थान पर्यन्त अपकर्षण, उदीरणा, सत्त्व और उदय करण होते हैं।
18. मिथ्यात्व प्रकृति का उदीरणा करण मिथ्यात्व नामक प्रथम गुणस्थान में उपशम सम्यक्त्व के सम्मुख जीव के एक समय अधिक आवली प्रमाण काल शेष रहने पर होता है। क्योंकि इसका उदय इतने काल तक ही है।
19. सूक्ष्म लोभ कषाय का 10वें सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान में ही एक समय अधिक आवली काल प्रमाण शेष रहने से उदीरणा करण होता है क्योंकि उदयावली शेष रह जाने पर उदीरणा संभव नहीं है। अर्थात् 10वें गुणस्थान के आगे अथवा अन्यत्र उसका (मिथ्यात्व प्रकृति का) उदय ही नहीं है।
20. उपशांत करण, निधत्तिकरण तथा निकाचित करण ये तीनों करण 8वें अपूर्वकरण गुणस्थान तक ही पाये जाते हैं। इसके आगे नहीं क्योंकि ये तीनों एक साथ 9वें गुणस्थान में व्युच्छिन्न हो जाते हैं। (सव्वेसिं कम्माणमणियट्ठि गुणट्ठाण पवेसपढमसमये चेव, एदाणि तिण्णि वि करणाणि अक्कमेण वोच्छिण्णाणित्तिभणिदं होइ-जयवला पु. 13, पृ. 231) उपशान्तकरण उदयावली को प्राप्त नहीं होता। निधत्ति, उदय और संक्रमण के अयोग्य है निधत्ति करण द्रव्य। उदय, संक्रमण, उत्कर्षण, अपकर्षण के अयोग्य निकाचित्त करण द्रव्य है।

एक या अधिक संक्रमण योग्य प्रकृतियाँ-

1. केवल अध:प्रवृत्त संक्रमण के योग्य प्रकृतियाँ-39
2. विद्यात और अध:प्रवृत्त इन दो के योगय प्रकृतियाँ-4
3. अध:प्रवृत्त और गुण इन दो के योग्य प्रकृतियाँ-7
4. अध:प्रवृत्त और सर्व इन दो के योग्य प्रकृतियाँ-4
5. विद्यात, अध:प्रवृत्त और गुण इन तीन के योग्य प्रकृतियाँ-20
6. अध:प्रवृत्त, गुण और सर्व इन तीन के योग्य-4
7. विद्यात, गुण और सर्व इन तीन के योग्य प्रकृति (मिथ्यात्व) - 1
8. उद्वेलना के बिना शेष चार संक्रमणों के योग्य प्रकृतियाँ-30
9. विद्यात के बिना शेष चार संक्रमणों के योग्य प्रकृतियाँ (सम्यक्त्व मोहनीय) -1
10. पाँचों संक्रमणों के योग्य प्रकृतियाँ - 12
    (सम्यक्त्व मोहनीय के बिना उद्वेलना की 12 प्रकृतियाँ)

संदर्भित ग्रंथ-

1. गोम्मटसार कर्मकाण्ड
2. धवला जी पुस्तक नं. 15
3. कषाय पाहुड़-7, 8, 13 आदि
4. लब्धिसार

संक्रमण बोधक तालिका

	उदवेलना	विध्यात	अध:प्रवृत्त	गुण संक्रमण	सर्व संक्रमण
ज्ञानावरणादि	x	x	✔	x	x
दर्शनावरणादि	x	x	✔	x	x
स्त्यानगृद्धि आदि निद्रा		✔	✔	✔	✔
निद्रा, प्रचला			✔	✔	
साता वेदनीय			✔		
असाता वेदनीय		✔	✔	✔	
अनन्तानुबंधी 4		✔	✔	✔	✔
अप्रत्याख्यानावरणीय 4		✔	✔	✔	✔
प्रत्याख्यानावरणीय 4		✔	✔	✔	✔
संज्वलन कोधादि 3			✔		✔
संज्वलन लोभ 1			✔		
नो कषाय 4			✔	✔	✔
अरति शोक 2		✔	✔	✔	✔
नपुंसक वेद 1		✔	✔	✔	✔
स्त्री वेद 1		✔	✔	✔	✔
पुरुष वेद			✔		✔
मिथ्यात्व 1		✔	x	✔	✔
सम्यग्मिथ्यात्व 1	✔	✔	✔	✔	✔
सम्यक्त्व 1	✔		✔	✔	✔
नरक गति नरक गत्यानुपूर्वी 2	✔	✔	✔	✔	✔
तिर्यञ्चगति, ति. गत्यानुपूर्वी 2		✔	✔	✔	✔
मनुष्यगति, मनुगत्यानुपूर्वी 2	✔	✔	✔	✔	✔
देवगति, देवगत्यानुपूर्वी 2	✔	✔	✔	✔	✔
एकेन्द्रिय जाति 1		✔	✔	✔	✔
विकलत्रय 3		✔	✔	✔	✔
पंचेन्द्रिय 1			✔		
औदारिक द्विक 2		✔	✔		
वैक्रियिक द्विक 2	✔	✔	✔	✔	✔
आहारक द्विक 2	✔	✔	✔	✔	✔
तैजस, कार्मण 2			✔		

	उदवेलना	विध्यात	अध:प्रवृत्त	गुण संक्रमण	सर्व संक्रमण
निर्माण 1			✔		
समचतुरस्र संस्थान 1			✔		
न्यग्रोध परिमंडल संस्थान 1		✔	✔	✔	
स्वाति संस्थान 1		✔	✔	✔	
कुब्जक संस्थान 1		✔	✔	✔	
हुंडक संस्थान 1		✔	✔	✔	
वामन संस्थान 1		✔	✔	✔	
वज्रर्षभ नाराच संहनन 1		✔	✔		
वज्रनाराच संहनन 1		✔	✔	✔	
असंप्राप्त सृपाटिका 1		✔	✔	✔	
शुभवर्णादि 4			✔		
अभुभवर्णादि 4			✔	✔	
अगुरुलघु 1			✔		
उपघात 1			✔	✔	
परघात 1			✔		
उच्छ्वास 1			✔		
आतप 1		✔	✔	✔	✔
उद्योत 1		✔	✔	✔	✔
प्रशस्त विहायोगति 1			✔		
अप्रशस्त विहायोगति 1		✔	✔	✔	
प्रत्येक शरीर 1			✔		
त्रस 1			✔		
सुभग 1			✔		
सुस्वर 1			✔		
शुभ 1			✔		
बादर 1			✔		
पर्याप्त 1			✔		
स्थिर 1			✔		
आदेय 1			✔		
यशस्कीर्ति 1			✔		
साधारण शरीर 1		✔	✔	✔	✔

	उदवेलना	विध्यात	अध:प्रवृत्त	गुण संक्रमण	सर्व संक्रमण
स्थावर शरीर 1		✔	✔	✔	✔
दुर्भग 1		✔	✔	✔	
दु:स्वर 1		✔	✔	✔	
अशुभ 1		✔	✔	✔	
सूक्ष्म 1		✔	✔	✔	
अपर्याप्त 1		✔	✔	✔	
अस्थिर 1		✔	✔	✔	
अनादेय 1		✔	✔	✔	
अयश:कीर्ति 1		✔	✔	✔	
तीर्थङ्कर 1		✔	✔		
उच्च गोत्र 1	✔	✔	✔	✔	✔
नीच गोत्र		✔	✔	✔	
अन्तराय 5			✔		
	13	67	121	75	52

अनंतानुबंधी की विसंयोजना

पं. राजकुमार जैन शास्त्री
जैन दर्शनाचार्य
54 शान्ति रेसीडेन्सी मकरोनिया, सागर (म.प्र.)

वर्तमान काल में ऐसा प्रतीत होता है कि स्वाध्याय प्रेमियों में करणानुयोग एक प्रिय विषय बनता जा रहा है बड़ा रुचिकर एवं खोज बीन का विषय है वर्तमान समय में मुनि, आर्यिका, श्रावक एवं श्राविकाओं के दिन प्रति करणानुयोग के स्वाध्याय के प्रति गहरी रुचि परिलक्षित हो रही है। करणानुयोग का अध्ययन पूर्ण रूप आपके मनो मस्तिष्क की कसरत करता है। जीव को अपनी अंतरंग स्थिति का बोध होता है।

कहीं पढ़ा था कि करणानुयोग सब्जी तोलने का नहीं बल्कि सोना तोलने का बारीक काटा है आचार्य समन्तभद्र स्वामी जी ने प्रसिद्ध रत्नकरण्ड श्रावकाचार में करणानुयोग कुछ इस प्रकार परिभाषित किया है।

लोकालोक विभक्ते युग परिवृत्ते चतुर्गतिनांच।
आदर्शमिव तथामति रवैति करणानुयोगं च।।

अर्थात् जिस अनुयोग में लोक अलोक के विभाजन, युग के परिवर्तन का और चतुर्गति का एवं च शब्द से जीवों के परिणामों का गुणस्थान मार्गणास्थान का कर्म सिद्धान्त का सांगोपांग वर्णन किया जाता है वह करणानुयोग है। करणानुयोग के ग्रन्थ त्रिलोकसागर तिलोय पण्णत्ति, जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड, लब्धिसार, क्षपणासार एवं षट्खण्डागम, धवला, महाधवला, कषायपाहुड़ आदि अनेकों ग्रन्थ हैं जिसे पढ़कर लखकर ज्ञान का भण्डार प्रगाढ़ होता है।

अनंतानुबंधी चारित्र मोहनीय कर्म की प्रकृति है जिसका उदय प्रथम एवं द्वितीय गुणस्थान में पाया जाता है इसके अलावा नहीं पाया जाता है लेकिन जब कोई जीव संयोजना करता है उस समय सत्ता में जो द्रव्य संयोजित होता है वह उदयावली में आते समय एक आवली एक समय में आता है तब तक मिथ्यात्व गुणस्थान में अनंतानुबंधी का उदय नहीं होता। 148 कर्म प्रकृतियों में सिर्फ अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ की ही विसंयोजना होती हैं। अन्य किसी भी कर्म की नहीं। क्षयोपशम सम्यक्दृष्टि ही अनंतानुबंधी की विसंयोजना करता है और यदि द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अनुकूलता बनती है तो ऐसा क्षयोपशम सम्यक्दृष्टि जीव क्षायिक सम्यक्दर्शन प्राप्त कर लेता है। क्षायिक सम्यक्दर्शन जब भी होगा क्षयोपशम सम्यक्दर्शन पूर्वक ही होगा। जिसकी प्रक्रिया आचार्य नेमीचन्द्र सिद्धान्त चक्रवती जी ने लब्धिसार ग्रन्थ की गाथा 110, 111 में उल्लेख किया है–

दंसण मोहक्खवणापट्ठग्गो कम्मभूमिओ मणुसो।
तित्थयर पायमूले केवलि सुद् केवली मूले।।110।।
णिट्ठवत्रो तट्ठाणे विमाणाहाभोगावणीसु धम्मे य।
किहकरणिज्जो चदुसु वि गदीसु उप्पज्जदे जम्हा।।111।।

गाथार्थ–कर्मभूमि का मनुष्य ही केवली श्रुत केवली, तीर्थंकर केवली किसी भी के पादमूल में दर्शन मोहनीय की क्षपणा का प्रस्थापक कहा है किन्तु बद्धायुष्क जीव प्रस्थापक होने के बाद निष्ठापक चारों गति के अनुसार सम्भव है। प्रक्रिया यही है कि सर्वप्रथम वह साधक 4 से 7 वें गुणस्थान तक कहीं भी तीनकरणों पूर्वक अनंतानुबंधी की विसंयोजना करता है अर्थात् अनंतानुबंधी चतुष्क का जो द्रव्य है उसे वह चारित्र मोहनीय की शेष 12 कषाय रूप कर देता है। विशेषता इतनी है कि जो कषाय सत्तास्थित है उनकी विसंयोजना सत्ता स्थित सभी 21 प्रकृतियों में करता है एवं जो प्रकृतियाँ उदयावली में हैं उनका उदय में आने के एक समय पूर्व स्तिबुक संक्रमण के माध्यम से जिनका उदय चल रहा है उन कषायों में परिवर्तित परमुख उदय होकर उदय में आकर अपना फल देती है। इसमें भी विषेषता और बनती है वह यह कि 6–7 वे गुणस्थानों में एक भी सर्वघाति चारित्र मोहनीय

की प्रकृतियों का उदय नहीं है अत: उदयावली में आया द्रव्य स्तिबुक संक्रमण के माध्यम से देशघाति संज्वलन एवं यथायोग्य नव नो कषायों में परिवर्तित होकर परमुख उदय में आकर फल देकर निर्जरित होती है।

इस प्रकार अनंतानुबंधी की विसंयोजना के उपरान्त दर्शन मोहनीय की मिथ्यात्व प्रकृति के द्रव्य को (कर्म) को सम्यक् मिथ्यात्व रुप एवं सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति का द्रव्य सम्यक्त्व प्रकृति रुप करके स्वमुख से उदय में आकर निर्जरित होती है और वह जीव क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त करता है ऐसा जीव यदि तिर्यंच या मनुष्य आयु का बंध मिथ्यात्व अवस्था में प्राप्त करके पश्चात् क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करता है तो वह जीव भोगभूमि में जाने की अपेक्षा अधिकतम चौथे भव में मोक्ष प्राप्त करता है एवं नरकायु या देवायु के बंधक तीसरे भव में मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं और यदि आयुकर्म का बंध नहीं किया है तो क्षपक श्रेणी पर आरोहण करके उसी भव से मोक्ष भी जा सकता है। इसमें कृत कृत्यवेदक की आगम में बात आती है जो विषय सुगम है उसका उल्लेख यहां मैं नहीं कर रहा हूँ। इस सम्बन्ध में भी लब्धिसार ग्रन्थ राज की गाथा क्रमांक 112 का उल्लेख करना प्रासंगिक है–

पुव्वं तियरणविहिणा अणं खु अणियट्टिकरण चरिमम्हि।
उदयावलिवाहिरगं ठिदिं विसंजोजदे णियमा।।112।।

अब यहाँ अनंतानुबंधी की विसंयोजना का उत्कृष्ट एवं जघन्य काल की स्थिति का कथन गाथा क्रमांक 117 के माध्यम से स्पष्ट करते हैं–

अंतोमुहुत्त कालं विस्समिय पुणो वि तिकरणं करिय।
अणियट्टीए मिच्छं मिस्सं सम्मं कमेण णासेइ।।117।।

अर्थात् दर्शन मोहनीय की क्षपणा करने वाले जीवों की सत्त्व स्थिति सदृशता और विसदृशता किस प्रकार सम्भव है इसका चूर्णी सूत्रों के आधार से जयधवला भाग 13 पृष्ठ 25 से 30 तक विशेषरुप से खुलासा किया है यथा–

यह स्पष्ट है कि वेदक सम्यक्दृष्टि जीव अनंतानुबंधी कषाय की विसंयोजना करता है इस अपेक्षा से वेदक सम्यक्त्व का उत्कृष्ट काल 66 सागर है तदनुसार प्रथम समय से लेकर अपूर्वकरण के 66 सागर तक वह जीव वेदक सम्यक्त्व के साथ रहा तथा पश्चात् अन्तर्मुहूर्त के लिए मिश्रगुणस्थान में गया पश्चात् 66 सागर के लिए पुन: वेदक सम्यग्दृष्टि हो गया। इस प्रकार यह जीव 132 सागर तक अनंतानुबंधी की विसंयोजना के साथ उत्कृष्ट रूप से रह सकता है क्योंकि जिसने वेदक सम्यक्त्व के साथ अनंतानुबंधी की विसंयोजना की है उसके मिश्र गुणस्थान में आने पर भी उसकी संयोजना नहीं होती उसकी संयोजना प्रथम गुणस्थान में ही होती है। इसके पश्चात् या तो यह जीव दर्शन मोह की 3 प्रकृतियों की क्षपणा कर क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करेगा अथवा मिथ्यात्व प्रकृति का उदय आने पर प्रथम गुणस्थान में आ गिरेगा।

दूसरा जीव अपूर्वकरण के प्रथम से ही दर्शनमोहनीय की क्षपणा कर क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त कर लेता है इस प्रकार प्रथम समय में विसदृशता कही जाती है एवं सदृशता पाई जाती है।

एक भंग ऐसा भी बनता है एक जीव अन्तर्मुहूर्त पहले उपशम श्रेणी पर चढ़ा और दूसरा जीव अन्तरमुर्हूत बाद उपशम श्रेणी पर चढ़ा अनन्तर उन दोनों ने एक साथ दर्शन मोहनीय की क्षपणा की तो इस प्रकार भी अपूर्वकरण के प्रथम समय में उन दोनों के स्थिति सत्कर्म में विषमता बन जाने से स्थितिकाण्डक आयाम में भी विसदृशता बन जाती है क्योंकि प्रकृत में प्रथम जीव के स्थिति सत्कर्म से दूसरे जीव की स्थिति सत्कर्म अन्तर्मुहूर्त निषेक प्रमाण अधिक देखा जाता है।

तीसरा भंग इस प्रकार है एक जीव कषायों का उपशम करने के बाद उतरकर दर्शन मोहनीय की क्षपणा करता है और दूसरा जीव उपशम श्रेणी पर आरोहण न कर दर्शन मोहनीय की क्षपणा करता है तो अपूर्वकरण के प्रथम समय में इस दूसरे जीव के स्थिति सत्कर्म से प्रथम जीव का स्थिति सत्कर्म संख्यातगुणा होता है, क्योंकि इस दूसरे जीव ने उपशम श्रेणी पर चढ़कर स्थिति सत्कर्म का घात कर उसे संख्यातवें भाग प्रमाण नहीं किया है। इसलिए इस दूसरे जीव का स्थिति काण्डकायाम प्रथम जीव के स्थिति काण्डकायाम से संख्यात गुणा होता है।

यहाँ एक विषय को और रेखांकित करना चाहता हूँ वह यह है कि जब 132 सागर के अन्तिम समय में सत्ता में स्थित द्रव्य में संयोजना अनंतानुबंधी की होने लगती है एवं मिथ्यात्व प्रकृति के उदय आने से वह जीव पहले गुणस्थान में पहुंच जाता है किन्तु एक आवली एक समय तक अनंतानुबंधी कषाय का उदय नहीं होता जिसे ऊपर भी कहा गया है कि संयोजना के बाद उदयावली में आने के लिए एक आवली काल एक समय लगता है इसके बाद अनंतानुबंधी का पहले गुणस्थान में उदय हो जाता है। यह जीव बिना अनंतानुबंधी के भी मिथ्यात्व गुणस्थान में संयोजना होने के समय एक समय एक आवली प्रमाण काल तक रह सकता है। क्यों रह सकता है? इसका उत्तर यह है कर्मबन्ध होने के पश्चात् एक आवली काल तक उसमें उदीरणा आदि नहीं होते और एक समय निषेक वाचना में लगता है इस प्रकार एक आवली एक समय।

यहाँ लब्धिसार ग्रन्थ के चारित्रोपशमनाधिकार में उपश्म चारित्र एवं उपशमश्रेणी के परिप्रेक्ष्य में भी अनंतानुबंधी की विसंयोजना का प्रसंग आया है जिसका उल्लेख निम्न प्रकार है–

उवसम चरियाहिमुहा वेदगसम्मो अणं विजोयित्ता।
अंतोमुहुत्त कालं अधापक्तोऽपमत्तो या।।205।।

उपशम चारित्र के सम्मुख भया वेदक सम्यक्दृष्टि जीव सो पहिले पूर्वोक्त विधान ते अनंतानुबंधी की विसंयोजना कर अन्तर्मुहूर्त काल पर्यन्त प्रमत्त अप्रमत्त कहिए स्वस्थान अप्रमत्त हो है तथा 6वें 7वें गुणस्थान में हजारों बार उतरे चढ़े पीछे अप्रमत्त विषे विश्राम करे हैं। जहाँ बाद में कोई जीव 3 दर्शन मोह का क्षय कर क्षायिक सम्यक्दृष्टि होय चारित्र मोह के उपशमन का प्रारम्भ करें तथा कोई जीव द्वितीयोपशम सम्यक्त्व सहित उपशमश्रेणी चढ़े।

आगे लब्धिसार ग्रन्थ राज में निम्न गाथाओं के माध्यम से विषय स्पष्ट किया है–

तत्तो तियरण विहिणा दंसण मोहं समं खु उवसमदि।
सम्मत्तुप्पत्ति वा अण्णं च गुणसेढिकरण विही।।206।।
दंसण मोहु व समणं तक्खवणं वा दुहोदि णवरिं तु।
गुण संकमो ण णिज्जदि विज्झद वापापवत्तं च।।207।।

भाव यह है कि स्वस्थान अप्रमत्त गुणस्थान में अन्तर्मुहूर्त विश्रामकर पश्चात् 3 करणकर युगपत दर्शनमोह का उपशमकर तहां अपूर्वकरण गुणस्थान के प्रथम समय से प्रथमोपशम सम्यक्त्व समान गुण संक्रमण बिना अन्य स्थितिकाण्डक घात अनुभाग काण्डक घात, गुणश्रेणी निर्जरा कर ऐसी स्थिति में अनंतानुबंधी की विसंयोजना होय है। क्षायिक सम्यक्त्वदृष्टि जीव का द्वितीयोपशम सम्यक्दृष्टि जीव चारित्र मोह की 21 प्रकृतियों का उपशम करता हुआ उपशम श्रेणी चढ़ता है। चूंकि प्रथमोपशम सम्यक्दृष्टि एवं वेदक सम्यक्दृष्टि जीव श्रेणी नहीं चढ़ सकते हैं इसलिए वेदक सम्यक्दृष्टि जीव पहले अनंतानुबंधी की विसंयोजना करता है तथा दर्शन मोह का उपशम कर उपशम श्रेणी चढ़ता है अथवा दूसरा मार्ग यह है कि वेदक सम्यग्दृष्टि अनंतानुबंधी की विसंयोजना कर दर्शन मोह का क्रम पूर्वक क्षय करके क्षायिक सम्यक्दर्शन प्राप्त कर उपशम श्रेणी चढ़ता है। विशेषता इतनी होती है कि दर्शन मोहनीय की उपशामना करते समय गुण संक्रमण नहीं होता है। उसके स्थान पर विध्यात संक्रमण और यथायोग्य अध:प्रवृत्त संक्रमण होता है। अध: प्रवृत्त संक्रमण अप्रशस्त कर्मों का होता है।

इस प्रकार लब्धिसार की अपेक्षा द्वितीयोपशम सम्यक्त्व प्राप्त करते समय भी अनंतानुबंधी की विसंयोजना होती है और द्वितीयोपशम सम्यक्त्व के साथ उपशमश्रेणी आरोहण करता है।

अनंतानुबंधी की विसंयोजना सम्बंधी विषय– कषाय पाहुण 212-221 एवं 283 से 284/249/2 के माध्यम से चुण्णि (चूर्णि) सूत्र में आचार्य यतिवृषभाचार्य जी ने निम्न प्रकार कथन किया है–

1. 24 प्रकृति–प्रकृति स्थान का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है वह इस प्रकार है 28 प्रकृति स्थान वाले किसी जीव ने

अनंतानुबंधी की विसंयोजना करके 24 प्रकृति स्थान का प्रारंभ किया और अन्तर्मुहूर्त में मिथ्यात्व प्रकृति का क्षयकर के 23 प्रकृति की सत्ता वाला हो गया। इस प्रकार जघन्य काल प्राप्त हुआ।

2. 24 प्रकृति की सत्ता का उत्कृष्ट काल साधिक 132 सागर है चूर्णि सूत्र अनुसार वह इस प्रकार है 26 प्रकृति स्थान वाले किसी लान्तव कापिष्ठ स्वर्ग के मिथ्यादृष्टि देव ने अपनी आयु के प्रथम सागर में अन्तर्मुहूर्त शेष रहने पर उपशम सम्यक्त्व प्राप्त किया तथा सर्व लघुकाल द्वारा अनंतानुबंधी की विसंयोजना करके 24 प्रकृति स्थान को प्राप्त करता है फिर दूसरे सागर के पहले समय में वेदक सम्यक्त्व को प्राप्त कर साधिक 13 सागर काल तक वहाँ सम्यक्त्व के साथ रहा और मरकर पूर्वकोटी प्रमाण आयु वाले मनुष्यों में उत्पन्न हुआ। तत्पश्चात् 12 सागर आयु वाले देव, मनुष्य तथा 31 सागर आयु वाले देवों में उत्पन्न होता है। वहाँ सम्यग्मिथ्यात्व को प्राप्त कर पुन: सम्यक्त्व को प्राप्त होता है वहां से मरणकर क्रमश: मनुष्य 20 सागर आयु वाला देव, पुन: मनुष्य फिर 22 सागर की आयु देव पुन: मनुष्य फिर 24 सागर की आयु वाला देव तथा मनुष्य में उत्पन्न होकर अन्त में मिथ्यात्व का क्षय करके क्षायिक सम्यक्दृष्टि होता है। इस प्रकार उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होती है।

विशेष बात यह है कि मनुष्यों की आयु सभी जगह कोटि पूर्व लेना वह कम कम करके देवों की आयु समझना।

इस प्रकार 13+22+31+20+22+24=132 सागर प्राप्त होता है। इस काल में अन्तर्मुहूर्त पहला तथा अन्तर्मुहूर्त अधिक आठ वर्ष अन्तिम भव के जोड़ने पर साधिक का प्रमाण आता है। क्योंकि अन्तिम मनुष्यभव में इतना काल बीतने पर जीव मिथ्यात्व का क्षय करता है।

विशेषता यह भी लेना यदि इतने काल के बाद पुन: संयोजना हो जाने पर अन्तर्मुहूर्त काल के बिना मरण नहीं होता है।

धवला पुस्तक 6-1,9,9,14/288/6 के अनुसार वेदक सम्यक्दृष्टि जीव है वह पूर्व में ही अनंतानुबंधी की विसंयोजना करता है उसके जो कारण होते हैं उनका प्ररूपण करते हैं वह इस प्रकार है अध:करण अपूर्वकरण अनिवृत्तिकरण परिणामों के द्वारा दर्शन मोहनीय का उपशम कर उपशम श्रेणी पर आरोहण करता है।

इस प्रकार परम पूज्य आचार्य श्री नेमीचन्द्र जी सिद्धांत चक्रवर्ती वास्तव में सिद्धान्त के चक्रवर्ती ही थे चारों अनुयोगों के पारंगत विद्वान् मनीषी आचार्य थे उन्होंने जो करणानुयोग की पेनी लेखनी से आगम के रहस्यों को उद्घाटित किया है। लब्धिसार ग्रन्थ में आचार्य श्री ने अद्भुत ज्ञानश्रम किया है।

कर्म सिद्धान्त के सूक्ष्म से सूक्ष्म विषयों को लब्धिसार ग्रन्थ में समाहित किया है कषाय पाहुण के दुरूह विषयों का खुलासा किया है। अनंतानुबंधी कषाय द्विमुखी प्रकृति है जो जहाँ एक ओर मिथ्यात्व का घात करती है तो दूसरी ओर वह चारित्र मोह की प्रकृति होने से चारित्र गुण का भी घात करती है अर्थात् उस प्रकृति का उदय प्रथम एवं द्वितीय गुणस्थान में ही स्वमुख से उदय में आता है। अत: उसका स्वमुख से क्षय कैसे हो इसलिए इस प्रकृति का क्षय विसंयोजना से ही होता है।

1. विसंयोजना का लक्षण कषाय पाहुण गाथा 212-221/246/219/6 का विसंयोजना "अणंताणुबंधी चउक्कयं धणं पर सरुवेण परिणमनं विसंयोजना।"

अनंतानुबंधी के स्कंधों के पर प्रकृति रूप से परिणमा देने को विसंयोजना कहते हैं।

2. गोम्मट्टसार कर्मकाण्ड जी प्र. 336/487 युगपदेय विसंयोजना द्वादशकषाय नो कषाय रुपेण परिणम्य विसंयोजना। अनंतानुबंधी चतुष्क की युगपत विसंयोजना करके अर्थात् 12 कषायो एवं 9 नो कषाय रुप परिवर्तित करना विसंयोजना है।

उपशम एवं विसंयोजना में अन्तर-

धवल पु. 1/11, 27/211/1 अपने स्वरुप को छोड़कर अन्य प्रकृति रुप से रहना अनंतानुबंधी का उपशम है और उदय में नहीं आना ही दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृतियों का उपशम है क्योंकि उत्कर्षण अपकर्षण और पर प्रकृति रुप से संक्रमण प्राप्त और उपशान्त हुई उन तीन प्रकृतियों का अस्तित्व पाया जाता है।

विशेष यह है कि अनंतानुबंधी के अन्य प्रकृति रुप संक्रमण होने को ग्रन्थान्तरों में विसंयोजना कहा है और यहाँ पर उसे उपशम कहा है यद्यपि यह मात्र शब्द भेद है और स्वयं वीरसेन स्वामी को द्वितीयोपशम सम्यक्त्व में अनंतानुबंधी का अभाव इष्ट है फिर भी उसे विसंयोजना शब्द से न कहकर उपशम शब्द के द्वारा कहने से उनका यह अभिप्राय रहा हो कि द्वितीयोपशम सम्यक्दृष्टि जीव कदाचित् मिथ्यात्व गुणस्थान को प्रात कर पुन: अनंतानुबंधी का बंध करने लगता है और जिनकर्म प्रदेशों का उसने अन्य प्रकृति रुप संक्रमण किया था उनका फिर से अनंतानुबंधी रुप से संकमण हो सकता है। इस प्रकार यद्यपि द्वितीयोपशम सम्यक्त्व में अनंतानुबंधी की सत्ता नहीं रहती है फिर भी उसका पुन: सद्भाव होना सम्भव है इसलिए द्वितीयोपशम में विसंयोजना का आधार कहा गया है।

अनंतानुबंधी कषाय मिथ्यात्व की जीवन संगति मानी जाती है यह सर्वघाती प्रकृति सभी कषायों को प्रवाहमान बनाये रखती है जब तक मिथ्यात्व एवं अनन्तानुबंधी का सद्भाव बना रहता है तब तक सम्यक्त्व रूपी सूर्य का उदय नहीं हो पाता है और जब तक सम्यक्त्व रुपी सूर्य का उदय नहीं होता तब तक मोक्षमार्ग नहीं बन सकता है।

अत: इस आलेख में मैंने अनन्तानुबंधी कषाय की विसंयोजना से सम्बन्धित विषय का प्रतिपादन किया यह विसंयोजना चारों गतियों के जीवों द्वारा की जा सकती है। चूंकि इस विसंयोजना सहित जीव द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अनुकूलता मिले तो वह जीव दर्शन मोहनीय की क्षपणा करते हुए कभी भी 4 से 7 गुणस्थान तक क्षायिक सम्यक्दर्शन प्राप्त कर सकता है।

वास्तव में विसंयोजना एक प्रकार का संक्रमण ही है चूंकि मौलिक अन्तर यह है कि विसंयोजना की संयोजना हो सकती है होवे ही ऐसा नियम भी नहीं है किन्तु संक्रमण में जो द्रव्य दूसरे द्रव्य रुप परिणमित हो गया वह पुन: वापिस नहीं आता।

इसके लिए एक सुन्दर उदाहरण दिया जाता है विसंयोजना उधार देना जैसा है किन्तु संक्रमण दान देने जैसा है उधार दिया वापिस आ जाता है किन्तु दान दिया वापिस नहीं होता है वह दे दिया गया है।

इसी प्रकार विसंयोजना और संक्रमण में अन्तर है।

जैनं जयतु शासनम्

प्रथमोपशम सम्यक्त्व का महनीय चिन्तन

प्रो. अशोक कुमार जैन

चार अनुयोगों के रूप में उपलब्ध जिनागम में आत्म-तत्त्व और उसकी विशुद्धि का ही मुख्यता से वर्णन किया गया है। करणानुयोग का मूल सार लेकर ''लब्धिसार'' में सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र तथा उसकी उत्पत्ति के फल का सांगोपांग विवेचन किया गया है। औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक तीनों प्रकार के सम्यग्दर्शनों में आत्म विशुद्धि ही मुख्य है। यथार्थ में सम्यग्दर्शन के तीन भेद निमित्त की अपेक्षा वर्णित किये गये हैं। लब्धिसार ग्रन्थ में आत्मा के दर्शन और चारित्र गुण रुप शक्तियाँ प्रकट होने की योग्यता रुप लब्धि का विशेष विवेचन किया गया है। इसलिए इसका नाम ''लब्धिसार'' सार्थक है। मुख्य रुप से दर्शन लब्धि और चारित्र लब्धि का स्वरुप और उनके भेदों का तथा उनकी कारण सामग्री का वर्णन छह अधिकारों में किया गया है। अधिकारों का विभाजन इस प्रकार किया गया है प्रथमोपशम सम्यक्त्व 2. क्षायिक सम्यक्त्व लब्धि 3. देश संयम लब्धि 4. सकल संयम लब्धि 5. औपशमिक चारित्र लब्धि 6. क्षायिक चारित्र लब्धि।

उक्त सम्पूर्ण विवेचन ''कषाय प्राभृत'' (कसाय पाहुड़) की टीका जयधवला के पन्द्रह अधिकारों में से पश्चिम स्कन्ध नाम के पन्द्रहवें अधिकार के अनुसार किया गया है यथार्थ में महाधवल सिद्धान्त ग्रन्थ के आधार पर ही दूसरी रचना हुई। क्योंकि षट्खण्डागम जीव स्थान को छोड़कर शेष पांच खण्डों की आधारभूत वस्तु ''महाकम्म पयडि पाहुड़'' है। जीवस्थान की सामग्री अन्य मूल अंगपूर्व की है। अत: आगम के अनुसार इसमें तत्त्व प्ररूपणा गर्भित है। ''लब्धिसार'' की संस्कृत टीका से स्पष्ट हो जाता है कि रचनाकार ने मूल आगम के अनुसार ही विषय को रचनाबद्ध किया है। दिगम्बर जैन वाङ्मय में आगम साहित्य गुरु परम्परा से क्रमिक वाचना रुप से उपलब्ध होता है। ''महाकम्म पयडि पाहुड'' में आठ कर्मों के विवेचन की प्ररुपणा तथा पेज्जदोसपाहुड़ की सूत्र गाथाओं पर चूर्णिसूत्र की रचना भी उपलब्ध है। आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने इन तीनों सिद्धान्त ग्रन्थों के आधार पर ही तीन रचनाएँ निबद्ध की जिनके नाम हैं- गोम्मटसार, लब्धिसार और त्रिलोकसार। क्षपणासार कोई स्वतंत्र रचना नहीं है इसका अन्तर्भाव लब्धिसार में ही तो जाता है।

क्षपणासार गर्भित ''लब्धिसार'' की रचना 653 गाथाओं में निबद्ध है। इस ग्रन्थ के सम्यक् अनुशीलन से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य नेमचिन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने साठ हजार श्लोक प्राभृत ''जयधवला'' टीका का सार ग्रहण कर 653 गाथाओं में संकलित कर दिया। आचार्य प्रवर की यह महती विशेषता है कि उन्होंने गागर में सागर भर दिया है। ''जयधवला'' का कोई भी विषय इस ग्रन्थ में निबद्ध होने से छूटा नहीं है। पण्डित प्रवर टोडरमल जी ने स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है कि इस ग्रन्थ का प्रकाशन धवलादि शास्त्रों के अनुसार किया गया है। इस ग्रन्थ का महत्व इससे भी स्पष्ट है कि इस पर संस्कृत टीकायें लिखी गई। केशववर्णी की संस्कृत टीका प्रसिद्ध है। ''लब्धिसार'' छह अधिकारों में पाचवाँ चारित्र मोहनीय उपशम का अधिकार तक संस्कृत टीका पाई जाती है। कर्मक्षपणा के अधिकार की गाथाओं का विशदीकरण माधचन्द्र त्रैविधदेव के संस्कृत गद्य रुप ''क्षपणासार'' में अभिप्राय के अनुसार इस गन्थ में सम्मिलित किया गया है। इसलिए इस ग्रन्थ का नाम लब्धिसार-क्षपणासार रखा गया है।

खवउवसमिय विसोती देसण पाउग्गकरण लद्दी य।
चत्तारि वि सामण्णा करणं सम्मत्त चारित्रं।। लब्धिसार-3

चारों गतियों वाला अनादि वा सादि मिथ्यादृष्टि संज्ञी पर्याप्तक, गर्भज, मंदकषायी विशुद्धता वाला साकार ज्ञानोपयोग संयुक्त जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्व होने के पूर्व 1. क्षयोपशम 2. विशुद्धि 3. देशना 4. प्रायोग्य तथा 5. करण इन पाँच लब्धियों को क्रमश: धारण करता है, उसके बाद ही वह अनिवृत्तिकरण के अन्त समय से प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन ग्रहण करता है। प्रथम चार लब्धि भव्य तथा अभव्य दोनों को हो सकती हैं लेकिन करण लब्धि केवल भव्य को ही होती है।

1. **क्षयोपशम लब्धि–** इसमें घाति तथा अघाति सभी अप्रशस्त कर्मों की यथासंभव अनुभाग शक्ति प्रति समय अनंतगुणी हीन होती है। उत्कृष्ट अनुभाग के अनन्तवें भाग अनुभाग के साथ ही देशघाती स्पर्धक उदय होते हैं तथा उत्कृष्ट अनुभाग के अनंत बहुभाग वाली सर्वघाती स्पर्धकों का उदयाभावी क्षय होता है। इसमें साता आदि परिणाम से साधक धर्मानुराग तथा शुभ परिणामों से विशुद्ध होता है।

2. **विशुद्धि लब्धि–** पहली लब्धि के समता परिणामों से धर्मानुराग रूप शुभ परिणाम होने से संक्लेशता की हानि तथा विशुद्धता की वृद्धि होना विशुद्धि लब्धि है। प्रशस्त कर्मों की स्थिति अनुभाग बढ़ता हुआ व अप्रशस्त कर्मों की स्थिति व अनुभाग क्रमश: घटता हुआ बंधता है।

3. **देशना लब्धि–** छह द्रव्य तथा 9 पदार्थों का आचार्यादि उपदेशक का लाभ होना तथा देशना की प्राप्ति तथा उपदेशित पदार्थ को धारण करना देशना लब्धि है।

4. **प्रायोग्य लब्धि–** प्रथमोपशम सम्यक्त्व का साधक क्षयोपशम विशुद्धि तथा देशना लब्धियों से उत्तरोत्तर विशुद्धि बढ़ाता हुआ क्रम प्राप्त चौथी प्रायोग्य लब्धि को आरंभ करता है। सर्वप्रथम एक काण्डकघात द्वारा (आयु बिना) 7 कर्मों की सत्त्व स्थिति अंत: कोटाकोटी प्रमाण मात्र करता है तथा अप्रशस्त घातिया कर्मों का अनुभाग द्विस्थानीयलता, दारु प्रमाण शेष अप्रशस्त अघाति कर्मों का **निंव** कांजीर रूप तथा प्रशस्त अघातिया कर्मों का चतु:स्थानीय गुढ, खाण्डक, शरकरा अमृत रूप है ऐसी प्रथमोपशम सम्यक्त्व की योग्यता आना ही चतुर्थ लब्धि की प्रायोग्यता है। यह लब्धि भव्य तथा अभव्य दोनों को सामान्य रुप से होती है।

इस लब्धि के प्रथम समय से ही कर्मों के स्थिति बंध को संख्यातवां भाग (अंत: कोड़ाकोड़ी) प्रमाण करता है तथा अंतर्मुहूर्त पर्यन्त प्रति समय (अंत: कोड़ाकोड़ा सागर प्रमाण) स्थिति बन्ध को पल्य या संख्यात भाग प्रमाण कम समान रुप रखता है। ऐसे संख्यात स्थिति बन्धापसरणों से पृथक्त्व 100 सागर स्थिति बंध कम होने पर एक प्रकृति बन्धापसरण स्थान होता है। इसी संख्यात प्रकृति बंधापसरण होते हुए प्रायोग्य लब्धि में प्रकृति बन्धापसरण से 34 व्युच्छित्ति स्थान होते हैं जिनमें 117 बंध योग्य कर्म प्रकृतियों में से 46 प्रकृतियों की व्युच्छित्ति होती है।

करण लब्धि– प्रथम चार लब्धियां भव्य तथा अभव्य दोनों को हो सकती हैं लेकिन पांचवीं करण लब्धि केवल भव्य को ही होती है। तीनकरण साधकों को अनेक प्रसंगों में जैसे औपशमिक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति, अनन्तानुबंधी की विसंयोजना, देश चारित्र ग्रहण, द्वितीय सम्यग्दर्शन की प्राप्ति, क्षायिक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति, औपशमिक चारित्र, काययोग का निरोध इत्यादि के पूर्व आवश्यक रुप से लगते हैं। तीनों करण अन्तर्मुहूर्त काल तक प्रति समय होने वाले विशुद्ध परिणाम करते हैं जिन्हें विशुद्धि स्थान भी कहते हैं। करण नाम आत्मा के विशुद्ध परिणामों का है। इन परिणामों में प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धि होती है।

भेदों की अपेक्षा सम्यग्दर्शन सामान्य से एक है। निसर्गज और अधिगमज के भेद से दो प्रकार का है। औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक के भेद से तीन प्रकार का है। शब्दों की अपेक्षा संख्यात प्रकार का है तथा श्रद्धान करने वालो की अपेक्षा असंख्यात प्रकार का है और श्रद्धान करने योग्य पदार्थों की अपेक्षा अनन्त प्रकार का है।

प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन– प्रथम प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन है। यह मुख्य और भूमिस्वरुप है। मुख्य इसलिए है क्योंकि सर्वप्रथम मोक्षमार्ग का दरवाजा इस तरह ही उद्घाटित होता है और भूमिस्वरुप इसलिए है क्योंकि मोक्षमार्ग पर आरुढ़ होने के लिए सर्वप्रथम यह जमीन का काम करता है। इसकी उत्पत्ति पांच लब्धियों के होने पर ही होती है। वे ये हैं–क्षयोपशम लब्धि, विशुद्धि लब्धि, देशना लब्धि, प्रायोग्य लब्धि और करण लबब्धि। इनमें से प्रारम्भ की चार लब्धियां यथासम्भव भव्यों और अभव्यों दोनों के पायी जाती हैं। इतना अवश्य है कि जो मिथ्यादृष्टि भव्य जीव औपशमिक सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के सन्मुख होते हैं वे इनके होने पर ही करण लब्धि के सन्मुख होने के पास होते हैं।

ऐसा नियम है किन्तु दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय का उपशम और क्षय करणलब्धि के प्राप्त होने पर ही होता है। इसलिए करणलब्धि प्राप्त होने के पूर्व जो क्षयोपशम आदि चार लब्धियां प्राप्त होती हैं उनमें से अन्तिम प्रायोग्य लब्धि के होने पर जो कार्य होते हैं उनका विचार करते हुए बताया है कि आयु कर्म के बिना शेष कर्मों का बंध, स्थिति सत्व, अनुभाग बन्ध और प्रदेश सत्व न तो उत्कृष्ट होना चाहिए और न क्षपक श्रेणी के योग्य जघन्य ही होना चाहिए। वह एक तो उत्तरोत्तर विशुद्धि की वृद्धि करता हुआ साता कर्मों की अन्त: कोड़ाकोड़ी प्रमाण मध्यम स्थिति बन्ध करता है तथा चारों गतियों में स्थिति को घटते हुए यथासम्भव प्रकृति बन्ध अपसरण करता है। जो सब मिलाकर 34 होते हैं। आगे किस गति में कितनी प्रकृतियों का बन्ध होता है इसका विचार कर किन प्रकृतियों का कैसा अनुभाग बन्ध और प्रदेश बन्ध होता है। इसका उल्लेख किया गया है।

उदय प्रकृतियों का विचार करते हुए बतलाया गया है कि स्थिति की अपेक्षा उदय प्राप्त एक स्थिति निषेक का वेदक होता है, अनुभगा की अपेक्षा अप्रशस्त प्रकृतियों के द्विस्थानीय अनुभाग तथा प्रशस्त प्रकृतियों के चतु:स्थानीय अनुभाग का वेदक होता है तथा प्रदेशों की अपेक्षा अजघन्य अनुत्कृष्ट प्रदेशों का वेदक होता है। इसके साथ ही वह उदय प्राप्त इन सबका उदीरक होता है।

सत्त्व का विचार करते हुए जिन प्रकृतियों का यथासम्भव सत्त्व सम्भव नहीं है उनका उल्लेख करने के बाद जहां जितनी प्रकृतियों का सत्त्व होता है उनकी स्थिति अनुभाग और प्रदेश अजघन्य अनुत्कृष्ट ही होता है यह बतलाया गया है।

यह सब प्रायोग्य लब्धि का समग्र विचार है जो भव्यों और अभव्यों दोनों के सम्भव है। इस प्रकार हम देखते हैं कि क्षयोपशम आदि चार लब्धियाँ जैसे भव्यों के सम्भव है वैसे ही अभव्यों के भी हो सकती हैं किन्तु जो भव्य जीव हैं वे इन लब्धियों के होने पर यथासम्भव करण लब्धि को प्राप्त करते हैं। करण परिणाम विशेष की संज्ञा हैं। ऐसे परिणामों को जिनके होने पर यह जीव नियम से दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय का यथासंभव उपशम और क्षय करता है उसे करण लब्धि कहते हैं।

करण लब्धि के तीन भेद हैं–अध:प्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण। इनमें से प्रत्येक का काल अन्तर्मुहूर्त है। उसमें भी अध:प्रवृत्तकरण का काल सबसे अधिक है, उसका संख्यातवां भाग अपूर्वकरण का काल है और उसका भी संख्यातवां भाग अनिवृत्तिकरण का काल है। नीचे के समयवर्ती किसी जीव के परिणाम ऊपर के समयवर्ती अन्य किसी जीव के परिणाम के सदृश हो सकते हैं इसलिए इसकी अध:प्रवृत्तकरण संज्ञा है। इसकी कहीं–कहीं यथा प्रवृत्त करण संज्ञा भी पाई जाती है। जहाँ प्रत्येक समय में जीवों में परिणाम भिन्न–भिन्न होते हैं उसकी अपूर्वकरण संज्ञा है और जहां एक समयवर्ती सब जीवों का परिणाम एक ही होता है उसकी अनिवृत्ति करण संज्ञा है।

ये तीन करण हैं। इनमें से प्रथम करण में गुणश्रेणी रचना। गुण संक्रमण, स्थिति काण्डक घात और अनुभाग काण्डकघात ये चार कार्य नहीं होते। हाँ प्रत्येक समय में उत्तरोत्तर अनन्तगुणी विशुद्धि होने से अप्रशस्त कर्मों के अनुभाग में अनन्तगुणी हानि, प्रशस्त कर्मों के अनुभाग में अनन्तगुणी वृद्धि होती रहती है। इसके साथ संख्यात हजार स्थिति बन्धापसरण भी होते हैं। एक स्थिति बन्धापसरण प्रमाण पल्योपम के संख्यातवाँ भाग प्रमाण और काल अन्तर्मुहूर्त है। इस प्रकार अध: प्रवृत्तकरण के प्रथम समय में जितना स्थितिबन्ध होता है, उसके अन्तिम समय में वह घटकर संख्यातगुणा हीन हो जाता है। यदि वही जीव प्रथम सम्यक्त्व के साथ देशसंयम और सकल संयम को प्राप्त करता है। तो उक्त स्थिति बन्ध असंयत के जितना होता है उससे और भी संख्यात गुणा हीन हो जाता है।

परिणामों की अपेक्षा विचार करने पर नाना जीवों की अपेक्षा इस करण के प्रत्येक समय में परिणाम असंख्यात लोक प्रमाण होते हैं जो उत्तरोत्तर एक–एक समय में विशेष अधिक होते हैं। परिणामों की यह वृद्धि समानरुप से होती है। यहाँ विशेष का प्रमाण लाने के लिए प्रतिभाग का प्रमाण अन्तर्मुहूर्त है। प्रकृत में अध: प्रवृत्तकरण का जितना काल होता है उसके संख्यातवें

भाग अनुकृष्टिकाल होता है। इसे निर्वगणा काण्डक कहते हैं। एक निर्वगणा काण्डक के जितने समय हैं उतने प्रत्येक समय के परिणामों के खण्ड होते हैं। जो प्रथम खण्ड से लेकर उत्तरोत्तर एक-एक चयप्रमाण अधिक होते हैं। यहां भी चय का प्रमाण लाने के लिए प्रतिभाग का प्रमाण अन्तर्मुहूर्त है। इस प्रकार प्रत्येक समय में जितने खण्ड प्राप्त होते हैं उनमें से एक-एक खण्ड में भी असंख्यात लोकप्रमाण परिणाम होते हैं जो षट्स्थान पतित वृद्धि से युक्त होते हैं। प्रथम और अन्तिम समय के प्रथम और अन्तिम खण्ड विसदृश होते हैं तथा शेष सब खण्ड यथा संभव सदृश होते हैं। इस प्रकार प्रत्येक समय के परिणामों की क्रमवार जो रचना बनती है उसके अनुसार द्विचरम समय तक के प्रथम खण्ड और अन्तिम समय के सब खण्डों की विसदृश पंक्ति बन जाती है। यहाँ विशुद्धि तारतम्य का विचार 48 संख्याक गाथा में किया गया है।

दूसरे करण का नाम अपूर्वकरण है। यहां प्रतयेक समय के परिणाम अन्य होते हैं इसलिए इसकी अपूर्वकरण संज्ञा है। इस करण में समान समयवर्ती जीवों के परिणाम समान भी होते हैं व असमान भी होते हैं किंतु भिनन समयवर्ती जीवों के परिणाम भिन्न ही होते हैं। इस करण के भी प्रत्येक समय में असंख्यात लोक प्रमाण परिणाम होते हैं जो उत्तरोत्तर विशेष अधिक होते हैं। विशेष का प्रमाण लाने के लिए प्रतिभाग का प्रमाण अन्तर्मुहुर्त है। यहाँ विशुद्धि का प्रमाण उत्तरोत्तर अनन्तगुणा पाया जाता है जो षट्स्थान पतित वृद्धि को उल्लंघन कर प्राप्त होती है। इस करण से लेकर गुणश्रेणी रचना, गुण संक्रमण, स्थिति काण्डक घात और अनुभाग काण्डक घात ये कार्य प्रारम्भ हो जाते हैं जो सम्यक्त्व मोहनीय और मिश्र मोहनीय के पूरण होने के काल तक होते रहते हैं। स्थिति बन्धापसरण और स्थिति काण्डक घात का काल समान है तथा एक स्थिति काण्डक घात के भीतर हजारों अनुभाग काण्डक घात होते हैं। गुणश्रेणी की रचना का आयाम अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण के काल से सधिक होता है।

तीसरा अनिवृत्तिकरण है इसके प्रत्येक समय में एक ही परिणाम होता है, इसलिए इस करण का जितना काल है उतने उसके परिणाम जानने चाहिए। यहां स्थिति काण्डक घात आदि सब कार्य नये होते हैं। दूसरा संख्यातवां भगा काल शेष रहने पर दर्शन मोहनीय का अन्तरकरण प्रारम्भ होता है। प्रथम स्थिति और उपरितन स्थिति के मध्य की अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति के निषेकों का उक्त स्थितियों में निक्षेपण करके अभाव करना अन्तरकरण कहलाता है। एक स्थितिकाण्डक घात में जितना काल लगता है उतना ही अन्तरकरण का काल है। अन्तर का प्रमाण गुणश्रेणी शीर्ष से संख्यात गुणा है। अन्तर करण क्रिया सम्पन्न होने के बाद द्वितीय स्थिति में स्थित दर्शन मोहनीय का उपशम (उदय के अयोग्य) करता है। तदनन्तर प्रथम स्थिति के गलने के बाद अन्तर के प्रथम समय में यह जीव प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि हो जाता है। और यहीं से मिथ्यात्व के द्रव्य को मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यग्प्रकृति इन तीनों भागों में विभक्त करता है। जब गुणसंक्रमण का काल पूरा हो जाता है तबसे विध्यात संक्रमण के द्वारा मिथ्यात्व के द्रव्य को मिश्र और सम्यक् प्रकृतिरूप से परिणमाता है। यहाँ दर्शन मोहनीय के स्थिति काण्डक घात और अनुभाग काण्डक घात नहीं होते, शेष कर्मों के होते हैं इतना विशेष जानना चाहिए। दर्शन मोहनीय का उपशम करने वाला जीव मरण को नहीं प्राप्त होता और सासादन गुणस्थान को भी नहीं प्राप्त होता। हां उपशम सम्यग्दृष्टि होने के बाद उसके काल में अधिक से अधिक छह आवली और कम से कम एक समय शेष रहने पर वह सासादन गुणस्थान को प्राप्त हो सकता है।

उपशमकरण क्रिया के साथ प्रथमोपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति के समय उपयोग, योग और लेश्या का विचार करते हुए बतलाया है कि दर्शनमोह के उपशम का प्रारम्भ करने वाला अध: प्रवृत्तकरण के प्रथम समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त काल तक स्थापक कहलाता है। उस समय इसके नियम से ज्ञानोपयोग ही होता है किन्तु इसके बाद मध्य अवस्था में और समाप्त करने के समय साकार या निराकार कोई भी उपयोग हो सकता है। योग का विचार करते हुए मनोयोग, वचनयोग और काययोग में से किसी एक को ग्रहण किया गया है तथा लेश्या का विचार करते हुए लब्धिसार संस्कृत टीका में तो इतना ही बतलाया है कि तिर्यञ्च और मनुष्य मन्द विशुद्धि वाला होता है तथा पीत लेश्या के जघन्य अंश में विद्यमान होकर ही प्रथमोपशम का

प्रारम्भ करने वाला होता है। इस प्रकार लब्धिसार की संस्कृत टीका में जहां यह नियम किया गया है कि तिर्यञ्च और मनुष्य प्रथमोपशम सम्यक्त्व का प्रारम्भ पीत लेश्या के जघन्य अंश में करता है वहीं जयधवला में (जहण्णए तेउलेस्साए) पद का यह स्पष्टीकरण किया गया है कि तिर्यञ्च और मनुष्य यदि अतिमन्द विशुद्धि वाला हो तो भी उसके कम से कम जघन्य पीत लेश्या ही होती है इससे नीचे की अशुभलेश्या नहीं होगी। तात्पर्य यह है कि प्रथमोपशम सम्यक्त्व का प्रारंभ करने वाले तिर्यञ्च और मनुष्य के कृष्ण, नील और कापोत लेश्या नहीं होती।

जिस जीव ने प्रथमोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त किया है उसके दर्शन मोहनीय सम्बन्धी तीनों प्रकृतिया अन्तर्मुहूर्त काल तक उपशम रुप अवस्था को प्राप्त रहती है। हां अन्तर्मुहूर्त काल के बाद यदि मिथ्यात्व प्रकृति की उदीरणा होती है तो उक्त जीव मिथ्यादृष्टि हो जाता है और यदि सम्यक् प्रकृति की उदीरणा होती है तो उक्त जीव वेदक सम्यग्दृष्टि हो जाता है और यदि सम्यग्मिथ्यात्व का उदय होता है तो मिश्र सम्यग्मिथ्यादृष्टि हो जाता है।

इस प्रकार से यहाँ उपशम सम्यक्त्व का विवेचन संक्षेप से किया, विस्तार से जानने के लिए मूल ग्रंथों का अध्ययन करना चाहिए।

लब्धिसार ग्रन्थ के विविध संस्करण एवं पण्डित टोडरमल जी और पण्डित फूलचन्द जी सिद्धान्त शास्त्री की प्रस्तावनाओं का वैशिष्ट्य

–कर्मयोगी (डॉ.) सुरेन्द्रकुमार जैन भारती
उपाध्यक्ष– अ.भा.दि. जैन विद्वत्परिषद्
एल 65, न्यू इंदिरानगर, बुरहानपुर–450331 (म.प्र.)
मो. 9826565737

लब्धिसार (मूल) ग्रन्थ श्री चामुण्डराय के प्रश्न के निमित्त से श्रीमन्नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने रचा है जो कि कषायप्राभृत नामा जयधवलसिद्धान्त के पन्द्रह अधिकारों में से पश्चिम स्कन्ध नाम के पन्द्रहवें अधिकार के अभिप्राय से गर्भित है।

प्रथम संस्करण–

लब्धिसार की प्रथमावृत्ति विक्रम संवत् 1973 में पाढम निवासी पं. मनोहरलाल शास्त्री कृत संस्कृत छाया तथा संक्षिप्त हिन्दी भाषा टीका सहित प्रकाशित हुई थी। पर वह बहुत संक्षिप्त होने के कारण उस भाषानुवाद में सभी विषयों का स्पष्टीकरण नहीं हुआ था।

इसके कालान्तर में तीन संस्करण और प्रकाशित हुए।

पंचम संस्करण–

लब्धिसार का पंचम संस्करण पं. प्रवर श्री टोडरमल जी कृत सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका भाषा टीका मूल ढूंढारी भाषा सहित श्रीमान् पं. फूलचन्द जी सिद्धान्तशास्त्री के सम्पादन में श्री परम श्रुत प्रभाकर मंडल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास से विक्रम संवत् 2069 ईस्वी सन् 2013 में प्रकाशित हुआ। इसमें ग्रन्थ के अन्त में अर्थसंदृष्टि अधिकार भी जुड़ा हुआ है।

इस लब्धिसार की सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका टीका संस्कृतवृत्ति सहित सर्वप्रथम भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता से सन् 1953 में प्रकाशित हुई थी। इस समय यह अनुपलब्धप्राय है।

पं. प्रवर श्री टोडरमल जी ने सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका भाषा टीका मूल ढूंढारी भाषा में विक्रम संवत् 1818 में बनायी थी। इसमें उन्होंने लिखा है कि उपशम चारित्र के अधिकार तक तो केशववर्णी कृत संस्कृत टीका के अनुसार व्याख्यान किया गया है किन्तु कर्मों के क्षपणा अधिकार की गाथाओं का व्याख्यान श्री माधवचन्द्राचार्य कृत संस्कृत गद्य रूप क्षपणासार के अभिप्राय अनुसार सम्मिलित कर इस ग्रन्थ का नाम लब्धिसार (क्षपणासार गर्भित) रखा गया है।

लब्धिसार प्रथम भाग संस्कृत टीका सहित, अनेकान्त शोधपीठ, बाहुबली, ता. हातकणंगले, जिला–कोल्हापुर से दिनांक 19/दिसम्बर 2016 को प्रकाशित किया गया है। इसकी मराठी अनुवादिका व सम्पादिका ब्र. डॉ. सुश्री सुजाता रोटे, बाहुबली तथा हिन्दी अनुवादिका ब्र. मृदुला जैन, खण्डवा (म.प्र.) हैं।

पं. फूलचन्द जैन सिद्धान्तशास्त्री के द्वारा लिखित प्रस्तावना का वैशिष्ट्य–

लब्धिसार करणानुयोग का ग्रन्थ है। श्री समन्तभद्र आचार्य ने करणानुयोग का लक्षण रत्नकरण्डक श्रावकाचार में इस प्रकार किया है–

लोकालोकविभक्तेर्युगपरिवृत्तेश्चतुर्गतीनां च।
आदर्शमिव तथामतिरवैति करणानुयोगं च।।44।।

अर्थात् प्रथमानुयोग की तरह मनन रूप श्रुतज्ञान, लोक और अलोक को विभाग, युगों के परिवर्तन और चारों गतियों के लिये दर्पण के समान करणानुयोग को भी जानता है।

इसके अनुसार करणानुयोग के मुख्य तीन विषय हैं- 1. लोक-अलोक का विभाग, 2. युग परिवर्तन, 3. चारों गतियां।

इस आलेख में अपनी प्रस्तावना में जो मुख्य विषय प्रतिपादित हैं वह इस प्रकार हैं-

सम्यक्त्व की उत्पत्ति एवं उसके फल का निर्देश है। 1. लब्धिसार ग्रन्थ में करणानुयोग के अनुसार सम्यग्दर्शन और सम्यग्चारित्र

2. सम्यग्दर्शन की प्राप्ति किस प्रकार से होती है। यह बतलाते हुए निमित्त भेद से तीन भेद किये हैं- 1. औपशमिक सम्यग्दर्शन 2. क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन 3. क्षायिक सम्यग्दर्शन। इनके संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार हैं-

1. औपशमिक सम्यग्दर्शन- दर्शन मोहनीय के अन्तरकरण उपशम और अनन्तानुबन्धी चतुष्क के अनुदय रूप उपशमपूर्वक मिथ्यात्व रूप पर्याय का अभाव होकर जो आत्मविशुद्धि प्राप्त होती है; वह औपशमिक सम्यग्दर्शन है।

प्रथम प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन है। यह मुख और भूमि स्वरूप है। मुख इसलिए है, क्योंकि सर्व प्रथम मोक्षमार्ग का दरवाजा इस द्वारा ही उद्घाटित होता है और भूमिस्वरूप इसलिए है, क्योंकि मोक्षमार्ग पर आरूढ़ होने के लिए सर्वप्रथम यह जमीन का काम देता है।

2. क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन- उक्त सात प्रकृतियों में छह प्रकृतियों के क्षयोपशम और सम्यक् प्रकृति के उदयपूर्वक जो आत्मविशुद्धि प्राप्त होती है वह क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन है।

3. क्षायिक सम्यग्दर्शन-उक्त सातों प्रकृतियों के क्षयपूर्वक जो आत्मविशुद्धि प्रापत होती है वह क्षायिक सम्यग्दर्शन है।

करणानुयोग के अनुसार यह इन तीनों सम्यग्दर्शनों की उत्पत्ति का प्रकार है। इन तीनों सम्यग्दर्शनों में आत्मविशुद्धि मुख्य है। जाति और स्वाद की अपेक्षा उनमें भेद नहीं है। भेद केवल कर्मों के सद्भाव और असद्भाव को मुख्य कर किया गया है।

तत्त्वार्थसूत्र के दूसरे अध्याय का प्रथम सूत्र जीव के पाँच असाधारण भाव बताता है। सूत्र इस प्रकार हैं-

औपशमिक-क्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य - स्वतत्त्वमौदयिक पारिणामिकौ च ।।1।।

अर्थात् जीव के औपशमिक, क्षायिक और मिश्र (क्षायोपशमिक), औदयिक और पारिणामिक ये 5 स्वतत्त्व या निजी भाव हैं। ये भाव जीव को छोड़कर किसी अन्य द्रव्य में नहीं पाये जाते इसीलिये इन्हें स्वतत्त्व कहा है।

औपशमिक भाव- जिस भाव के होने में कर्म का उपशम निमित्त हो वह औपशमिक भाव है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के निमित्त से कर्म की शक्ति प्रगट न होने को उपशम कहते हैं जैसे निर्मली के संयोग से मैले जल के मैल का एक ओर बैठ जाना। वैसे ही परिणाम विशेष के कारण विवक्षित काल के कर्म निषेकों का अन्तर होकर उस कर्म का उपशम हो जाता है जिससे उस काल के भीतर आत्मा का निर्मल भाव प्रगट होता है। उपशम केवल मोहनीय कर्म का ही होता है। अत: मोहनीय कर्म के उपशम से आत्मा के जो भाव हों वह औपशमिक भाव हैं।

क्षायिक भाव- जिस भाव के होने में कर्म का क्षय निमित्त है वह क्षायिक भाव है। कर्म के समूल विनाश को क्षय कहते हैं जैसे जल से मैल के निकाल देने पर जल का सर्वथा स्वच्छ हो जाना। वैसे ही आत्मा से लगे हुए कर्म के सर्वथा दूर हो जाने पर आत्मा का शुद्ध भाव प्रगट होता है।

क्षायोपशमिक भाव- जिस भाव के होने में कर्म का क्षयोपशम निमित्त है वह क्षायोपशमिक भाव है। सर्वघाती स्पर्द्धकों का उदयाभावीक्षय तथा आगे उदय में आने वाले निषेकों का सत्ता में उपशम और देश घाती स्पर्धकों का उदय होने को क्षयोपशम कहते हैं। जैसे जल में से कुछ मैल निकल जाने पर और कुछ बने रहने पर जल की क्षीणा क्षीण वृत्ति होना। वैसे ही आत्मा से लगे हुये कर्म के क्षयोपशम होने पर जो भाव प्रगट होता है उसे क्षयोपशम भाव कहते हैं।

नोट- एक समय में उदय आने वाले कर्म परमाणुओं के समूह को निषेक कहते है।

औदयिक- जिस भाव के होने में कर्म का उदय निमित्त हो वह औदयिक भाव है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के निमित्त से कर्म का फल देना उदय कहलाता है।

पारिणामिक भाव– कर्म के उपशम, क्षय, क्षयोपशम और उदय के बिना जो भाव होता है उसे पारिणामिक भाव कहते हैं। जो कर्म निरपेक्ष स्वभाव से होता है ऐसा ध्रुव, स्थिर, शान्त, रंग, तरंग से रहित वह पारिणामिक भाव है।

किसके कितने भाव होते हैं? संसारी या मुक्त आत्मा की जितनी भी पर्यायें सब इन 5 भावों में अन्तर्मूत हो जाती हैं इसलिये 5 भाव पाये जाने का कोई नियम नहीं है। संसारी जीवों में से किसी के तीन, किसी के 4 और किसी के 5 भाव होते हैं। तीसरे गुणस्थान तक के सब संसारी जीवों के क्षायोपशमिक औदयिक और पारिणामिक ये तीन ही भाव होते हैं क्षपक श्रेणी वाले के उपशम भाव के अतिरिक्त चार भाव, या उपशम सम्यग्दृष्टि के पाँचों भाव होते हैं। मिथ्यादृष्टि भव्यों तथा अभव्यों के क्षायोपशमिक औदयिक पारिणामिक यह तीन भाव होते हैं।

समस्त मुक्त जीवों के केवल दो क्षायिक और पारिणामिक भाव ही होते हैं। इन भावों को इस उदाहरण से समझा जा सकता है। समोशरण में राजा श्रेणिक ने भगवान् महावीर से प्रश्न किया भगवन आपके चरणों में आते समय रास्ते में एक मुनि को घोर तपस्या करते देखा, अगर इस समय उनकी आयु पूर्ण हो तो वह किस गति में जायेंगे?

भगवान् ने जवाब दिया इस समय उस मुनि के अशुद्ध भाव हैं तीव्र क्रोध है किसी व्यक्ति के शब्द कानों में पड़े हैं कि वह तो मुनि हो गया पीछे मन्त्री ने दूसरे राजा से मिलकर इसके कम उम्र के लड़के पर हमला कर दिया है इससे मुनि के रौद्र परिणाम हो रहे हैं। नरक जाने के भाव हैं। वह चिन्तन कर रहे हैं– वह तुच्छ मन्त्री मेरे लड़के से ऐसा बर्ताव करे, वे समझते क्या हैं? सबकी गरदनें उड़ा दूँगा।

थोड़ा समय बीतने पर फिर श्रेणिक ने भगवान् से प्रश्न किया, मुनि अब शरीर छोड़ें तो क्या गति हो? भगवान् ने कहा– इस समय स्वर्ग जायें। अब उन मुनि के परिणाम विशुद्धि की ओर हैं वह सोच रहे हैं कि मेरा तो इस शरीर के साथ ही कोई संबंध नहीं है; फिर यह बाह्य दिखने वाले पुत्रादि मेरे कौन और किसका राज्य? मैं तो एक ज्ञायक स्वभावी चैतन्य प्रकाश आनन्दमयी सिद्ध भगवान् जैसा शुद्ध स्वभावी आत्मा हूँ।

थोड़ी देर बाद श्रेणिक ने आकाश में देवों को जाते हुये देखा। भगवान् से फिर प्रश्न किया–यह देव कहाँ जा रहे हैं?

भगवान् ने कहा– वह मुनि सर्व विशुद्ध पारिणामिक भाव रूप रह गये हैं जिससे सर्व कर्म कलंक दूर होकर मोक्ष को प्राप्त हुये हैं। उनका मोक्ष कल्याणक मनाने को देव जा रहे हैं।

इन भावों से जानना कि औदयिक भाव संसार बंधन का कारण हैं। पारिणामिक भाव बन्ध मोक्ष रहित कारण परमात्मा हैं। कारण समयसार ज्ञायक भाव है। यही ध्येय रूप है। इसी पारिणामिक भाव की दृष्टि द्वारा उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक सम्यक्त्व यानि शुद्ध भाव प्रगट होते हैं।

सिद्धान्ताचार्य पं. फूलचन्द जी जैन ने लब्धिसार ग्रन्थ की 18 पृष्ठीय विस्तृत प्रस्तावना में प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन, उसकी उत्पत्ति की निमित्तभूत पाँच लब्धियाँ–

1. क्षयोपशमलब्धि,
2. विशुद्धिलब्धि,
3. देशनालब्धि,
4. प्रायोग्यलब्धि
5. करणलब्धि

तथा इनके प्रभाव का वर्णन किया है। इनकी विशेषता बताते हुए उन्होंने लिखा कि प्रारंभ की चार लब्धियाँ यथासंभव भव्यों और अभव्यों दोनों के पायी जाती हैं। इतना अवश्य है कि जो मिथ्यादृष्टि भव्य जीव औपशमिक सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के सन्मुख होते हैं वे इनके होने पर ही करणलब्धि के सन्मुख होने के पात्र होते हैं।

इसमें हमें करणलब्धि के तीन भेद- अधःप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण। इनमें से प्रत्येक का काल अन्तर्मुहूर्त है। उसमें भी अधः प्रवृत्तकरण का काल सबसे अधिक है, उसका संख्यातवाँ भाग अपूर्वकरण का काल है और उसका भी संख्यातवाँ भाग अनिवृत्तिकरण का काल है।

जिस जीव ने प्रथमोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त किया है उसके दर्शनमोहनीय सम्बन्धी तीनों प्रकृतियाँ अन्तर्मुहूर्त काल तक सर्वोपशमरूप अवस्था को प्राप्त रहती हैं अर्थात् प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश इन चारों प्रकार से वे उपशान्त रहती हैं। हाँ अन्तर्मुहूर्त कालके बाद यदि मिथ्यात्व प्रकृति की उदीरणा होती है तो उक्त जीव मिथ्यादृष्टि हो जाता है और यदि सम्यक् प्रकृति की उदीरणा होती है तो उक्त जीव वेदक सम्यग्दृष्टि हो जाता है। इस प्रकार प्रथमोपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति कैसे होती है इसका विचार किया है।

इसके पश्चात् क्षायिकसम्यक्त्व, देशचारित्रलब्धि, सकलसंयमलब्धि (क्षायोपशमिक सकलसंयमलब्धि), औपशमिकचारित्रलब्धि, क्षायिकचारित्रलब्धि (क्षपकश्रेणि) के वर्णन के माध्यम से लब्धिसार ग्रन्थ के सम्पूर्ण सारांश को प्रस्तुत किया है और भावनाभायी है कि जिस प्रकार यह जीव सब कर्मों से विप्रमुक्त होकर सिद्धिगति को प्राप्त हो जाता है वैसे ही सिद्धिगति को प्राप्त हुए सिद्ध भगवान् हमें उत्कृष्ट सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र लब्धि के साथ उत्कृष्ट समाधि प्रदान करें।

पण्डित जी की यह प्रस्तावना अपने आप में एक स्वतन्त्र निबंध भी कह सकते हैं।

पण्डित टोडरमल जी की प्रस्तावना-

पण्डित टोडरमल जी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रन्थ लिखकर यश-सुयश अर्जित किया है। ढूंढारी भाषा में लिखित लब्धिसार की प्रस्तावना प्रासंगिक है। प्रारंभ में मंगलाचरण स्वरूप लिखते हैं कि-

सम्यग्दर्शनचरनयुत, पाय कुकर्म खिपाय।
केवलज्ञान उपाय प्रभु, भये भजौं शिवराय ।।
जिनवानी के ज्ञानतें, होत तत्त्व श्रद्धान।
चरण धारि केवल लहहै, पावै पद निरवान।।
नेमिचन्द आह्लादकर, माधवचंद प्रधान।
नमों जास उजासतें, जाने निज गुणठान ।।
लब्धिसारकों पायकै, करिकें क्षपणासार।
हो है प्रवचनसार सो, समयसार अविकार ।।

इसमें उन्होंने लब्धिसार का प्रयोजन बताया है।

उन्होंने औपशमिकचारित्र तक का वर्णन संस्कृत टीका के आधार पर किया है और औपशमिकचारित्र के बाद की गाथाओं का व्याख्यान क्षपणासार के अनुसार किया है। प्रारंभ में कर्मों की दस अवस्थाओं अर्थात् दशकरण का स्वरूप बताया है। इनकी यह विशेषता है कि यह पारिभाषिक शब्दों की सरल व्याख्या करते हुए चलते है। जैसे शक्ति का अविभाग अंश ता का नाम अविभागप्रतिच्छेद है। बहुरि तिनके समूहकरि युक्त जो एक परमाणुत्ता का नाम वर्ग है। परिभाषाओं की दृष्टि से उनकी यह प्रस्तावना महत्त्वपूर्ण है। इस प्रस्तावना का हिन्दी में अनुवाद होना चाहिए।

ब्र. डॉ. सुश्री सुजाता रोटे की प्रस्तावना-

ब्र. डॉ. सुश्री सुजाता रोटे ने लब्धिसार की प्रस्तावना लिखते हुए सर्वप्रथम करणानुयोग के अभ्यास से होने वाले लाभ को बारह बिन्दुओं के माध्यम से बताया हैं। उनके अनुसार करणानुयोग के अभ्यास से जीवादिक तत्त्वों का विशेष ज्ञान होता है। इसमें गुणस्थान, मार्गणा, जीवसमास आदि के द्वारा जीवों की सभी अवस्था विशेषों का सूक्ष्म ज्ञान होता है। कर्म की

बन्धव्युच्छित्ति, उदयव्युच्छित्ति आदि का ज्ञान होने से आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरादि तत्त्वों का स्वरूप अच्छी तरह समझ में आता है।

करणानुयोग के ज्ञान से द्रव्यानुयोग का ज्ञान समीचीन होता है।

कषायों की मन्दता होती है उससे परिणामों की विशुद्धि अधिक होकर सातिशय पुण्य का बन्ध होता है।

अनन्तर सम्यग्दर्शन और सम्यग्चारित्र लब्धि के भेद और स्वरूप, दशकरण के स्वरूप के अन्तर्गत- 1. बन्ध 2. उदय 3. सत्त्व 4. उदीरणा 5. उत्कर्षण 6. अपकर्षण 7. संक्रमण 8. उपशम 9. निधत्ति 10. निकाचना का विस्तृत वर्णन किया है।

इसके पश्चात् कर्मनिर्मूलन का अमोघ उपाय-दर्शनलब्धि और चारित्रलब्धि को भली प्रकार समझाते हुए कहा है कि- संवर और निर्जरा के योग से सभी कर्मों का नाश होने पर शुद्धात्मा की व्यक्त अवस्था रूप मोक्ष होता है। यह दर्शन और चारित्रलब्धि का फल है।

अनन्तर लब्धिसार ग्रन्थ की विषयवस्तु पर प्रकाश डाला है। लब्धिसार में पाँच अधिकार हैं- 1. प्रथमोपशमसम्यक्त्व अधिकार 2. क्षायिकसम्यक्त्व अधिकार 3. देशचारित्रलब्धिअधिकार 4. सकलसंयमलब्धिअधिकार 5. औपशमिकचारित्रलब्धि अधिकार। इन्हें ग्रन्थ से अच्छी तरह पढना चाहिए।

लब्धिसार ग्रन्थ का प्रथम श्लोक पंचपरमेष्ठी की वंदना के साथ होता है और अन्त में अपने गुरु आचार्य वीरनन्दि और इन्द्रनन्दि को नमस्कार करके हुआ है किन्तु दो श्लोकों से पूर्व सिद्ध, बुद्ध, निरंजन, नित्य ऐसे सिद्ध भगवान् को नमस्कार कर समाधि की कामना की गयी है। हम सबके लिए भी यह लक्ष्य प्राप्त हो ऐसी मैं कामना करता हूँ।

संदर्भ ग्रन्थ-

1. लब्धिसार
2. तत्त्वार्थ सूत्र
3. रत्नकरण्डश्रावकाचार
4. लब्धिसार की विविध प्रस्तावनाएं

प्रथमोपशम सम्यक्त्व के सम्मुख जीव के प्रकृति, स्थिति, प्रदेश व अनुभाग बन्ध का विश्लेषण

डॉ. हरिशचन्द्र जैन शास्त्री
(पू. प्राचार्य)
वर्धमान कॉलोनी, सागर

दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृतियों के क्षय, उपशम और क्षयोपशम होने से क्रमश: तीन प्रकार का सम्यक्त्व होता है। क्षायिक, औपशमिक व क्षायोपशमिक। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व को वेदक सम्यक्त्व भी कहते हैं। इनमें से उपशम सम्यक्त्व के दो भेद हैं-(1) प्रथमोपशम सम्यक्त्व (2) द्वितीयोपशम सम्यक्त्व।

दर्शन मोहनीय के उपशम से, कीचड़ के नीचे बैठ जाने से निर्मल जल के समान, पदार्थों का जो निर्मल श्रद्धान होता है, वह उपशम सम्यक्त्व है ऐसा गो. जीवकाण्ड में आचार्यनेमिचन्द्र जी ने लिखा है।[1] अर्थात् अनन्तानुबंधी की चार और दर्शनमोह की तीन इन सात प्रकृतियों के उपशम से औपशमिक सम्यक्त्व होता है ऐसा आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ में लिखा है।[2]

इसमें ही धवलाकार ने लिखा[3] कि पूर्वोक्त दर्शनमोह की सात प्रकृतियों के उपशम से उपशम सम्यग्दृष्टि होता है। यह भी क्षायिक जैसा ही निर्मल व नि:संदेह होता है।

उपरोक्त रूप इसके दो भेद कहे हैं। प्रथम और द्वितीय उपशम के रूप से।[4]

अनादि मिथ्यादृष्टि जीव को सर्वप्रथम प्रथमोपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। इसका काल एक अन्तर्मुहूर्त ही है। अत: यह होकर छूट जाता है।

इसका काल पूर्ण होने पर नियम से उसके मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति में से किसी एक का उदय अवश्य होता है।

उपशम श्रेणी चढ़ते हुए क्षयोपशम सम्यक्त्व से जो उपशम सम्यक्त्व होता है उसी का नाम द्वितीयोपशम सम्यक्त्व है।[5]

यहाँ पर प्रथमोपशम सम्यक्त्व के सम्मुख जीव के प्रकृति, स्थिीति, प्रदेश व अनुभाग बन्ध के विश्लेषण पर विचार करना है। लब्धिसार ग्रन्थ में आचार्य नेमिचन्द्र जी इस पर विचार करते हुए गाथा 28-32 तक इस पर विवेचना की है। उन्होंने लिखा है-

''उदये चउदसघादी णिद्दा पयलाण मेक्कदरगं तु।
मोहे दससिय णामे वचिठाणं सेसगे सजोगेक्कं।।''[6]

अर्थात् प्रथमोपशम सम्यक्त्व के अभिमुख चारों गतियों संबंधी मिथ्यादृष्टि जीव के सर्व मूल प्रकृतियों का उदय होता है। उत्तर प्रकृतियों में ज्ञानावरण 5, दर्शनावरण की 4, अन्तराय कर्म की 5 (कुल 14) निद्रा-प्रचला में से एक, मिथ्यात्व, पंचेन्द्रिय जाति, उपघात, परघात, उच्छवास, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक शरीर, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, निर्माण। इन

1. गो. जीवकाण्ड, गाथा-216।
2. सर्वार्थसिद्धि-2/3/152/9 ''आसां सप्तानां प्रकृतीनामुवशमादौपशमि के सम्यक्त्व''
3. एदासिं सत्तण्हं पयडीण मुवसमेण उवसम सम्माइट्ठी होई एरिसोचेय-धवला 1-1-1-12/171
4. गो. कर्मकाण्ड जीव प्र. 550/742
5. लब्धिसार- भाषा-गाथा/2/2
6. लब्धिसार- गाथा- 28 पृ.

प्रकृतियाँ का नियम से ध्रुव उदय होने के कारण उदय होता है। वेदनीय कर्म की साता अथवा असाता एक का उदय रहता है। मोहनीय कर्म की 10/9/8 प्रकृतियों का उदय होता है। मिथ्यात्व अनन्तानुबंधी अप्रत्याख्यानादि चतुष्कों में से किसी एक (क्रोध, मान, माया, लोभ में से कोई एक) का उदय होता है। (अर्थात् चारों कषायों में से जिसका उदय होगा उसी का अनंतानुबंधी अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन का उदय रहता है)। इन तीन वेदों में से किसी एक, हास्य, रति, अरति-शोक इन युगलों में से कोई एक युगल, भय व जुगुप्सा ये, मोहनीय कर्म से दस प्रकृतियाँ उदय स्वरूप होती है। इनमे ंसे भय अथवा जुगुप्सा को कम करने पर नौ और दोनों को कम करने पर आठ प्रकृतियों का उदय स्वरूप होती है।[7]

चारों आयु में से किसी एक आयु का उदय होता है। क्योंकि ये चारों पृथक-पृथक प्रतिनियत गति विशेष से प्रतिबद्ध है इसलिए तदनुसार ही उस-उस आयुकर्म के उदय का नियम देखा जाता है। 4 गति, 2 शरीर, 6 संस्थान और 2 आंगोपांग, इनमें अन्यत्तर एक-एक नाम-कर्म की प्रकृति का उदय होता है। 6 संहननों में से कदाचित् (यदि मनुष्य अथवा तिर्यंच प्रथमोपशम सम्यक्त्व के सम्मुख है तब) किसी एक संहनन का उदय है, और कदाचित् (देव अथवा नारकी प्रथमोपशम सम्यक्त्व के अभिमुख है तब) किसी भी संहनन का उदय नहीं होता। उद्योत का कदाचित् उदय पाया जाता है क्योंकि पंचेन्द्रिय तिर्यन्चों में किन्हीं के उद्योत का उदय पाया जाता है। दो विहायोगति, सुभग-दुर्भग, सुस्वर-दु:स्वर, युगलों में से प्रत्येक की किसी एक प्रकृति का उदय होता है। गोत्र-कर्म में उच्च वा नीच गोत्र का उदय होता है। यह उदय चारों गति संबंधी जीवों के है।

आदेश की अपेक्षा चारों गतियों में उदय चारों आयु में से जिस गति में जो आयु अनुभव की जाती है, उस आयु का उस गति में उदय होता है। गतियों में नरक तिर्यंच गति में नीच-गोत्र का ही उदय है, दोनों में से किसी एक गोत्र का उदय होता है, देव गति में उच्च गोत्र का ही उदय होता है।[8]

नाम कर्म की अपेक्षा तिर्यंच के, तिर्यंच गति, पंचेन्द्रिय जाति, औदारिक शरीर, तैजस शरीर, कार्मण-शरीर, 6 संस्थानों में से कोई एक सहननों में से कोई एक, संहनन, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक शरीर, वर्ण गंध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छवास, कदाचित् उद्योत, विहायोगति में से कोई एक, स्थिर अस्थिर, शुभ-अशुभ, दुर्भग-सुभग, आदेय-अनादेय, यश:कीर्ति-अयश:कीर्ति (अंतिम युगलों में से प्रत्येक में से कोई एक-एक) नाम कर्म की इन 30 या 31 प्रकृतियों का उदय होता है।

नाम कर्म की अपेक्षा नारकी के, नरकगति, पंचेन्द्रिय, वैक्रियिकशरीर, तैजसशरीर, कार्माणशरीर, हुंडक संस्थान, वैक्रियिकशरीरआङ्गोपांग, वर्ण, गंध, स्पर्श, रस, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छवास, अप्रशस्त विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक शरीर, स्थिर-अस्थिर, शुभ-अशुभ, दुर्भग-सुभग, अनादेय, अयश:कीर्ति और निर्माण नाम कर्म की 29 प्रकृतियों का उदय होता है।

मनुष्य है तो इन 30 नाम कर्म की प्रकृतियों में तिर्यंचगति की जगह मनुष्यगति युक्त 30 प्रकृतियों का उदय होता है।

देव है तब देवगति, पंचेन्द्रिय, वैक्रियिकशरीर, तैजसशरीर, कार्माणशरीर, समचतुरस्रसंस्थान वैक्रियिक शरीर आंगोपांग, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छवास, प्रशस्त विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक शरीर, स्थिर-अस्थिर, शुभ-अशुभ, सुभग-सुस्वर, आदेय, यश:कीर्ति और निर्माण। इन 29 नाम कर्म की प्रकृतियों का उदय होता है।

विशेष रूप से-

(1) उपर्युक्त गाथा क्रमांक 28 तथा धवला पुस्तक 6 पृ. 210 पर निद्रा और प्रचला किसी एक के उदय के साथ दर्शनावरणीय कर्म की 5 प्रकृतियों का उदय बतलाया है किन्तु जय धवला पु. 12, पृ. 227 पर पांचों की उदय व्युच्छित्ति

7. धवला पु. 6, पृ. 211, ध.पु. 15, पृ. 82-83, जय धवला पु. 12, पृ. 230 एवं गो.कर्मकाण्ड गाथा 475-479 तक।
8. धवला पुस्तक 15, पृ. 6।

कही है। क्योंकि साकारोपयोग और जागृत अवस्था विशिष्ट दर्शन मोह-उपशमक के पांच निद्रादि के उदय रूप विरोध है। इस प्रकार निद्रा और प्रचला के उदय में दो मत हैं1 एक मत इनमें से किसी एक का उदय स्वीकारता है। दूसरा नहीं स्वीकारता है।[9]

(2) प्रथमोपशम सम्यक्त्व के सम्मुख मिथ्यादृष्टि के निद्रादि 5 दर्शनावरण, 4 जाति नाम कर्म, 4 आनुपूर्वी नाम कर्म, आतप, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण शरीर ये प्रकृतियाँ उदय से व्युच्छिन्न होती हैं।[10]

प्रथमोपशम सम्यक्त्व के अभिमुख विशुद्ध मिथ्यादृष्टि के उदय प्रकृति संबंधी स्थिति, अनुभाग तथा प्रदेशों की उदय उदीरणा का कथन कहा है।

आचार्य नेमिचन्द्र जी ने अपने ग्रन्थ लब्धिसार में कथन करते हुए लिखा है[11]- प्रथमोपशम सम्यक्त्व के सम्मुख मिथ्यादृष्टि जीव के जिन प्रकृतियों का उदय है, उन प्रकृतियों की स्थिति क्षय से उदय में प्रविष्ट एक स्थिति का वेदक होता है शेष स्थितियों में अवेदक होता है। उक्त जीव के अप्रशस्त प्रकृतियों के उदय में दारू और लता रूप अथवा निम्ब-कांजी रूप द्विस्थानीय अनुभाग का वेदक हेाता है। उदय में आयी प्रशस्त प्रकृतियों का एक चतु:स्थानीय अनुभाग का वेदक होता है। जिन प्रकृतियों का वेदक होता है उन प्रकृतियों का प्रकृति स्थिति और प्रदेशों की उदीरणा करता है ऐसा ही गो. जीवकाण्ड में भी लिखा है।[12]

(3) प्रकृतियों के सत्व का कथन-आचार्य नेमिचन्द्र जी ने प्रकृतियों के सत्त्व का कथन करते हुए लिखा है- (1) प्रथमोपशम सम्यक्त्व के अभिमुख मिथ्यादृष्टि जीव यदि अबद्धायुष्क है तो उसके भुज्यमान आयु अतिरिक्त तीन आयु का और यदि बद्धायुष्क है तो भुज्यमान और बद्धयमान आयु के अतिरिक्त दो आयु का सत्त्व-नहीं होता इस स्थिति में क्रमश: (148-10)=138*[1] और (148-9)=139*[2] प्रकृतियों का सत्व होता है।

(2) किसी ने तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध से पूर्व दूसरे या तीसरे नरकायु का बन्ध किया हो तो उसका सम्यक्त्व एक अन्तर्मुहूर्त के लिए छूटता है और वह मिथ्यात्व में आ जाता है। पुन: वेदक सम्यक्त्व प्राप्त कर लेता है क्योंकि पल्योपम के[13] असंख्यातवें भाग पर्यन्त वेदक-सम्यक्त्व का उत्पत्ति काल है।[14] वेदक उत्पत्ति काल के बाद प्रथमोपशम सम्यक्त्व का ग्रहण हो सकता है।[15] आहारक चतुष्क का उद्वेलनाकाल से, वेदक सम्यक्त्व का उत्पत्ति काल बड़ा है।[16] अत: आहारक-चतुष्क के उद्वेलना के बिना प्रथमोपशम सम्यक्त्व उत्पन्न नहीं हो सकता। प्रथमोपशम सम्यक्त्व के सम्मुख किसी जीव के सम्यक्त्व प्रकृति का सत्व नहीं होता और किसी के सम्यक्त्व व सम्यग्मिथ्यात्व, इन दोनों प्रकृति का सत्त्व नहीं होता।

(3) प्रथमोपशम सम्यक्त्व के अभिमुख मिथ्यादृष्टि जीव के आठों मूल प्रकृतियों का सत्व होता है। उत्तर प्रकृतियों में ज्ञानावरण 5, दर्शनावरण 9, वेदनीय 2, मोहनीय की मिथ्यात्व, 16 कषाय और 9 नो कषाय, ये 26 प्रकृतियां सत्कर्म रूप से होती हैं, क्योंकि अनादि मिथ्यादृष्टि तथा 26 प्रकृतियों के सत्कर्म वाले सादि मिथ्यादृष्टिके इनका सद्भाव पाया जाता है। अथवा सादि मिथ्यादृष्टि के सम्यक्त्व प्रकृति के अतिरिक्त मोहनीय कर्म की 27 प्रकृतियाँ सत्कर्म रूप होती हैं। क्योंकि सम्यक्त्व प्रकृति की उद्वेलना करके उपशम सम्यक्त्व के सम्मुख हुए जीव के उनके होने में कोई विरोध नहीं है। अथवा सम्यक्त्व प्रकृति के साथ 28 प्रकृतियां सत्कर्म रूप होती है, क्योंकि वेदक सम्यक्त्व के योग्य काल को उल्लंघन कर जिसने सम्यक्त्व प्रकृति कर्म की पूर्ण रूप से उद्वेलना नहीं की है ऐसे उपशम सम्यक्त्व के अभिमुख जीव के उक्त शरीररूप से 28 प्रकृतियों का सद्भाव देखा जाता है।

---

*[1] 148-10 (3 आयु, 4 आरक चतु., 1 तीर्थंकर, सम्यक्त्व व सम्यग्मिथ्यात्व) *[2] 148-9 (आयु शेष उपर्युक्त)

9. जयधवला पु. 12, पृ. 229-30 । 10. वही, पु. 12, पृ. 226-227 । 11. लब्धिसार गाथा-29-30 ।

12. गो. जीवकाण्ड गाथा-278। उदयस्सुदीरणस्स य सामित्तादोण विज्जदि विसेसो। मोत्तूण तिण्णि ट्ठाणं पमत्त जोगी अवजोगीय।

13. धवला पु. 8, पृ. 104 । 14. गोम्मटसार कार्मकाण्ड गाथा 165

15. धवला पु. 5, पृ. 9-10, 33-34 16. गो. कर्मकाण्ड गाथा-613 एवं जयधवला पु. 12, पृ. 209 ।

आयु कर्म की एक या दो प्रकृतियां सत्कर्म रूप देखी जाती हैं जिसने परभव संबंधी आयु का बन्ध नहीं किया, उसके आयु कर्म की एक और जिसने किया है, उसके भुज्यमान आयु की एक और बुद्धयमान आयु की एक इस प्रकार से दो प्रकृतियाँ होती है। **नाम कर्म की गति 4**, जाति 5, औदारिक, वैक्रियिक, तैजस-कार्मण शरीर 4, इन्हीं के सम्बन्धी बन्धन 4, और संघात 4, संस्थान 6, संहनन 6, वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श 4, आनुपूर्वी 4, अगुरुलघु 1, उपघात-परघात 2, उच्छवास 1, आतप उद्योत 2, प्रशस्ता अप्रशस्त विहायोगति 2, त्रस स्थावर आदि 10, निर्माण 1, ये प्रकृतियाँ तथा अन्तराय कर्म की 5 प्रकृतियां सत्कर्म रूप है। *[1]

(4) सत्त्व प्रकृतियों के स्थिति-अनुभाग और प्रदेशबन्ध- आचार्य नेमिचन्द्र जी सत्त्व प्रकृतियों के स्थितित्रिक का कथन करते हुए लिखा है[17]- आयु कर्म अतिरिक्त उक्त प्रकृतियों का स्थिति सत्कर्म अंत:कोड़ाकोड़ी सागर होता है। आयु कर्म का तत्प्रायोग्य स्थिति सत्कर्म होता है। जिन प्रकृतियों का सत्कर्म है, उनका अजघन्य अनुत्कृष्ट प्रदेश सत्कर्म होता है।

जिन सत्ता रूप प्रकृतियों के स्थिति अनुभाग प्रदेश हैं। वे अजघन्य अनुत्कृष्ट हैं। जघन्य वा उत्कृष्ट स्थिति अनुभाग व प्रदेश सत्त्व यहां संभव नहीं है।

(5) प्रथमोपशम सम्यक्त्व के सम्मुख मिथ्यादृष्टि जीव के स्थिति-अनुभाग बन्ध के भेद- प्रथमोपशम सम्यक्त्व के अभिमुख मिथ्यादृष्टि जीव बन्धने योग्य कर्म प्रकृतियों का अंत:कोड़ीकोड़ी सागरोपम प्रमाण ही स्थिति बन्ध करता है, क्योंकि वह विशुद्धतर परिणामों से युक्त होता है, उससे अधिक स्थिति बन्ध सम्भव नहीं है, तथा प्रशस्त कर्म प्रकृतियों का द्विस्थानीय अनंत अनंत गुणा घटते हुए और प्रशस्त प्रकृतियों का चतु:स्थानीय अनुभाग बन्ध प्रति समय अनंत अनंत गुणा वृद्धिंगत बांधता है।[18]

(6) प्रथमोपशम सम्यक्त्व के सम्मुख जीव के प्रदेश बन्ध का कथन- प्रथमोपशम सम्यक्त्व के सम्मुख हुआ मिथ्यात्व 1, अनन्तानुबंधी चतुष्क 4, स्त्यानगृद्धादित्रिक 3 (निद्रानिद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानगृद्धि), देव चतुष्क 4, (देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, वैक्रयिकशरीर, वैक्रियिकआंगोपांग) समचतुरस्रसंस्थान 1, वज्रवृषभनाराज संहनन 1, प्रशस्त विहायोगति 1, शुभगादि तीन (सुभग, सुस्वर, आदेय), नीच गोत्र 1 इन 19 प्रकृतियों का उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट प्रदेश बन्ध करते हैं। तथा उपरोक्त 19 कर्म प्रकृतियों से रहित तीन महादण्डक अर्थात् 21, 22, 23 शेष 61 प्रकृतियों का अनुत्कृष्ट प्रदेश बन्ध करते है।[19]

इस प्रकार यह प्रथम प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन है। यह जीव के लिए मुख्य और भूमिस्वरूप है। यह मुख्य इसलिए है क्योंकि सर्वप्रथम मोक्षमार्ग का दरवाजा इसके द्वारा ही उद्घाटित होता है और भूमिस्वरुप इसलिए है क्योंकि मोक्षमार्ग पर आरूढ़ होने के लिए यह सर्वप्रथम जमीन का काम देता है।

परम पूज्य उच्चारणाचार्य भक्तामर महोदधि, 108 आचार्य श्री विनम्रसागर जी महामुनिराज के ससंघ सान्निध्य में जो भी विद्वत संगोष्ठी की जाती हैं यह सभी संगोष्ठियों से हटकर होती है। जिन ग्रन्थों पर स्पर्श अधिकांश विद्वानों को नहीं हुआ होगा ऐसे ग्रन्थों पर आचार्य श्री के सान्निध्य में संगोष्ठियाँ होती हैं। गो. जीवकाण्ड, एवं कर्मकाण्ड तक में भी अधिकांश विद्वानों का आज प्रवेश नहीं होता है। लब्धिसार, धवला, जयधवला ग्रन्थों के नाम तो केवल सुने मात्र होते हैं। ऐसे ग्रन्थों पर संगोष्ठी करवाकर एक शोध-खोज का कार्य है एवं करणानुयोग विषय में प्रवेश करवाने का एक माध्यम है।

परम पूज्य उच्चारणाचार्य श्री 108 विनम्रसागर जी महामुनिराज के चरणों में कोटि-कोटि नमन एवं संघस्थ मुनिराज श्री 108 विज्ञसागर जी महाराज के साथ समस्त पूज्य मुनिराजों के चरणों में शत-शत सविनय नमन।

।।इति।।

*1 यदि सम्यक्त्व व सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति की उद्वेलना नहीं की है तो 148-8=140 अथवा 148-7=141 सम्यक्त्व रहेगी।

17. लब्धिसार गाथा-32 पृ. 21 18. लब्धिसार गाथा 24, पृ. 14 19. वही गाथा 25-26, पृ. 15

संदर्भित ग्रंथ सूची –

1. लबधिसार
2. गोम्मटसार जीवकाण्ड
3. जयधवला पुस्तक 12
4. गोम्मटसार कर्मकाण्ड
5. धवला पुस्तक – 8
6. धवला पुस्तक – 5
7. धवला पुस्तक – 6
8. धवला पुस्तक – 15
9. सर्वार्थसिद्धि

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में करणानुयोग की उपयोगिता

डॉ. नीलम जैन सर्राफ
ललितपुर (उ.प्र.)

संतो के ही चरण रज से पावन यह भारत भूमि न जाने अपने गर्भ में कितनी संस्कृतियों को धारण किये है। कभी उस भारत भूमि की गौरव गाथा को हिमालय अपनी शुभ्रता से गाता है तो कभी सागर की असंख्य लहरें अपनी कल-कल ध्वनि से उसका गुणगान करती है। यह आध्यात्मिकता की धारा ही है जिसने भारत देश को संपूर्ण विश्व में अलग पहचान दी है। चौबीस तीर्थंकरो की दिव्य ध्वनि से अभिगुंजित वाणी को आत्मसात कर ऋषि मुनियों ने गणधर आदि के माध्यम से ग्रहण किया और उसे लिपिबद्ध किया, इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान के निर्मल ज्ञान में जैसा वस्तु का स्वरूप आया, वैसा ही दिव्यध्वनि द्वारा बताया और यही वाणी जिनवाणी है। द्वादशांग जिनागम को आचार्यों ने सरल-सरस पद्धति में बाँटा जिसे अनुयोग कहा गया।

यद्यपि जिनवाणी में तो मिथ्यात्व के अभाव का ही उपदेश है तो भी जब तक जीव जिनवाणी के अभ्यास की या उसके अर्थ को समझने की पद्धति यथार्थ नहीं जानता, वह इसके मर्म को तो समझ नहीं पाता, उल्टा अपनी ही कल्पना से अन्यथा समझता रहता है अतः मिथ्यात्व पुष्ट होता रहता है छूट नहीं पाता है।

ऐसे मिथ्यात्व को छोड़ने के लिए जिनधर्म का उपदेश वर्तमान में मुख्य रूप से चार अनुयोगों के द्वारा किया गया है। वीतरागता के पोषण के लिए कथन करने की विधि को अनुयोग कहते हैं। वे अनुयोग चार है- 1. प्रथमानुयोग 2. करणानुयोग 3. चरणानुयोग 4. द्रव्यानुयोग ।

1. प्रथमानुयोग-जिन शास्त्रों में तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलभद्र आदि महापुरुषों के चरित्र द्वारा पुण्य-पाप के फल का वर्णन किया जाता है और अन्ततः वीतरागता को हितकर बताया जाता है, उन्हें प्रथमानुयोग के शास्त्र कहते है। जैसे - आदिपुराण, महापुराण, उत्तरपुराण, पद्मपुराण, हरिवंशपुराण आदि।

2. करणानुयोग- जिन शास्त्रों में अत्यंत सूक्ष्म, केवलज्ञानगम्य गुणस्थान मार्गणास्थान आदि रूप जीव के भावों का तथा कर्मों और तीन लोकों का भूगोल सम्बन्धी वर्णन होता है वे करणानुयोग के ग्रंथ कहलाते है। इसमें गणित की मुख्यता रहती है क्योंकि गणना और नाप का वर्णन होता है।

जैसे-गोम्मटसार जीवकाण्ड, गोम्मटसार कर्मकाण्ड, लब्धिसार, त्रिलोकसार ग्रन्थ आदि।

3. चरणानुयोग-जिन शास्त्रों में गृहस्थ और मुनिराजों के आचरण सम्बन्धी नियमों का वर्णन होता है। इस अनुयोग में जैसे भी हो यह जीव पाप छोड़कर धर्म में लगे रागादि से बचे और वीतरागता में वृद्धि करे। वैसी ही अनेक युक्तियों से कथन किया जाता है। इसमें सुभाषित, नीति शास्त्रों की पद्धति मुख्य है। जैसे-मूलाचार, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, पुरुषार्थ सिद्धयुपाय आदि।

4. द्रव्यानुयोग- जिन शास्त्रों में षट् द्रव्य, पंचास्तिकाय, सप्ततत्त्व, नवपदार्थ आदि का तथा स्व-पर भेद विज्ञान आदि का वर्णन पाया जाता है। वे द्रव्यानुयोग के शास्त्र है द्रव्यानुयोग में आत्मस्वभाव व परिणामों की मुख्यता रहती है। द्रव्यानुयोग में न्याय शास्त्र की पद्धति मुख्य है, क्योंकि इसमें तत्त्व निर्णय करने की मुख्यता है और निर्णय युक्ति व न्याय के बिना संभव नहीं होता। जैसे - पंचास्तिकाय, समयसार, प्रवचनसार द्रव्यसंग्रह, न्यायदीपिका परीक्षामुख, आप्तमीमांसा, परमात्मप्रकाश इत्यादि ।

इस प्रकार चारों अनुयोगों का कथन पद्धति अलग-अलग है, पर सबका प्रयोजन एक मात्र वीतरागता का पोषण है। कहीं तो बहुत रागादि छुड़ाकर अल्प रागादि कराने का प्रयोजन पोषण किया है। कहीं सर्व रागादि छुड़ाने का पोषण किया है। किन्तु रागादि बढ़ाने का कहीं भी प्रयोजन नहीं है।

जैन धर्म एक ऐसा पवित्र अनुष्ठान है, जिसका उद्देश्य आत्मा का शुद्धिकरण है। जैन धर्म के विचारों को किसी काल,

देश अथवा सम्प्रदाय की सीमा में नहीं बाँधा जा सकता है। यह प्राणी मात्र का धर्म है जैन दर्शन जीवन का शुरु विज्ञान है, जब इस विज्ञान को व्यवहार का रूप दिया जाता है तो वह धर्म बन जाता है। जिसका लक्ष्य है आत्मा को प्रकृति के मिश्रण से मुक्त करना है।

ज्ञातव्य हो कि कर्म भी पुद्गल परमाणु है और कर्मों से आत्मा को अलग करना ही जीव का चरम या अंतिम लक्ष्य है। आज व्यक्ति धर्म को नहीं मानता उसे केवल विज्ञान की भाषा समझ आती है। जब कि जैन दर्शन विज्ञान से बहुत आगे की अभिव्यक्ति है। विज्ञान तो प्रकृति में व्याप्त धर्म का ही अनुसंधान करने में लगा हुआ है विज्ञान ने पता लगाया कि चुम्बक लोहे को खींचता है, तो विज्ञान ने क्या किया? विज्ञान ने चुम्बक के भीतर छिपे हुए स्वधर्म का पता लगाया।

न्युटन ने कहा कि पृथ्वी में आकर्षण शक्ति है और इसीलिए वृक्ष से टूटा फल आकाश की तरफ नहीं जाता, बल्कि पृथ्वी पर गिरता है तो न्यूटन ने क्या खोज की? यह पृथ्वी का स्वधर्म है लेकिन उसे न्युटन का सिद्धांत कह दिया अब विचार यह करना है कि क्या न्युटन ने कहा हम इसलिए वह नीचे जाते हैं। हम सूर्य को रोज उगता व अस्त होता देखते है, सर्दी में दिन छोटे और रात बड़ी होती है और गर्मी में दिन बड़े और रात छोटी होती है तब हम केवल सूर्य चन्द्र पृथ्वी के स्वधर्म को देखते हैं। और यही स्वधर्म की क्रिया प्रतिक्रिया को तीर्थङ्कर प्रभु ने अपने केवलज्ञान में यथार्थवत देखा और जो देखा उसे अपनी वाणी में/दिव्यध्वनि में कहा। तीर्थंकर प्रभु ने सृष्टि की रचना, जगत स्वरूप, जीव के भाव, कर्म की स्थितियाँ उनका बंध/सत्त्व/उदय उदीरणा आदि का जब विस्तार से संपूर्ण स्वरूप का वर्णन किया तब वह करणानुयोग की श्रेणी में आया।

तब हम कहेंगे कि चाहे जीवों को समझना हो उनके भावो को समझना, दृष्टि को समझना हो, तीनों लोक के नाप तौल को समझना हो वह केवल करणानुयोग के ग्रंथों से ही संभव है। करणानुयोग शास्त्रों में भौगोलिक नक्शों द्वारा उत्तर तथा दक्षिणी, पूर्व तथा पश्चिमी अँचलों की प्रस्तुति करते हुए नदियाँ, पर्वतों का प्रस्तुतीकरण समानुपातिक ढंग से, समुद्रों के वलयों की अवस्थिति का उल्लेख, द्वीपो की स्थिति के साथ, तीनों लोकों को प्रस्तुत कर जो सृष्टि को बताया है। अब बताये कि अछूता क्या है।

श्रुत परंपरा के बाद जब आचार्यों द्वारा जिनेन्द्र की वाणी को लिपिबद्ध किया गया वह ग्रंथ 'षट्खण्डागम' के रूप में हमें प्राप्त होता है, जिस ग्रंथ में छह खंड है, 1. जीवट्ठाण 2. खुद्दाबन्ध 3. बंधसामित्तविचय 1. वेयणा 5. वग्गणा 6. महाबंध।

1. जीवट्ठाण– नामक प्रथम खंड में जीव के गुण धर्म और नाना अवस्थाओं का वर्णन आठ प्ररूपणाओं में किया गया है। ये आठ प्ररुपणाएँ सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व है। इसके अनन्तर नौ चूलिकाएँ हैं। इसमें कुल 2,375 सूत्र हैं।

2. खुद्दाबन्ध– इसमें मार्गणाओं के अनुसार कौन जीव बंधक है और कौन अबन्धक का विवेचन किया है। कर्म सिद्धांत की दृष्टि से यह द्वितीय खण्ड बहुत उपयोगी और महत्त्वपूर्ण है। इसका विशद विवेचन निम्नलिखित ग्यारह अनुयोगों द्वारा किया गया है।

1. एक जीव की अपेक्षा स्वामित्व
2. एक जीव की अपेक्षा काल
3. एक जीव की अपेक्षा अन्तर
4. नानाजीवों की अपेक्षा भंग विचय
5. द्रव्यप्रमाणानुगम
6. क्षेत्रानुगम

7. स्पर्शानुगम 8. नाना जीवों की अपेक्षा काल 9. नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर 10. भागाभागानुगम 11. अल्पबहुत्वानुगम इन ग्यारह अनुयोगों के पूर्व प्रस्ताविक रूप में बंधकों के सत्त्व की प्ररूपण की गई। इसमें 1,582 सूत्र है।

3. बंधसामित्तविचय इस तृतीयखण्ड में कर्मों की विभिन्न प्रकृतियों के बंध करने वाले स्वामियों का विचार किया गया है। यहाँ विचय शब्द का अर्थ विचार, मीमांसा और परीक्षा है यहाँ इस बात का विवेचन किया है कि कौन सा कर्मबन्ध किस गुणस्थान और मार्गणा में संभव है। इस खण्ड मे कुल 324 सूत्र है।

4. वेदनाखण्ड–कर्मप्राभृत के 24 अधिकारों में कृति और वेदना नामक प्रथम दो अनुयोगों का नाम वेदना खण्ड है। इसमें 1,449 सूत्र है।

5. वर्गणाखण्ड– इसमें स्पर्श, कर्म और प्रति नामक तीन अनुयोग द्वारों का प्रतिपादन किया गया है। इसके माध्यम से स्पर्श आदि विधान को 16 अधिकारों का वर्णन और कर्म और प्रकृति का स्वरूप दिखाया है। इसमें कमश: 63, 31 और 142 सूत्र है।

6. महाबन्ध– बन्धनीय अधिकार की समाप्ति के पश्चात् प्रकृति बंध, प्रदेशबंध, स्थितिबंध, और अनुभाग बंध का विवेचन छठे बंध में अनेक अनुयोगद्वारों में विस्तारपूर्वक किया गया है।

इसके वर्णन से तात्पर्य यही है कि जब ऐसे सिद्धांत ग्रंथ जिसमें जीव की समस्त अवस्थाओं का वर्णन है और सृष्टि के समस्त क्रिया कलापों के साथ रचना आदि की विवेचना है, तब इसके अलावा क्या रह जाता है, जिसे ढूढ़ने कहीं अन्यत्र जाना पड़े। अर्थात् जिन्होंने इन सिद्धांत ग्रंथो के पठन–पाठन के साथ आत्मसात् कर लिया है तब दुनिया में उसके लिए कोई भी चीज आश्चर्यकारी नहीं हैं। इस श्रेष्ठ मार्ग के अलावा कहीं कोई भटकन नहीं है, क्योंकि व्यक्ति ने अपने कर्मों की दशा को जान लिया है, फिर वह मिथ्यात्व का पोषण नहीं करेगा, आज जब हम छोटी–छोटी तकलीफ या समस्या आने पर भटक जाते हैं, श्रेष्ठता को त्याग अश्रेष्ठता को अपनाते हैं। क्यों? क्योंकि हमने सिद्धांत को नहीं समझा।

विज्ञान के एक आविष्कार को आश्चर्य से देखने की अपेक्षा यदि सिद्धांत को समझते तो यह चंद्रमा पर पहुंचना, मंगल ग्रह पर पहुंचना कोई आश्चर्यकारी नहीं लगता, आश्चर्य नही लगता कि मोबाइल कैसे काम करता है, क्योंकि हम शब्दों की शक्ति से अंजान हैं, अभी विज्ञान ने खोजा ही क्या है, हमारे आचार्यों ने वह सब कुछ लिखा है जो इस जगत् में है क्योंकि आचार्यों ने वही लिपिबद्ध किया जो केवली भगवान ने/तीर्थङ्कर प्रभु ने कहा और तीर्थङ्कर प्रभु ने वही कहा जो है उन्होंने इन तीनों लोकों में देखा, क्योंकि केवलज्ञान होने पर सब कुछ देखने में आता है। इससे आप जान सकते है कि सिद्धांतों को जानने की कितनी आवश्यकता है।

जीवन की व्यवहारिकता के अतिरिक्त आध्यात्मिक जीवन शैली के लिए करणानुयोग की आवश्यकता पर दृष्टिपात करते हैं तब देखें कि अन्य तीन अनुयोग अर्थात् प्रथमानुयोग, चरणानुयोग व द्रव्यानुयोग ये तीनों अनुयोग भी करणानुयोग को ही पुष्ट करते हैं। प्रथमानुयोग जिसमें 63 श्लाका पुरुषों के चरित्रों का वर्णन, महापुरुषों, सतियों आदि के कथानक आदि के माध्यम से आचार्य यही बताते हैं, कि किन कर्मों का फल क्या है, किससे पाप बंध हुआ और पुण्य हेतु क्या उपाय है और पुण्य पाप से परे जीव को कर्मों की निर्जरा कर आत्म तत्त्व की प्राप्ति हेतु उपाय करना चाहिए। जिसके लिए कैसा आचरण करें, किस मार्ग पर चले, संयमित जीवन को प्राप्त कर कर्मों की निर्जरा करने हेतु परिणामों की विशुद्धि द्वारा गुणस्थानों को प्राप्त करते हुए आत्मतत्त्व को प्राप्त करें। यह चरणानुयोग का विवेचन भी आत्मा की शुद्धता के लिए है । द्रव्यानुयोग में स्व–पर भेद विज्ञान कैसे हो यह बतलाया जाता है और भेद विज्ञान जीव को अपने आत्म स्वरूप की प्राप्ति के लिए ही है। जीव जो अनादि काल से कर्मों से लिप्त अपनी आत्मा को मलिन किये हुए है और वह शुद्ध अवस्था को कैसे प्राप्त हो उसे जीव जुदा और कर्म जुदा ऐसा भेद विज्ञान के द्वारा द्रव्यानुयोग का विवेचन है। आत्मा की शुद्धि प्राप्ति हेतु यह वर्णन द्रव्यानुयोग की शैली है, जो अपने लक्ष्य अर्थात् आत्मा की प्राप्ति हेतु ही कही गई है।

सभी जानते है कि संसार में जीव का बंधन यद्यपि पर के साथ है पर उस बन्धन में अपराध उस जीव का स्वयं का है। वह निज के स्वरूप को न जानने की भूल से पर को अपनाता है और वही उसका बंधन है और यह बंधन ही संसार है। संसारी

आत्मा अपने विकारी भावों के कारण कर्म से बँधता है और अपने आत्म ज्ञान से ही कर्मबंधन से मुक्त होता है पर संसारी और मुक्त दोनों अवस्थाओं में अपने उन-उन भावों का कर्ता वह स्वयं है अन्य कोई नहीं। जैन धर्म बिना किसी बाहरी सहायता के, स्वयं अपने पुरुषार्थ द्वारा ही आत्म-कल्याण प्राप्त करने का मार्ग बतलाता है। और इस मार्ग पर कैसे चला जाये किन परिणामों का फल क्या होगा, इस हेतु करणानुयोग का ज्ञान अत्यंत आवश्यक है। उसकी उपयोगिता वर्तमान में कहीं नहीं वरन् प्रत्येक काल में है, किंतु वर्तमान में इसके पठन-पाठन की कमी को देखते हुए यह कहा गया है कि इसकी उपयोगिता वर्तमान परिप्रेक्ष्य में क्या है। तब यही कहा जायेगा कि जीवन की यथार्थता का बोध कराने वाला करणानुयोग जिसमें जीव अपने भावों की दशा को समझकर जीवन से मुक्ति कैसे प्राप्त कर सकता है।

सक्षेप में कहें तो,

1. करणानुयोग के पठन करने से जीवों के परिणाम और कर्म- बंधादि के निमित्त-नैमित्तिक संबंध का यथार्थ ज्ञान होता है।

2. करणानुयोग के पठन से भूमिका के अनुसार होने वाले परिणामों का और तदनुकूल शुभाशुभ आचरण का विवेक जाग्रत होता है।

3. अपनी व यथायोग्य अन्य की भूमिका का स्थूल ज्ञान होता है।

4. देव व गुरु का यथार्थ निर्णय होता है।

5. गुणस्थान, करणानुयोग का विषय होने से इसके अभ्यास से कषायों की मंदता विशेष होती है, जिसके सहज ही पुण्य का बंध होता है।

6. बार-बार अभ्यास करने से ज्ञान में निर्मलता आती है, जिससे आनंद की उत्पत्ति होती है।

7. परिणामों के अनुसार गुणस्थानों में ऊपर-नीचे गमनागमन होता है ऐसा जानकर परिणामों को सम्हालने ही प्रेरणा मिलती है।

8. मोक्षमार्ग अति सरल नहीं तथा असंभव भी नहीं- ऐसा सच्चा निर्णय होता है।

9. पूज्य-अपूज्य का निर्णय होता है।

10. इतना सूक्ष्म विवेचन सर्वज्ञदेव की वाणी में ही हो सकता है-ऐसा जानकर सर्वज्ञ की महिमा आती है।

इत्यादि अनेक अनेक कारण/लाभ है जो करणानुयोग के पठन-पाठन से होता है। इसलिए हमें अन्य अनुयोगों के साथ करणानुयोग का भी अध्ययन करना चाहिए जिससे हम अपने आप को पहचान कर, अपने भावो को संभाल कर अपना आत्म कल्याण कर सकते है।

अन्तरकरण का स्वरूप और होने वाले कार्य मोहनीय कर्म के तीन विभाग का विश्लेषण

– डॉ. श्रीमती अल्पना अशोक जैन मोदी ग्वालियर

जयन्त्यन्वहमर्हन्तः सिद्धः सूर्युपदेशकाः।
साधवो भव्यलोकस्य शरणोत्तममंगलम्।।

देवाधिदेव प्रथम तीर्थंकर भगवान श्री ऋषभनाथ जी से लेकर चौदह पूर्वी और यथा सम्भव ग्यारह अंगों में जो निश्चित तत्त्व व्यवस्था निरुपित की गयी और अन्त में उसी रूप में जिसकी प्ररूपणा चौबीसवें अन्तिम तीर्थंकर भगवान श्री वर्द्धमानस्वामी जी ने की है। तीर्थंकर महावीर स्वामी जी की दिव्य देशना को श्री इन्द्रभूति गौतम स्वामी गणधर सहित 11 गणधरों ने ग्रहण किया और द्वादशांगमय जिनवाणी की रचना कर प्रभुवाणी को आगे श्रुतकेवली आदि को प्रदान करने का महान् कार्य किया। श्रुतकेवलियों से आगे बढ़कर वह दिव्यवाणी आचार्य परम्परा को प्राप्त हुई।

क्रमशः महनीयज्ञान श्री गुणधराचार्य और श्री धरसेनाचार्य को भी प्राप्त था। श्री धरसेनाचार्य से वह ज्ञान श्री पुष्पदंत जी और श्री भूतबली जी आचार्य द्वय को प्राप्त हुआ। उन्होंने उसे सूत्र रूप में निबद्ध कर जिनवाणी को हम सब तक पहुँचाने का भगीरथ प्रयत्न किया है। आचार्य परम्परा द्वारा रचित ग्रन्थ 'प्रथमं करणं चरणं द्रव्यं अर्थात् 'प्रथमानुयोग–करणानुयोग–चरणानुयोग–द्रव्यानुयोग' इन चार अनुयोगों में विभक्त है।

चतुरनुयोग में 'करणानुयोग' सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। आचार्य द्वय पुष्पदंत–भूतबली ने 'षट्खण्डागम' की रचना की है। उन छह खण्डों में प्रतिपादित सिद्धान्त एवं समकालीन श्री गुणधराचार्य द्वारा निबद्ध 'कषायपाहुड़' ग्रन्थ के 15 अधिकारों का मनन–चिन्तन व पारायण करके 10 वीं, 11 वीं सदी में 'सिद्धान्त चक्रवर्ती श्रीमन् नेमिचन्द्राचार्य' ने गंग नरेश श्री रायमल्ल के प्रधानमंत्री एवं सेनापति श्री चामुण्डराय के प्रश्न के निमित्त से श्री गोम्मटसार जीवकाण्ड–कर्मकाण्ड, त्रिलोकसार तथा लब्धिसार–क्षपणासार प्राकृत गाथा बद्ध ग्रन्थों का प्रणयन किया है।

लब्धिसार–क्षपणासार करणानुयोग का एक प्राकृत गाथा बद्ध ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में कुल 653 गाथाओं द्वारा कर्म सिद्धान्त का सूक्ष्म विवेचन तथा सम्यग्दर्शन व सम्यक्चारित्र की उत्पत्ति का दिग्दर्शन किया गया है। ग्रन्थ की अन्त्य–पुष्पिकाओं से विदित होता है कि लब्धिसार में क्षपणासार ग्रन्थ का विषय अन्तर्गर्भित है। आचार्य श्री नेमिचन्द्र जी सिद्धान्त चक्रवर्ती ने षट्खण्डागम के अन्तर्गत जीवखण्ड के चूलिका नामक अर्थाधिकार की आठवीं चूलिका और कषाय प्राभृत के अन्त के दशवें अधिकार से लेकर पन्द्रहवें अधिकार तक इन छह अर्थाधिकारों का अवलम्बन लेकर इस महान् ग्रन्थ की रचना की है। विस्तार पूर्वक लब्धियों का कथन होने से ग्रन्थ का लब्धिसार गौण्यपद नाम है तथा चारित्रमोह की क्षपणा का कथन होने से क्षपणासार नाम सार्थक है। इस प्रकार लब्धिसार–क्षपणासार यह नामकरण विषय विवेचन की प्रधानता से किया गया है। आगम प्रणीत ग्रन्थों में 'लब्धिसार–क्षपणासार' एक अनुपम ज्ञान का अर्णव अर्थातब समुद्र योगमार्ग को सुलझाने वाला प्रदीप अर्थात् उत्कृष्ट दीपक और अथाह संसार समुद्र से पार होने के लिए जहाज सदृश अत्यधिक उपयोगी ग्रन्थ है।

लब्धिसार ग्रन्थ में आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने 391 गाथाओं द्वारा पाँच अधिकारों में प्रथमोपशम सम्यक्त्वलब्धि, क्षायिक सम्यक्त्वलब्धि, देशचारित्र लब्धि, सकलसंयम लब्धि और औपशमिकचारित्र लब्धि तक पाँचों लब्धियों का विस्तार से कथन किया है। इस प्रकार लब्धिसार ग्रन्थ में सर्व 391 गाथाओं में पंचलब्धियों का पूर्ण विवेचन किया गया है। तत्पश्चात् 392 से 653 गाथाओं तक अर्थात् 261 गाथाओं द्वारा क्षपणासार में चारित्रमोहनीय कर्म की क्षपणा

का सविस्तार कथन निरुपित किया गया है। लब्धिसार-क्षपणासार ग्रन्थ में कर्मों से मुक्त होने के साधनों की विस्तार पूर्वक चर्चा तो की गई है साथ ही ग्रन्थकार ने समस्त कर्मों में मोहनीय कर्म सर्वाधिक बलवान है और उसमें भी दर्शनमोहनीय जिसका कि पर्यायवाची नाम मिथ्यात्व कर्म है, और भी अधिक बलवान है। इसी कर्मोदय के कारण जीव अनन्तकाल तक सांसारिक कष्टों को भोगता रहता है, इसकी भी चर्चा की है।

अनादि संसार में भ्रमणशील प्राणी अनुकूल संयोगों के मिलने पर सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकता है। इसके लिए कुछ विशिष्ट योग्यताओं की आवश्यकता होती है; उन्हीं योग्यताओं की प्राप्ति को लब्धि कहते हैं।

संस्कृत के लभ् धातु से कित्न् प्रत्यय लगने पर लब्धि शब्द बना है। 'लम्भनं लब्धिःङ्ख यह लब्धि शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है; जिसका अर्थ है प्राप्त होना। सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ में आचार्य श्री पूज्यपाद स्वामी ने अध्याय दो सूत्र सैंतालीस की टीका में 'तपोविशेषाद्दद्धि प्राप्तिर्लब्धिः' अर्थात् तप विशेष से प्राप्त होने वाली ऋद्धि को लब्धि कहा है। धवला पुस्तक आठ में 'सम्मद्दंसण णाणचरणेसु जीवस्स समागमो लद्धीणाम' अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र में जो जीव का समागम होता है, उसे लब्धि कहा है। गोम्मटसार जीवकाण्ड जीव प्रबोधनी टीका गाथा 165/391/4 में लिखा है 'मतिज्ञानावरण क्षयोपशमोत्था विशुद्धिर्जीवस्यार्थ ग्रहण शक्ति लक्षण लब्धिः' अर्थात् जीव के जो मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न हुई विशुद्धि, जो जीव के पदार्थों को ग्रहण करने की शक्ति है, उसको लब्धि कहते हैं। अतएव जैन दर्शन में कर्म मुक्ति के पुरुषार्थ स्वरूप जीव की विविध शक्तियाँ, उपलब्धियाँ, प्राप्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं। जिसके फलस्वरूप जीव मुक्ति के सौपानों पर अग्रसर हो जाता है, इन्हें जैन सिद्धान्त में लब्धियाँ कहा जाता है। प्रथमोपशम सम्यक्त्वलब्धि की प्राप्ति पाँच लब्धियों के प्राप्त होने पर होती है, उन लब्धियों के नाम इस प्रकार हैं-क्षयोपशमलब्धि, विशुद्धिलब्धि, देशनालब्धि, प्रायोग्यलब्धि और करणलब्धि। इनमें से प्रारम्भ की चार लब्धियाँ क्षयोपशमलब्धि, विशुद्धिलब्धि, देशनालब्धि और प्रायोग्यलब्धि की सार्थकता करणलब्धि के प्राप्त होने पर ही है। क्योंकि प्रारम्भ की चार लब्धियाँ यथा सम्भव भव्य जीवों को और अभव्य जीवों को दोनों के ही पायी जाती हैं। इतना अवश्य है कि जो भव्य मिथ्यादृष्टि जीव औपशमिक सम्यक्त्व के प्राप्त करने के सम्मुख होते हैं, वे इन चारों लब्धियों को प्राप्त करने के अनन्तर ही करणलब्धि के सन्मुख होने के पात्र होते हैं। अर्थात् उनको क्रम से ही पाँच लब्धियाँ होंगी तभी वह जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है। गोम्मटसार जीवकाण्ड में कहा है -करणलब्धिस्तु भव्य एव स्यात् जैन दर्शन में 'भव्य' का अर्थ सम्यक्त्व श्रद्धा (सम्यग्दर्शन) प्रगट होने की योग्यता रखने वाला जीव है। पूर्वोक्त चार लब्धियाँ भव्य और अभव्य दोनों प्रकार के जीव प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु करणलब्धि की प्राप्ति केवल भव्य जीवों को ही होती है। इसके उपलब्ध होते ही मिथ्यात्त्व से मुक्ति एवं सम्यक्त्व की उपलब्धि होती है। अर्थात् इस लब्धि को प्राप्त जीवों की श्रद्धा पूर्णतया सम्यक्त्व हो जाती है और कर्म विनाश करने अथवा आत्मोन्नति करने के लिए जीव का आभ्यन्तर पुरुषार्थ प्रारम्भ हो जाता है।

करण तीन होते हैं। अधःकरण या यथाप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण गोम्मटसार में कहा गया है- करणानित्रीण्यधः प्रवृत्तापूर्वानिवृत्तिकरणानि' डॉ. सागरमल जैन ने तीनों करणों का विवेचन करते हुए कहा है कि मोह ने आत्मा को बन्दी बना रखा है। उस बन्दीगृह के तीन द्वार हैं। आत्मा को मुक्त कराने के लिए तीनों द्वारों के प्रहरियों पर विजय लाभ करना आवश्यक है। इन पर विजय लाभ करने की प्रक्रिया को ग्रन्थि भेद कहते हैं। यह प्रक्रिया ही अधःकरणादि त्रिकरण के द्वारा निर्दिष्ट की गई है।

अधःकरण-लब्धिसार ग्रन्थ में अधःकरण का स्वरूप बतलाते हुए लिखा है -

जम्हा हेट्ठिमभावा उवरिमभावेहिं सरिसगा होंति।
तम्हा पढमं करणं अधापवत्तो त्ति णिद्दिट्ठं।।135।।

अर्थात् जिस कारण से अधःस्तन (नीचे के) समयवर्ती जीवों के परिणाम उपरितन समयवर्ती जीवों के (परिणामों से भावों) सदृश होते हैं इस कारण से प्रथमकरण को अधःप्रवृत्तकरण कहते हैं।

समान समयवर्ती जीवों के तथा असमान समयवर्ती जीवों के परिणाम असमान समयवर्ती जीवों के परिणामों के समान भी होते हैं व असमान भी होते हैं। अर्थात् नीचे के परिणामों से ऊपर के समय के परिणाम समान तथा असमान दोनों प्रकार के होते हैं। उसे अधःकरण कहते हैं। यहाँ पर प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धि बढ़ती है। प्रत्येक समय में अनन्तगुणी विशुद्धि से विशुद्ध होता हुआ स्थिति काण्डकघात, अनुभाग काण्डक घात, गुणश्रेणी निर्जरा और गुण संक्रमण इन कार्यों को नहीं करता है। किन्तु अनन्त विशुद्धि द्वारा प्रशस्त प्रकृतियों का चतुःस्थानीय व अप्रशस्त प्रकृतियों का द्विस्थानीय बन्ध करता है तथा साथ ही हजारों बंधापसरण करता है।

जैसे पर्वतीय नदी में कोई पत्थर पानी के बहाव के साथ रगड़ खाता हुआ गोल चिकना पत्थर बन जाता है, उसी प्रकार से जिन अध्यवसायों की विशुद्धि से, अकाम निर्जरा करते-करते मिथ्यात्व (राग-द्वेष) की गूढ़ एवं दुर्भेद्य ग्रन्थि के समीप पहुँच जाता है, उसे अधःकरण या यथाप्रवृत्तकरण कहते हैं, इसका काल अन्तर्मुहूर्त मात्र होता है। 'अन्तोमुहुत्तोमेत्तो तक्कालोहोदि तत्थपरिणामा।' इसे ग्रन्थि-देश की प्राप्ति भी कहते हैं। इसका दूसरा नाम पुर्वप्रवृत्तकरण है।

अपूर्वकरण– लब्धिसार ग्रन्थ में अपूर्वकरण के स्वरूप को निरुपित करते हुए लिखा है –

समए समए भिण्णा भावा तम्हा अपुव्वकरणो हु।

अर्थात् – प्रतिसमय भिन्न परिमाण (भाव) होते हैं इसीलिए यह अपूर्वकरण है। आचार्य वीरसेन स्वामी ने कहा है 'करणाः परिणामाः न पूर्वाः अपूर्वाः। अर्थात् इस अवस्था में जीव ऐसे शुद्ध परिणामों को प्राप्त करता है, जो इससे पूर्व कभी प्राप्त नहीं हुए थे, इसी कारण इस अवस्था को अपूर्वकरण अन्वर्थक संज्ञा प्राप्त है। इसका दूसरा नाम निवृत्तिकरण भी है। समान समयवर्ती जीवों के परिणाम समान भी होते हैं और असमान भी होते हैं। किन्तु भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणाम असमान ही होते हैं। प्रत्येक समय अपूर्व अपूर्व परिणाम अनन्तगुणी विशुद्धि को लिए होते हैं। जो परिणाम संसार अवस्था में कभी प्राप्त नहीं होते हैं, उन्हें अपूर्वकरण कहते हैं। यहीं चार आवश्यक कार्य होते हैं 1 स्थिति काण्डक घात 2-अनुभाग काण्डक घात 3-गुणश्रेणीनिर्जरा 4-गुणसंक्रमण।

अनिवृत्तिकरण– लब्धिसार ग्रन्थ में अनिवृत्तिकरण का स्वरूप बतलाते हुये लिखा है-

अणियट्टी वि तह वि य पडिसमयं एक्कपरिणामो।। 361

अर्थात् जिसमें प्रतिसमय एक समान ही परिणाम होते हैं अतः यह अनिवृत्तिकरण है। समान समयवर्ती जीवों के परिणाम समान ही होते हैं व असमान समयवर्ती जीवों के परिणाम असमान ही होते हैं। नाना जीवों के परिणामों में निर्वृत्ति तथा परस्पर में भेद नहीं है। वह अनिवृत्तिकरण है। 'जय धवला में कहा गया है कि जब यह जीव दर्शन मोहनीय की उपशामना, चारित्र मोहनीय की सर्वोपशामना, दर्शन मोहनीय की क्षपणा, चारित्र मोहनीय की क्षपणा, अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना करता है तब अनिवृत्तिकरण होता है।'

अनिवृत्ति का अर्थ करते हुए आचार्य वीरसेन स्वामी ने कहा है निवृत्तिर्व्यावृत्तिः, न विद्यते निवृत्तिर्येषां तेऽनिवृत्तयः। निवृत्ति शब्द का अर्थ व्यावृत्ति है, व्यावृत्ति का तात्पर्य है न छूटना। कभी व्यावृत्त न होने वाले परिणामों को ही अनिवृत्ति कहते हैं और इस प्रकार के परिणामों को विकसित करने वाली प्रक्रिया अनिवृत्तिकरण कहलाती है। इस अवस्था में अनन्तानुबन्धी कषायों का समूल नाश हो जाता है और दर्शनमोह कर्म पर भी पूर्णतया विजय प्राप्त हो जाती है। दर्शनमोह कर्म को विजय करने के लिए, इस अवस्था में एक विशेष प्रकार की प्रक्रिया होती है. जिसे अन्तरकरण कहते हैं। मेरा विषय है अन्तःकरण का स्वरूप

और होने वाले कार्य मोहनीय कर्म के तीन विभाग का विश्लेषण। प्रस्तुत आलेख में सर्वप्रथम विषयानुरूप परिभाषा के रूप में प्रतिपादित किया गया है।

अन्तरकरण से तात्पर्य और परिभाषा– अन्तर, विरह, शून्यभाव, अभाव ये सभी अन्तर के एकार्थवाचक शब्द हैं। करणाः परिणामाः अर्थात् करण शब्द का अर्थ परिणाम है। करण अर्थात् परिणाम, परिणाम याने कौन से परिणाम ? तो जिन परिणाम विशेषों के द्वारा दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय के उपशमादि रूप विवक्षित भाव उत्पन्न किये जाते हैं। उन परिणामों को करण कहते हैं।'आत्मा का उत्तरोत्तर विशुद्ध परिणाम यहाँ 'करण' नाम से विवक्षित है। ये मोह कर्म की ग्रन्थि को तोड़ने के पराक्रम में सहायक बनते हैं। पं. टोडरमल जी ने अन्तरकरण को परिभाषित करते हुए लिखा है – 'विवक्षित कोई निषेकनिका सर्व द्रव्यकौं अन्य निषेकनिविषै निक्षेपणकरि तिनि निषेकनिका जो अभाव करना सो अन्तरकरण कहिए।' अर्थात् विवक्षित कितने ही निषेकों के सर्व द्रव्य को अन्य निषेकों में निक्षेपण करके उन निषेकों का अभाव करना उसे अन्तरकरण कहते हैं। जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष में लिखा है कि –पूर्वोपार्जित कर्म यथा काल उदय में आकर जीव के गुणों का पराभव करने में कारण पड़ते रहते हैं और इस प्रकार जीव उसके प्रभाव से कभी भी मुक्त नहीं हो पाता। परन्तु आध्यात्मिक साधनाओं के द्वारा उनमें कदाचित् अन्तर करना सम्भव है। कुछ काल सम्बन्धी कर्म निषेक अपना स्थान छोड़कर आगे–पीछे हो जाते हैं। उस काल के पूर्व भी कर्मों का उदय रहता है और उस काल के पीछे भी। परन्तु उतने काल तक कर्म उदय में नहीं आता। कर्मों के इस प्रकार अन्तर उत्पन्न करने को ही अन्तरकरण कहते हैं। विवक्षित कर्मों की अधस्तन (नीचे) और उपरिम (ऊपर) स्थितियों को छोड़कर मध्य की अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थितियों के निषेकों का परिणाम विशेष के कारण अभाव करने को अन्तरकरण कहते हैं।' जयधवला पुस्तक में अन्तरकरण के विषय में लिखा है परिणाम विशेष के द्वारा नीचे और ऊपर के निषेक को छोड़कर अन्तर्मुहूर्त प्रमाण बीच के निषेकों का अभाव करने को अन्तरकरण कहते हैं।' मुनि श्री प्रमाणसागर जी अन्तरकरण के सन्दर्भ में लिखते हैं– परिणामों के विशुद्धि के कारण सत्ता स्थित कुछ कर्म प्रदेशों में से कुछ निषेकों का अपना स्थान छोड़कर उत्कर्षण–अपकर्षण द्वारा ऊपर–नीचे के निषेकों में मिल जाना अन्तरकरण है। इस अन्तरकरण द्वारा निषेकों की एक अटूट पंक्ति टूटकर दो भागों में विभाजित हो जाती है। एक पूर्व स्थिति दूसरी उपरितन स्थिति। बीच में अन्तर्मुहूर्त प्रमाण निषेकों का अन्तर पड़ जाता है। यही अन्तरकरण है।'

आशय यह है कि मिथ्यात्व की नीचे की और ऊपर की स्थिति के मध्य में से उतने दलिक उठाकर ऊपर और नीचे की स्थिति में मिला देने का नाम अन्तरकरण है, जितने दलिक (निषेक) एक अन्तर्मुहूर्तकाल में उदय में आते हैं अर्थात् मिथ्यात्व की नीचे की अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति को ज्यों का त्यों छोड़कर ऊपर के उन दलिकों का जो आगे के अन्तर्मुहूर्त में उदय आयेंगे, नीचे के व ऊपर के दलिकों में निक्षेपण कर दिया जाता है और इस प्रकार उस अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल को ऐसा बना दिया जाता है कि उसमें उदय आने योग्य मिथ्यात्व का कोई दलिक शेष नहीं रहता। इस प्रकार मिथ्यात्व की स्थिति में अन्तर डाल दिया जाता है। इस अन्तरकरण को दूसरे प्रकार से यों समझना चाहिये यह एक लकीर है, इस लकीर में नीचे की ओर दो निशान लगे हैं। यह निशान इस बात को बतलाते हैं कि इस लकीर का दोनों निशानों के बीच का भाग वहाँ से हटाकर नीचे या ऊपर के भाग में मिला देना चाहिए और इस प्रकार उतने भाग को खाली कर देना चाहिए। तब इस लकीर की दशा इस प्रकार होगी।

इस प्रकार इस लकीर के बीच में अन्तर पड़ जाता है। यदि हम नीचे की ओर से इस लकीर पर अंगुली फेरते हुए ऊपर की ओर बढ़े तो हमारी अंगुली कुछ समय तक लकीर पर रहकर फिर बिना लकीर वाले स्थान पर आजायेगी। इस प्रकार से क्षणभर के लिए हमारी अंगुली को बिना लकीर के ही चलना होगा। इसी तरह मिथ्यात्व के उदय का जो प्रवाह चला आ रहा है, अन्तरकरण के द्वारा उस प्रवाह का ताँता एक अन्तर्मुहूर्त के लिए तोड़ दिया जाता है और इस प्रकार मिथ्यात्व की स्थिति

के दो भाग कर दिये जाते हैं। नीचे का भाग प्रथमस्थिति कहलाता है और ऊपर का भाग द्वितीय स्थिति। इस प्रथमस्थिति और द्वितीयस्थिति के बीच के उन दलिकों को, जो अन्तर्मुहूर्त काल में उदय आने वाले हैं, अन्तरकरण के द्वारा इधर उधर खपा दिया जाता है। अर्थात् उन दलिकों को अपने-अपने स्थान से उठाकर कुछ को प्रथम स्थिति में डाल दिया जाता है और कुछ को द्वितीयस्थिति में डाल दिया जाता है, इस प्रकार मिथ्यात्व के दलिकों से रहित जो शुद्ध भूमि होती है, उसे अन्तरकरण कहते हैं। इस अन्तरकरण के लिए जो क्रिया की जाती है, अर्थात् अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति के दलिकों को उठाकर उनका इधर-उधर क्षेपण किया जाता है, तथा उस क्रिया में जो काल लगता है, उपचार से उन्हें भी अन्तरकरण कह देते हैं। ग्रन्थ की 84 वीं गाथा में अन्तरकरण के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। लिखा है-

संखेज्जदिमे सेसे दंसण मोहस्स अंतरं कुणई।
अण्णं ठिदिरसखंडं अण्णं ठिदिबंधणं तत्थ।।84।।

अर्थात् अनिवृत्तिकरण काल का संख्यातवां भाग शेष रहने पर दर्शनमोह का अन्तर करता है। वहाँ पूर्व की अपेक्षा अन्य ही स्थितिखण्ड, अनुभागखण्ड और अन्य ही स्थितिबंध होता है।

यहाँ पर स्पष्ट किया गया है कि मिथ्यादृष्टि जीव के अनिवृत्तिकरण काल का बहुभाग बीत जाने पर जब एक भाग अवशेष रहता है, तब इस अन्तरकरण विधि का प्रारम्भ होता है। मिथ्यात्व गुणस्थान में मिथ्यात्व ही उदयरूप प्रकृति है। इसलिए उसके उदय समय से लेकर ऊपर के अन्तर्मुहूर्तकाल के जितने समय होते हैं, उनके निषेकों को छोड़कर उनसे ऊपर के अन्तर्मुहूर्त प्रमाण अन्य निषेकों का उत्कर्षण कर उनका यथा सम्भव उन निषेकों के ऊपर के अन्तर्मुहूर्तकाल के जितने समय होते हैं, उतने निषेकों को छोड़कर उनसे ऊपर के अन्तर्मुहूर्त प्रमाण अन्य निषेकों का उत्कर्षण कर उन निषेकों के नीचे के निषेकों में निक्षेपण करके उनका पूरी तरह से अभाव करना अन्तरकरण कहलाता है। यहाँ जिन निषेकों का अभाव किया उनसे नीचे की स्थिति का नाम प्रथम स्थिति है और ऊपर के निषेकों का नाम द्वितीय स्थिति है। यह जीव जिस समय अन्तरकरण विधि को प्रारम्भ करता है, उस समय से स्थितिकाण्डक घात, अनुभागकाण्डक घात और स्थिति बन्ध ये तीनों कार्य नये प्रारम्भ होते हैं।

मिथ्यात्व मोहनीय के दलिकों का अंतरकरण

अंतरकरण की क्रिया में मिथ्यात्व मोहनीय की दो स्थितियाँ बनाता है। प्रथम स्थिति और द्वितीय स्थिति। एक अंतर्मुहूर्त में जो उदय में लाकर भोगी जा सके, उसे प्रथम स्थिति कहते हैं। एक अंतर्मुहूर्त के बाद में आने योग्य सत्ता में स्थित दर्शन मोहनीय की स्थिति को द्वितीय स्थिति कहते हैं।

प्रथम स्थिति के मिथ्यात्व मोहनीय के दलिकों को उदय में लाकर उनकी निर्जरा करते-करते जब अंतिम दलिक का वेदन किया जाता है तब जीव अंतरकरण में प्रवेश करता है, उस समय (अ) द्वितीय स्थिति में रहे हुए मिथ्यात्व मोहनीय के दलिकों के अनुभाग को अपने विशुद्ध परिणामों से तीन भागों में बाँटकर त्रिपुंज करना प्रारम्भ करता है। (ब) साथ ही मिथ्यात्व मोहनीय के दलिकों का मिश्र मोहनीय तथा समकित मोहनीय में गुण संक्रमण भी प्रारम्भ कर देता है। (स) त्रिपुंज किये गये दलिकों का प्रति समय उपशम भी करता रहता है। इस प्रकार से प्रथम स्थिति के मिथ्यात्व मोहनीय के दलिकों की निर्जरा कर देने के साथ ही वह उपशम समकित को प्राप्त कर लेता है। इस समकित के प्राप्त होते ही जीव को अपूर्व आत्मिक उल्लास एवं आनन्द की प्राप्ति होती है। लब्धियों व करणों में अन्तर्मुहूर्त-अन्तर्मुहूर्त का काल लगता है. कुल मिलाकर भी अन्तर्मुहूर्त ही काल लगता है।

''अंतोमुहूत्तमेन्तं अंतरकरणस्स अद्धाणं'' अर्थात् अन्तरकरण का काल अन्तर्मुहूर्त मात्र है। 85 वीं गाथा में यह कहा गया है कि अन्तर करने वाला जीव कितने काल के द्वारा अन्तर करता है। जो उस समय स्थितिबंध का काल है अथवा स्थिति काण्डकोत्करण काल है, उतने काल के द्वारा अन्तर करता है। अर्थात् एक समय, दो समय, तीन समय या संख्यात समयों के द्वारा अन्तरकरण विधि समाप्त नहीं होती, किन्तु अन्तर्मुहूर्त काल के द्वारा ही यह विधि समाप्त होती है।

अन्तरायाम का प्रमाण और उसमें निषेक रचना विधि को 86 वीं गाथा की टीका में निरुपित किया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि गुणश्रेणी आयाम में अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण से जो अधिक प्रमाण अनिवृत्तिकरण का संख्यात वां भाग मात्र कहा था। उसका नाम यहाँ गुणश्रेणी शीर्ष है। यहाँ गुणश्रेणी शीर्ष के सर्व निषेक और इससे संख्यात गुणा गुणश्रेणी शीर्ष के ऊपरवर्ती ऐसे उपरितन स्थिति के सर्व निषेक इन दोनों को मिलाने पर अन्तरायाम होता है। इतने निषेकों का अभाव करता है, वह भी अन्तर्मुहूर्त मात्र है। यहाँ शीर्ष के नीचे अनिवृत्तिकरण के अवशेष काल मात्र गलितावशेष गुणश्रेणी आयाम अनिवृत्तिकरण के संख्यातवें भाग प्रमाण है, वह भी शीर्ष से संख्यात गुणा है। वहाँ अन्तरायाम में स्थित निषेकों के द्रव्य की प्रतिसमय अनन्तगुणा क्रम युक्त जो फालि, उनका ग्रहण करके उस समय बंधने वाला जो मिथ्यात्व कर्म उसके स्थिति का आबाधाकाल छोड़कर अन्तरायाम समान काल सम्बन्धी निषेकों में निक्षेपण नहीं करता। वहाँ अनादि मिथ्यादृष्टि जीव तो मिथ्यात्व ही का और सादि मिथ्यादृष्टि तीनों दर्शनमोह का अन्तर करता है। अन्तरकरण करने के काल के प्रथम समय से लेकर जो अनिवृत्तिकरण काल का संख्यात वां भाग मात्र काल अवशेष रहा उसको संख्यात का भाग देकर वहाँ एक भाग मात्र तो अन्तरकरण काल है और उसके ऊपर अवशेष बहुभाग मात्र प्रथम स्थिति का काल है। उसके ऊपर जिन निषेकों का अभाव किया वह अन्तर्मुहूर्त मात्र अन्तरायाम है। इसको चित्र द्वारा अंकित किया है।

अन्तरकरण के कार्य–अन्तरकरण के कार्यों की विवेचना इस प्रकार है –

अंतरकदपढमादो पडिसमयमसंखगुणिदमुवसमदि।
गुणसंकमेण दंसणमोहणियं जाव पढमठिदी।।87।।

अर्थात् अन्तर होने के पश्चात् प्रथम समय से लेकर प्रथम स्थिति के अन्त समय तक प्रतिसमय गुण संक्रमण के द्वारा असंख्यातगुणे क्रम से दर्शनमोह का उपशम करता है। इस गाथा की टीका में जो उल्लेख किया गया है, उसका तात्पर्य यह है कि –अन्तर करने के पश्चात् प्रथम स्थिति के निषेक उदय में आते हैं। जब तक एक–एक निषेक उदय में आता रहता है, तब तक प्रति समय द्वितीय स्थिति में स्थित दर्शनमोह के द्रव्य को उपशमाता है। प्रत्येक समय में असंख्यातगुणा क्रम से द्रव्य को उपशमाता जाता है। उसका प्रमाण लाने के लिए द्वितीय स्थिति के द्रव्य को गुण संक्रमण भागहार का भाग देते हैं।

इस प्रकार एक स्थितिकांडकोत्कीरण काल के बराबर काल द्वारा अन्तरकरण कर लेने के पश्चात् का समय प्रथमस्थिति का प्रथम समय है, उसी प्रथम स्थिति के चरम समय पर्यन्त प्रतिसमय असंख्यातगुणे क्रम से अंतरायाम के ऊपरवर्ती निषेकरूप द्वितीय स्थिति में स्थित दर्शनमोहनीय के द्रव्य का उपशम करता है। यद्यपि यह जीव पहले ही अधःप्रवृत्तकरण के प्रथम समय से लेकर उपशामक ही है। तथापि अनिवृत्तिकरण काल के संख्यात बहुभागों के बीत जाने पर तथा संख्यात वां भाग शेष रहने पर अन्तर को करके वहाँ से लेकर दर्शनमोहनीय की प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशों का उपशामक होता है। करण परिणामों के द्वारा निःशक्त किये गये दर्शनमोहनीय के उदयरूप पर्याय के बिना अवस्थित रहने को उपशम कहते हैं। उपशमन करने वाले को उपशामक कहते हैं। यहाँ अन्तरकरण विधि के बाद उपशमन क्रिया होती है उसका निर्देश किया गया है। 88 वीं गाथा में दर्शनमोह की उपशमन क्रिया में होने वाले विशेष का निर्णय करने के लिए कहा है कि प्रथम स्थिति में आवली प्रत्यावली अर्थात् उदयावली और द्वितियावली अवशेष रहने पर आगाल प्रत्यागाल तथा मिथ्यात्व की गुणश्रेणी नहीं होती है। गाथा 89 में कहा है –

अंतरपढमं पत्ते उवसमणामो हु तथ्य मिच्छत्तं।
ठिदिरसखंडेण विणा उवट्ठाइदूण कुणदि तिधा ।।189।।[19]

अर्थात् अन्तरायाम के प्रथम समय को प्राप्त होने पर उपशम सम्यग्दृष्टि जीव वहाँ पर मिथ्यात्व को अपवर्तन करके स्थितिकाण्डकघात व अनुभागकाण्डकघात के बिना तीन प्रकार का करता है। इस गाथा की टीका में जो विवेचना की गई है.

उसका आशय यह है कि अन्तर में प्रवेश करने के प्रथम समय में ही दर्शनमोहनीय का उपशामक उपशम सम्यग्दृष्टि हो गया, किन्तु यहाँ पर सर्वोपशम सम्भव नहीं है, क्योंकि उपशमपने को प्राप्त होने पर भी दर्शनमोहनीय के संक्रमण और अपकर्षण करण पाये जाते हैं। उसी समय वह मिथ्यात्व कर्म के तीन कर्म रूप भेद उत्पन्न करता है। जैसे यन्त्र से कोदों के दलने पर उनके तीन भाग हो जाते हैं, वैसे ही अनिवृत्तिकरण परिणामों के द्वारा दलित किये गये दर्शनमोहनीय के तीन भेदों की उत्पत्ति होने में विरोध का अभाव है। कर्मकाण्ड में लिखा है–

जन्तेण कोद्दवं वा पढमुवसमसम्मभावजन्तेण।
मिच्छं दव्वं तु तिधा असंखगुणहीणदव्वकमा।।

अर्थात् जैसे चाकी में दलने से कोदों के तुष, चावल और कण, इस तरह तीन रूप हो जाते हैं। वैसे ही प्रथमोपशम सम्यक्त्वरूपी भावयन्त्र के द्वारा एक मिथ्यात्व प्रकृति का द्रव्य मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व इन तीन प्रकृति रूप हो जाता है। इन तीनों का द्रव्य उत्तरोत्तर असंख्यात गुणहीन होता है।

प्रथम स्थिति को समाप्त कर इस जीव के अन्तरायाम में प्रवेश करने पर दर्शनमोहनीय की उपशम संज्ञा हो जाती है। करण परिणामों के द्वारा निःशक्त किये गये दर्शनमोहनीय के उदयरूप पर्याय के बिना अवस्थित रहने का नाम उपशम है यहाँ सर्वोपशम सम्भव नहीं है। क्योंकि दर्शनमोहनीय का उपशम हो जाने पर ही उसका संक्रमण और अपकर्षण पाया जाता है। अतः यहाँ से दर्शनमोहनीय का उपशम करने वाले जीव की उपशम सम्यग्दृष्टि संज्ञा हो जाती है। यहीं से लेकर यह जीव मिथ्यात्व प्रकृति को तीन विभागों में विभक्त करता है। प्रथम मिथ्यात्व दूसरा सम्यग्मिथ्यात्व और तीसरा सम्यक्प्रकृति कहते हैं।

अनन्तानुबन्धी कर्म का उदय प्रारम्भ के दो गुणस्थानों में ही होता है, ऐसा एकान्त नियम है, अतः इस गुणस्थान में अनुदय रहने से उसके द्रव्य को भी उदय में नहीं दिया जा सकता, इसलिए प्रथमोपशम सम्यक्त्व में उसका उपशम स्वीकार किया गया है। अनन्तानुबन्धी का अन्तरकरण उपशम नहीं होता। संस्कृत टीका में दर्शनमोहनीय और अनन्तानुबन्धी चतुष्क का प्रकृति, स्थिति अनुभाग और प्रदेशों की अपेक्षा निरवशेष अर्थात् सब प्रकार से उपशम कहा है सो इसका यही तात्पर्य है कि इन सातों प्रकृतियों के प्रकृति आदि चारों प्रकृत में उदय के अयोग्य रहते हैं। संक्रमण और अपकर्षण होने में कोई बाधा नहीं, क्योंकि यही मिथ्यात्व प्रकृति तीन विभागों में विभक्त होती है तथा अनन्तानुबन्धी का अपनी सजातीय प्रकृति रूप से संक्रमण हो सकता है तथा अनुदयरूप प्रकृति होने से उसका उदयावलि के बाहर उपरितन निषेक तक अपकर्षण भी हो सकता है।

मोहनीय कर्म के तीन विभागों का विश्लेषण–मिथ्यात्व अर्थात् मोहनीय कर्म के द्रव्य का तीनरूप विभाग किस प्रकार होता है। विषयानुरूप मोहनीय कर्म को जानते हैं। जी को जो मोहित करता है अथवा जिसके द्वारा जीव मोहा जाता है, वह मोहनीय कर्म है। वस्तुतः जो कर्म आत्मा में मूढ़ता उत्पन्न करता है वह मोहनीय कर्म है। मोहनीय कर्म को आत्मा का 'अरि (शत्रु) कहा है। क्योंकि यह समस्त दुःखों की प्राप्ति में निमित्त कारण है। मोहनीय कर्म को जन्म–मरणादि दुःखरूप संसार का मूल कहा है। आठ कर्मों में यह सर्वाधिक शक्तिशाली है। सात कर्म यदि प्रजा हैं तो मोहनीय कर्म राजा है। इसके प्रभाव से वीतरागता प्रकट नहीं हो पाती। यह प्राणियों के जीवन को सबसे अधिक प्रभावित करता है। दूसरे कर्म जीव की एक–एक शक्ति को आवृत करते हैं, जबकि मोहनीय कर्म अनेक प्रकार की शक्तियों को आवृत ही नहीं; विकृत, मूर्च्छित और कुण्ठित भी कर देता है। मोहनीय कर्म दृष्टि में भी विकार उत्पन्न करता है और आचरण में भी। यह आत्मा के शुद्ध स्वभाव–वास्तविक स्वरूप वीतराग स्वरूप को विकृत कर देता है, जिससे आत्मा अपने शुद्ध ज्ञानभाव (ज्ञाता–दृष्टाभाव) को भूलकर राग–द्वेष में फस जाता है, इसी कर्म के कारण आत्मा को अपने स्वरूप रमण में, स्व–पर–विवेक में, आत्मा और शरीर के भेद–विज्ञान में बाधा समुपस्थित होती है। मोहनीय कर्म दो प्रकार का है दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीय की तीन और चारित्र मोहनीय की पच्चीस इस प्रकार मोहनीय कर्म की कुल अट्ठाईस प्रकृतियाँ हैं। इन्हें इस प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है –

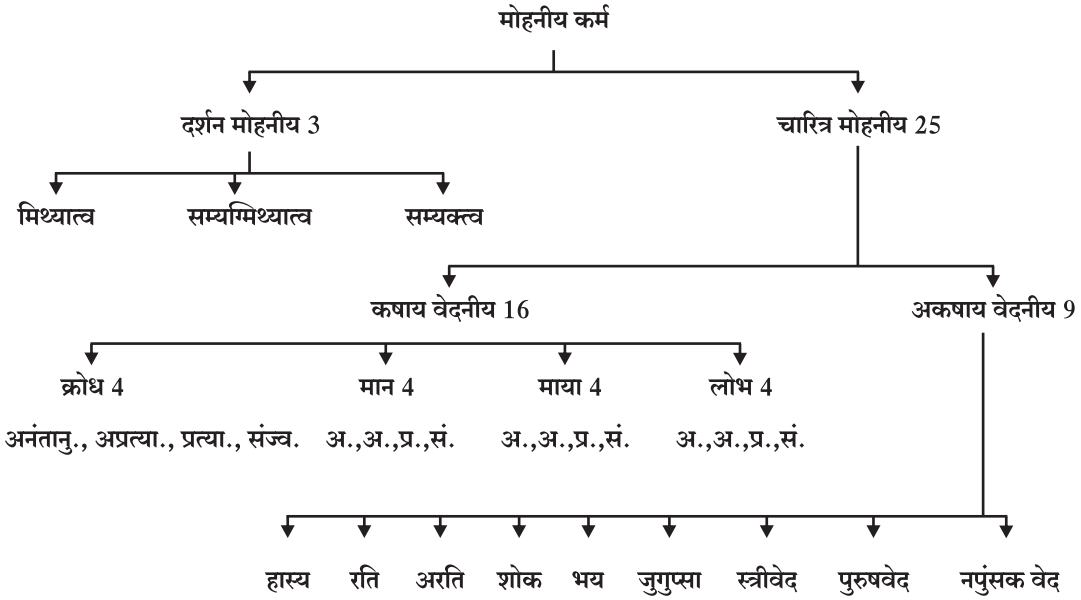

लब्धिसार ग्रन्थ में मिथ्यात्व अर्थात मोहनीय कर्म के तीन विभाग की विवेचना 90 वीं गाथा में की गई है –

मिच्छत्तमिस्ससम्मसरूवेण य तत्तिधा य दव्वादो।
सत्तीदो य असंखाणंते ण य होंति भजियकमा।।90।।

अर्थात् – मिथ्यात्व, मिश्र (सम्यग्मिथ्यात्व), सम्यक्त्व प्रकृतिरूप दर्शनमोहनीय कर्म तीन प्रकार का होता है। वह क्रम से द्रव्य की अपेक्षा असंख्यातवां भाग मात्र और अनुभाग की अपेक्षा अनन्तवां भाग प्रमाण है।

ग्रन्थ में टीका अनुसार इसका विश्लेषण यहाँ किया जा रहा है। जो कर्म सम्यग्दृष्टि उत्पन्न न होने दे, तत्त्व अतत्त्व का भेद ज्ञान न होने दे, उसे दर्शन मोहनीय कहते हैं। दर्शन, रुचि, प्रत्यय, श्रद्धा और स्पर्शन ये सब एकार्थ वाचक नाम हैं। यह दर्शन मोहनीय कर्म तीन भागों में विभक्त है। मिथ्यात्व, सम्यमिथ्यात्व और सम्यक्त्व। मिथ्यात्व के उदय से जीव सर्वज्ञ प्रणीत मार्ग से विमुख, तत्त्वार्थ के श्रद्धान करने में निरुत्सुक और हिताहित के विचार करने में असमर्थ होता है, यही 'मिथ्यात्व' दर्शन मोहनीय है। यही मिथ्यात्व जब शुद्ध परिणामों के कारण, अपने उदय को रोक देता है और उदासीन रूप से अवस्थित रहकर आत्मा के भाव को नहीं रोकता तब सम्यक्त्व कहलाता है। इसका वेदन करने वाला सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। [23]

दर्शनमोह के नष्ट होने से मिथ्यात्व नामक प्रकृति तीन भागों में विभाजित हो जाती है, जिन्हें क्रमशः सम्यक्त्व मोह, मिथ्यात्व मोह और मिश्र मोह कहा जाता है। ये तीनों क्रमशः शुद्ध, अर्द्धशुद्ध और अशुद्ध होते हैं।' आशय यह है कि जैसे कोदें मद उत्पन्न करते हैं, किन्तु उन्हें पानी से धो डालने पर जो शुद्ध हो जाते हैं, वे मद नहीं करते। जो कम शुद्ध हो पाते हैं, वे थोड़ा मद करते हैं और जो अशुद्ध होते हैं, वे तो पूरे मादक होते ही हैं। उसी तरह मिथ्यात्व का जो द्रव्य भावों के द्वारा शुद्ध हो जाता है, और सम्यक्त्व का घात करने में असमर्थ होता है, उसे सम्यक्त्व कहते हैं। जो आधा शुद्ध होता है और सम्यक्त्व को हानि पहुँचाता है, वह मिश्र कहलाता है और जो बिल्कुल अशुद्ध होता है और सम्यक्त्व को घातता है, वह मिथ्यात्व कहलाता है। डॉ. सागरमल ने भी इन तीनों प्रकृतियों का दृष्टांत देते हुए कहा है कि सम्यक्त्व मोह श्वेत कॉच का आवरण है, मिश्र मोह हल्के रंगीन कॉच का आवरण है और मिथ्यात्व मोह गहरे रंगीन कॉच का आवरण है। पहले में सत्य का स्वरूप वास्तविक दिखाई देता है, दूसरे में कुछ विकृत रूप में और तीसरे में उससे भी अधिक विकृत दिखाई देता है। यह मध्यान्तर एक अन्तर्मुहूर्त समय तक रहता है। इसके पश्चात् यथार्थ दृष्टिकोणों को प्राप्त करके जीव विकास के अग्रिम सोपानों पर चढ़ जाता है।

प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि जीव उसके प्राप्त होने के प्रथम समय में सत्ता में स्थित मिथ्यात्व के द्रव्य के तीन टुकड़े कर मिथ्यात्व के द्रव्य में से जितने प्रदेशपुंज को सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति को देता है उससे असंख्यातगुणा हीन द्रव्य सम्यक् प्रकृति को देता है।

यहाँ उक्त दोनों प्रकृतियों के द्रव्य को लाने के लिये गुणसंक्रम भागहार का प्रमाण पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण है। इतनी विशेषता है कि सम्यग्मिथ्यात्व के गुणसंक्रम भागहार से सम्यक्त्व प्रकृति गुणसंक्रम भागहार असंख्यातगुणा है।

इस प्रकार इस अल्पबहुत्व विधि से अन्तर्मुहूर्त काल तक मिथ्यात्व के द्रव्य से सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति को पूरता है। इतनी विशेषता है कि प्रथम समय में इन दोनों प्रकृतियों को जितना द्रव्य दिया जाता है, द्वितीयादि समयों में उनसे उत्तरोत्तर असंख्यातगुणे असंख्यातगुणे द्रव्य को देता है। इस प्रकार यह क्रम गुणसंक्रम के अन्तर्मुहूर्त काल तक चालू रहता है। अनुभाग की अपेक्षा प्रथम समय में मिथ्यात्व का जितना अनुभाग होता है, उसका अनन्तवां भाग प्रमाण सम्यग्मिथ्यात्व को प्राप्त होता है और उसका भी अनन्तवां भाग प्रमाण अनुभाग सम्यक्त्व प्रकृति को प्राप्त होता है। इसी प्रकार द्वितीयादि समयों में जानना चाहिये।

मिथ्यात्व के परमाणुरूप द्रव्य को गुणसंक्रम भागहार का अर्थात् पल्योपम के असंख्यातवें का भाग का भाग देकर एक अधिक असंख्यात से गुणा करने पर जो लब्ध आवे उतने द्रव्य के बिना बहुभाग प्रमाण समस्त द्रव्य मिथ्यात्वरूप है। गुण संक्रमण भागहार से भाजित मिथ्यात्व के द्रव्य को असंख्यात से गुणा करने पर जो लब्ध आया उतना द्रव्य सम्यग्मिथ्यात्वरूप परिणमित हुआ और गुणसंक्रमभागहार से भाजित मिथ्यात्व द्रव्य को सम्यक्त्व प्रकृतिरूप परिणमित हुआ उससे असंख्यातवां भाग रूप क्रम द्रव्यापेक्षा मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक्त्वप्रकृति में प्राप्त हुआ।

अनुभागापेक्षा संख्यात अनुभाग कांडकों के घात से मिथ्यात्व का अनुभाग पूर्व अनुभाग का अनन्तवांभाग प्रमाण अवशिष्ट रहा उससे अनन्तवांभाग अनुभाग सम्यग्मिथ्यात्व का अनुभाग है तथा सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के इस अनुभाग से अनन्तवांभाग सम्यक्त्वप्रकृति का अनुभाग है।

इस प्रकार अनुभागापेक्षा अनन्तवें भागरूप क्रम है। अर्थात् मिथ्यात्व प्रकृति के अनुभाग से सम्यग्मिथ्यात्व का अनुभाग अनन्तगुणाहीन होता है और सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के अनुभाग से सम्यक्त्व प्रकृति का अनुभाग अनन्तगुणाहीन होता है।'

अन्त में हम ये और जानना चाहेंगे कि अन्तर करण कहाँ होते हैं? तो दर्शन मोहनीय के उपशामना है, क्षपणा में चारित्र मोहनीय की उपशामना क्षपणा में। यहाँ दर्शन मोहनीय की उपशामना में अन्तर किस प्रकार कितनी प्रकृतियों का होता इस सबका विचार चारित्र मोहनीय की उपशामना में कितनी प्रकृतियों का अन्तर होता है इस पर अतिसंक्षेप में विचार करते हैं।

अतः संख्यात हजारों स्थितिकाण्डक व्यतीत होने पर यह जीव चार संज्वलन और नोकषायों इन तेरह प्रकृतियों का अन्तर करता है। शेष कर्मों का नहीं क्योंकि चारित्र मोहनीय के अन्य भेदों का पूर्व में ही नाश हुआ है और ज्ञानावरणादि शेष कर्मों का अन्तरकरण सम्भव नहीं है। नीचे के और ऊपर के निषेकों को छोड़कर अन्तर्मुहूर्त मात्र मध्य के निषेकों का अभाव करना ही अंतरकरण है। चार संज्वलन और तीन वेद इनमें से जिन दो प्रकृतियों का उदय होता है, उनकी प्रथम स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण और शेष ग्यारह प्रकृतियों की एक आवलि प्रमाण प्रथम स्थिति स्थापित करता है। जिन निषेकों का अन्तर किया जाता है उनका द्रव्य बंधयुक्त प्रकृतियों के द्वितीय स्थिति के समान नवीन स्थिति में और उदययुक्त प्रकृतियों की प्रथम स्थिति में निक्षेपण करता है। अंतरकरण क्रिया सम्पन्न होने पर उसके बाद के समय में सात करण एक ही समय में प्रारम्भ होते हैं। उन सात करणों के नाम इस प्रकार हैं–1–मोहनीय का एक लतास्थानीय बंध, 2–मोहनीय का एक लतास्थानीय उदय, 3–मोहनीय का संख्यात वर्षप्रमाण स्थितिबंध, 4–आनुपूर्वि संक्रम, 5–लोभ का असंक्रम, 6–नपुंसकवेद का आयुक्तकरण संक्रमण, 7–बंध के पश्चात् छह आवली काल व्यतीत होने पर उदीरणा। आनुपूर्वि संक्रमणानुसार नपुंसकवेद और स्त्रीवेद के द्रव्य का पुरुषवेद में संक्रमण, सात नोकषायों के द्रव्य का संज्वलन क्रोध में संक्रमण, क्रोध संज्वलन का मान संज्वलन में, मान संज्वलन का माया संज्वलन में, माया संज्वलन का लोभ संज्वलन में संक्रमण होता है। केवल लोभ संज्वलन का अन्य किसी भी प्रकृति में संक्रमण नहीं होता है, उसका स्वमुख से ही क्षय होता है। अन्तरकरण क्रिया सम्पन्न होने पर प्रतिलोम संक्रमण नहीं होता है।

परम पूज्य उच्चारणाचार्य श्रमणाचार्य श्री विनम्रसागर जी मुनिराज की पावन प्रेरणा एवं आशीर्वाद से मुझे इस संगोष्ठी में आने का और लब्धिसार ग्रन्थ का अध्ययन कर ज्ञान प्राप्त करने का सुअवसर प्राप्त हुआ। जिसे मैंने अपने क्षयोपशम से आलेख प्रस्तुत कर अपने विषय को प्रतिपादित करने का प्रयास किया है, फिर भी अज्ञानतावश त्रुटि होना सम्भव है क्योंकि विषय बहुत ही गम्भीर है। आप सभी विज्ञजन त्रुटि को सुधारकर मार्गदर्शन करें। पूज्य गुरुवर ससंघ के पावन श्री चरणों में त्रिबार नमोस्तु, नमोस्तु नमोस्तु ।

इत्यलम्

सन्दर्भ–

1. गोम्मटसार कर्मकांड, गाथा 897 पृ. 1076
2. वैशाली इन्स्टीच्यूट, रिसर्च बुलेटिन नं. 3 हिन्दी भाग पृ. 80. सन् 1982
3. लब्धिसार (क्षपणासार गर्भित) गाथा 35 पृ. 22
4. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा 49
5. लब्धिसार (क्षपणासार गर्भित) गाथा 36 पृ. 23
6. धवला. पुस्तक 1. खण्ड 1, सूत्र 16 पृ. 180
7. लब्धिसार (क्षपणासार गर्भित) गाथा 36 पृ. 23
8. धवला पुस्तक 1 पृ. 183
9. जयधवला पृस्तक 13
10. षट्खण्डागम, धवला टीका, पुस्तक 1, खण्ड 1, सूत्र 17, पृ. 183
11. धवला पुस्तक 1 पृ. 180 एवं जयधवला पुस्तक 12 पृ. 233
12. लब्धिसार (क्षपणासार गर्भित) पृ. 65
13. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग 1, पृ. 25
14. लब्धिसार क्षपणासार (सिद्धान्तबोधनी कर्मक्षपणबोधनी टीका समन्वित) सम्पादक स्व. ब्र. पं. रतनचंद मुख्तार सहारनपुर उ.प्र. गाथा 84 की टीका पृ. 69
15. जयधवला पु. 12 पृ. 272./पु. 14 पृ. 204
16. जैन तत्व विद्या, मुनि प्रमाणसागर पृ. 127
17. लब्धिसार क्षपणासार गाथा 84 पृ. 65
18. बही गाथा 87 पृ. 68
19. बही गाथा 89 पृ. 70
20. सर्वार्थसिद्धि पृ. 380
21. षट्खण्डागम 6/1, सूत्र 19-20, कर्म ग्रन्थ प्रथम भाग गाथा 17
22. लब्धिसार क्षपणासार गाथा 90 पृ. 71
23. सर्वार्थसिद्धि पृ. 385
24. दंसणमोह तिविहं सम्मं मीस तहेव मिच्छत्त ।
    सुद्धं अद्धविसुद्ध अविसुद्ध त हवइ कमसो।।14।। प्र. कर्मग्रन्थ
25. वैशाली इन्स्टीच्यूट रिसर्च वुलेटिन नं. 3 हिन्दी भाग पृ. 83 सन1982
26. धवला पुस्तक 6 पृ. 235

प्रायोग्य लब्धि का स्वरुप और महत्त्व

प्रतिष्ठाचार्य पं. पवन कुमार जैन 'दीवान''
सागर (म.प्र.)

संसरण शील पंच परावर्तन रुप संसार में यह जीव अनादिकाल से मिथ्यात्व आदि गुणस्थान में रहने से परिभ्रमण कर रहा है। जीव एवं कर्म सम्बन्ध अनादि काल से क्षीर–नीर वत् संश्लेष सम्बन्ध है। कर्मोदय के निमित्त से जीव जन्म–जरा–मरण की संतति को करते हुए दु:ख भोगता रहा है। कर्मोदय तो कर्म की परिणति एवं कषाय रूप विकल्पादि जीव की परिणति है। कर्म व जीव का निमित्त नैमितक योग है कर्मानुभाग के उदयानुसार प्रतिफलन उपयोग में होता है और उस प्रतिफलन से अभिभूत होकर यह मुग्ध प्राणी विषय भूत स्पर्श आदि वाले पदार्थों का उपभोग करके आकुलित होता है ऐसे समय में परिणामों की संभाल प्रत्येक जीवात्मा को अत्यावश्यक है। बिना सम्यक्त्व प्राप्ति के संसारी जीव का मोक्षमार्ग प्रशस्त नहीं होता है। अत: स्पष्ट है कि परिणामों की विशुद्धि जो कि मिथ्यात्वादि से रहित होती है। ऐसे निर्मल परिणामों की प्राप्ति हेतु लब्धियों का उल्लेख श्री जिनागम में आचार्यों ने किया है। यथा–लब्धिसार, ग्रंथकर्ता श्री नेमिचन्द जी सिद्धान्त चक्रवर्ती ने लब्धियों की विवेचना हेतु मंगलाचरण ही प्रतिज्ञारुप में किया है–

सिद्धे जिणिंद चंदे आयरिय उवज्झाय साहुगणे।
वंदिय सम्मद्दंसण–चरित्त लद्धिं परूवेमो।।1।।

अर्थ– मैं नेमिचन्द्राचार्य सिद्ध–अरिहंत, आचर्य, उपाध्याय तथा सर्व साधु को नमस्कार करके सम्यग्दर्शन व सम्यक्चारित्र की प्राप्ति के उपायभूत लब्धियों की प्ररूपणा करूँगा।

सम्यक्त्व/उपशम सम्यक्त्व/प्रथमोपशम सम्यक्त्व का पात्र कौन?

सम्यक्त्व क्या– सर्वज्ञ प्रभु जिनेन्द्रोपदिष्ट छहद्रव्य, पंचास्तिकाय व नौ पदार्थों का श्रद्धांन सम्यक्त्व है।

उपशम सम्यक्त्व– अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ व मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक्त्व मोहनीय इन 7 कर्म प्रकृतियों के उपशम से कीचड़ के नीचे बैठ जाने से निर्मल हुये जल के समान जो पदार्थों का निर्मल श्रद्धान होता है वह उपशम सम्यग्दर्शन है जो दो प्रकार का होता है। प्रथमोपशम सम्यक्त्व एवं द्वितीयोपशम सम्यक्त्व।

प्रथमोपशम सम्यक्त्व का पात्र कौन?

चदुगदिमिच्छो सण्णी पुण्णो गब्भज विसुद्ध सागारो।
पढमुव समं सगिण्हदि, पंचमवरलद्धि चरिमम्हि।।2।।

अर्थ–चारों गतियों का मिथ्यादृष्टि, संज्ञी, पर्याप्त, गर्भज, विशुद्ध, परिणामी, साकारोपयोगी जीव अन्तिम पंचम लब्धि का अन्त होने पर प्रथमोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त होता है।

विशेषार्थ–दर्शन मोहनीय कर्म का उपशम करने वाला, जीव सामान्य रूप से चारों ही गतियों में होता है। **सण्णी** पद से तिर्यञ्च गति सम्बन्धी एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों का प्रतिषेध किया गया है। पर्याप्त अवस्था में ही सम्यक्त्वोत्पत्ति की योग्यता होती है अपर्याप्तावस्था में नहीं, इसलिये **पुण्णो** विशेषण दिया है। लब्ध्यपर्याप्त और निर्वृत्यपर्याप्तावस्था को छोड़कर नियम से संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीव ही प्रथमोपशम सम्यक्त्व की उत्पत्ति के योग्य हेाता है।[3]

सम्यक्त्वोत्पत्ति से पूर्व मिथ्यात्व गुणस्थान में होने वाली 5 लब्धियाँ–

खय उव समिय विसोही, देसण पाउग्ग करणलद्धि य।
चत्तारि वि सामण्णा करणं सम्मत्त चारित्ते।।3।।

अर्थ–क्षयोपशमलब्धि, विशुद्धिलब्धि, देशनालब्धि, प्रायोग्य लब्धि एवं करण लब्धि ये 5 लब्धियाँ हैं इनमें 4 लब्धियाँ तो सामान्य हैं तथा करण लब्धि के होने पर (उपशम) सम्यक्त्व या चारित्र अवश्य होता है।

इनमें 4 लब्धियाँ तो भव्य–अभव्य सभी के होती हैं किन्तु करण लब्धि भव्य के ही होती है और उसके होने पर सम्यक्त्व अवश्य होता है।

क्षयोपशम लब्धि का स्वरुप–

कम्ममल पडलसत्ती पडिसमय मणंतगुण विहीण कमा।
होदूणुदी रदि जदा तदा खओव सम लद्धी दु।।4।।

अर्थ– प्रति समय क्रम से अनंतगुणी हीन होकर कर्ममल पटल शक्ति की जब उदीरण होती है तब क्षयोपशम लब्धि होती है।

विशेषार्थ– पूर्व संचित कर्मों के मलरुप पटल के अर्थात् अप्रशस्त/पाप कर्मों के अनुभाग स्पर्धक जिस समय विशुद्धि के द्वारा प्रति समय अनंत गुणहीन होते हुये उदीरणा को प्राप्त होते हैं उस समय क्षयोपशम लब्धि होती है।[6]

विशुद्धिलब्धि का स्वरुप–

आदिम लद्धि भवो जो भावो जीवस्स सादपहुदीणं।[7]
सत्थाणं पयडीणं बंधण जोगो, विशुद्धि लद्धी सो।।5।।

अर्थ– आदि (प्रथम) लब्धि होने पर साता आदि प्रशस्त (पुण्य) प्रकृतियों के बन्ध योग्य जो जीव के परिणाम वह विशुद्धि लब्धि है।

विशेषार्थ– प्रति समय अनंतगुणित हीन क्रम से उदीरित अनुभाग स्पर्धकों से उत्पन्न हुआ सातादि शुभ कर्मों के बन्ध का निमित्तभूत और असाता आदि अशुभ कर्मों के बन्ध का विरोधी जो जीव का परिणाम वह विशुद्धि है उसी की प्राप्ति का नाम विशुद्धि लब्धि है।

देशनालब्धि का स्वरुप–

छद्दव्व णव पयत्थोवदेसयर–सूरि पहुदि लाहो जो।
देसिद पदत्थ धारण लाहो वा तदिय लद्धी दु।।[8]

अर्थ–जीव–पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश–काल इन 6 द्रव्यों के तथा जीवाजीव, आस्रवादि मोक्ष व पुण्य–पाप इन 6 पदार्थों के उपदेश का नाम देशना है उस देशना से परिणत आचार्यादि की उपलब्धि को उपदिष्ट अर्थ को ग्रहण धारण तथा विचारण की शक्ति के समागम को देशना लब्धि कहते हैं।

विशेषार्थ–गाथान्त में ''दु'' शब्द से वेदनानुभव, जातिस्मरण, जिनबिम्ब दर्शन, देवऋद्धि दर्शनादि कारणों का ग्रहण होता है क्योंकि इन कारणों से नैसर्गिक प्रथमोपशम सम्यक्त्व उत्पन्न होता है जो प्रथमोपशम सम्यक्त्व धर्मोपदेश के बिना जिनबिंब दर्शनादि कारणों से उत्पन्न होता है वह नैसर्गिक सम्यग्दर्शन है।[9] क्योंकि जाति स्मरण और जिनबिम्ब दर्शन के बिना नैसर्गिक प्रथम सम्यग्दर्शन का उत्पन्न होना असंभव है।[10] जिनबिम्ब दर्शन से निधत्ति और निकाचित्त रुप भी मिथ्यात्वादि कर्मकलाप का

क्षय देखा जाता है जिससे जिनबिम्बदर्शन प्रथमोपशम सम्यक्त्व की उत्पत्ति में कारण होता है।[11] जिनपूजा वंदना और नमस्कार से भी बहुत कर्म प्रदेशों की निर्जरा होती है।[12] सामान्यरुप से भव (जाति) स्मरण के द्वारा सम्यक्त्व की उत्पत्ति नहीं हेाती किन्तु धर्म बुद्धि से पूर्व भव में किये गये मिथ्यानुष्ठानों की विफलता का दर्शन प्रथमोपशम सम्यक्त्व के लिये कारण होता है।[13]

आलेख विषय–प्रायोग्य लब्धि का स्वरुप–

अंतो कोडाकोडी विट्ठाणे ठिदि रसाण जं करणं।
पाउग्गलद्धिणामा भव्वाभव्वेसु सामण्णा।।7।।

अर्थ–कर्मों की स्थिति को अन्त: कोडाकोडी तथा अनुभाग को द्विस्थानिक करने को प्रायोग्य लब्धि कहते हैं यह लब्धि भव्य और अभव्य के समान रुप से होती है।

विशेषार्थ–अन्त:कोडाकोडी सागर कर्मस्थिति रह जाने पर संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त जीव के प्रथमोपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति की योग्यता होती है। इस प्रायोग्य लब्धि में इतनी विशुद्धता हो जाती है कि सर्वकर्मों की उत्कृष्ट स्थिति का काण्डक घात के द्वारा घात करके अन्त: कोडाकोडी सागर प्रमाण कर देता है तथा अप्रशस्त प्रकृतियों के चतु:स्थानीय अनुभाग को घात करके द्विस्थानीय अनुभाग में स्थापन कर देता है अर्थात् घातिया कर्मों का अनुभाग लता दारू रूप और अप्रशस्त अघातिया कर्मों का अनुभाग निम्ब–कांजीररूप द्विस्थान शेष रह जाता है किन्तु प्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग गुड–खांड–शर्करा और अमृतरूप चतु:स्थानीय ही होता है क्योंकि विशुद्धि के द्वारा प्रशस्त प्रकृतियों के अनुभाग का घात नहीं होता है।[15] इन अवस्थाओं के होने पर करण अर्थात् पंचम करण लब्धि होने के योग्य भाव पाये जाते हैं।[16] इतनी विशुद्धि भव्य सिद्धिक और अभव्यसिद्धिक इन दोनों प्रकार के जीवों के हो सकती है। इस हेतु गाथा में ''भव्वाभव्वेसु सामण्णा'' पद दिया है यह सर्व आचार्य मान्य है।

प्रथमोपशम सम्यक्त्व के अभिमुख जीव के स्थिति–बंधादि का कथन–

सम्मत्तहि मुहमिच्छो विसोहि वड्ढीहि वड्ढमाणो हु।
अंतो कोडाकोडिं सत्तण्हं बंधणं कुणदी।।9।।

अर्थ– विशुद्धि की वृद्धि द्वारा वर्धमान तथा प्रथमोपशम सम्यक्त्व के अभिमुख मिथ्यादृष्टि जीव सात कर्मों (आयुकर्म के बिना) का अन्त:कोडाकोडी सागर प्रमाण स्थिति बंध करता है।

अनुभाग बन्ध– अप्रशस्त प्रकृतियों का द्विस्थानीय अनुभाग प्रतिसमय अनंत गुणा घटता बंधता है और प्रशस्त प्रकृतियों का चतु:स्थानीय अनुभाग प्रति समय अनंतगुणा बढता–बंधता है।

प्रदेश बन्ध– मिथ्यात्व, अनंतानुबंधी चतुष्क, स्त्यानगृद्धित्रिक, देव चतुष्क, वज्रवृषभनाराच संहनन, प्रशस्त विहयोगति, सुभगादि तीन व नीच गोत्र इन प्रकृतियों का उत्कृष्ट व अनुत्कृष्ट प्रदेश बंध करता है।

महादण्डक में कही 67 प्रकृतियों की (ज्ञानावरणी 5, दर्शनावरणी 6, सातावेदनीय, प्रत्याख्यानावरण 4, अप्रत्याख्यानावरण 4, संज्वलन क्रोध, मान, माया व लोभ ये 12 कषाय पुरुषवेद, हास्य, रति, भय, जुगुप्सा, तिर्यन्चगति, मनुष्यगति, 5 इन्द्रिय जाति, औदारिक शरीर, तैजस कार्माण, शरीर, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, उद्योत, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक शरीर, स्थिर, शुभ, यश:कीर्ति, निर्माण, उच्च गोत्र एवं 5 अन्तराय का अनुत्कृष्ट प्रदेश बंध करता है।

उदय–उदीरणा–उदयवान प्रकृतियों का उदय की अपेक्षा एक स्थिति जो उदय को प्राप्त हुआ एक निषेक, उसी का भोक्ता होता है अप्रशस्त प्रकृतियों का द्विस्थानरुप और प्रशस्त प्रकृतियों का चतुस्थानरुप अनुभाग का भोक्ता होता है उदय प्रकृतियों का अजघन्य वा अनुत्कृष्ट प्रदेशों का भोक्ता है जो प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग उदयरूप हों उन्हीं की उदीरणा करता है।

सत्व– सत्तारुप प्रकृतियों की स्थिति, अनुभाग व प्रदेश अजघन्य अनुत्कृष्ट है ऐसे प्रकृति स्थिति अनुभाग प्रदेश रूप चतुष्क है सो बन्ध, उदय, उदीरणा व सत्त्व सभी में कहे। यह क्रम प्रायोग्य लब्धि के अन्त पर्यन्त जानना।

प्रायोग्य लब्धि काल में बंधापसरण, भेद एवं विवेचना–

तत्तो उदय सदस्स य पुधत्तमेत्तं पुणो पुणोदरिय।
बंधम्मि पयडि बंधुच्छेद पदा होंति चोत्तीसा।।10।।

अर्थ–उससे अर्थात् अन्त: कोडाकोडी सागर स्थिति से पृथक्त्व सौ सागर हीन स्थिति को बांधकर पुन: पुन: पृथक्त्व 100 सागर घटाकर स्थिति बन्ध करने पर प्रकृति बन्ध व्युच्छित्ति के 34 स्थान होते हैं। (ये भव्य–अभव्य दोनों के होते हैं)।

बन्धापसरण? बंध+अपसरण= बंध का घटना/कम या हीन होना) प्रत्येक बंधापसरण में पल्य के असंख्यातवें भाग स्थिति कम बनती जाती है।

प्रकृति बन्धापसरण– प्रकृति बन्ध का क्रम से घटना प्रकति बन्धापसरण है।

स्थिति बन्धापसरण– स्थिति बन्ध का क्रम से घटना स्थिति बन्धापसरण है।

स्थिति सत्वापसरण– स्थिति बन्धापसरण प्रमाण आयाम लिये स्थिति काण्डकों द्वारा स्थिति सत्व का घटना स्थिति सत्वापसरण कहलाता है।

बन्धापसरण काल– जिसके द्वारा एक बार स्थिति बन्ध घटाया जाता है वह स्थिति बन्धापसरण काल है।

समय प्रबद्ध– एक समय में जितने कर्म आते हैं उन कर्मों के समूह को समय प्रबद्ध कहते है।

नवक समय प्रबद्ध– पुरुष वेद–क्रोध, मान, माया का पर प्रकृति रुप संक्रमण होकर उपशम या क्षय होता है उस समय अन्तिम निषेक का उपशम या क्षय होते समय जो समय प्रबद्ध प्रमाण कर्म आत्मा के साथ बन्ध को प्राप्त होता है वह नवक समय प्रबद्ध है।

5 गाथाओं द्वारा 34 बन्धापरणों की विवेचना–

आऊ पडि णिरयदुगे, सुहुमतिये सुहुमदोणि पत्तेयं।
बादर जुत दोण्णि पदे, अपुण्णजुद वितिचसण्णि सण्णीसु।।11।।

अट्ठअपुण्णपदेसु वि, पुण्णेण जुदेसु तेसु तुरियपदे।
एइंदिय आदावं, थावरणामं च मिलिदव्वं।।12।।

तिरिगदु गुज्जोवो वि य, णीचे अप्पसत्थ गमणदु भगति ए।
हुंडा संपत्ते वि य, णउंसए बामखीलीए।।13।।

खुज्जद्धं णाराए, इत्थीवेदे य सादि णाराए।
णग्गोधवज्जणाए ए मणुओराल दुगवज्जे।।14।।

अथिर असुभ जस अरदी, सोय असादे य होंति चउतीसा।
बंधोसरणट्ठाणा, भव्वा भव्वेसु सामण्णा।।15।।

अर्थ– ये 34 प्रकृति बंधापसरण स्थान मनुष्य व तिर्यञ्चों के होते हैं। देव तथा नारकियों के यथासंभव 10 से 14 तक ही प्रकृति बंधापसरण है क्योंकि 34 में देव और नारकी के उस भव में किसी के भी नहीं बंधती यानि बंध के अयोग्य है।

34 बंधापसरणों का स्पष्टीकरण– (1) नरकायु (2) तिर्यञ्चायु (3) मनुष्यायु (4) देवायु (5) नरक गति व नरक गत्यानुपूर्वी (6) संयुक्त रुप से सूक्ष्म अपर्याप्त साधारण (7) संयुक्त सूक्ष्म अपार्याप्त प्रत्येक (8) संयुक्त बादर अपर्याप्त साधारण (9) संयुक्त बादर अपर्याप्त प्रत्येक (10) संयुक्त द्वीइन्द्रिय जाति और अपर्याप्त (11) संयुक्त त्रिइन्द्रिय जाति और अपर्याप्त (12) संयुक्त चतुरिन्द्रिय जाति और अपर्याप्त (13) संयुक्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय जाति और अपर्याप्त (14) संयुक्त संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त (15) संयुक्त सूक्ष्म पर्याप्त साधारण (16) संयुक्त सूक्ष्म पर्याप्त प्रत्येक (17) संयुक्त बादर पर्याप्त साधारण (18) संयुक्त बादर पर्याप्त प्रत्येक एकेन्द्रिय, आतप, स्थावर (19) संयुक्त द्वीन्द्रिय जाति पर्याप्त (20) संयुक्त त्रीणन्द्रिय जाति पर्याप्त (21) संयुक्त चतुरिन्द्रिय जाति पर्याप्त (22) संयुक्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय जाति पर्याप्त (23) संयुक्त तिर्यगति–तिर्यग्गत्यानुपूर्वी*[1] उद्योत (24) नीच गोत्र (25) अप्रशस्त विहायोगति, दुर्भग, दुःस्वर अनादेय (26) हुंडक संस्थान, असंप्राप्तासृपाटिका संहनन (27) नपुंसक वेद (28) वामन संस्थान, कीलक संहनन (29) कुब्जक संस्थान, अर्द्धनाराच संहनन (30) स्त्री वेद (31) स्वाति संस्थान नाराच संहनन (32) न्यग्रोध परिमंडल संस्थान, बज्र नाराच संहनन (33) मनुष्यगति*[2]–मनुष्यगतयानुपूर्वी, औदारिक शरीर–औदारिकांगोपांग बज्रऋषभनाराच संहनन (34) अस्थिर अशुभ, अयश कीर्ति, अरति, शोक, असाता का बन्धापसरण होता है।

34 बन्धापसरणों में चारों गति में कौन–कौन से बंधापसरण हैं– विवेचना–

णरतिरियाणं ओघो भवणतिसोहम्म जुगलए विदियं।
तिदियं अट्ठारसमं तेवीसदिमादि दसपदं चरिमं।।16।।

ते चेव चोदसपदा अट्ठारसमेण हीणया होंति।
रयणादि पुढविछक्के सणक्कुमारादि दसकप्पे।।17।।

ते तेरस विदिएण य तेवीसदिमेण चावि परि हीणा।
आणदकप्पा दुवरिमगे वेज्जंतोत्ति ओसरणा।।18।।[21]

गाथार्थ– मनुष्य और तिर्यञ्चों में ओघ अर्थात् 34 बन्धापसरण होते हैं। भवनत्रिक एवं सौधर्म–ऐशान स्वर्ग के देवों में दूसरा, तीसरा, अठारहवां एवं तेईसवां आदि दश व अन्तिम 34वां ये बन्धापसरण होते हैं।

रत्नप्रभादि छह नरकों/पृथ्वियों में और सनत्कुमारादि दस कल्पों (स्वर्गों) में उपर्युक्त 14 बन्धापसरणों में से 18वां बन्धापसरण नहीं होता। आनत कल्प से लेकर उपरिम नौवें ग्रैवेयक पर्यन्त 13 स्थानों में से दूसरा और 23वां बन्धापसरण नहीं होता शेष 11 बन्धापसरण होते हैं।

विशेषार्थ– लब्धिसार ग्रंथ में उपरोक्त 3 गाथाओं से स्पष्ट है कि प्रथमोपशम सम्यक्त्वाभिमुख मनुष्य व तिर्यञ्चों के पूर्वोक्त 34 बन्धापवरण होते हैं। जिनमें 46 प्रकृतियों की बन्ध व्युच्छित्ति हो जाती है। प्रथमोपशम सम्यक्त्व के अभिमुख देव तथा सातवे नरक को छोड़कर शेष छह पृथ्वी के नारकी जीवों के नहीं बंधने वाली प्रकृतियों का स्पष्टीकरण यह है कि असातावेदनीय, स्त्रीवेद, नपुंसक वेद, अरति, शोक, चारों आयु, नरक गति, तिर्यञ्चगति, देवगति, एकेन्द्रिय जाति, द्विइन्द्रिय जाति, त्रिइन्द्रिय जाति, चतुइन्द्रिय जाति, वैक्रियक शरीर, आहारक शरीर, समचतुरस्रसंस्थान को छोड़कर शेष 5 संस्थान, वैक्रियक शरीरांगोपांग, आहारक शरीरांगोपांग, वज्रवृषभनाराच संहनन को छोड़कर शेष 5 संहनन, नरकगति प्रायोग्यानुपूर्वी, तिर्यगति प्रायोग्यानुपूर्वी, देवगति प्रायोग्यानुपूर्वी, अप्रशस्त विहायोगति, आतप, उद्योत, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण शरीर, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशकीर्ति, नीच गोत्र और तीर्थंकर।[22] इनमें से अपनी–अपनी बन्ध अयोग्य प्रकृतियों को घटाकर शेष प्रकृतियों का बन्धापसरणों द्वारा बन्ध व्युच्छेद हो जाता है।

*[1] ये दोनों प्रकृतियां हमेशा साथ–साथ बंधती हैं। *[2] ये दोनों प्रकृतियां हमेशा साथ–साथ बंधती हैं।

भवनत्रिक (भवनवासी, वानव्यन्तर, ज्योतिष) देवों व सौधर्म-ईशान स्वर्ग के देवों में तिर्यगायु, मनुष्यायु, एकेन्द्रिय, आतप, स्थावर, तिर्यञ्चगति, तिर्यंच गत्यानुपूर्वी, उद्योत, नीच गोत्र, अप्रशस्त विहायोगति, र्दुभग, दु:स्वर, अनादेय, हुण्डक संस्थान, असंप्राप्तासृपाटिका संहनन, नपुंसकवेद, वामन संस्थान, कीलित संहनन, कुब्जक संस्थान, अर्धनाराच संहनन, स्त्रीवेद, स्वाति संस्थान, नाराच संहनन, न्यग्रोध संस्थान, वज्रनाराच संहनन, अस्थिर, अशुभ, अयशकीर्ति, अरति, शोक, असातावेदनीय इन 21 प्रकृतियों की बंध व्युच्छित्ति प्रथमोपशम सम्यक्त्व के अभिमुख जीव के होती है। प्रथमादि छह नरक और तृतीय स्वर्ग से 12 स्वर्ग तक के जीवों में उपर्युक्त 31 प्रकृतियों में से बन्ध के अयोग्य एकेन्द्रिय जाति, आतप और स्थावर इन 3 को कम करने से शेष 28 प्रकृतियों की बन्ध व्युच्छित्ति सम्यक्त्व के अभिमुख जीव के होती है। 13वें स्वर्ग से, 16वें स्वर्ग तक 9 ग्रैवेयक तक के देवों में उपर्युक्त 28 प्रकृतियों में से बन्ध के अयोग्य तिर्यगायु, तिर्यञ्चगति, तिर्यञ्चगत्यानुपूर्वी और उद्योत इन 4 प्रकृतियों को कम करने से शेष 24 प्रकृतियों की बन्ध व्युच्छित्ति प्रथमोपशम सम्यक्त्व के अभिमुख जीव के होती है।

7वीं पृथ्वी (नरक) में बन्धापसरण पद-

ते चेवेक्कार पदा तदिऊणा, विदियठाण संपत्ता।
चउबीसदिमेणूणा, सत्तमिपुढविम्हि ओसरणा।।19।।

अर्थ-गाथा 18 में कथित 11 बन्धापसरणों में से तीसरा व 24वां बंधापसरण घटाने पर तथा दूसरा बन्धापसरण मिलाने पर 7वीं पृथ्वी में 10 बन्धापसरण होते हैं।

स्पष्टीकरण- 7वें नरक में मनुष्यायु बन्ध योग्य नहीं है इसलिये तीसरा बंधापसरण कम किया गया है। प्रथमोपशम सम्यक्त्वाभिमुख 7वें नरक के नारकी जीव के नीच गोत्र की बन्ध व्युच्छित्ति नहीं होती।[23] अत: 24वां बंधापसरण भी कम किया गया है। मिथ्यादृष्टि सप्तम पृथ्वीस्थ नारकी के तिर्यञ्चायु बंध योग्य है। किन्तु प्रथमोपशम सम्यक्त्वाभिमुख जीव को तिर्यञ्चायु की बन्ध व्युच्छित्ति हो जाती है। अत: दूसरा बंधापसरण मिलाया गया है। इस प्रकार सप्तम नरक में 10 बंधापसरण होते हैं जिनके द्वारा 23 प्रकृतियों की बंध व्युच्छित्ति होती है। सप्तम नरक में बंध योगय 96 प्रकृतियाँ हैं उनमें से 23 की बन्ध व्युच्छित्ति हो जाने पर 73 प्रकृतियाँ बन्ध योग्य शेष रह जाती हैं। इन 73 में उद्योत प्रकृति का बन्ध भजनीय है अर्थात् बन्ध होता भी है और नहीं भी होता है यदि उद्योत प्रकृति का बन्ध नहीं होता तो 72 प्रकृतियों का बन्ध होता है।

प्रायोग्य लब्धि का उपसंहार-

अजहण्ण मणुक्कस्सं ठिदीतियं होदि सत्तपयडीणं।
एवं पयडि चउक्कं बंधादिसु होदि पत्तेयं।।32।।

अर्थ-उक्त सत्त्व प्रकृतियों का स्थितित्रिक (स्थिति-अनुभाग-प्रदेश) अजघन्य-अनुत्कृष्ट होता है। बन्धादि (बन्ध, उदय, उदीरण्य) प्रत्येक में इसी प्रकार प्रकृति अनुत्कृष्ट होता है। बन्धादि (बन्ध, उदय, उदीरण्य) प्रत्येक में इसी प्रकार प्रकृति चतुष्क (प्रकृति-स्थिति-अनुभाग-प्रदेश) लगा लेना चाहिए।

विशेषार्थ-आयुकर्म के अतिरिक्त इन्हीं उक्त प्रकृतियों का स्थिति-सत्कर्म-अंत:कोडाकोडि सागर होता है। आयुकर्म का तत्प्रायोग्य स्थिति सत्कर्म होता है। 5 ज्ञानावरण, 9 दर्शनावरण, असाता वेदनीय, मिथ्यात्व, 16 कषाय, नव नो कषाय, सम्यक्त्व, सम्यग्मिथ्यात्व, नरकगति, तिर्यञ्चगति, एकेन्द्रियादि, 4 जाति, 5 संस्थान, 5 संहनन, अप्रशस्त वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यञ्चगत्यानुपूर्वी, उपघात, अप्रशस्त विहायोगति, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण शरीर, अस्थिर, अशुभ दुर्भग, दु:स्वर, अनादेय, अयशकीर्ति, नीच गोत्र और 5 अन्तराय इन अप्रशस्त प्रकृतियों का द्विस्थानीय

(लता-दारु या निम्ब कांजीर) अनुभाग सत्कर्म होता है। साता वेदनीय, मनुष्य-देवगति, पंचेन्द्रिय जाति, औदारिक शरीर, वैक्रियक-तैजस, कार्मण शरीर तथा उन्हीं के बन्धन और संघात, समचतुरस्र संस्थान, कार्मण शरीर, तथा उन्हीं के बन्धन और संघात, समचतुरस्र संस्थान, औदारिक शरीरांगोपांग, बज्रवृषभ नाराच संहनन, प्रशस्त वर्ण चतुष्क, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, देवगत्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, परघात, उच्छवास, आतप, उद्योत, प्रशस्त विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक शरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यश:कीर्ति, निर्माण व उच्च गोत्र इन प्रशस्त प्रकृतियों का चतुस्थानीय अनुभाग सत्कर्म होता है।[24]

प्रायोग्य लब्धि का महत्व- संसार की भ्रमणशील पथिक, दु:खों से छूटने के लिये मुक्ति पथारुढ होकर क्षयोपशम, विशुद्धि व देशना लब्धि के प्रसाद से विशुद्धि से बढ़ता हुआ, प्रायोग्य लब्धि को पाता है। जिसमें गत्यानुसार 34 तक बन्धापसरण होते हैं। जिसमें अनेकों प्रकृतियाँ ऐसी भी हैं जिनका बंध विच्छेद सप्तम गुणस्थान में है इस जीव के जिन प्रकृतियों का सत्त्व उनके स्थिति अनुभाग और प्रदेश अजघन्यानुत्कृष्ट है। विशुद्धि से वर्द्धमान वह जीव अभव्य है तो प्रायोग्यलब्धि के बाद वह गिर जाता है यदि प्रायोग्य लब्धि जीव भव्य हैं तो उनमें से जो प्रथमोपशम सम्यक्त्व के अभिमुख जीव हैं वे करण लब्धि में प्रवेश करके उत्तरोत्तर कर्म बन्ध क्षय करते हुये अन्तत: समस्त कर्मक्षय कर संसाराभव करके शाश्वत सौख्य प्राप्त कर लेते हैं।[25]

।। इत्यलम् ।।

टिप्पणी पत्रक

1. लब्धिसार गाथा-1 पृष्ठ-1 (प्रकाशन-आ. शिवसागर ग्रंथमाला शान्तिवीर नगर, महावीर जी, प्रकाशन वर्ष वी.नि.सं. 2500 ई. (सम्पादन-पं. रतनचन्द्र जी मुख्तार)
2. वही - गाथा-2, पृ. 1-2
3. जय धवल पु. 12, पृ. 296
4. धवल पु. 6 पृ. 105/लब्धिसार गाथा 3
5. वही, गाथा 4
6. धवला पु. 6, पृ. 204
7. धवला पु. 6, पृ. 204/लब्धिसार गाथा 5
8. धवला पु. 6, पृ. 204/लब्धिसार गाथा 6
9. बाह्योपदेशाहृते प्रार्दुभवति तन्नैसर्गिकम् सर्वार्थसिद्धि 1/3 राजवार्तिक 1/3/5
10. वही पृ. 6, टिप्पणी नं. 3- जाइस्स जिणबिम्ब दंसणेहिं विणा उप्पज्जमाणणइ सग्गिय पढमसम्मत्तस्य अंसभावदो। ध.पु. 6 पृ. 437
11. ध.पु. 6 पृ. 427
12. ध.पु. 10 पृ. 289
13. ध.पु. 6 पृ. 422
14. वही, गाथा 7
15. ध.पु. 6 पृ. 209 एवं ध.पु. 12-पृ. 18 व 35
16. ध.पु. 6 पृ. 205
17. वही गाथा 9, 24, 25, 26 व गाथा 92 का संक्षेप
18. वही गाथा 10
19. रत्नत्रय पारिभाषिक शब्दकोष (आर्यिका विशुद्धमती जी) पृ. 236
20. वही गाथा 11-12-13-14-15 अर्थ विवेचना-पृ. 11-12-13
21. वही गाथा 16-17-18
22. ध.पु.6, पृ. 141-142 एवं जय धवल पु. 12, पृ. 225
23. जय धवला पु. 12, पृ. 223, ध.पु.8, पृ.110, गो.कर्मकाण्ड गाथा-107
24. वहीं गाथा 40 पृ. 27-28
25. कृति सम्यक्त्व लब्धि-ले. क्षु. मनोहरलाल सहजानंद वर्णी, पृ. 13-14

देशसंयम लब्धि और इसके प्राप्ति के उपाय एवं महत्त्व

आलोक कुमार जैन मोदी
477/2 'गुरु प्रतीक्षा'
नेशनल कॉन्वेन्ट स्कूल के पास,
गांधीनगर, ललितपुर (उ.प्र.)

जैनागम के अनुसार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र की इन तीन रत्नों की आराधना व उपासना करने वाला जीव ही कर्मबन्धन से मुक्ति प्राप्त कर आत्मा के अनन्तचतुष्टय रूप वास्तविक स्वरूप की प्राप्ति कर लेता है। मोक्ष रूपी महल को प्राप्त करने के लिये उक्त तीनों रत्नों में से सम्यग्दर्शन को इसकी प्रथम सीढ़ी के रूप में स्वीकार किया गया है। क्योंकि इस सम्यग्दर्शन के अभाव में ज्ञान व चारित्र सम्यक्पने को प्राप्त नहीं हेाते हैं। इन तीन रत्नों में से जिस समय सम्यग्दर्शन रूपी रत्न प्रकट होता है। उसी समय सम्यग्ज्ञान रूपी दूसरा रत्न भी आत्मा में प्रकट हो जाता है परन्तु इन दोनों रत्नों की प्राप्ति होने पर तीसरा रत्न सम्यक्चारित्र प्रकट हो ही जाये, यह कोई नियम नहीं है। इसकी प्राप्ति में अधिकतम अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल भी लग सकता है जो स्वयं में असंख्यात उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी काल के बराबर कहा गया है और जब तक इस तीसरे सम्यक्चारित्र रूपी रत्न की प्राप्ति न हो जाये तब तक जीव को मोक्षमार्ग या मुक्तिपथ का राही या मोक्षमार्गी नहीं कहा जा सकता है क्योंकि मोक्षमार्ग तभी होता है जब सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र इन तीनों रत्नों की एक साथ युगपत् उपलब्धि आत्मा में होती है।

यही कारण है कि मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन से कहीं अधिक सम्यक्चारित्र प्रधान है क्योंकि सम्यक्चारित्र के बिना मात्र सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान के प्रभाव से अनन्त संसार को छेदकर अल्प तो किया जा सकता है परन्तु संसार का सम्पूर्ण रूप से क्षय तो मात्र संयम अथवा चारित्र के द्वारा ही संभव है, बिना चारित्र अंगीकार किये न तो आज तक किसी को मुक्ति की प्राप्ति हुई है और न ही आगामी भविष्य में कभी होगी।

ऐसे चारित्र का क्या स्वरूप है? उसके कितने भेद है? एवं उस चारित्र की उपलब्धि किस प्रकार होती है इसकी संक्षिति विवेचन प्रस्तुत आलेख में जा रही है।

चारित्र का स्वरुप व उसके भेदों की व्याख्या– जैनागम में चारित्र, संयम या व्रत ये सभी एकार्थवाची शब्द कहे गये हैं। इनका स्वरुप अनेक आचार्यों ने इस प्रकार कहा है–

1. **आचार्य उमास्माजी के अनुसार–''हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्'' ''देशसर्वतोऽणुमहती''** हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील व परिग्रह इन पांचों पापों से विरत होना ही व्रत या चारित्र कहलाता है। यह विरति दो प्रकार से कही गयी है। हिंसादि पांचों पापों से एकदेश या अंशरुप में या स्थूल रुप में विरक्त होना अणुव्रत है और इन पांचों पापों का सूक्ष्म रुप से सर्वदेश त्याग कर देना महाव्रत कहलाता है।

2. **आचार्य समन्तभद्र स्वामी जी के अनुसार–''रागद्वेषनिवृत्यै चरणं प्रतिपद्यते साधु''** अर्थात् राग–द्वेष की निवृत्ति के लिये सज्जन पुरुष चारित्र को अंगीकार करते हैं और इस रागद्वेष की निवृत्ति होने पर हिंसादि पांचों पापों से स्वयमेव ही निवृत्ति हो जाती है कहा भी है– **''रागद्वीषनिवृत्तेः हिंसादिनिवर्तना कृता भवति''**।[5] अतः इन पांच पापों से निवृत्त होते ही चारित्र कहलाता है। यहाँ भी इसी निवृत्ति के आधार पर चारित्र के दो भेद कहे गये हैं–

सकलं विकलं चरणं, तत्सकलं सर्वसङ्गविरतानाम्।
अनगाराणां विकलं, सागाराणं संसागानाम्।।[6]

1. सकल चारित्र व 2. विकलचारित्र । इनमें जो सभी प्रकार के परिग्रह व घर आदि से निवृत्त या रहित हो गये हैं ऐसे अनगारी या मुनियों को सकलचारित्र कहते हैं एवं जिन्होंने अभी सभी प्रकार के परिग्रह व घर त्याग नहीं किया है ऐसे अणुव्रती श्रावकों के चारित्र को विकल चारित्र कहा जाता है।

तत्त्वार्थ सूत्रकार में भी **अगारनगारश्च** इस सूत्र के माध्यम से आगारी व अनगारी के भेद से व्रती जीवों को दो प्रकार से विभाजित किया है।[7]

''प्रतिश्रयार्थिश्रभि: अंग्यते इति अगारं वेश्म तद्वान्गारी। न विद्यते अगारमस्येत्यनगार:''[8]

आश्रय चाहने वाले जिसे अंगीकार करते हैं वह अगार है। अगार का अर्थ वेश्म या घर होता है। जिसके घर है वह आगारी है जिसके घर नहीं है वह अनगारी है।

3. आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी के अनुसार– पुरुषार्थ सिद्धिच्युपाय जी में आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी जी ने भी चारित्र को इन्हीं उक्त दो रुपों में परिभाषित किया है।

हिंसातोऽनृत वचनात् स्तेयादब्रह्मत: परिग्रहत:।
कात्स्न्यैंकदेशविरतेश चारित्रं जायते द्विविधम्।।40।।9

हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म व परिग्रह इन पांचों पापों से सम्पूर्ण रूप से व एकदेश रूप से त्याग करने की अपेक्षा चारित्र दो प्रकार का कहा गया है। सकल चारित्र को ग्रहण करने वाला 'मुनि' होता है और देश चारित्र को धारण करने वाला श्रावक होता है।

4. आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती के अनुसार– पूर्वोक्तानुसार ही पूज्यवर नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती आचार्य ने भी श्री लब्धिसार जी में चारित्रलब्धि को दो प्रकार से प्रतिपादित किया है–

''दुविहा चरित्र लद्धि, देसे सयले य''[10] चारित्र लब्धि दो प्रकार की है देशचारित्र लब्धि व सकलचारित्र लब्धि।

यहाँ जो लब्धि शब्द है व लघु धातु से 'क्तिन' प्रत्यय लगाने पर प्राप्ति, अवाप्ति, ग्रहण करने अर्थ में निष्पन्न होता है।

आगम ग्रन्थों में लब्धि शब्द अनेक प्रसंगों पर अन्य अनेक अर्थों के साथ भी दृष्टिगोचर होता है। जैसे–''लब्धि प्रत्ययं च'' यहां तैजस ऋद्धि के संबंध में लब्धि शब्द का प्रयोग हुआ है जिसका अर्थ तपोविशेष के कारण से प्राप्त होने वाली ऋद्धि।

2. **''लब्ध्युपयोगौभावेन्द्रियम्''**[11] यहाँ भावेन्द्रिय के दो भेदों में भी लब्धि शब्द का प्रयोग है जिसका विशेष अर्थ ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम विशेष ग्रहण किया गया है।

3. **''नवकेवल लब्धि रमा धरन्त''**[12] इस पंक्ति में भी लब्धि शब्द का प्रयोग है जिसका अर्थ सम्पूर्ण घातिया कर्मों के क्षय हो जाने पर जो नौ क्षायिक भाव आत्मा में उत्पन्न होते हैं उनका ग्रहण किया गया है।

4. **''ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्ध्यश्चतुस्त्रिस्त्रिपंचभेदा.....''**[13] यहाँ इस सूत्र में भी लब्धि शब्द का प्रयोग है जिसके पांच भेद बताये गये हैं जो अन्तराय कर्म के क्षयोपशम विशेष को प्रदर्शित करते हैं।

प्रस्तुत देशसंयमलब्धि व सकल संयम लब्धि के प्रकरण में लब्धि शब्द का सामान्य प्राप्ति अर्थ ही ग्रहण करना है अर्थात् देशचारित्र की प्राप्ति किन–किन जीवों को, कैसे परिणाम करने से होती है? और इस लब्धि की क्या उपयोगिता व महत्त्व है? इन सबका विवेचन श्री लब्धिसार ग्रन्थ के तृतीय अधिकार ''देशचारित्र लब्धि'' के अन्तर्गत गाथा नं. 168 से गाथा नं. 188 तक लगभग 21 गाथाओं में किया गया है।

देशचारित्र का स्वरुप– आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती महाराज ने ही अपने श्री गो. जीवकांड जी में देशचारित्र का लक्षण इस प्रकार लिखा है–

पच्चक्खागुणदयादो, संजमभावो ण होदि णवरिं तु।
थोववदो होदि तदो, देसवदो होदि पंचमओ।।30।।
जो तसवहाउ विरदो, अविरदओ तह य थावर वहादो।
एक्कसमयम्हि जीवो, विरदाविरदो जिणेक्कमई।।31।।[14]

प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय होने से जहां रंचमात्र भी सकल संयम नहीं होता है परन्तु अनंतानुबंधी व अप्रत्याख्यानावरण इन आठ कषायों के उदयाभावी क्षय में तथा इनके ही सदवस्थारुप उपशम में एवं संज्वलन व नव नोकषायों के देशघाती उदय होने पर पांच पापों के एकदेश त्याग होने पर जो स्तोकव्रत या अणुव्रत ग्रहण किये जाते हैं उसे ही देशव्रत कहते हैं और ऐसा देशव्रती पंचमगुणस्थानवर्ती जीव होता है।

इस गुणस्थान में त्रस जीवों की हिंसा से विरत भाव होता है परन्तु स्थावरजीवों की हिंसा से विरत नहीं होने के कारण अविरत या असंयम भाव होता है। अत: एक ही समय में विरत व अविरत ये दोनों भाव एक साथ उत्पन्न होने के कारण इसको विरताविरत या संयमासंयमी भी कहते हैं।

सर्वार्थसिद्धिकार आचार्य पूज्यपाद स्वामी के अनुसार–

''अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यान–कषायाष्टकोदयक्षयात् सदुपशमाच्च प्रत्याख्यानकषयोदये संज्वलनकषायस्य देशघाति स्पर्द्धकोदये नोकषायनवकस्य यथासंभवोदये च विरताविरत परिणाम: क्षायोपशमिक: संयमासंयम इत्याख्यायते।'' अनंतानुबंधी व अप्रत्याख्यानावरण इन आठ कषायों के उदयाभावी क्षय होने पर और इन्हीं के सदवस्थारुप उपशम होने पर तथा प्रत्याख्यानावरण कषाय के सामान्य उदय में तथा संज्वलन कषाय के देशघाती स्पर्द्धकों के उदय होने पर एवं नो कषायों के यथासंभव उदय होने पर जो विरताविरत परिणाम होता है वह क्षायोपशमिक संयमासंयम कहलाता है।

पंचमगुणस्थानवर्ती जीव के अपरनाम– देशव्रती, अणुव्रती, देशचारित्री, देशसंयमी, विकलचारित्री, विरताविरत या संयमासंयमी ये सभी एकार्थवाची शब्द है।

कौन जीव किस प्रकार इस पंचमगुणस्थान को प्राप्त करते हैं?–

1. **''देसचारित्तं मिच्छो अयदो''**[16]– इस पंचमगुणस्थान को या देशचारित्र को अनादि व सादि मिथ्यादृष्टि जीव तथा असंयत सम्यग्दृष्टि जीव प्राप्त करते हैं। विशेषता यह है कि **अनादि मिथ्यादृष्टि जीव** उपशम सम्यक्त्व के साथ तीनों करण परिणाम को करता हुआ तृतीय अनिवृत्तिकरण के अन्त में इस देशचारित्र को प्राप्त करता है। जबकि **सादिमिथ्यादृष्टि जीवों में** कोई उपशम सम्यक्त्व के साथ तीनों करण करके देशसंयम प्राप्त करता है एवं कोई वेदक सम्यक्त्व के साथ मात्र दो करण करके अपूर्वकरण के अंत में इस देशसंयम को प्राप्त करता है। तथा **चतुर्थगुणस्थानवर्ती वेदक सम्यग्दृष्टि** जीव भी मात्र दो करण अध:करण व अपूर्वकरण करके अपूर्वकरण के अंत में इस देशचारित्र को प्राप्त करते हैं।

देशसंयमी जीव के विशुद्धि की अपेक्षा दो भेद है[17]**–** गाथा 174 के अनुसार इस पंचमगुणस्थानवर्ती जीव के जो देशसंयम है वह विशुद्धि की अपेक्षा दो प्रकार का होता है।

1. **एकान्तवृद्धि देशसंयमी–**देशसंयमी की उत्पत्ति के प्रथम समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त काल पर्यन्त इस जीव की विशुद्धि प्रतिसमय अनन्तगुणी वृद्धि को प्राप्त होती है। इसको एकान्तवृद्धि देशसंयत कहते हैं।

2. स्वस्थान या अधाप्रवृत्त या यथाप्रवृत्त देशसंयत– देशसंयम प्राप्ति के प्रारम्भ के अन्तर्मुहूर्त पश्चात् सम्पूर्ण जीवन पर्यन्त विशुद्धि में एकान्त रुप से वृद्धि न होने के कारण उसे स्वस्थान देशसंयत या अधाप्रवृत्त या यथाप्रवृत्त देशसंयत भी कहते हैं। इसका जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त व उत्कृष्टकाल कुछ कम एक पूर्वकोटि होता है। इस काल में स्थिति कांडक व अनुभागकांडक तो नहीं होते परन्तु गुणश्रेणी निर्जरा सदैव होती रहती है।

गाथा क्रमांक 176 के अनुसार इस अधाप्रवृत्त या स्वस्थान देशसंयम के समय में परिणामों की विशुद्धि एकसमान नहीं रह सकती, कभी परिणाम संक्लेशित हो जाते हैं तो कभी विशुद्ध होते हैं। अत: परिणामों के अनुसार ही गुणश्रेणी निर्जरा में भी चतु:स्थानपतित हानि वृद्धि पायी जाती है अर्थात् अनन्त गुणवृद्धि व अनन्तभागवृद्धि तथा अनन्तगुणहानि व अनन्त भाग हानि नहीं होती है।

देशसंयती जीव की अन्य विशेषतायें[18]**–**

1. गाथा क्रमांक 175 के अनुसार जब कोई देशसंयमी जीव नीचे के गुणस्थान को प्राप्त होता है तो यदि वह किसी बाह्य निमित्त के बिना मात्र अंतरंग कषाय के उदय से असंयत भाव को प्राप्त होता है तो वह अर्न्मुहूर्त काल में ही पुन: बिना करण परिणामों को किये ही देशसंयत भाव को प्राप्त कर सकता है।

2. लेकिन यदि बाह्य निमित्त के कारण तीव्र संक्लेश भाव को प्राप्त होकर मिथ्यात्व या असंयतभाव को प्राप्त होता है तो वह पुन: दो करण परिणाम करके ही पुन: देश संयत को प्राप्त होगा।

इसको पुन: प्राप्त करने में जघन्य से अर्न्मुहूर्त से लेकर संख्यात–असंख्यात वर्ष भी लग सकते हैं। इस स्थिति में देशसंयत प्राप्ति के प्रथम अन्तर्मुहूर्त में स्थितिकांडक व अनुभाग कांडक दोनों होते हैं।

देशसंयत जीवों में लब्धिस्थान[19]**–** पंचम गुणस्थानवर्ती देशसंयमी जीवों में सर्व जघन्य देशसंयम लब्धि स्थान उस जीव के होता है जो संक्लेश परिणामों के कारण देशसंयम का घात कर मिथ्यात्व के सम्मुख हैं। ऐसे उस जीव के देशसंयम के अंतिम समय में सर्वजघन्य देशसंयम लबब्धि स्थान होता है।

इसी प्रकार जो जीव देशसंयम प्राप्त करने के अनन्तर समय में ही सकल संयम प्राप्त करने के सम्मुख है। उस जीव के उस समय देशसंयम का सर्वोत्कृष्ट देशसंयम लब्धि स्थान होता है।

उक्त देशसंयम लब्धि स्थानों में सर्वजघन्य देशसंयम लब्धि स्थान के अविभागी प्रतिच्छेदों से सम्पूर्ण जीवराशि के अनंतानंत गुणकार सहित अविभागी प्रतिच्छेद उत्कृष्ट देशसंयम लब्धिस्थान के होते हैं।

जघन्य लब्धि स्थानों के तीन भेद[20]**–** श्री लब्धिसार ग्रन्थ के गाथा नं. 186 के अनुसार देशसंयम के जघन्य लब्धि स्थानों को तीन प्रकार से वर्णित किया है– 1. प्रतिपातगत जघन्य लब्धि स्थान 2. प्रतिपद्यमानगत जघन्य लब्धि स्थान 3. अनुभयगत जघन्य लब्धि स्थान।

1. प्रतिपातगत जघन्य लब्धि स्थान– जब कोई देशसंयमी जीव संक्लेश परिणामों के कारण मिथ्यात्व के सम्मुख होता है उस समय देशसंयम से च्युत होते हुये जो अन्तिम समय का परिणाम होता है उसे सर्वजघन्य प्रतिपातगत जघन्य लब्धि स्थान होता है।

2. प्रतिपद्यमानगत जघन्य लब्धि स्थान– देशसंयम को प्राप्त करते समय उत्पत्ति के प्रथम समय जो जघन्य स्थान होता है उसे प्रतिपद्यमानगत जघन्य लब्धि स्थान कहते हैं।

3. अनुभयगत जघन्य लब्धि स्थान– उक्त प्रतिपातगत एवं प्रतिपद्यमानगत जघन्य लब्धि स्थानों को छोड़कर देशसंयम के काल में अन्य समय में जो जघन्य स्थान होते हैं वे अनुभयगत जघन्य लब्धि स्थान कहलाते हैं।

उक्त तीनों जघन्य स्थानों में भी प्रतिपात स्थान सबसे कम हैं इससे असंख्यात गुणा प्रतिपद्यमान स्थान हैं और इनसे भी असंख्यात गुणे अनुभयस्थान होते हैं।

देशसंयम के काल में अल्पबहुत्व की विवेचना[21]**–** अपूर्वकरण के प्रथम समय से लेकर देश संयम प्राप्ति के प्रारम्भिक अन्तर्मुहूर्त में जो एकान्तानुवृद्धि देश संयम होता है उसके अंतिम समय तक अनुभागकाण्डक घात के समय से संबंधित अल्पबहुत्व का वर्णन करने वाले 18 स्थानों का वर्णन ग्रन्थ में लगभग 6 से 8 गाथाओं में किया गया है। जिनका विस्तार से अध्ययन में ग्रन्थ का स्वाध्याय करके आसानी से किया जा सकता है। यहाँ विस्तार के भय से नहीं दिया जा सकता।

देशसंयम के स्वरुप की संक्षिप्ति व्याख्या व उसका महत्व एवं उपयोगिता–

1. मिथ्यादृष्टि व असंयतसम्यग्दृष्टि जीव इस देशसंयम को प्राप्त कर सकते हैं।
2. दूसरे एवं तीसरे गुणस्थानवर्ती जीव पंचमगुणस्थान को कदापि प्राप्त नहीं होते हैं।
3. छठवें गुणस्थानवर्ती जीव की संक्लेश परिणामों से प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय के कारण भी इस पंचम गुणस्थान को प्राप्त हो सकते हैं।
4. यह पंचम गुणस्थानवर्ती जीव संक्लेश परिणामों से चतुर्थ, तृतीय, द्वितीय व प्रथम गुणस्थान को प्राप्त होते हैं एवं विशुद्ध परिणामों से सप्तम गुणस्थान को प्राप्त होता है।
5. यह गुणस्थान मनुष्य व तिर्यंच इन दो गति के जीव (कर्मभूमियां) ही प्राप्त कर सकते हैं1
6. मनुष्यों में इस गुणस्थान को प्राप्त करने की योग्यता आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त की अवस्था होने पर आती है। अत: इस गुणस्थान का जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त व उत्कृष्टकाल 8 वर्ष अन्तर्मुहूर्त कम एक पूर्व कोटि होता है।
7. गर्भज तिर्यंचों में देशसंयम ग्रहण करने की योग्यता अपनी–अपनी पर्याय के अनुसार दो माह अथवा चार माह की अवस्था में आती है अत: इन जीवों में जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त व उत्कृष्टकाल दो माह अथवा चार माह कम एक पूर्व कोटि हो सकता है।
8. सम्मूर्च्छन तिर्यंचों में देशसंयम प्राप्त करने की योग्यता जन्म के अन्तर्मुहूर्त पश्चात् ही आ जाती है। अत: सम्मूर्च्छन तिर्यंचों में इस गुणस्थान का काल जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टकाल अन्तर्मुहूर्त कम एक पूर्व कोटि होता है।
9. जो जीव पांच अणुव्रतों के साथ–साथ शील व्रतों का संकल्पर्वूक पालन करते हैं उनके ही पंचम गुणस्थान संभव होता है।
10. इस गुणस्थानवर्ती जीव माया, मिथ्यात्व व निदान इन तीन प्रकार की शल्यों से रहित है।
11. दर्शन, व्रत आदि 11 प्रतिमाओं में व्रत प्रतिमा को ग्रहण करते ही पंचम गुणस्थान का प्रारम्भ हो जाता है अत: दूसरी प्रतिमा से लेकर ग्यारहवीं प्रतिमा पर्यन्त एवं सभी क्षुल्लकों, ऐलकों व आर्यिकाओं का यह पंचम गुणस्थान होता है।
12. जो जीव अणुव्रतों के साथ–साथ दिग्व्रत व देशव्रत का निरतिचार पालन करता है उसके दिग्व्रत व देशव्रत की सीमा के बाहर सूक्ष्म पापों का भी त्याग हो जाने के कारण उसे उपचार से महाव्रती की संज्ञा दी गई है।
13. जिन जीवों ने आगामी नरक, तिर्यंच व मनुष्य आयु का बंध कर लिया है ऐसा जीव कदापि पंचमगुणस्थान को प्राप्त नहीं होता है। अत: जिसने अभी तक किसी भी आयु का बंध न किया हो अथवा देवायु का बद्धायुष्क जीव ही इस पंचम गुणस्थान को प्राप्त करता है।
14. देशसंयम या पंचमगुणस्थान में मरण करने वाला जीव नियम से देवगति को ही प्राप्त करता है।
15. देशसंयम के साथ सभी तिर्यंचों का गमन एवं वस्तु सहित मनुष्यों का गमन सोलहवें स्वर्ग तक ही होता है इसके ऊपर नहीं निर्ग्रन्थ अवस्था को धारण करने वाले पंचम गुणस्थानवर्ती जीव नौवेग्रैवेयिक पर्यन्त उत्पन्न हो सकते हैं।

16. इस गुणस्थानवर्ती जीव बंधयोग्य 120 प्रकृतियों में से 53 प्रकृतियों का अबन्धक एवं 67 प्रकृतियों का ही बन्धक होता है।
17. देशसंयमी पंचमगुणस्थानवर्ती जीव के उदययोग्य 122 प्रकृतियों में से मात्र 87 प्रकृतियों का ही उदय पाया जाता है शेष 35 प्रकृतियां अनुदय को प्राप्त होती हैं।

देशसंयम का महत्त्व व उपयोगिता– जैनागम में संयम धारण करने का मूल उद्देश्य कर्मबन्धन से मुक्ति प्राप्त करना ही है जो जीव पूर्णसंयम पालन कर कर्मों से मुक्त नहीं हो पाते हैं वो अशुभ क्रियाओं से निवृत्ति एवं शुभ क्रियाओं में प्रवृत्ति होने के कारण शुभगति को प्राप्त करता है एवं परम्परा से मुक्ति को प्राप्त करता है। कहा भी है–

यों श्रावक व्रत पाल स्वर्ग सोलम उपजावै।
तहतैं चय नर जन्म पाय, मुनि हवै शिव जावै।।[22]।। छहढाला 04/14

इसी तरह भी श्रावकाचार जी में भी कहा है–

पंचाणुव्रतनिधयो निरतिक्रमणा फलन्ति सुरलोकं।
यत्रावधिरष्टगुणा, दिव्यशरीरं च लभ्यन्ते।।23

पांच अणुव्रतों का निरतिचार पालन करने वाले जीव व्रत के पालन के फलस्वरुप देवलोक को प्राप्त करते हैं जहां वह अवधिज्ञान के साथ अणिमादि आठ विशेष ऋद्धियों सहित दिव्यशरीर को प्राप्त करते हैं।

श्री पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय जी के अनुसार–

इति यो व्रत रक्षार्थं सततं पालयति सकलशीलानि।
वरयति पतिवरेव स्वयमेव तमुत्सुका शिवपदश्री:।।

स्वयंवर मंडप में जिस प्रकार एक कन्या स्वयमेव अपने योग्य पति का वरण करती है इसी प्रकार इस संसार रुपी मंडप में मुक्तिरुपी कन्या अपने व्रतादि से संयुक्त योग्य वर का वरण कर लेती है अर्थात् व्रतादि से सहित जीव शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। इसी तरह अन्य स्थल पर भी लिखा है–

रत्नत्रयमिह हेतु निर्वाण भवति नानयस्य।।220।।[25]

रत्नत्रय ही नियम से निर्वाण का एक मात्र हेतु है इसके अलावा अन्य कोई नहीं।

श्री सर्वार्थसिद्धि के अनुसार–07/02/666

''देश विरतिरणुव्रतं सर्वतो विरतिर्महाव्रतमिति द्विधा भिद्यते प्रत्येकं व्रतम्।
एतानि व्रतानि भावितानि वरौषधवद्यत्नवते दु: खनिवृत्ति निमित्तानि भवन्ति।।[26]

हिंसादि पांच पापों से एकदेश निवृत्ति होना अणुव्रत है और सब प्रकार से निवृत्त होना महाव्रत है इस प्रकार अहिंसादि प्रत्येक व्रत दो प्रकार के हैं। प्रयत्नशील जो पुरुष उत्तम औषधि के समान इन व्रतों का सेवन करता है उसके दु:खों का नाश होता है।

श्री तत्त्वार्थसूत्रकार के अनुसार[27]– एक देशसंयमी श्रावक किसी अविरति सम्यग्दृष्टि जीव की अपेक्षा प्रतिसमय असंख्यात गुणश्रेणी निर्जरा करने वाला होता है और देशसंयमी की अपेक्षा सकलसंयमी की निर्जरा असंख्यातगुणी अधिक होती है।

अत: हमें कर्मों की निर्जरा हेतु व शीघ्र ही मुक्ति प्राप्त करने हेतु संयम पालन करने हेतु उद्यत रहना चाहिये।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. छहढाला/03/07
2. तत्त्वार्थ सूत्र/01/01
3. तत्त्वार्थ सूत्र/07/01-02
4. रत्नकरण्ड श्रावकाचार/47
5. रत्नकरण्ड श्रावकाचार/48-49
6. रत्नकरण्ड श्रावकाचार/50
7. तत्त्वार्थ सूत्र/07/19
8. सर्वार्थसिद्धि/07/19/699
9. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय/40
10. लब्धिसार/168
11. तत्त्वार्थ सूत्र/18
12. जिनभारती संग्रह/स्तुति/सकलज्ञेयज्ञायकतदपि/06/पृ. 450
13. तत्त्वार्थ सूत्र/02/05
14. गोम्मटसार जीवकाण्ड/30-31
15. सर्वार्थसिद्धि/02/05/263
16. लब्धिसार/168
17. लब्धिसार/174
18. लब्धिसार/175
19. लब्धिसार/184
20. लब्धिसार/186
21. लब्धिसार/178-183
22. छहढाला/04/14
23. रत्नकरण्ड श्रावकाचार/63
24. पुरुषार्थसिद्धिउपाय/180
25. पुरुषार्थसिद्धिउपाय/220
26. सर्वार्थसिद्धि/07/02/666
27. तत्त्वार्थ सूत्र/09/45

कृति

सिद्धान्त दिग्दर्शिका

(भाग-2)

चौतीस स्थान दर्शन

आशीर्वाद	–	परम पूज्य गणाचार्य श्री 108 विरागसागर जी महामुनिराज परम पूज्य पट्टाचार्य श्री 108 विशुद्धसागर जी महामुनिराज
प्रेरणा	–	उच्चारणाचार्य श्री 108 विनम्रसागर जी महामुनिराज
निर्देशन एवं सम्पादन	–	निर्यापक मुनि विज्ञसागर
सहयोगी	–	आर्यिका 105 विमलश्री माताजी, आर्यिका 105 विनेहश्री माताजी मुनि संघ व आर्यिका संघ
संकलन	–	आर्यिका विपुलश्री माताजी, आर्यिका विमुदश्री माताजी
संगोष्ठी संयोजिका	–	डॉ. नीलम जैन सर्राफ, ललितपुर
प्रथमावृत्ति	–	1000, वर्ष 2025
आयोजक	–	वर्षायोग समिति, अटा मन्दिर, ललितपुर (उ.प्र.)
प्राप्ति स्थान	–	धर्म प्रभावना न्यास, भिण्ड मो. 9826801542 देवेन्द्र जैन, बीना (म.प्र.) मो. 9425452825 न्यू इण्डिया ट्रान्सपोर्ट, ललितपुर मो. 9412261044 पंकज जैन सुपारी, भोपाल मो. 9826144810 धर्मेन्द्र जैन (सिन्कम) इन्दौर मो. 8959911401, 9425082826
मुद्रक	–	ज्योति ग्राफिक्स, किशनपोल बाजार, जयपुर मो. 8290526049, 8619727900

अनुक्रमणिका

क्र.	शीर्षक	आलेखक	पृष्ठ संख्या
1.	सम्पादकीय	– डॉ. नीलम जैन सर्राफ, ललितपुर	1
2.	चौतींस स्थान दर्शन में ध्यान की विवेचना	– उच्चारणाचार्य विनम्रसागर	3
3.	काल–अन्वेषणा	– श्रमण मुनि विनंद सागर (संघस्थ)	23
4.	सिद्धान्त प्रबोधिनी टीका के अन्तर्गत समुद्घात व केवली समुद्घात की मीमांसा	– श्रमणी आर्यिका 105 विमलश्री माताजी	29
5.	गुणस्थानों में भाव एक विश्लेषण	– श्रमणी आर्यिका विनेहश्री माताजी	40
6.	स्पर्शन	– श्रमणी आर्यिका विपुलश्री माताजी	52
7.	संख्या की व्यापकता तथा गुणस्थान व मार्गणाओं में जीवों की संख्या	– श्रमणी आर्यिका विमुदश्री माताजी	63
8.	सिद्धान्त प्रबोध ग्रन्थ के अन्तर्गत–प्रत्यय की गुणस्थानों में अन्वेषणा	– बा.ब्र. डॉ. सीमा जैन	71
9.	सिद्धान्त प्रबोध ग्रन्थ के अन्तर्गत चारों गतियों में बन्ध–अबन्ध प्रकृतियों का अन्वेषण	– ब्र. डॉ. मीना जैन	80
10.	सिद्धान्त प्रबोध के रचयिता का व्यक्तित्व कृतित्व एवं योग एक सामान्य परिचय	– बा.ब्र. प्राची (श्रिया) दीदी ''दर्शनाचार्य''	89
11.	पर्याप्ति–अपर्याप्ति व प्राण का विचार, परिभाषा, कार्य व प्रकारों की अन्वेषणा	– डॉ. श्रीमती अल्पना अशोक जैन	98
12.	संयम ग्रहण व पतन के कारणों की विवेचना	– ब्र. विनोद जैन सर्वदर्शनाचार्य छतरपुर (म.प्र.)	116
13.	5–10 गुणस्थान तक संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल–अन्तर, भाव, आश्रव व गमनागमन का निरूपण	– डॉ. हरिश्चन्द्र जैन शास्त्री, पू. प्राचार्य	125
14.	एकान्त मत के 363 भेद : एक विश्लेषण	– कर्मयोगी (डॉ.) सुरेन्द्र कुमार जैन 'भारती'	132
15.	''गुणस्थान का स्वरूप एवं विश्लेषण उत्पत्ति, नाम तथा प्रयोजन''	– डॉ. नीलम जैन, ललितपुर	140
16.	संज्ञा की परिभाषा, प्रकार, कार्य एवं उत्पत्ति में कारणभूत प्रत्ययों की गवेषणा	– डॉ. शैलेष कुमार जैन	147
17.	समस्त ज्ञानों की परिभाषा एवं गुणस्थानोक्त प्राप्ति पर विचार एवं कारणभूत प्रत्ययों का अन्वेषण	– पं. आलोक जैन मोदी, ललितपुर	152

क्र.	शीर्षक	आलेखक	पृष्ठ संख्या
18.	संयम मार्गणा की परिभाषा, भेद एवं परिहार विशुद्धि और यथाख्यात संयम में विशेष बिन्दुओं पर प्रकाश	– डॉ. पंकज जैन शास्त्री, भोपाल	164
19.	दशकरण का स्वरूप व गुणस्थानों में करण की परिगणना	– डॉ. आशीष कुमार जैन, बम्हौरी	167
20.	सिद्धान्त प्रबोध ग्रन्थ (34 स्थान दर्शन) के परिप्रेक्ष्य में गुणस्थान व मार्गणाओं में जीवों की गणना	– प्रतिष्ठाचार्य पं. पवन कुमार जैन दीवान	175
21.	गति मार्गणा में जीवों के आस्रव के कारण, योग, लेश्या व गमनागमन के समय सम्यक्त्वादि का विचार : चौंतीस स्थान दर्शन के आधार पर	– डॉ. ऋषभ कुमार जैन	194
22.	5वें से 10वें गुणस्थान का स्वरूप, विशेषता, प्रकार व प्रत्येक के कार्यों की विवेचना	– पं. शीतलचन्द जैन, ललितपुर	201
23.	क्षयोपशम सम्यक्त्व का निरूपण एवं काल, अन्तर, भाव तथा गमनागमन का अन्वेषण	– पं. सनतकुमार विनोदकुमार जैन, रजवांस	206
24.	स्त्री वेदियों के सभी गुणस्थानों में संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव, बंध, उदय व सत्त्व की विवेचना	– प्रो. अशोक कुमार जैन	214
25.	आहारमार्गणा में आहारक–अनाहारक जीवों का काल अन्तर और अवगाहना की व्याख्या	– पं. महेन्द्र कुमार जैन शास्त्री, पूर्व प्राचार्य, मुरैना	221

सम्पादकीय

डॉ. नीलम जैन सर्राफ
ललितपुर (उ.प्र.)

संसार में भारतीय संस्कृति उस महान संस्कृति की विजय गाथा का इतिहास है जो विश्व के व्यापक क्षितिज तलो तक प्रसारित हुई है। इस संस्कृति को समृद्ध करने हेतु संस्कारों की मजबूत कड़ियाँ कालान्तर में संस्कृति को जन्म देती है। जीवन मूल्यों को सार्थक करने की पहल से जिया गया जीवन निश्चित रूप से कल्याणकारी ही होता है, अत: भारतीय संस्कृति में धर्म को अधिक महत्व दिया गया है क्योंकि धर्म कोई बाहर से ओढी जाने वाली ओढनी की तरह कभी नहीं रहा है वह तो मनुष्यों के जीवन में व उनकी हर क्रिया में भीतर तक अनुस्युत होकर रहा है और क्रिया कर्म का मौलिक अर्थ है। जीवन मन-वचन-काय द्वारा कुछ न कुछ करता है यह सब उसकी क्रिया ही कर्म है। इसे भावकर्म भी कहा जाता है। इस भाव कर्म से प्रभावित होकर कुछ सूक्ष्म जड़ पुद्गल-स्कन्ध जीव के प्रदेशों में प्रवेश पाते हैं और उसके साथ बँधते है, ऐसा बताने वाला जिनागम का कर्म सिद्धान्त जैन धर्म का मौलिक सिद्धांत है। जैसे-जैसे कर्म (भाव) जीव करता है वैसे ही स्वभाव को लेकर ये द्रव्य कर्म (पुद्गल) उसके साथ बँधते हैं और यथासमय अपना फल देते हैं। इसलिए कहा गया है कि **जो इस करहिं सो तसु फल चाखा** अर्थात् प्राणी जैसा कर्म करता है उसे वैसा ही फल भोगना पड़ता है।

इस कर्म सिद्धान्त को समझने हेतु अनेक आचार्यों व मुनियों ने अनेक-अनेक ग्रंथों की रचना की टीकाओं के माध्यम से कर्म सिद्धांत के क्लिष्ट विषय को समझाने का प्रयास किया इसी कड़ी में वर्तमान में समाधिस्थ गणाचार्य श्री विरागसागर जी मुनिराज के परम प्रभावक शिष्य परम पूज्य उच्चारणाचार्य श्री विनम्रसागर जी महामुनिराज के द्वारा **चउतीस ठाण दंसण** (चौतीस स्थान दर्शन) दो भागों में तैयार कर उस पर **सिद्धान्त प्रबोध ग्रन्थ** प्राकृत में लिखी तथा हिन्दी में उसका अनुवाद किया है। इसका विषय जैन दर्शनांतर्गत कर्म तत्त्वज्ञान से सम्बद्ध है और कर्म तत्त्वज्ञान करणानुयोग से सम्बद्ध है।

इस महनीय टीका का सृजन भगवान श्री चन्द्रप्रभ स्वामी की देशना स्थली एवं नंगानंगकुमार आदि साढे पाँच करोड़ मुनिराजों की निर्वाण स्थली स्वर्णगिरि (सोनागिर, दतिया (म.प्र.) में 4 दिसम्बर 2017 को शुभारंभ किया तथा जनवरी 2018 को पोरसा नगर में लेखन कार्य पूर्ण रूप से सम्पन्न किया।

इस टीका में धवला पुस्तक 1,2,3,4,5,6,7, गोम्मटसार जीवकांड जी, कर्मकांड जी, त्रिलोकसार जी, सर्वार्थसिद्धि जी तथा मुनि श्री आदिसागर जी महाराज द्वारा रचित चौतीस स्थान दर्शन ग्रंथ को आधार रूप में उपयोग किया गया है। प्रस्तुत टीका में उपस्थान निरूपण करते हुए सारणियों का प्रणयन किया गया है, जो विषय की विवेचना को सुस्पष्ट कर रहे हैं। टीका का हिन्दी अनुवाद पाद टिप्पण में सन्दर्भ ग्रन्थों का उल्लेख आदि इस टीका की विशेषतायें है।

चूँकि यह ग्रंथ करणानुयोग को विषयगत करता है और करणानुयोग श्रावक-श्राविकाओं के बीच क्लिष्टता के कारण हृदय गम्य नहीं हो पाता है, अत: करणानुयोग को समझने व रुचि जागृत करने हेतु पूज्य आचार्य श्री विनम्रसागर जी महामुनिराज के ससंघ सान्निध्य में **त्रिदिवसीय विद्वत संगोष्ठी** का आयोजन 22 से 24 अक्टूबर 2023 में रखा गया। इस राष्ट्रीय विद्वत संगोष्ठी में विभिन्न स्थानों से पधारे विद्वानों द्वारा अनेक विषयों के आलेखों का वाचन हुआ। अपने-अपने विषय को स्पष्ट करते हुए विद्वानों व विदुषियों ने करणानुयोग की क्लिष्टता को सरल व सुगम बनाने का प्रयास किया। करणानुयोग का विषय यद्यपि कठिन है, किंतु एक बार प्रवेश करने पर उससे बाहर निकलने की इच्छा समाप्त हो जाती है। गणितीय पद्धति पर आधारित अनेक विषय लोगों को अपने में बाँधे रखते हैं।

पूज्य मुनि श्री विज्ञसागर जी मुनिराज जो इस विषय के अच्छे जानकार है तथा अपनी सरल-सहज व सुगम शैली से विषय को स्पष्ट करने में दत्त है। उनके निर्देशन में इस राष्ट्रीय विद्वत संगोष्ठी का आयोजन सफलतापूर्ण हुआ। इस संगोष्ठी का संयोजन मैंने स्वयं डॉ. नीलम जैन सर्राफ ने संपूर्ण ललितपुर जैन पंचायत व समाज के सहयोग से किया।

इस राष्ट्रीय विद्वत संगोष्ठी में पढे गये आलेख जन-जन तक पहुँचे और सभी इन आलेखों से लाभान्वित हो तथा जैन धर्म व सिद्धांतों में अपनी रूचि जागृत कर अपना कल्याण करें इस हेतु सिद्धांतों में अपनी रुचि जागृत कर अपना कल्याण करें इस हेतु आलेखों का प्रकाशन एक प्रशंसनीय कदम है। जैन धर्म के कर्म सिद्धांतों से परिचायक भाव से यह प्रकाशन पाठकों को थोड़ी सी भी सम्यक् जानकारी दे सके तो इस प्रकाशन की साथर्कता होगी।

चौतींस स्थान दर्शन में ध्यान की विवेचना

– उच्चारणाचार्य विनम्रसागर

चौंतीस स्थान दर्शन में ध्यान एक महत्त्वपूर्ण अध्याय है, ध्यान सम्पूर्ण मनोरथों को पूर्ण करने वाला है, ध्यान सम्पूर्ण सिद्धियों का प्रदाता, ध्यान स्वर्ग–मोक्ष को देने वाला है।

ध्यान की परिभाषा – एकग्ग चिंता णिरोहो झाणं अंतोमुहुत्ताद्–चित्त की एकाग्रता को ध्यान कहते हैं वह अन्तर्मुहूर्त तक होता है इसी बात को आचार्य उमास्वामी ने इस प्रकार कहा है– एकाग्र चिन्ता निरोधो ध्यान मान्तर्मुहूर्तात (त.सू.) सो द्विविहा पसत्थ अपत्थ अह्वा चदुहा अट्ट रुद्द–धम्म–सुक्क झाणाणि

वह ध्यान मुख्यता से दो प्रकार का कहा है–(1) प्रशस्त (2) अप्रशस्त। चार प्रकार का भी होता है आर्त्त, रौद्र, धर्म, शुक्लध्यान इसी बात को तत्त्वार्थ सूत्र सर्वार्थसिद्धि आदि ग्रंथों में कहा गया है। उन चार प्रकार के ध्यानों में प्रथम दो ध्यान नरक, तिर्यंच गति के कारण है और बाद के दो ध्यान स्वर्ग और मोक्ष के कारण हैं। इनमें धर्मध्यान स्वर्ग का साक्षात् कारण है और मोक्ष का परंपरा से कारण है जबकि शुक्लध्यान साक्षात् मोक्ष का कारण है तत्त्वार्थ सूत्र में कहा भी है–

परे मोक्ष हेतु – यहाँ परे से तात्पर्य दो बाद के ध्यान यानी धर्मध्यान शुक्लध्यान ये दोनों मोक्ष के हेतु हैं अत: स्पष्ट हो जाता है कि पहले के ध्यान संसार के ही कारण हैं। आगे उन चार प्रकार के ध्यानों की परिभाषा कहते हैं।

अप्रशस्त ध्यान –

परिवार इड्ढि सक्कार पूयणं असण पाण हेऊ वा।
लयण, सयणासणं भत्त कामट्ठ हेऊ वा।।
आज्ञा णिद्देस माण कित्तीवण्णण पहावण गुणट्ठं।
झाण मिणघ सत्थं मण संकप्पो दु विसरत्थो।।

पुत्र शिष्यादि के लिए, हाथी घोड़े के लिए, आदर पूजन के लिए, भोजन पान के लिए, खुदी हुई पर्वत की जगह के लिए, शयन, आसन, भक्ति व प्राणों के लिए, मैथुन की इच्छा के लिए, जगह आज्ञा निर्देश, प्रमाणिकता, कीर्ति प्रभावना व गुण विस्तार के लिए इन सभी आशयों के लिए किया गया कायोत्सर्ग मन का अशुभ संकल्प अशुभ ध्यान है।

इसी बात की पुष्टि ज्ञानार्णव अ. 3 श्लोक 29–31 में की गई है।

जो जीवों के पाप रूप आशय के वश से तथा मोह मिथ्यात्व कषाय और तत्त्वों के अयथार्थ श्रद्धान से उत्पन्न हुआ ध्यान अप्रशस्त या असमीचीन ध्यान है। (ज्ञानार्णव 25/19)

इसके दो भेद हैं–1. आर्त्त ध्यान, 2. रौद्र ध्यान

आर्त्तध्यान – ऋतं दु:खम अथवा अर्दनमार्तिर्वा तत्र भवमार्तम्। (राज. अ. 9/28)

चउतीस स्थान दर्शन में आर्त्तध्यान की परिभाषा लिखते हुए कहा गया है– जं झाणं चिंता पीडा असांति दाएज्जमाण होंति सो अट्टझाणं तिरिक्ख गदिस्स कारणं होंति सो चदुदा।

जो ध्यान चिंता, पीड़ा अशांति को प्रदान करने वाला होता है वह आर्तध्यान कहलाता है और यह तिर्यंच गति का कारण है। यद्यपि दोनों ध्यान चतुर्गति रूप संसार के कारण है किन्तु यहाँ तीव्रता मन्दता की अपेक्षा कुछ अन्तर समझ लेना चाहिए। आर्तध्यान की परिभाषा आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने इस प्रकार दी है–

ऋतं दु:खं अर्दनमर्तिवा भव मार्तम्

आर्त्त शब्द अर्ति अथवा ऋत इनमें से किसी एक से बना है। इनमें से ''ऋत'' का अर्थ दु:ख है और अर्ति की अर्दनम् अर्ति:

ऐसी निरुक्ति होने पर उसका अर्थ पीड़ा पहुँचाना होता है। अर्ति में या ऋत में जो होता है वह आर्त है। अर्थात् जो पीड़ा में अथवा दु:ख में होता है वह आर्तध्यान है।

इस परिभाषा के अनुसार भी जो इस प्रकार की संक्लेशता तिर्यंचायु के आस्रव का कारण ठहरती है, किन्तु तीव्र क्रूरता नरकायु के बन्ध का कारण होती है।

शंका – आर्तध्यान को तिर्यंच गति के बन्ध का कारण कहा है तो क्या अन्य गति का कारण नहीं होता?

समाधान – ऐसा नहीं समझना चाहिए यहाँ बाहुल्यता की मुख्यता है।

दूसरी बात क्रूरता की भी मुख्यता है क्योंकि नारकियों के परिणाम क्रूर होते हैं अत: नरक गति के आस्रव बन्ध के कारण भी क्रूर परिणाम या क्रूर चिंतन होना चाहिए इस अपेक्षा से आर्तध्यान को तिर्यंच गति के आस्रव का हेतु कहा गया है यद्यपि आर्त्तध्यान में भी मंद परिणाम होते हैं तो मनुष्य गति का भी बंध होता है।

शंका – देव गति का आस्रव आर्तध्यान में किस प्रकार होता है?

समाधान – आर्तध्यान के समय देव गति का बन्ध नहीं होता।

शंका – तो मिथ्यादृष्टि के तो आर्त रौद्र ध्यान ही होते हैं फिर उनको देव गति देवायु का बन्ध कैसे होता है?

समाधान – उसके हर समय आर्त-रौद्र ध्यान रहता है ऐसा कोई नियम नहीं है। उसके मंद कषाय के उदय में परिणामों की विशुद्धि से 31 सागर तक की आयु का बन्ध होता है।

शंका – हर समय कोई न कोई ध्यान तो रहता ही है और मिथ्यादृष्टि को दो अशुभ ध्यान ही होते हैं फिर देवायु का बन्ध कैसे?

समाधान – ध्यान का लक्षण एकाग्र चिंता निरोध है जो किसी भी जीव के हर समय नहीं रहता अधिकतर भावना रहती है।

एक प्रधान मित्याहु-रग्रमालम्बनं मुख्यम्।
चिन्ता स्मृतिर्निरोधस्तु तस्यास्त त्रैव वर्तनम्।।5।।
द्रव्य पर्याय यो र्मध्ये प्राधानायेन यदर्पितम्।
तत्र चिन्ता निरोधो यस्तद्ध्यानं वभणुर्जिना: ।।58।। (र. मु. व्य. से साभार पृ.)

आगे उसी ग्रंथ में अर्थात् चउतीस स्थान दर्शन में आर्त्तध्यान के चार भेद बतलाये हैं वे इस प्रकार हैं- इट्ठ विजोगो, अणिट्ठ संजोगो, पीडा चिंतणणिदणं य। इष्ट वियोगज, अनिष्ट संयोगज, पीड़ा चिंतन, निदान।

इट्ठ विजोगो – पियं विजोगे मुहु मुहु चिंतणं मिच्छत्ता दो पमत्त गुणट्ठाणाद होदि।

प्रिय के बिछुड़ जाने पर बार बार चिंतन करना इष्ट वियोगज आर्तध्यान है। यह ध्यान एक से छटवें गुणस्थान तक होता है।

अणिट्ठ संजोगो – अप्पियं संजोगे चिंतणं होदि मिच्छत्ता दो पमत्त गुणट्ठाणाद होदि।

अप्रिय का संयोग होने पर बार बार चिंतन का होना अनिष्ट संयोगज आर्तध्यान है और यह ध्यान भी मिथ्यात्व से प्रमत्त गुणस्थान तक पाया जाता है।

पीड़ा चिंतण – सारीरिय माणसिय केण वि पीड़ा होदूणं तं णिवारणं चिंतणं।

शारीरिक, मानसिक पीड़ा होने पर उसके निवारण का बार बार चिंतन करना पीड़ा चिंतन आर्तध्यान है। यह ध्यान भी मिथ्यात्व से लेकर प्रमत्त गुणस्थान तक होता है।

णिदाणं – भावि भोगाणं पत्ति अयं चिंतणं व उच्चट्ठाण, चिट्ठऊण णिच्चसंसारस्स चिंतणं णिदाणं अत्थि सो मिच्छत्तादो देस संजमो गुणट्ठाणाद होदि।

आगामी भोगों की प्राप्ति के लिए चिंतन करना अथवा उच्च स्थान पर बैठकर नीचे की सोचना निदान आर्तध्यान है। जैसे-

धर्मध्यान का फल स्वर्ग मोक्ष है उसके बदले निम्न भोगों की वांछा करना, यह ध्यान प्रथम गुणस्थान से पंचम गुणस्थान तक पाया जाता है।

इसी बात की पुष्टि करते हुए तत्त्वार्थ सूत्र में इस प्रकार कहा है–

आर्तममनोज्ञस्य संप्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृति समन्वाहार: ।।30।।

अमनोज्ञ वस्तु के प्राप्त होने पर उसके वियोग के लिए चिंताशल्य का होना प्रथम आर्त्तध्यान है। यहाँ इतनी विशेषता है कि दो ध्यानों में क्रम आगे पीछे है शेष परिभाषा में कोई अन्तर नहीं है। अमनोज्ञ वस्तु–विष, कंटक, शत्रु आदि।

विपरीतं मनोज्ञस्य ।।31।।

मनोज्ञ वस्तु के वियोग होने पर उसकी प्राप्ति की सतत् चिंता करना।

वेदनायाश्च ।।32।।

वेदना के होने पर उसे दूर करने का सतत् चिंतन करना।

निदानं च।

भोगों की आकांक्षा के प्रति आतुर व्यक्ति के आगामी विषयों की प्राप्ति के लिए संकल्पित होना तथा निरंतर चिंता करना निदान नाम का आर्त्तध्यान है। इसी बात को आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने पुष्ट किया है। ध्यान के भेदों की पुष्टि तथा परिभाषाएँ अनेक आचार्यों ने अनेक ग्रन्थों में कही है। जैसे–

त.सू. 9 28, भ.आ.गा. 1696–1700, महापु. 21/28, आ.सा./10 अन.ध. 7/103/727, मू.आ. 394, रा.वा. 9/28/4/627/33 ध.पु. 13/5, 4, 26, 70/11 में केवल प्रशस्त ध्यानों के ही दो भेदों का निर्देश ज्ञा. 25/20 चा.सा. 167/3 तथा 172/2

चउतीस स्थान दर्शन में जो तिर्यंच गति का कारण कहा है उसका आगम में उल्लेख है वह इस प्रकार है। ये चारों आर्तध्यान कृष्ण, नील, कापोत लेश्या वालों के विशेष बल से होते हैं। ये ध्यान अज्ञानमूलक तीव्र पुरुषार्थ, पाप प्रयोगाधिष्ठान, परिभोग प्रसङ्ग, नाना संकल्पों से आकुलित, विषम तृष्णा से पर्याप्त, धर्माश्रय के परित्यागी, कषाय स्थानों से युक्त, अशान्तिवर्धक, प्रमाद के कारण, अप्रशस्त कर्म के हेतु, कटु फल देने वाले, असाता वेदनीय के बन्धक और तिर्यंच गति में ले जाने वाले हैं।

अत: बुद्धिमानों को इन्हें त्यागना चाहिए। (त.राज. सू. 9/33/1/659)

रौद्रध्यान

रुद्दंज्झाणं – कोह चिंतणं वा परेण अणत्थं वियारिऊण सुणिऊण पसण्णं–होदे। सो झाणं णिरय सो चउविहा–हिंसाणंदी, मुसाणंदी, थेणाणंदी, परिग्गहाणंदी। सो मिच्छतादो असंजदो गुणट्ठाणाद होदि। (च.ठा.दं.)

रौद्रध्यान – क्रूरता का चिंतन करना अथवा दूसरे के बारे में बुरा सोचकर, सुनकर खुश होना। यह नरक ले जाने वाला है, आगम में चार प्रकार का रौद्रध्यान कहा है–(1) हिंसानंदी (2) मृषानंदी (3) चौर्यानंदी (4) परिग्रहानंदी।

हिंसानंदी – हिंसा में आनंद मानना

मृषानंदी – झूठ बोलने में आनंद मानना

चौर्यानंदी – चोरी करने में आनंद मानना

परिग्रहानंदी – परिग्रह में आनंद मानना

इसी बात को आचार्य उमास्वामी ने इस प्रकार से कहा है–

हिंसा नृतस्तेय विषय संरक्षणेभ्यो रौद्रमविरत देश विरतयो:। (त.सू.अ. 9 सू. 35)

हिंसा, झूठ, चोरी, परिग्रह के संग्रह के लिए सतत् चिंतन करना ये सभी रौद्र ध्यान हैं।

और यह प्रथम गुणस्थान से पंचम गुणस्थान तक होता है।

शंका – अविरत के रौद्रध्यान हो सकता है परन्तु देश विरत के कैसे हो सकता है?

समाधान – हिंसादि के आवेश और परिग्रह आदि के संरक्षण में देश विरत के भी रौद्र ध्यान हो सकता है, किन्तु देशव्रती का रौद्र ध्यान नरकादि का कारण नहीं होता।

शंका – यह रौद्र ध्यान संयत के क्यों नहीं होता?

समाधान – संयत के रौद्र ध्यान नहीं होता क्योंकि रौद्र भाव में संयम से च्युत हो जाते हैं, अथवा हिंसादि के आवेश में संयम रह नहीं सकता, क्योंकि जब आत्मा रौद्र ध्यान से युक्त होता है उस समय इसके संयम नहीं रह सकता ये चारों रौद्र ध्यान अति कृष्ण, अतिनील, अत्यन्त कापोत लेश्या के बलाधान से होते हैं। ये चारों ही ध्यान प्रमादाधिष्ठान हैं अर्थात् भाव इनकी उत्पत्ति में कारण है तथा नरक गति में जाना इस ध्यान का फल है। जिस प्रकार अग्नि से संतप्त लोहे का गोला चारों तरफ से जल खींचता है इसी प्रकार इन आर्त रौद्र ध्यानों से परिणमन कर आत्मा चारों तरफ से कार्मण शरीर वर्गणाओं को अपनी ओर खींचता है। इस प्रकार रौद्र ध्यान समाप्त हुआ। (स.सि.सू.। सू.35/राज. सू. 35 की टीका)

शंका – आर्त–रौद्र ध्यान अशुभ लेश्याओं में ही पाये जाते हैं परन्तु पाँचवें छटवें गुणस्थान में शुभ लेश्या पायी जाती है जबकि वहाँ आर्त–रौद्र ध्यान भी पाये जाते हैं

समाधान – ऐसा कोई नियम नहीं है कि आर्त–रौद्र ध्यान अशुभ लेश्याओं में ही होते हैं शुभ लेश्याओं में भी हो जाते हैं किन्तु अधिकतर अशुभ लेश्याओं में पाये जाते हैं। इसलिए अशुभ लेश्याओं में कहे जाते हैं।

शंका – क्या आर्त–रौद्र ध्यान एकेन्द्रिय से असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक होते हैं?

समाधान– असंज्ञी जीवों में मतिज्ञान श्रुतज्ञान दोनों होते हैं, स्मृति भी मति ज्ञान है।

ऐसा सूत्र है – मति स्मृति संज्ञा चिंताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् (त.सू. 7/13)

जब एकेन्द्रिय के स्मृति ज्ञान हो सकता है तब आर्त–रौद्र ध्यान में क्या बाधा है। हाँ धर्मध्यान शुक्लध्यान नहीं होते हैं। (रतनचन्द्र मुख्तार व्यक्तिकृतित्व पृ. 676–677)

प्रश्न– निदान शल्य, निदान बन्ध, निदान आर्तध्यान इनमें क्या अन्तर है?

उत्तर– निदान का अर्थ है बन्धन में काम आने वाली रस्सी, शल्य का अर्थ है पीड़ा देने वाली वस्तु, जब शरीर में काँटा आदि चुभ जाता है वह शल्य कहलाता है। यहाँ उसके समान जो पीड़ा का भाव है उसे शल्य कहा गया है। भोगों की लालसा निदान शल्य है। सर्वार्थसिद्धि (7/18) ये भोगों की आकांक्षा के प्रति आतुर हुए व्यक्ति के आगामी विषयों की प्राप्ति के लिए जो मन: प्रणिधान है। (स.सि. 9/33) "**उभय लोक विषयोपभोगकाङ्क्षा।**" (ग.वा. 6/24)

वह इहलोक और परलोक दोनों लोक सम्बन्धी विषयों के उपभोग की आकांक्षा नामक सम्यग्दर्शन का दोष है। निदान अर्थात् आगामी पर्याय सम्बन्धी आकांक्षा के अनुसार गति का बन्ध हो जाना निदान बन्ध है। यद्यपि इनमें अन्तर अत्यन्त सूक्ष्म है फिर भी इन लक्षणों के द्वारा इनका पारस्परिक अन्तर किया गया है। (र.च.मु.त्य.कृ. पृ. 678–679)

प्रशस्त ध्यान – पुण्य रूप आशय के वश से तथा शुद्ध लेश्या के अवलंबन से और वस्तु के यथार्थ स्वरूप चिंतन से उत्पन्न हुआ ध्यान धर्मध्यान या प्रशस्त ध्यान है।

(1) रागादि की सन्तान क्षीण हो जाने पर अन्तरंग आत्मा के प्रसन्न हो जाने पर जो अपने स्वरूप का अवलंबन है वह शुद्ध ध्यान है, इसे हम प्रशस्त ध्यान या शुक्लध्यान भी कह सकते हैं।

धर्मध्यान

संसार सरीर भोगत्तो विरिदुं मुहु मुहु चिंतणं वियार थिरन्तो धम्मझाणस्स संति लक्खणं।

संसार शरीर भोगों से विरक्त होने के लिए बार–बार चिंतन करना विचार और स्थिरता ये धर्मध्यान के लक्षण है। और भी कहा है– आज्ञापाय विपाक संस्थान विचयाय धर्म्यम्। (त.सू. 36 से)

आज्ञा विचय, अपाय विचय, विपाक विचय, संस्थान विचय ये चार प्रकार का धर्मध्यान कहलाता है। विचद – विवेक ये सभी एकार्थवाची हैं।

अण्णा विचय धम्मज्झाणं – गुरु भयवंतेण जह्या कहिद तहेव सच्चं एसो विचारो अर्थात् गुरु ने, जिनेन्द्र भगवन्त ने जैसा कहा है वैसा ही स्वीकार कर चिंतन मनन विचार करना आज्ञा विचय नाम का धर्मध्यान है।

अपाय विचय धम्मज्झाणं – मिच्छा दंसणादी जे कम्माणिते दुक्ख दाइज्ज माणा कम्माणि अत्थि तेसिं णासत्थं वियारो सो अपाय विचय धम्मज्झाणं।

मिथ्यादर्शन आदि जो कर्म है वे दु:ख देने वाले हैं उनका नाश किस प्रकार हो ऐसा विचार करना अपाय विचय नाम का धर्मध्यान है।

विवाग विचय धम्मज्झाणं – पुण्ण पावोदए तं फलं उदीरणा बंध संवरासव उदय णिज्जरा मोक्खादीणं चिंतणं विपाग विचय धम्मज्झाणं।

पुण्य पापोदय उसका फल, उदीरणा, बंध, आस्रव, संवर, निर्जरा, मोक्ष आदि के बारे में चिंतन विचारण करना विपाक विचय नाम का धर्मध्यान है।

संठाण विचय धम्मज्झाणं – आयार रुवेण झाणं – लोयस्स आयारो व सरुवस्स चितंणं सठाण विचय धम्मज्झाणं सो चदुविहा पिंडत्थ, पदत्थ, रूवत्थ, रूवातीद।

आकार स्वरूप से ध्यान करना अर्थात् लोक का आकार अथवा अपने स्वरूप का चिंतन ध्यान करना संस्थान विचय नाम का धर्मध्यान है इसके चार भेद हैं– पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, रूपातीत।

पिण्डस्थ – आकार रूप से ध्यान करना, तीन लोक का चिंतन करना, क्षेत्र, पर्वत, नदी, अकृत्रिम जिनालयों का चिंतन करना, पृथ्वी धारणा, अग्नि धारणा, वायु धारणा, जल धारणा आदि तथा द्वादश अनुप्रेक्षाओं का चिंतन करना ये सभी पिण्डस्थ ध्यान हैं आत्मा का पिण्ड स्वरूप में ध्यान करना अरिहंत के शरीरादि की आकृति का चिंतन करना पिण्डस्थ ध्यान है। (भा. पा. गा. 86 की टीका)

पदस्थ – जिस ध्यान में बीजाक्षरों का, पंचपरमेष्ठी वाचक अक्षरों का, किसी एक पद का चिंतन अथवा सकल पदों का चिंतन करना पदस्थ नाम का धर्मध्यान है। ये सभी परिभाषाएँ ज्ञानार्णव ग्रंथ में हैं।

रूपस्थ – निज आत्मा का पुरुषाकार रूप से ध्यान करना अथवा समवशरण आदि का चिंतन करना रूपस्थ ध्यान है।

रूपातीत – ध्यान, विचार, चिंतन से अतीत मात्र ज्ञाता, दृष्टा से आत्मा का अनुभवन करता है। जैसे– सिद्धों का ध्यान करना आदि सिद्धों जैसा ही अपने आप का अनुभव करता है।

अर्थात् शिवं शुद्ध बुद्धं परं विश्वनाथं, न देवो न बन्धु : न कर्मा न कर्त्ता। (वीतराग स्तोत्र)

नोट – यहाँ तीन ध्यान तो धर्मध्यान स्वरूप है, किन्तु अन्तिम ध्यान शुक्लध्यान जैसा है अथवा शुक्लध्यान स्वरूप है।

ज्ञानार्णव – ग्रंथ में कहा भी है– पिण्डस्थं पदस्थं च स्वरूपस्यं रूप वर्जितम् चतुर्थो ध्यान माम्नातं च भात्याराजीव भास्करै:। इस संस्थान विचय धर्मध्यान के चार भेद कहे हैं उनका वर्णन किया जाता है। जो भव्यरूपी कमलों को विकसित करने के लिए सूर्य के समान योगीश्वर हैं उन्होंने इस संस्थान विचय नामक धर्मध्यान का कथन किया है।

ध्यान के अन्य भेद – धर्मध्यान दशविधम् – (रा.वा. 1/7/14/116 चा.सा. 172/4) स्वसवेधमाध्यात्मिक्रम् तद्दशविधं (1) अपाय विचयं (2) उपाय विचयं (3) भव विचयं (4) जीव विचयं (5) अजीव विचयं (6) विपाक विचयं (7) विराग विचयं (8) संस्थान विचयं (9) आज्ञा विचयं (10) हेतु विचयं (चा सा. 172/4)

आध्यात्मिक धर्मध्यान दश प्रकार के हैं–

(1) अपाय विचय (2) उपाय विचय (3) जीव विचय (4) अजीव विचय (5) विपाक विचय (6) संस्थान विचय (7) भव विचय (8) विराग विचय (9) आज्ञा विचय (10) हेतु विचय (ह.पु. 56/38-50) भा.पा.टी. 119/270/2।

(चा.सा. 172/3) - धर्मध्यानं आह्याध्यात्मिक भेदेन द्वि प्रकारं ।

धर्मध्यान बाह्य और आध्यात्मिक के भेद से दो प्रकार का है। (ह.पु. 56/136 त. अनु. 47/49/96) मुख्योपचार भेदेन धर्मध्यान मिह द्विधा, ध्यानान्यदि त्रिधा, उत्तमम् जघन्यं मध्यमम्, निश्चायाद् व्यवहाराक ध्यानं द्विविधमागमे अर्थात् मुख्य और उपचार के भेद से धर्मध्यान दो प्रकार का है अथवा उत्कृष्ट, मध्यम जघन्य के भेद तीन प्रकार का है। व निश्चय व्यवहार के भेद से धर्मध्यान दो प्रकार का हैं।

अजीव विचय – द्रव्याणा भव्यजीवानां धर्माधर्मादि संज्ञिमाम्। स्वभाव चिंतन धर्म्यमजीव विचयं मतम् (ह.पु. 56/44)

धर्माधर्मादि अजीव द्रव्यों का चिंतन करना अजीव विचय नाम का धर्मध्यान है।

अपाय, उपाय विचय – कल्लाण पाव गाण उपाये विचिणादि जिणमद मुवेच्च।

(मू.आ. 1544 विचिणादि व अवाए जीवाण सुभे य असुभेय (भ.आ.)

जिनमत को प्राप्त कर कल्याण करने वाले जो उपाय है उनका चिंतन करता है, अथवा जीवों के जो शुभाशुभ भाव होते हैं उनके उपाय का चिंतन करता है। (मू.आ. 400 धवला पु. 13/5, 4, 126/गा. 40/72)

रागद्दोस कसायासवादि किरियासु वट्टमाणाणं। इहपरलोगावाएझाएज्जो वज्ज परिवज्जी।

(ध.पु. 13/5, 4, 126/गा. 39, 72)

पाप का त्याग करने वाला साधु राग द्वेष कषाय और आस्रव आदि क्रियाओं में विद्यमान जीवों के इहलोक और परलोक के उपाय का चिंतन करे। (स.सि. 9/36/449/11)

मिथ्यादृष्टि जीव जन्मान्ध पुरुष के समान सर्वज्ञ प्रणीत मार्ग के विमुख होते हैं उन्हें सन्मार्ग का परिज्ञान न होने से मोक्षार्थी पुरुषों को दूर से ही त्याग देते हैं, इस प्रकार सन्मार्ग का परिज्ञान उपाय का चिंतन करना उपाय विचय धर्मध्यान है। अथवा ये प्राणी मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र से किस प्रकार दूर होंगे इस प्रकार का चिंतन करना उपाय विचय नाम का धर्मध्यान है। (रा.वा. 9136/6-7/630/16, म.पु. 21/141-42, भ.आ.वि. 1708/1536/8 म.सा. 7/41, ज्ञा./34/177)

मन, वचन, काय इन तीनों योगों की प्रवृत्ति ही प्राय: संसार का कारण है। सो इन प्रवृत्तियों का मेरे उपाय अर्थात् त्याग किस प्रकार हो सकता है, इस प्रकार शुभ लेश्या से अनुरंजित जो चिंता का प्रबंध है वह अपाय विचय नाम का प्रथम धर्मध्यान है। (ह.पु. 56/39-40)

उपाय धर्मध्यान – पुण्य रूप भोग प्रवृत्तियों को अपने अधीन करना उपाय कहलाता है। इस प्रकार उपाय मेरे किस प्रकार हो सकता है, इस प्रकार के संकल्पों की जो संतति है वह उपाय विचय नामक द्वितीय धर्मध्यान है। (चा.सा. 173/3, भ.आ.वि. 1708/1536/17, द्र.सं. टीका 48/202/9)

आज्ञा विचय – पंचेव अत्थि काया, छज्जीवणिकाए दव्व मण्णेय। आणागब्भे भावे अण्णा विचएण विचणादि।। (भ.आ.)

पाँच अस्तिकाय, छह जीव निकाय, कालद्रव्य तथा इसी प्रकार आज्ञा ग्राह्य जितने भी पदार्थ हैं उनका चिंतन करना आज्ञा विचय नामक धर्मध्यान कहलाता है। (ध.पु. 13/5, 4, 26/गा. 35, 37/71) मति की दुर्बलता होने से, अध्यात्म विद्या के जानकार आचार्यों का विरह होने से, ज्ञेय की गहनता होने से, ज्ञान को आवरण करने वाले कर्म की गहनता होने से, ज्ञान को आवरण करने वाले कर्म की तीव्रता होने से और हेतु तथा उदारण न होने से नदी और सूखे धान आदि चिंतन करने योग्य स्थान में मति मान ध्याता सर्वज्ञ प्रतिपादित मत सत्य है ऐसा चिंतन करें। यत: जगत् में श्रेष्ठ जिन भगवान जो उनको नहीं प्राप्त हुए ऐसे अन्य जीवों का भी अनुग्रह करने में भी तत्पर रहते हैं और उन्होंने रागद्वेष आदि विकारों पर विजय प्राप्त कर ली है इसलिए वे अन्यथावादी नहीं हो सकते।

उपदेष्टा आचार्यों का अभाव होने से स्वयं मंद बुद्धि होने, कर्मों का उदय होने से, पदार्थों के सूक्ष्म होने से तथा तत्त्व के समर्थन में हेतु तथा दृष्टांत का अभाव होने से सर्वज्ञ प्रणीत आगम को प्रमाण करके यह इसी प्रकार है क्योंकि जिन अन्यथा वादी नहीं होते। इस प्रकार गहन पदार्थ के श्रद्धान द्वारा अर्थ का अवधारण करना आज्ञा विचय धर्मध्यान है अथवा स्वयं सिद्धान्त को जानता है और दूसरों के प्रति उसका प्रतिपादन करना चाहता है इसलिए स्व सिद्धान्त के अविरोध द्वारा तत्त्व का समर्थन करने के लिए जो तर्क, नय, प्रमाण की योजना जो निरन्तर चिंतन चलता है वह सर्वज्ञ की आज्ञा को प्रकाशित करने वाला होने से आज्ञा विचय नाम का धर्मध्यान कहलाता है। (स.सि.रा.वा. 9126/4-5/630/8, हं.पु. 56/49 चा.सा. 20/5. त.सा. 7, 40, ज्ञा. 33/6-22 द्र.स.टी. 48/202/6)

जीव विचय – (ह.पु. 56/42-43) अनादि निधना जीवा द्रव्यार्थदन्यथायथा। असंख्येय प्रदेशास्ते स्वोपयोग लक्षण: अचेतनोप कारण: स्वकृतोचित भोगिन: इत्यादि चेतन यज्जीवं विचयं हि तत्।

द्रव्यार्थिक नय से जीव अनादि निधन है और पर्यायार्थिक नय से सादि सनिधन है, असंख्यात प्रदेशी है, उपयोग लक्षण वाला है, शरीर रूप अचेतन उपकरणों से सहित है और अपने द्वारा किये गये फल को भोगता है इत्यादि रूप से जो जीव का ध्यान करता है वह जीव विचय नामक धर्मध्यान है। (चा.सा. 173/5)

भव विचय – प्रेत्याभावो भवोऽमीषां चतुर्गतिचु दोहिलाम।

दु:खात्मेत्यदि चिंता सु भवादि विचय पुन:।।

चारों गतियों में भ्रमण करने वाले इन जीवों को मरने के बाद जो पर्याय प्राप्त होती है वह भव कहलाता है, यह भव दु:ख रूप है ऐसा चिंतन करना भव विचय नाम का धर्मध्यान कहलाता है। (चा.सा. 176//)

विपाक विचय – (भग.आ. 17/3/1546-)

एयाणेय भवगदं जीवाण पुण्ण पाव कम्म फलं।

उदओदीरण संकम बन्धे मोक्खं च विचणादि।।

जीवों को जो एक अनेक भव में पुण्य और पाप कर्म का फल प्राप्त होता है उसका तथा उदय उदीरणा और संक्रम बन्ध मोक्ष का चिंतन करना विपाक विचय नाम का धर्मध्यान है।)मू.आ. 401, ध.पु. 13/504/261 गा. 42/72, स.सि. 9/36/450/2 रा.वा. 9/36/8-9/630-632 में विस्तृत कथन, भ.आ. 1708/1536/21 म.पु. 21/143-147, त.सा. 7/142, ज्ञा. 35/1-31, द्र.स.टी. 48/202/10) यच्चतुर्विध बन्धस्य कर्मणोऽष्ट विघस्य तु विपाक चिंतन धर्म्य विपाक विचय। (म.पु. 56/45) ज्ञानावर्णादि आठ कर्मों के प्रकृति, स्थिति, अनुभाग रूप चार प्रकार के बन्धों के विपाक फल का चिंतन करना सो विपाक विचय नामक पाँचवां धर्मध्यान है। (चा.सा. 174/2)

विराग विचय – शरीर मशुचिर्भोगो किंपाक फल पाकिन: विरागबुद्धि रित्यादि विराग विचयं स्मृतम्।

शरीर और भोग किंपाक फल के समान है जो आठ तदात्व मनोहर है इसलिए इनसे विरक्त बुद्धि का होना ही श्रेयस्कर इत्यादि चिंतन करना ही विराग विचय नाम का छटवाँ धर्मध्यान है। (च.सा. 171/1)

हेतु विचय – (ह.पु. 56/50) तर्कानुसारिण : स्याद्वाद प्रक्रिया - श्रयात् सन्मार्ग श्रयण ध्यानं यद् धेतु विचय : हितत् ।।50।।

तर्क का अनुसरण पुरुष स्याद्वाद की प्रक्रिया का आश्रय लेते हुए समीचीन मार्ग का आश्रय करते हैं इस प्रकार चिंतन करना हेतु विचय का दसवाँ धर्मध्यान है।

संस्थान विचय – (ध.पु. 13/5, 4, 26/ गा. 43-50/72/13) तिण्णं लोगाणं संठाणपमाणा आउयादि चिंतणं संठाण विचयणाम चउत्थं धम्मज्झाणं । एत्थ गाहाओ (जिण देसियाइ)

लक्खण संठाणासण विहाण माणाई उत्पादिटिण्दि मंगादि पज्यया जेय दव्वाणं।।43।।

पंचत्थि काय मइयं लोयमणाइणि हणं जिणक्खादं।
णामाहि भेय विहियं तिविहमहो लोग भागादिं।।44।।

(1) तीन लोकों के संस्थान, प्रमाण, आयु आदि का चिंतन करना संस्थान विचय नामक चौथा धर्मध्यान है।

(2) जिन देव के द्वारा कहे गये छह द्रव्यों के लक्षण संस्थान रहने का स्थान भेद प्रमाण उनके उत्पाद स्थिति व्यय आदि रूप पर्यायों का चिंतन करना।

(3) पंचास्तिकाय का चिंतन करना, अधोलोक आदि तीन लोक का चिंतन करना, पृथ्वी वलय, द्वीप सागर, विमान भवन आदि के संस्थानों एवं उसका आकाश में प्रतिष्ठान नियत और लोक स्थिति आदि भेद का चिंतन करना। (44, 45 भ.आ.मू. 1714, 1545, मू.आ. 402 ह.पु. 56/480, म.पु. 21/148-50, ज्ञा. 26/1-10, 82-90)

(4) जीव उपयोग लक्षण वाला है, अनादि निधन है, शरीर से भिन्न है, अरूपी है तथा अपने कर्मों का कर्त्ता भोक्ता है। (46 म.पु. 21/15/15) उस जीव से कर्म उत्पन्न हुआ जन्म मरण आदि यही जल है, कषाय यही पाताल है, सौ रोड़ व्यसन रूपी छोटे मत्स्य है, मोह रूपी आवर्त है और अत्यन्त भयंकर है, ज्ञान रूप कर्णधार है उत्कृष्ट चारित्र मय महापोत है। ऐसे इस अशुभ और भयानक संसार का चिंतन करे (47-48) बहुत कहने से क्या लाभ यह जितना जितना जीवादि पदार्थों का विस्तार कहा है उस सबसे युक्त और सर्व नय समूह भय सद्भाव का ध्यान करे। (म.पु. 21/153/53)

इस प्रकार धर्मध्यान दश प्रकार का भी कहा है, धर्मध्यान चार प्रकार का पूर्व में कहे गये हैं, चूँकि चउतीस स्थान दर्शन में चतुर्थ गुणस्थान में दश ध्यान यानी दो धर्मध्यान कहे हैं वहीं नारकियों में एक धर्मध्यान कहा है साथ ही पंचम गुणस्थान में तीन धर्मध्यान कहे हैं वह किस प्रकार हैं इसी बात की सिद्धि करने के लिए आगे कहते हैं-

यद्यपि संस्थान विचय का स्वरूप उसके भेद प्रभेद हम पूर्व में कह चुके हैं चारों ध्यानों की परिभाषा अथवा दशों धर्मध्यानों की परिभाषा हम पूर्व में कह चुके हैं अब यहाँ गुणस्थानों में धर्मध्यान, व्यवहार निश्चय धर्मध्यान के माध्यम से बतलाते हैं।

बाह्य व आध्यात्मिक ध्यान का लक्षण -

लक्षणं द्विविधं तस्य वाह्याह्यात्मिकत्मिक भेदत।
सूत्रवर्थ मार्गणं शीलं गुण मालानुरागिता।।36।।
जम्मा जम्माश्रुतोद्गारप्राणापानादिमन्दता ।
निमृतात्म व्रतात्मत्वं तत्र वाह्य प्रकीर्तितम्।।37।।
दशधाऽध्यात्मिकं धर्म्य मपाय विचयादिकम्।।38।।

(ह.पु.-56/36-38)

बाह्य और अभ्यन्तर के भेद से धर्मध्यान दो प्रकार का है, शास्त्र के अर्थ की खोज करना, शीलव्रत का पालन करना, गुणों के समूह में अनुराग रखना, अंगड़ाई जम्हाई, छींक, डकार और श्वासोच्छवास में मन्दता रखना, शरीर को निश्चल रखना तथा आत्मा को व्रतों से युक्त करना ये सभी बाह्य धर्मध्यान के लक्षण हैं और आभ्यन्तर लक्षण उपाय विचय आदि के भेद से दश प्रकार का है।

इसी प्रकार का समर्थन आचार्य वीर नंदी ने चा.सा. में किया है। (चा.सा. 172/3) अतः आध्यात्मिक धर्मध्यान आज्ञापायादि के भेद से दश प्रकार का होता है।

धर्मध्यान में सम्यक्त्व व भावों का विवेचन (प्र.सा.ता.वृ. 196/192/9)- अथ ध्यान सन्तानः कश्यते यत्रान्तर्मुहूर्त पर्यंत ध्यानं तवन्तरमन्तर्मुहूर्त पर्यन्ते तत्व चिंता पुनरव्यन्तर्मुहूर्त पर्यन्तम् ध्यानम् पुनरपि ततः चिन्तेति प्रमत्ताप्रमत्त गुणस्थानव दन्तर्मुहूर्तन्तन्तर्मुहूर्त गते सति परावर्तन मस्ति स ध्यान सन्तानो भण्यते।

ध्यान की संतान बताते हैं। जहाँ अन्तर्मुहूर्त पर्यंत ध्यान होता है, तदनन्तर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त तत्वचिंतन होता है। पुन: अन्तर्मुहूर्त ध्यान होता है पश्चात् अन्तर्मुहूर्त तत्वचिंतन इस प्रकार प्रमत्त अप्रमत्त गुणस्थान की तरह परिवर्तन होता रहता है, उसे ही ध्यान की संतान कहते हैं।

इसी प्रकार का समर्थन चा.सा. में किया गया है- धर्मध्यान में साम्भाव भाव व लेश्याएँ

(ध.पु. 13/5, 4/26/53/76) होतिं कम्म विसुद्धाओ लेश्याओ सुक्काओ धम्मज्झाणोवगयस्स तिव्व मंदादि भेयाओ-

धर्मध्यान को प्राप्त हुए जीव के तीव्र मंद आदि भेदों को लिए हुए क्रमश: पीत, पद्म शुक्ल लेश्याएँ पायी जाती हैं। (म.पु. 21/156)

(चा.सा./203) सभी प्रकार का धर्मध्यान पीत, पद्म व शुक्ल लेश्या के बल से होता है तथा परोक्ष ज्ञान होने से क्षायोपशमिक है। (म.पु. 21/256-257)

(ज्ञाना. 41/14) इस धर्मध्यान की स्थिति अन्तर्मुहूर्त है, इसका भाव क्षायोपशमिक है तथा लेश्या सदा शुक्ल ही पायी जाती है।

नोट - यहाँ धर्मध्यान के अन्तिम पाये से अभिप्राय है। वास्तविक धर्मध्यान मिथ्यादृष्टि को नहीं पाया जाता।

(नं.चं.व. 179) झाणस्स भावणाविद, ण.हू.सो. आराहओ हवे णियमा, जो ण विजाणई वत्थुं पमाण णय णिच्छयं किच्चा

जो प्रमाण और नय के द्वारा वस्तु का निर्णय करके भी उसे नहीं जानता है वह ध्यान की भावना के द्वारा भी आराधक नहीं हो सकता ऐसा नियम है।

ज्ञानार्णव ग्रन्थ में कहा गया है जो पुरुष रत्नत्रय धारण किये बिना ध्यान करना चाहता है वह मूर्ख आकाश के फूलों से बन्ध्या पुत्र के लिए सेहरा सजाना चाहता है। अत: दृष्टि की विकलता से अपनी इच्छा अनुसार वस्तुस्वरूप को ग्रहण करने वाले मिथ्यादृष्टियों के ध्यान की सिद्धि स्वप्न में भी नहीं हो सकती। इतना ही नहीं यदि कोई जैन मुनि जिनेन्द्र आज्ञा के विपरीत चलने वाला है इसको भी ध्यान संभव नहीं है।

पं.धं. 3209 में भी कहा है-

संसारी जीवों के भी सुखी दुखी इत्यादि रूप से सुख-दुख के स्वाद का अनुभव होने के कारण अशुभ अशुद्धोपलब्धि असिद्ध नहीं है, क्योंकि उनके अपनी दूसरी अपेक्षा का संस्कार नहीं है।

गुणस्थानों की अपेक्षा धर्मध्यान का स्वामित्व (सं.सि. 99136/450/5) - धर्मध्यान चतुर्विकल्प भवयेसन् तदविरत देश विरत प्रमताप्रमत्त संयतानां भवति।

सं.सि. 9137/453/6 - श्रेण्यारोहणात्प्राग्धर्म्यू श्रण्यो शुक्ले इति व्याख्याते।

धर्मध्यान चार प्रकार का होता है वह अविरत, देशव्रती, प्रमत्ताप्रमत्तसंयत गुणस्थानों में पाया जाता है। (रा.वा. 9136/13/632/18) श्रेणी चढ़ने के पूर्व धर्मध्यान होता है और दोनों श्रेणियों में आदि के दो शुक्ल ध्यान होते हैं।

ध.पु. 13/5, 4, 26/74/10 - असंजद सम्माइट्ठि, संजादसंजद पमत्तापमत्त अपुव्वसंजद सुहुमसंजद खवगोवसामएसु धम्मझाणस्स पवुतो होदि - असंयत सम्यग्दृष्टि देशसंयत प्रमत्त-अप्रमत्त संयत अपूर्वकरण अनिवृत्तिकरण सूक्ष्मसांपराय क्षपक उपशम इन दोनों के ही असंयत से लेकर सूक्ष्म साम्पराय संयत पर्यंत धर्मध्यान की प्रवृत्ति होती है ऐसा जिनदेव का उपदेश कहना चाहिए इससे यह कहा जाता है कि धर्मध्यान कषाय सहित जीवों में होता है और शुक्लध्यान कषाय रहित जीवों में पाया जाता है।

ध.पु. 13/5, 4/26(75)8 = तदो सकसाया कसाय स्वामि भेदेण अचिरकाल चिर कालावट्ठाणेण य दोण्णं ज्झांणाणं सिद्धो मेआ।

ध.पं. 13/5, 4, 26/180/13 अट्ठावीस भेय भिण्ण मोहणीयस्स सव्वुव समावट्ठाण फलं पथक्क विदक्क सुक्कज्झाणं/ मोहसत्वुसमोपुण धम्मज्झाणं फलं सकसायणेण धम्मज्झाणिणो सुहुमसांपरायस्स चरिम समए मोहणीयस्स सव्वुव समुलंभादो। तिण्णं घादि कम्माणं णिम्मूल विणासफलमेयतविदक्क वीचारज्झाणं। मोहणीय विणासो पुण धम्मज्झाणं फलं सुहुम सांपराय चरिम समए।

तस्य विगासु वलंमादी-

सकषाय व अकषाय रूप स्वामि के भेद से तथा चिरकाल, अचिर काल अवस्थित रहने के कारण इन दोनों ध्यानों का भेद सिद्ध है। (च.सा. 210/4)

अट्ठाईस प्रकार के मोहनीय कर्म की उपशामना हो जाने पर उसमें स्थित रखना पृथक्त्व वितर्क विचार नामक शुक्लध्यान का फल है। परन्तु मोहनीय का सर्वोपशमन करना धर्मध्यान का फल है। क्योंकि कषाय सहित धर्मध्यानी के सूक्ष्म सांपराय गुणस्थान के अन्तिम समय में मोहनीय कर्म की सर्वोपशामना देखी जाती है। तीन घाति कर्मों का निमूल विनाश एकत्व वितर्क विचार नामक शुक्लध्यान का फल है परन्तु मोहनीय कर्म का विनाश करना धर्मध्यान का फल है। क्योंकि सूक्ष्म सांपराय के अन्तिम समय में उसका विनाश देखा जाता है। इस प्रकार धर्मध्यान व शुक्लध्यान के कार्य बतलाये गये हैं।

धर्मध्यान व शुक्लध्यान में कई विशेषता है। इन दोनों ध्यानों में विशुद्धि व स्वामी की अपेक्षा भेद पाया जाता है। (म.पु. 21/ 31)

धर्मध्यान शुक्लध्यान का कारण है और शुक्ल ध्यान धर्मध्यान का कार्य है। अत: कार्य कारण की अपेक्षा भी भेद है। धर्मध्यान कारण समयसार व शुक्ल ध्यान कार्य समयसार है।

प्रश्न - चउतीस ठाणा में जो धर्मध्यान बतलाए वो चतुर्थ गुणस्थान में दो धर्मध्यान कहे हैं तथा नरक गति में एक ही धर्मध्यान पाया जाता है वह किस प्रकार है तथा पंचम गुणस्थान में तीन धर्मध्यान कहे हैं वह किस प्रकार कहे हैं?

उत्तर - धर्मध्यान के दो भेद किये हैं एक निश्चय धर्मध्यान एक व्यवहार धर्मध्यान अथवा चतुर्थ पंचम गुणस्थानों में उपचार से धर्मध्यान स्वीकार किया है किन्तु प्रमताप्रमत्तादि गुणस्थानों में साक्षात् धर्मध्यान स्वीकार किये हैं इसलिए इस प्रकार का भेद डाला है अब उन्हीं का खुलासा किया जाता है।

व्यवहार धर्मध्यान/उपचार धर्मध्यान - व्यवहार नयादेव ध्यान युक्त परात्रंय-(त.अनु. /141) इस प्रकार व्यवहार नय से पराश्रित धर्मध्यान का लक्षण कहा है अर्थात् ध्यान सामान्य अथवा उसके आज्ञा, उपाय आदि भेद सब व्यवहार ध्यान में गर्भित है। यहाँ भाव संग्रह में कहा है ग्रहस्थों के धर्मध्यान संभव नहीं है क्योंकि गृह कार्यों में उसका मन लगा रहता है किन्तु गृहस्थ के भद्रध्यान होता है वास्तविक धर्मध्यान अप्रमत्त के होता है।

इसलिए जो भद्रध्यान या व्यवहार ध्यान आज्ञा विचय आदि को कहा गया है उसे असंयत व देशसंयत गुणस्थानों में कहा गया है और भी कहते हैं-

मुख्योपचार भेदेन धर्मध्यान मिह द्विधा।
अप्रमत्तेषु तन्मुख्य मितरेष्वौपचारिकं।।47।। (त.नु. 211)

मुख्य और उपचार के भेद से धर्मध्यान दो प्रकार का है अप्रमत्त गुणस्थान में मुख्य धर्मध्यान होता है, उसके नीचे के गुणस्थानों में उपचार से धर्मध्यान होता है।

मुक्खंधम्मज्झाणं उत्तं तु पमायविरहिए ठाणे।
देस विरए पमत्ते उवयारेणेव णायव्वं।। (371 भाव संग्रह)

धर्मध्यान मुख्यता से अप्रमत्त गुणस्थान में होता है, देशविरत व प्रमत्त गुणस्थान में उपचार से होता है। किन्तु चतुर्थ गुणस्थान वाला असंयमी होता है, उसके बाह्याभ्यन्तर दोनों में से एक भी परिग्रह का त्याग नहीं है अत: उसका चित्त ठहरता नहीं है। उसको शुद्धोपयोग भी नहीं होता मात्र शुभोपयोग होता है अत: उसके आत्म स्वभाव की रुचि होती है और आत्म स्वभाव अरिहंत का व्यक्त हो चुका है। अत: वह अरिहंत के स्वरूप का चिंतन करता है आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा भी है–

जो जाणदि अरिहंत दव्वत गुणत्त पज्जय तेहिं–
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलुजादि तस्सलयं।।80।।

जो अरिहंत भगवान को द्रव्य, गुण, पर्याय से जानता है वह अपने आत्मा को भी जान लेता है उसका मोह निश्चय से नाश को प्राप्त होता है। शुद्ध आत्मा के बिना उसका चित्त ठहरता नहीं है अत: उसको अरिहंत भगवान का चिंतन करना चाहिए। अरिहंत को चिंतन करो अथवा अपनी आत्मा का चिंतन करो दोनों में शुभोपयोग है और सम्यग्दृष्टि के लिए दोनों में कोई भेद भी नहीं है।

और भी कहा है। यद्यपि धवला जी पुस्तक 13 में देशविरतादि गुणस्थान में धर्मध्यान कहा है किन्तु मुख्य धर्मध्यान अप्रमत्त को ही कहा है अन्य गुणस्थान वाले चतुर्थ पंचम गुणस्थानों में गृहस्थ के गृह संबंधी कार्यों की चिंतन रहने से उनका चित्त स्थिर नहीं रहता है। चित्त की स्थिरता अंतरंग बहिरंग परिग्रह के त्यागी मुनिराज को ही होती है अत: ग्रहस्थों के ध्यान भद्रध्यान कहा है। इसका लक्षण इस प्रकार है।

भद्दस्स लक्खणं पुण धम्मं चिंतेह भोयपरि मुक्को।
चिंतिय धम्मं सेवई पुणरवि भोए जहिच्छाण।।665।।

जो जीव भोगों का त्याग कर धर्म का चिंतन करता है। धर्म का चिंतन करता हुआ भी फिर भी अपनी इच्छानुसार भोगों का सेवन करता है उसके भद्रध्यान होता है। ध.पु. 13 पृ. 96 तथा ध्यान शतक गा. 67–68 में कहा है– आगमोपदेश व निसर्ग से जिनेन्द्र देव के द्वारा कहे गये पदार्थों का श्रद्धान होता है यह धर्मध्यान का लिंग है।

जिन साधुओं के गुणों का कीर्तन करना, प्रशंसा करना, विनय करना, दान सम्पन्नता श्रुत, शील और संयम में रत रहना ये सभी कार्य धर्मध्यान में होते हैं ऐसा जानना चाहिए। अत: उपचार धर्मध्यान असंयत सम्यग्दृष्टि के होता है और मुख्य धर्मध्यान अंतरंग बहिरंग परिग्रह से रहित मुनि के होता है।

मुख्योपचार भेदेन धर्मध्यान मिह द्विधा अप्रमत्तेषु मितरेश्वौप (स्वा.का.गा. 487 की टीका)

मुख्य और उपचार के भेद से धर्मध्यान दो प्रकार का होता अप्रत्तो के मुख्य शेष असंयतादि में उपचार धर्मध्यान पाया जाता है।

हरि. पु. 56/51–52 में भी कहा है– धर्मध्यान अप्रमत्त गुणस्थान में होता है, प्रमाद के अभाव से उत्पन्न होता है। पीत पद्म, शुक्ल लेश्या के बल से होता है। काल और भाव के विकल्प में स्थित है तथा इसका फल स्वर्ग और मोक्ष है।

ज्ञा. 4/17 में कहा है। आकाश के पुष्प और गधे के सींग नहीं होते कदाचित् किसी देश व काल में इनके होने की प्रतीति हो सकती है, गृहस्थी के ध्यान की सिद्धि तो किसी देश काल में होना संभव नहीं है।

भाव संग्रह में कहा है–

कहियाणि दिट्ठिवाए पडुच्च गुणठाणं जणि झाणाणि।
तम्हा स देस विरओ मुक्खं धम्मंण झाएई।।383।।

ग्रहस्थों के दृष्टिवाद नामक बारह वे अंग गुणस्थानों की अपेक्षा से ध्यान का कारण कहा है, जिससे सिद्ध होता है कि ग्रहस्थों के मुख्य धर्मध्यान नहीं होता।

किं जं सो गिहवंतो वहिरन्तर गंथ परिमिओ णिच्चं।
वहुआरंभ पउन्तो कह झायइ सुद्ध मत्पाणं।।384।।

ग्रहस्थों के मुख्य धर्मध्यान न होने का कारण यह है कि ग्रहस्थों के सदाकाल बाह्याभ्यन्तर परिग्रह रहते हैं तथा आरंभ बहुत प्रकार के होते हैं इसलिए वह शुद्धात्मा का ध्यान कैसे कर सकता है? अर्थात् नहीं कर सकता।

घरवावारा केई करणीया अत्थि तेण ते सव्वे।
झाणट्ठियस्सपुरओ चिटठंति णिमीलियच्छिस्स।।385।।

ग्रहस्थों को घर के कितने व्यापार करने पड़ते हैं, जब वह ग्रहस्थ नेत्र बंध करके ध्यान करने बैठता है, तब उसके करने योग्य घर के सारे व्यापार अपने आप ध्यान में आ जाते हैं।

अह ढिकुलिया झाणं झायइ अहवा स सोवए झाणी।
सोवंतो झायव्वं ण ठाइ चित्तम्मि वियलम्मि।।386।।

वह ग्रहस्थ इस ध्यान के बहाने सो जाता है जब सो जाता है तब उसका व्याकुल चित्त पर कभी नहीं ठहर सकता। इसी प्रकार गाथा नं. 357 में पाँचवें गुणस्थान में आर्त्त, रौद्र व भद्र इस प्रकार तीन ध्यान स्वीकार किये हैं। श्री शुभचन्द्र, देवसेन, जिनसेन (वीरसेन) आदि आचार्यों ने ग्रहस्थ के धर्मध्यान का भी निषेद किया है। तब उसके शुद्धोपयोग कैसे हो सकता है अत: असंयत सम्यग्दृष्टि के शुद्धोपयोग नहीं होते। इन सभी प्रमाणों से ये विदित होता है कि आज्ञा विचय आदि जितने भी चिंतन रूप ध्यान हैं वे चतुर्थ, पंचम, षष्टम् गुणस्थान में पाये जाते हैं।

जो आत्मा में स्थिरता है वह मुख्य धर्मध्यान है वही संस्थान विचय धर्मध्यान है जो मुख्यता से अप्रमत्त गुणस्थान अथवा अप्रमतादि सूक्ष्म साम्पराय पर्यंत पाया जाता है। चतुर्थादि गुणस्थानों में शुभोयोग पाया जाता है सप्तम गुणस्थान से शुद्धोपयोग पाया जाता है, शुभोपयोग भी क्रमश: बढ़ता हुआ पाया जाता है इसलिए चतुर्थ गुणस्थान में दो धर्मध्यान कहे क्योंकि दोनों धर्मध्यान चिंतन रूप है। आज्ञा विचय में जिनेन्द्र देव की आज्ञा रूप चिंतन अथवा पंचपरमेष्ठी के गुणानुवाद रूप चिंतन है जो पहले कह आये हैं तथा अपाय चिंतन किया जाता है इस प्रकार इस गुणस्थान में चिंतन रूप धर्मध्यान भी कहते हैं जिसे उपचार भी कहते हैं, व्यवहार धर्मध्यान भी कहते हैं और शब्द भेद उपेक्षा इसे भद्रध्यान भी कह सकते हैं।

यहाँ मुख्यता से दो ध्यान स्वीकार किये हैं। यद्यपि ऐसा किसी प्राचीन आचार्य का ऐसा कथन मेरी दृष्टि में पढ़ने को नहीं आया, इस प्रकार का कथन मुनि श्री आदिसागर जी महाराज शेडवाल व चउतीस स्थान दर्शन के टीकाकार तथा मुनि प्रशांतसागर, मुनि चिन्मय सागर, आर्यिका विज्ञानमती माताजी इन्होंने किया है और युक्तिसंगत भी बैठता है। यद्यपि आचार्यों ने दृष्टिवाद नामक अंग के अन्तर्गत गुणस्थानापेक्षा कथन करने का जिक्र किया है किन्तु उपलब्ध नहीं हो पा रहा है। अत: व्यवहार धर्मध्यान या उपचार धर्मध्यान, भद्र धर्मध्यान, आज्ञा विचय, विपाक विचय आदि जो चिंतन रूप हैं उन्हें माना जाये तो उक्त कथन बन जाता है।

संस्थान विचय भी कथंचित व्यवहार धर्मध्यान – छठवें गुणस्थान में चार धर्मध्यान स्वीकार किये हैं और वहाँ उपचार या व्यवहार या भद्रध्यान कहा गया है इस कथन के अनुसार संस्थान विचय भी जब आत्म स्थिर नहीं होता है उस अवस्था में व्यवहार या उपचार धर्मध्यान होता है और इस प्रकार से वह असंयत को भी पाया जाता है। अत: असंयत गुणस्थान में चारों धर्मध्यान स्वीकार किये जा सकते हैं।

नारकियों में एक धर्मध्यान या आर्त्तध्यान – चतुर्थ गुणस्थानवर्ती नारकियों में मुख्यता से नौ ध्यान स्वीकार किये हैं, क्योंकि नारकियों में किसी के अनुग्रह करने के भाव नहीं होते वे जिनाज्ञा पर ही विचार चिंतन करते रहते हैं। उन्हें अपने तथा पर के दु:ख दूर करने के उपाय का विचार नहीं होता अत: उनके एक धर्मध्यान चार आर्त्त, चार रौद्र इस प्रकार नौ ध्यान पाये जाते हैं। शेष मनुष्यों में तिर्यंचों व देवों में सम्यक्त्व के साथ दो धर्मध्यानों सहित दस ध्यान का कथन किया है।

शास्त्रों में आचार्यों ने जो कथन किया है वह सामान्य से होता है अथवा बाहुल्यता प्रधान होता है जैसे 100 लोग अन्न का भक्षण करते हैं और दो लोग फल खाते हैं तो मनुष्य को अन्न भक्षी ही कहा जायेगा। अब कोई फल खा रहा है तो उसकी प्रधानता नहीं है इसी प्रकार लगा लेना चाहिए।

पंचम गुणस्थान में ग्यारह ध्यान कहे हैं – संयतासंयत गुणस्थान में तीनों ध्यान अर्थात् आज्ञा विचय, उपाय विचय और विपाक विचय ये तीनों पाये जाते हैं। इस प्रकार यहाँ 4 + 4 + 3 = ग्यारह ध्यान पाये जाते हैं। इसका सारा कथन चतुर्थ गुणस्थान के समान है। प्रमत्त गुणस्थान में चार धर्मध्यान पाये जाते हैं जिनका कथन पूर्व गुणस्थान के समान जानना चाहिए।

धर्मध्यान का फल – आचार्य वीरसेन स्वामी के अनुसार धर्मध्यान से सम्पूर्ण मोहनीय कर्म का क्षय होता है क्योंकि धर्मध्यान दसवें गुणस्थान तक पाया जाता है और मोहनीय दसवें गुणस्थान में क्षय को प्राप्त होता है। किन्तु आचार्य पूज्यपाद के अनुसार शुक्लध्यान से मोहनीय कर्म का क्षय होता है दोनों आचार्य महान् हैं। अत: हमें दोनों स्वीकार हैं।

क्योंकि धर्मध्यान सातवें गुणस्थान तक पाया जाता है और सातवें गुणस्थान में दर्शन मोहनीय के अलावा अन्य किसी भी कर्म का क्षय नहीं होता अत: सिद्ध होता है कि चारित्र मोहनीय की पूर्ण क्षपणा शुक्लध्यान में होती है।

प.का.ता.वृ. 173/253/25 उधृत–एकाग्र चिन्तन ध्यानं फलं संवर निर्जरा

एकाग्र चिंतन करना धर्मध्यान है और संवर निर्जरा उसका फल है। उत्कृष्ट धर्मध्यान का फल शुभास्रव, संवर, निर्जरा और देवों का सुख ये शुभानुबन्धी विपुल फल होता है। (ध.पु. 13/5, 4, 28/36/77)

जो भव्य पुरुष इस पर्याय के अन्त में सम्पूर्ण परिग्रह को छोड़कर धर्मध्यान पूर्वक इस पर्याय का त्याग कर ग्रैवेयक में तथा अनुदिश, अनुत्तर, सर्व सर्वार्थसिद्धि के विमानों में उत्पन्न होते हैं। (ज्ञा. 141/16)

चारित्र भावना के बल से जो ध्यान में लीन है उसके नूतन कर्मों का ग्रहण नहीं होता पुराने कर्मों की निर्जरा होती है और शुभ कर्मों का आस्रव होता है अथवा जैसे मेघ पटल पवन के द्वारा ताड़ित होकर क्षण मात्र में विलीन हो जाते हैं उसी प्रकार धर्मध्यान रूपी पवन के द्वारा कर्मरूपी मेघ पटल क्षण मात्र में विलीन हो जाते हैं। (ध.पु. 13/5, 4/26/56/77/)

इस प्रकार यहाँ जो धर्मध्यान का फल दिखलाया गया है वह सामान्य धर्मध्यान या व्यवहार या उपचार ध्यान का फल नहीं है बल्कि आत्म ध्यान में स्थिर मुनिराज के रूपस्थ, रूपातीत धर्मध्यान का फल है। यद्यपि परमार्थ से विचार किया जाये तो कर्मक्षय अथवा मोहनीय कर्म के उपशम से रूपातीत धर्मध्यान की ही प्रमुखता है वह मुख्य धर्मध्यान है, क्योंकि शेष धर्मध्यान के जितने भी भेद प्रभेद हैं वे सभी चिंतन रूप हैं।

किंतु रूपातीत नाम का धर्मध्यान आत्मस्थिरता स्वरूप है और यही मोह कर्म का क्षय व उपशम करने में सक्षम है, आचार्य वीरसेन स्वामी के अनुसार तो ऐसा प्रतीत होता है जैसे जब तक कषाय है तब तक धर्मध्यान है तभी तक शुभोपयोग है जैसा ही कषायों का क्षय या उपशम होता है वही ध्यान शुक्लध्यान हो जाता है। उपयोग भी शुद्धोपयोग में परिवर्तित हो जाता है, क्योंकि आगे जो तथ्य दिये जा रहे हैं उनसे ये ज्ञात होता है कि रूपातीत धर्मध्यान व एकत्व वितर्क शुक्लध्यान के विषयवस्तु में कोई ज्यादा फर्क नहीं है। आचार्य पूज्यपाद स्वामी के अनुसार भी इस प्रकार का कथन है फर्क इतना है उन्होंने अपूर्वकरण गुणस्थान के सद्भाव में भी शुद्धोपयोग व शुक्लध्यान स्वीकारा है।

तथ्य इस प्रकार है –

सद्धुव जोगेण पुणो धम्मं सुक्कं च होदि जीवस्स।
तम्हा संवर हेदु झाणोत्ति विचिंत्तिये णिच्चं।।

शुद्धोपयोग से ही जीव को धर्मध्यान व शुक्लध्यान होते हैं। इसलिए संवर का कारण ध्यान है ऐसा विचारते रहना चाहिए। (ध.पु. 13/5, 4, 26/741/ में कहा है यदि समस्त समय सद्भाव (संस्थान विचय) धर्मध्यान का ही विषय है तो शुक्लध्यान का विषय कुछ रह ही नहीं जाता है?

क्योंकि दोनों ही ध्यानों में विषय की अपेक्षा कोई भेद नहीं है। (चा.सा. 210/3)

प्रश्न – यदि ऐसा है तो दोनों ही ध्यानों में अभेद प्राप्त होता है। क्योकि व्याघ्रादि द्वारा भक्षण किया भी, (करोतो द्वारा) फाड़ा गया भी, (दावानलद्वारा) ग्रसा गया भी, (अप्सराओं द्वारा) ललित किया गया भी, (जिस अवस्था) में ध्येय से चलायमान नहीं होता वह जीव की अवस्था ध्यान कहलाती है। इस प्रकार यह भाव दोनों ध्यानों में समान है, अन्यथा ध्यान रूप परिणाम की उत्पत्ति नहीं हो सकती?

उत्तर – यह बात सत्य है कि इन दोनों प्रकार के स्वरूपों की अपेक्षा इन दोनों ध्यानों में कोई अन्तर नहीं है। म.पु. 21/13/ विषय की अपेक्षा तो अभी तक जिन ध्यान करने योग्य पदार्थों का वर्णन किया है वे सब इन धर्मध्यान व शुक्लध्यान इन दोनों ही ध्यानों के साधारण ध्येय हैं। त.अनु./180 इन सभी तथ्यों से ये ज्ञात होता है कि धर्मध्यान के चार भेदों में भी जो संस्थान विचय के चार भेदों में जो अन्तिम है रूपातीत ध्यान से तात्पर्य है। क्योंकि शेष ध्यान स्थिरता स्वरूप नहीं चिंतन रूप है। अत: विषय व स्थिरता आदि की अपेक्षा धर्मध्यान व शुक्लध्यान में कोई अंतर नहीं है।

प्रश्न – यदि ऐसा है तो जो चिंतन रूप धर्मध्यान है वे उपचार से है अथवा व्यवहार या भद्रध्यान है, फिर चतुर्थ, पंचम व षष्टम गुणस्थानों में संख्या भेद क्यों किया?

उत्तर – इसमें कोई दोष नहीं है क्योंकि इसी शोध पत्र में लिखा गया है कि चतुर्थ गुणस्थान में होने वाले शुभोपयोग की अपेक्षा पंचम गुणस्थान में विशेष अधिक निर्मलता को लिए शुभोपयोग है क्योंकि शुभोपयोग की तरतमता आत्म विशुद्धि, आत्म स्थिरता से है जब आत्म विशुद्धि अधिक बढ़ती है तो वह जीव विशेष चिंतन में लीन होता है अत: कर्मों के विपाक का चिंतन करता है यहीं पर पंचम गुणस्थान होता है। चतुर्थ गुणस्थान की विशुद्धि प्रारंभिक शुभोपयोग की दशा है अत: जिनेन्द्र देव की आज्ञा को स्वीकार करता हुआ कर्मों के विनाश का चिंतन करता है। लेकिन पंचम गुणस्थान की विशुद्धि स्थिरता अधिक है वहाँ कर्मों के विपाक यानी फलदान के चिंतन में स्थिरता बन जाती है इसलिए वहाँ तीनों धर्मध्यान बन जाते हैं। उससे भी अधिक षष्टम गुणस्थान की विशुद्धि है उसमें संस्थान विचय का भी चिंतन रूप है स्थिरता बन जाती है। अत: चारों धर्मध्यान बन जाते हैं जिन्हें उपचार से कहा जाता है किन्तु आत्मस्वभाव में स्थिरता न होने के कारण वहाँ मुख्य ध्यान का अभाव है इन सभी तथ्यों से ये सिद्ध होता है। अब दोनों ध्यानों में भेद किस प्रकार है वह बतलाते हैं–

स्वामी, स्थितिकाल, फल विशुद्धि की अपेक्षा भेद है।

स्वामी – तदो सकसायाकसाय सामिभेदेण अचिर काल चिरकाल, वट्ठाणेणय दोण्णं ज्झाणाणं सिद्धी भेआ। (ध. 13/5, 4, 26/75/8)

कषाय और अकषाय स्वामी भेद से तथा काल की अपेक्षा चिरकाल तथा अचिर काल तक अवस्थित रहने के कारण इन दोनों ध्यानों का भेद सिद्ध है। (चा.सा. 210)

फल – फल का कथन पहले किया जा चुका है फिर यहाँ कुछ कर देते हैं। अट्ठाईस प्रकार के मोह कर्म की सर्वोपशामना हो जाने पर उसमें स्थिर रखना पृथक्त्व वितर्क विचार नामक शुक्लध्यान का फल है। परन्तु मोहनीय का सर्वोपशम करना धर्मध्यान का फल है।

क्योंकि कषाय सहित धर्मध्यानी के सूक्ष्म सांपराय के अन्तिम समय में मोहनीय कर्म की सर्वोपशामना देखी जाती है। तीन घातिया कर्मों का समूल नाश करना एकत्व वितर्क अवीचार शुक्लध्यान का फल है किन्तु मोहनीय कर्म का समूल अन्तिम समय में उसका विनाश देखा जाता है। (ध.पु. 13/5, 4, 26/80/13)

इस प्रकार धर्मध्यान के अन्तर्गत ध्यान, ध्याता, ध्येय फल का कथन सविस्तार किया, यहाँ एक बात और है कि धर्मध्यान शुक्लध्यान का कारण है, शुक्लध्यान धर्मध्यान का कार्य है। अत: कार्य कारण संबंध है धर्मध्यान कारण समयसार है तो शुक्लध्यान कार्य समयसार है। (जै.सि.को. भाग 2 पृ. 483)

पंचम काल में ध्यान की सिद्धि – यद्यपि इस पंचम काल में भरत क्षेत्र में शुक्लध्यान नहीं पाया जाता किन्तु धर्मध्यान अभी भी पाया जाता है। (देखे–द्र.सं.टी. 57/231/11, पं.का.ता.वृ. 146/211/17)

कहा भी है –

भरहे दुस्सम काले धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स।
तं अप्पसहाव ट्ठिदे णहुमण्णइ सो वि अण्णाणी।।

इस भरत क्षेत्र में दु:खम (पंचम) काल में आत्म स्वभाव स्थित साधु को धर्मध्यान होता है। जो ऐसा नहीं मानता है वह अज्ञानी है। (मो.पा.मू.गा. 75)

कोई कोई साधु ऐसा कह कर ध्यान का निषेध करते हैं कि इस दु:षम पंचम काल में ध्यान की योग्यता किसी के भी नहीं है, उन अज्ञानियों के ध्यान की सिद्धि कैसे हो सकती है अर्थात् नहीं हो सकती। (ज्ञा. 4/37)

यहाँ इस भरत क्षेत्र में पंचम काल में जिनेन्द्र देव ने शुक्लध्यान का निषेध किया है किन्तु श्रेणी से पूर्ववर्तियों के धर्मध्यान बतलाते हैं। (द्र.सं.टी. 57/23/11/पं.का.गा. 146 ता.वृ. 211/10)

यहाँ धर्मध्यान तो कहा है किन्तु उत्कृष्ट धर्मध्यान भी नहीं कहा है क्योंकि यहाँ उत्कृष्ट सामग्री का अभाव है कहा भी है–

अत्रेदानीं निषेधंति शुक्लध्यानं जिनोत्तमा।
धर्मध्यानं पुन: प्राहू: श्रेणीभ्यां प्राग्विवर्तिनां।।83।। तत्त्वानु.

इस कदियकाल में जिनेन्द्र भगवान ने शुक्लध्यान का निषेध किया है किन्तु उपशम का तथा क्षपक श्रेणी से पूर्व होने वाला धर्मध्यान तो पंचम काल में हो सकता है।

इस प्रकार धर्मध्यान का विशद वर्णन करने के पश्चात् शुक्लध्यान का वर्णन किया जाता है।

– शुक्लध्यान –

जं झाणं सव्व कसाएहिं रहिदो – – – मोक्खस्स कारणं य कम्माण णासणं अग्गिसमं सो सुक्कज्झाणं अत्थि। अहवा कसाय मलस्स णिम्मल गुणेण सहिदं आदा परिणदि सुक्कज्झाण भणंति। सो चउविध–पिथक्क वितक्क वीचारं, एयत्त वितक्क अवीचार, सुहुमकिरियां पडिपाडी, समुच्छिण्ण किरिया णिवितीणि।

अर्थ – जो ध्यान सम्पूर्ण कषायों से रहित होता है। साक्षात् मोक्ष का कारण है तथा कर्मों को भस्म करने में अग्नि के समान है वह शुक्लध्यान है।

शुक्ल ध्यान चार प्रकार है–पृथक्त्व वितर्क, एकत्व वितर्क, सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती, व्युपरत क्रिया निवर्तीनि।

1. **पिथक्क वितक्क वीयारो –** पुहु–पुहु दव्व गुण पज्जायं पुहुतं भणदि अंतो जत्परूप वयणं वितक्को, अत्थ विंजंण जोगस्स संकंति वियारो।

पृथक्त्व वितर्क वीचार – अलग–अलग द्रव्य, गुण, पर्याय को पृथक्त्व कहते हैं। अन्तर्जल्प रूप वचन को वितर्क कहते हैं। अर्थ, व्यंञ्जन व योग की संक्रांति (बदलने) को वीचार कहते हैं।

2. **एयता वितक्क अवीयारो –** जं जीव खीण मोह गुणट्ठाणे गच्छिदूण वितक्क–मुदेण आधारेण किमगं दव्व पज्जायं एव चितंदि इत्थं चिंतमाणासो जं दव्व–गुण पज्जय सद्द जोगस्स अवलंवणं लहदि तं ण संकांति। एगमेव जोएण एंग दव्व गुण पज्जायेसु अंतोमुहते ठिदं एयत्त वितक्को अवियारो अत्थि इयं झाणं खीणमोह गुणट्ठाणे विदिय भागे हवदि।

अर्थ – एकत्व वितर्क अविचार–जो जीव क्षीण मोह गुणस्थान में पहुँचकर वितर्क या श्रुत के आधार से किसी एक द्रव्य या पर्याय का ही चिंतन करता है या श्रुत के आधार से किसी एक द्रव्य या पर्याय का ही चिंतन करता है ऐसा करते हुए वह जिस द्रव्य, पर्याय या शब्द का अवलंबन लिए रहता है उसे बदलता नहीं है। अथवा एक ही योग से एक द्रव्य या पर्याय पर अन्तर्मुहूर्त तक टिका रहता है वह एकत्व वितर्क अवीचार नाम का शुक्लध्यान है यह ध्यान बारहवें गुणस्थान के द्वितीय भाग में होता है।

3. **सुहुम किरिया पडिपाडी –** वितक्क वीचारेहि रहिदो सुद्ध अप्प तच्चं संवेदणेण सहं सुहुमकाय जोगो वि णिरोहेण सुहुमक्किया पडिपाडी सुक्कज्झाणं भणदि सो सजोगी गुणट्ठाणंते होदि।

अर्थ – सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती – वितर्क और वीचार से रहित शुद्ध आत्म तत्त्व के संवेदन के साथ सूक्ष्म काययोग का भी निरोध करना सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती शुक्लध्यान है। यह सयोग केवली गुणस्थान के अंत में होता है।

4. **समुच्छिण्णणित्तिक्तीणि –** जदा काय वग्गणाणं णिमित्तेण होदि आद पदेसाणं आदि सुहुमपरिप्फंदणं वि सेसं णत्थि, आदा सव्वदा णिक्कंपो होदि सो समुच्छिण्ण होहि।

अर्थ – व्युपरत क्रिया निवर्तीनि – जहाँ काय वर्गणाओं के निमित्त से होने वाला आत्म प्रदेशों का अति सूक्ष्म परिस्पदन भी शेष नहीं रहता है। आत्मा सर्वथा निष्कंप हो जाती है वहाँ व्युपरत क्रिया निवर्तीनि शुक्लध्यान होता है।

विसेस – झाणस्स चत्तारि अहियारो झाण, झादझेय, झाणंफलंय जोगस्स अट्ठंग–जम, णियम, आसण पच्चाहार, पाणायाम् धारणा, झांण, समाहि चं जोगस्स छण्णंग वि होई – उस्साह, णिच्छय, धीरता, संतोस, तच्छदंसण देसचाग च।

विशेष – ध्यान के चार अधिकार हैं– ध्यान, ध्याता, ध्येय और ध्यान का फल इसी प्रकार योग के आठ अंग हैं– यम, नियम, आसन, प्रत्याहार, प्राणायाम, धारणा, ध्यान और समाधि। योग के छह अंग और भी कहे हैं– उत्साह, निश्चय, धीरता, संतोष, तत्त्व दर्शन और देश त्याग इस प्रकार ये छह अंग भी कहे हैं। ध्यान अन्तर्मुहूर्त से अधिक समय तक नहीं टिकता और यह ध्यान 8, 9, 10, 11, 12, 13, 14 इन गुणस्थानों में पाया जाता है किन्तु आचार्य वीरसेन स्वामी के अनुसार 11वें गुणस्थान से 14वें गुणस्थान तक पाया जाता है। इस प्रकार चउतीस स्थान दर्शन में शुक्लध्यान का विवेचन किया है।

इस प्रकार का समर्थन अन्य ग्रंथ जैसे सर्वार्थसिद्धि (9/28/445) में कहा है– जिसमें शुचि गुण का सम्बन्ध है वह शुक्लध्यान है। जैसे– मैल हटने पर वस्त्र शुचि होकर शुक्ल कहलाता है उसी प्रकार आत्मा से भी कर्म मल हटते ही शुचि गुण प्रकट हो जाता है वही शुक्लध्यान है। इसी प्रकार राजवार्तिक – 9/28/4/627/31 में कहा है।

ध.पु. 13/5, 4, 26/77/9 में कहा है कषाय मल का अभाव होने से इसे शुक्लपना प्राप्त है।

का. अनु. 483 में कहा है– जहाँ गुण अति विशुद्ध होते हैं, जहाँ कर्मों का क्षय या उपशम होता है, जहाँ लेश्या भी शुक्ल होती है उसे शुक्लध्यान कहते हैं।

ज्ञा. 4214 में कहा है– जो निष्क्रिय व इन्द्रियातीत है। मैं ध्यान करूँ इस प्रकार की ध्यान की धारणा से रहित है जिसमें चित्त अन्तर्मुख है वह शुक्लध्यान है आत्मा के शुचि गुण के संबंध से इसका नाम शुक्ल पड़ा है। कषाय रूपी रज के क्षय से अथवा उपशम से आत्मा के सुनिर्मल परिणाम होते हैं वही शुचि गुण का योग है और वह शुक्लध्यान वैडूर्यमणि की शिखा के समान सुनिर्मल व निष्कंप है। (त. अनु. 221–222)

द्रव्य सं.गा. 56 में कहा है– हे भव्य! कुछ भी चेष्टा मत कर, कुछ भी मत बोल, कुछ भी चिंतन मत कर जिससे आत्मा निजात्मा में तल्लीन हो जाए, आत्मा में लीन होना ही परम ध्यान है। मल रहित आत्मा के परिणाम को शुक्ल कहते हैं। द्र.सं. 48 रागादि विकल्पों से रहित स्वयं वेदन ज्ञान को आगम भाषा में शुक्लध्यान कहा है। ध्यान, ध्येय, ध्याता, ध्यान का फल के विविध विकल्पों से विमुक्त अन्तर्मुखाकार समस्त इन्द्रिय समूह के अगोचर आदि निरंजन निज परम तत्त्व में अविचल स्थित रूप (नि.मा.ता.वृ. 123) वह निश्चय शुक्लध्यान है। इस प्रकार यह सामान्य से परिभाषाएँ कहीं हैं– अब विशेषता से देखते हैं।

पृथक्त्व वितर्क का स्वरूप – ध.पु.न. 13 में कहा है– यत: उपशांत मोह जीव अनेक द्रव्यों का व तीनों योगों के अवलंबन से ध्यान करते हैं इसलिए उसे पृथक्त्व ऐसा कहते हैं ।।58।। और वितर्क का अर्थ श्रुत है यत: पूर्वगत अर्थ में कुशल साधु ही इस ध्यान को ध्याते हैं इसलिए इस ध्यान को सवितर्क कहा है ।।59।। अर्थ, व्यञ्जन, योगों का संक्रम वीचार है। जो ऐसे संक्रमों से युक्त होता है उसे सूत्र में सवीचार कहा है ।।60।। (तं.सं. 7/45–47) भावार्थ – एक द्रव्य गुण या पर्याय को श्रुत रूपी रवि किरण के प्रकाश के बल से ध्याता है। इस प्रकार उसी पदार्थ को अन्तर्मुहूर्त तक ध्याता है। इसके बाद अर्थान्तर पर नियम में

संक्रमित होता है और पूर्व योग से स्यात से योगान्तर पर संक्रमित होता है। इस प्रकार एक अर्थ अर्थान्तर गुण–गुणान्तर पर्याय–पर्यायान्तर को नीचे ऊपर स्थापित करके फिर तीनों योगों को एक पंक्ति में स्थापित करके।

संयोगी की अपेक्षा पृथक्त्व वितर्क वीचार ध्यान के पर अंग उत्पन्न करना चाहिए इस प्रकार शुक्ल लेश्या वाला उपशांत कषाय जीव छह द्रव्य, नौ पदार्थ विषयक पृथक्त्व वितर्क वीचार ध्यान को अन्तर्मुहूर्त काल तक ध्याता है। अर्थ से अर्थान्तर का संक्रम होने पर भी ध्यान का विनाश नहीं होता क्योंकि इससे चिंता में गमन नहीं होता। (चा.सा. 204/1)

द्रव्य संग्रह गा.टी. 48/203/6– में कहा है– द्रव्य, गुण, पर्याय के भिन्नपने को पृथक्त्व कहते हैं। निज शुद्धात्मा का अनुभव स्वरूप भाव श्रुत को और निज शुद्धात्मा को कहने वाले अन्तर्जल्प रूप वचन को वितर्क कहते हैं।

इच्छा बिना ही एक अर्थ से दूसरे अर्थ, वचन में, वचन काय इन तीनों योगों में से किसी योग से दूसरे योग में जो परिणमन है उसे वीचार कहते हैं।

इसका अर्थ यह है यद्यपि ध्यान करने वाला पुरुष निज शुद्धात्मा के अलावा बाह्य पदार्थों की चिंता का चिंतन नहीं करता तथापि जितने अंशों से स्वरूप में स्थिरता नहीं है उतने अंशों से अनिच्छितवृत्ति से विकल्प उत्पन्न होते हैं इसलिए इस ध्यान को पृथक्त्व वितर्क वीचार कहा है। भगवती आराधना गा. 188 में इसी प्रकार कहा है। इस ध्यान में अनेक द्रव्य विषय होते हैं और इन विषयों का विचार करते समय उपशांत मोह मुनि वचन, मन, काय इन योगों का परिवर्तन करता है ।।1882।। इस ध्यान में अर्थ के वाचक शब्द संक्रमण तथा योगों का संक्रमण है। ऐसे विचारों का सद्भाव होने के कारण इसे सवीचार कहते हैं।

अनेक द्रव्यों का जो ज्ञान कराने वाला शब्द नय जो श्रुत वाक्य उससे यह ध्यान उत्पन्न होता है इसलिए इस ध्यान का पृथक्त्व वितर्क सवीचार नाम सार्थक है।

भावार्थ – पृथक् = अर्थात् भेद रूप से, वितर्क श्रुत का वीचार संक्रान्ति जिस ध्यान में होती है वह पृथक्त्व वितर्क नाम का ध्यान होता है। इसी प्रकार ध.पु. 13, कष.वा.ज्ञा.स.सि. आदि ग्रंथों में जानना चाहिए इसी प्रकार रा.वा. में भी कहा है वहाँ से जानना चाहिए।

पृथक्त्व वितर्क वीचार ध्यान का फल – ध.पु. 13/5, 4/26/79//

इस प्रकार इस ध्यान के फलस्वरूप संवर निर्जरा व अमर सुख प्राप्त होता है क्योंकि इस ध्यान से मुक्ति नहीं होती।

चा.सा. 206/2 – यह ध्यान स्वर्ग और मोक्ष के सुखों को देने वाला है। धर्मध्यान के फल से मोहनीय कर्म का उपशम होने पर उसमें स्थित रखना। पृथक्त्व वितर्क ध्यान का फल है।)ज्ञा. 2/20/)

इस अचिन्त्य फल वाले ध्यान के सामर्थ्य से जिसका मन शान्त हो गया है ऐसा ध्यानी मुनि क्षण में मोहनीय कर्म का क्षय या उपशम करता है।

प्रतिपात – पृथक्त्व वितर्क वीचार शुक्लध्यान प्रतिपाती भी होता है व अप्रतिपाती दोनों प्रकार का होता है क्योंकि ग्यारहवें उपशांत मोह गुणस्थान में नियम से प्रतिपाती ही होता है क्योंकि अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् गिरता है किन्तु क्षीणमोह गुणस्थान में नियम से अप्रतिपाती ही होता है। सो ही कहा है तदो परदो अत्थंतस्य णियमां संकमदि 78/10 उवसंत कसाओ – पुधत्त विदक्क वीयारज्झांण अंतोमुहुत्तं कालांज्झायड 78/14 एवं एदम्हादो णित्वुइगमणाणुवलंभादे 79/11 उवसंत – ध.पु. 1315, 4, 26/पृ.ष/अर्थ के अर्थान्तर पर नियम से संक्रमित होता है– इस प्रकार उपशांत कषाय जीव पृथक्त्व वितर्क वीचार शुक्लध्यान को अन्तर्मुहूर्त पर्यंत ध्याता है। इस प्रकार इस ध्यान के फल से मुक्ति संभव नहीं है।

लेश्या – यह ध्यान भाव से शुक्ल लेश्या के बल से ही होता है अन्य लेश्याओं में नहीं पाया जाता है और अन्तर्मुहूर्त बाद पलट जाता है। यह क्षायोपशमिक भाव है– किन्तु द्रव्य से छहों लेश्या वालों के हो सकता है।

स्वामित्व – घ.आ./188/ – इस ध्यान का स्वामी 14 पूर्व के ज्ञाता मुनि होते हैं यह कथन उत्कृष्टता की अपेक्षा जानना चाहिए जघन्य से 8 प्रवचन माता का जिसको ज्ञान है वह भी इस ध्यान का स्वामी होता है। त.सू. 37, भ.पु. 21/174 – जिसने सम्पूर्ण श्रुतज्ञान प्राप्त कर लिया है उसके द्वारा ही दो ध्यान आरंभ किये जाते हैं।

रा.वा. 41/2/633/20/ज्ञा. 42/22 ध. 13/5, 4, 26/78/7 – चौदह, दस, नौ पूर्व का धारी प्रशस्त तीन संहनन वाला कषाय कलंक से पार को प्राप्त हुआ और तीनों योगों में से किसी एक योग में विद्यमान ऐसा उपशांत कषाय वीतराग दृढ़मस्त जीव तथा क्षीण कषाय वीतराग दृढ़मस्त पृथक्त्व वितर्क वीचार शुक्लध्यान के स्वामी होते हैं। इसी प्रकार चा.सा. 206/ में भी कहा है। द्रव्य संग्रह टीका 204/1 में दोनों श्रेणी की अपेक्षा चारों गुणस्थानों में कहा है किन्तु क्षपकों में अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्म सांपराय इन तीन गुणस्थानों में कहा है।

नोट – जो चौदह पूर्व धारियों के शुक्लध्यान कहा है वह उत्कृष्ट की अपेक्षा कहा है जघन्य से आठ प्रवचन माता का जिसे ज्ञान है वह भी शुक्लध्यान कर सकता है।

एकत्व वितर्क अवीचार का स्वरूप – इस ध्यान के द्वारा एक ही योग का आश्रय लेकर एक ही द्रव्य का ध्याता (चिंतन करता है) होता है। इसलिए इस ध्यान को एकत्व वितर्क अवीचार शुक्लध्यान कहा है। भग.आ.मू. 1883/1688 स.सि. 9/44/456/ जो समूल मोहनीय कर्म का दहन करना चाहता है जो अनंत गुणी विशुद्धी विशेष को प्राप्त होकर बहुत प्रकार की ज्ञानावरणी की सहायभूत प्रकृतियों के बन्ध को रोक रहा है। जो कर्मों की स्थिति को नाश कर रहा है जो श्रुतध्यान के उपयोग से युक्त है जो अर्थ, व्यञ्जन और योग की संक्रान्ति से रहित है। निश्चल मन वाला है, क्षीण कषाय है और वैडूर्यमणि के समान निरुपलेय – इस प्रकार एकत्व वितर्क ध्यान कहा है।

स.सि. 9/44/456/4/रा.वा. 9/44/1/634/31 –

क्षीण कषाय जीव एक ही द्रव्य का किसी एक योग के द्वारा ध्यान करता है इसलिए उस ध्यान को एकत्व कहा है। (ध. 13.61) अत: वितर्क का अर्थ श्रुत है और पूर्वगत अर्थ में कुशल साधु इस ध्यान को ध्याता है, इसलिए इस ध्यान को सवितर्क कहा है। (वही 62)

अर्थ, व्यञ्जन, योगों के संक्रमण का नाम वीचार है अत: उस वीचार के अभाव के कारण इस ध्यान को अवीचार कहा है। (वही 63) ध.पु. 13/5, 4/26

गा. 61-63 ध. 13/5, 4, 26, 80//त.सा. 7/48-50

क.पा. 1/1/17/3/2/344/15, ज्ञा. 42/13/9

जो जीव नौ पदार्थ में से किसी भी एक द्रव्य, गुण और पर्याय के भेद से ध्यान करता है। इस प्रकार किसी एक योग और एक शब्द के अवलंबन से यहाँ, एक द्रव्य गुण पर्याय में मेरु पर्वत के समान निश्चल चित्त वाले भाव से अवस्थित असंख्यात गुण श्रेणी क्रम से कर्मों के अनुभाग को शोषित करने वाले और कर्मों की स्थितियों को एक योग तथा एक शब्द के आलंबन से प्राप्त ध्यान के बल से घात करने वाले उस जीव का अन्तर्मुहूर्त काल रह जाता है। तदनन्तर शेष रहे क्षीण कषाय गुणस्थान के काल का प्रमाण स्थितियों को छोड़कर उपशम सब स्थितियों की उदयादि श्रेणी रूप से रचना करके पुन: काण्डक घात के बिना अध:स्थिति गलना आदि ही असंख्यात गुण श्रेणी क्रम से कर्म स्कंधों का घात करता हुआ क्षीण कषाय के अन्तिम समय में ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय कर्मों का क्षय करके अनंत चतुष्टय का धारी केवली हो जाता है। (चा.सा. 206/3 द्र.सं.टी. 48/204/)

निज शुद्धात्म द्रव्य में या विकार रहित आत्मा सुख अनुभव रूप पर्याय में या उपाधि रहित स्वसंवेदन गुण में इन तीनों में से जिस द्रव्य, गुण, पर्याय में प्रवृत्त हो गया और उसी वितर्क नामक रख निजात्म रूप भाव श्रुत के बल से स्थिर होकर अवीचार

अर्थात् द्रव्य, गुण, पर्याय में परावर्तन नहीं करता वह एकत्व वितर्क नामक शुक्लध्यान कहलाता है जो केवलज्ञान के प्राप्त करने में मुख्य कारण है।

प्रतिपात – प्रतिपात के विषय में दो आचार्यों के मत आचार्य पूज्यपाद स्वामी के अनुसार एकत्व वितर्क अविचार ध्यान को ध्याने वाला पुन: नहीं लौटता (स.सि. 9/44/456/8) किन्तु आचार्य वीरसेन स्वामी के मतानुसार उपशांत कषाय वाला जीव कालक्षय या भवक्षय के कारण कषाय के उदय आ जाने से एकत्व वितर्क शुक्ल ध्यानी प्रतिपाती भी देखा जाता है। (ध.पु. 13/5, 4, 26/81/6)

लेश्या – यह ध्यान शुक्ल लेश्या में ही होता है अन्य में नहीं।

स्वामित्व – दूसरा शुक्लध्यान क्षीण कषाय गुणस्थान में ही संभव है। (द्र.सं.टी. 48/204/7/भ.आ.मू. 2099/1812) जिसके शुक्ल लेश्या है, निसर्ग से शूर है, वज्रवृषभनाराच संहननधारी है, किसी एक संस्थान से सहित है, चौदह पूर्व, दस पूर्व, नौ पूर्व धारी है, क्षायिक सम्यग्दृष्टि है जिसने सभी कषाय समूह का क्षय कर दिया है ऐसा जीव एकत्व वितर्क शुक्लध्यान का करने वाला होता है।

उपशांत कषाय गुणस्थान में भी उक्त ध्यान पाया जाता है (ध. 13, 15, 4, 26/181/7) चा.सा. में भी कहा है– पहले कहे हुए क्षीण कषाय के समय से बाकी बचे हुए समय में यह दूसरा शुक्लध्यान होता है।

शंका – यदि उपशांत कषाय गुणस्थान में एकत्व वितर्क वीचार शुक्ल ध्यान होता है तो उपसंतों दुपुधंत इत्यादि इस गाथा वचन के साथ विरोध आता है।

समाधान – ऐसी शंका नहीं करना चाहिए क्योंकि उपशांत कषाय गुणस्थान में केवल पृथक्त्व वितर्क वीचार शुक्लध्यान हो जाता है ऐसा कोई नियम नहीं है और क्षीण कषाय नामक गुणस्थान में केवल पृथक्त्व वितर्क वीचार शुक्लध्यान ही होता है ऐसा भी कोई नियम नहीं है। अत: सिद्ध है कि उपशांत व क्षीण में दोनों ही ध्यान पाये जाते हैं। (ध.पु./13/5, 4, 26/81/7)

फल – एकत्ववितर्क अवीचार ध्यान का फल है घातिया कर्मों का क्षय उपशांत कषाय गुणस्थान की अपेक्षा स्वर्ग सम्पदा भी प्राप्त होती है अत: दोनों फल प्राप्त होते हैं।

स्वरूप–वितर्क रहित अवीचार सूक्ष्म क्रिया करने वालों को होता है। यह ध्यान सूक्ष्म काय योग से प्रवृत्त होता है। (भ.आ. 1886) त्रिकाल विषयक पदार्थों को एक साथ विषय करने वाले सूक्ष्म काय योग में रहने वाले केवली इस तृतीय शुक्ल ध्यान के धारक हैं। उस समय वे सूक्ष्म काय योग का निरोध करते हैं।

(वही 1887, भू. 2119, ध. 13/5, 4, 26/ गा. 72, 73//83, त.सा. 7/51–52 ज्ञा. 42/51)

इस प्रकार एकत्ववितर्क अवीचार शुक्ल ध्यान रूपी अग्नि से सम्पूर्ण घातिया कर्मों को जला दिया है वह केवली जिन जब आयु कर्म अन्तर्मुहूर्त शेष रहता है उस समय मनोयोग, वचनयोग व बादर काय योग का निरोध कर सूक्ष्म काय योग के रहते सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाती शुक्ल ध्यान को स्वीकार करते हैं।

विशेष – जब उनकी आयु अन्तर्मुहूर्त शेष रहती है तब समुद्घात के द्वारा चारों कर्मों की स्थिति को समान करके अपने पूर्व शरीर प्रमाण होकर सूक्ष्म काय योग के द्वारा सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती ध्यान को स्वीकार करते हैं। (स.सि. 9/44/456/8)

(ध.पु. 13/5, 4, 26/832) यथा क्रिया का अर्थ योग है वह जिसके पतनशील हो वह प्रतिपाती कहलाता है, और उसका प्रतिपक्ष अप्रतिपाती कहलाता है। जिसमें क्रिया अर्थात् योग सूक्ष्म होता है वह सूक्ष्म क्रिया कहलाता है और सूक्ष्म क्रिया होकर जो अप्रतिपाती होता है वह सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाती शुक्ल ध्यान कहलाता है। यहाँ केवलज्ञान होने से श्रुत का अभाव है अत: इसलिए यह अवितर्क है, अर्थान्तर की संक्रान्ति का अभाव होने से अवीचार है अथवा व्यञ्जन और योग की संक्रान्ति के अभाव होने से अवीचार है।

प्रश्न – इस ध्यान में इनकी संक्रान्ति का अभाव कैसे होता है?

इनके अवलंबन के बिना ही युगपत् त्रिकाल गोचर अशेष पदार्थों का ज्ञान होता है।

स्वामित्व – सयोग केवली गुणस्थान के अन्तिम अन्तर्मुहूर्त में जब मनोयोग, वचनयोग, काययोग का निरोध हो जाता है उस समय वे सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाती शुक्ल ध्यान के स्वामी होते हैं।

फल – जिस प्रकार नाली के द्वारा क्रमश: जल का अभाव होता है अथवा तपे हुए लोहे के पात्र में क्रमश: जल का अभाव होता है उसी प्रकार ध्यान रूपी अग्नि द्वारा योग रूपी जल का क्रमश: नाश होता है ध्यान रूपी द्वार के बल से युक्त हुआ केवली बादर शरीर विषयक योग विष को पहले रोकता है उसके बाद उसे निकाल फेंकता है।

स्वरूप – भ.आ./मू./1888/21 – अंतिम उत्तम शुक्लध्यान वितर्क विचार रहित है, अनिवृत्ति है, क्रिया रहित है। शैलेशी अवस्था को प्राप्त है और योग रहित है। ध.पु. 13/5, 4, 26/ गा. 77/87 औदारिक, तैजस, कार्माण इन तीन शरीरों के बंध का नाश करने के लिए वे अयोग केवली भगवान समुच्छिन्न क्रिया निवृत्तमान का शुक्ल को ध्याते हैं। (तं.सा./7/53-54)

इसके बाद चौथे समुच्छिन्न क्रिया निवृत्ति नामक शुक्लध्यान को प्रारम्भ करते हैं। इसमें प्राणापान के प्रचार रूप क्रिया का तथा सभी प्रकार के योगों का उच्छेद हो जाने से आत्म प्रदेशों में परिस्पंदन रूप क्रिया का अभाव हो जाता है, इसलिए इसे समुच्छिन्न क्रिया निवृत्ति शुक्ल ध्यान कहा जाता है।

(स.सि. 9/44/557/16) रा.वा. 9/44/1/635/11/ चा.सा. 209/3/ जिसमें क्रिया अर्थात् योग सभी प्रकार से उच्छिन्न हो गया है वह समुच्छिन्न क्रिया है और जो समुच्छिन्न क्रिया होकर अप्रतिपाती है वह समुच्छिन्न क्रिया प्रतिपाती ध्यान है। श्रुतज्ञान का अभाव होने से अवितर्क है, जीव प्रदेशों के परिस्पंदन का अभाव अथवा अर्थ संक्रान्ति का अभाव होने से अवीचार है।

ध. 13/15, 4/26/87/6 विशेष रूप से उपरत अर्थात् दूर हो गयी है क्रिया जिसमें वह व्युपरत क्रिया है और निवृत्ति हो वह व्युपरत क्रिया निवृत्ति नामक शुक्ल ध्यान है – (द्र.सं. 48/204/9)

लेश्या – यह ध्यान लेश्यातीत लेश्या वाले जीवों में ही होता है अन्य में नहीं।

स्वामित्व – अयोग केवली गुणस्थान वाले ही इस शुक्लध्यान के स्वामी होते हैं।

फल – शैलेशी अवस्था के काल के क्षीण होने पर सभी कर्मों से मुक्त हुआ यह जीव एक समय में मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार चारों प्रकार के ध्यानों का कथन किया गया है, इनमें चारों प्रकार के आर्त्त, चारों प्रकार के रौद्र त्याग को ध्यान कर धर्मध्यान का अभ्यास स्वाध्याय व साधना का फल है।

।। ॐ नम: ।।

संदर्भ सूची–

1. चउतीस स्थान दर्शन
2. धवला पुस्तक 13
3. भगवती आराधना
4. मूल आराधना
5. द्रव्य संग्रह
6. तत्त्वसार
7. चारित्र सार
8. तत्त्वार्थ राजवार्तिक
9. सर्वार्थ सिद्धि
10. जैनेन्द्र सिद्धांत कोश
11. भाव संग्रह
12. ज्ञानार्णव
13. हरिवंश पुराण
14. कार्तिकेयानुप्रेक्षा
15. तत्त्वार्थ सूत्र
16. ध्यान शतक
17. भाव संग्रह–वामदेव विरचित
18. पंडित रतनचंद्र मुक्तार व्यक्तित्व कृतित्व
19. प्रवचनसार
20. तत्त्वानुशासन
21. नियमसार

काल-अन्वेषणा

श्रमण मुनि विनंद सागर (संघस्थ)

कालचक्र निरन्तर अपनी गति से गतिमान है और मैं उसी काल अर्थात् कालानुयोग की चर्चा प. पूज्य उच्चारणाचार्य विनम्रसागर जी गुरुदेव द्वारा रचित एवं पूज्य मुनि श्री विज्ञसागर जी की विशेष मेहनत और लगन का प्रतिफल सिद्धान्त प्रबोधनी टीका के माध्यम से करने जा रहा हूँ।

यह काल शब्द अनेकार्थवाची है। उनमें से काल शब्द का एक अर्थ यह भी है – जिससे प्राय:कर सभी लोग भय खाते हैं। उस काल के गाल में हम सभी समाये हुये हैं। कब उस काल के ग्रास बन जायें? ये हम नहीं जानते। जिसके समक्ष तीनों लोकों के प्राणी हारे हुये हैं ऐसे उस दुर्जय काल को जीतने वाले महामृत्युञ्जय वीतरागी भगवंतों को त्रिकाल कोटिश: नमोस्तु करते हुये, मैं उस काल शब्द के अन्य भेद-प्रभेदों का कथन करता हूँ।

सामान्य की अपेक्षा काल एक प्रकार का होता है, विशेष की अपेक्षा से काल निश्चय, व्यवहार के भेद से दो प्रकार का तथा अतीत, अनागत, वर्तमान की अपेक्षा तीन प्रकार का है नाम काल, स्थापना काल, द्रव्य काल और भाव काल इस प्रकार से काल चार प्रकार का भी है तथा दीक्षा काल, शिक्षा काल, गणपोषण काल, आत्मसंस्कार काल, सल्लेखना काल और उत्तमार्थ काल के भेद से छह प्रकार का है अथवा गुणस्थिति, भवस्थिति, कर्मस्थिति, कायस्थिति, उपपाद काल और भावस्थिति काल इस प्रकार से भी काल छह प्रकार का है अथवा काल अनेक प्रकार का है, क्योंकि परिणामों से पृथग्भूत काल का अभाव है तथा परिणाम अनन्त पाये जाते हैं, इसलिये काल अनन्त प्रकार का भी है और अतीत व अनागत काल की अपेक्षा भी काल अनन्त समय वाला है। जो इस प्रकार है-

अतीत काल का प्रमाण – सम्पूर्ण सिद्ध राशि को संख्यात आवली से गुणा करने पर जो प्रमाण हो उतना अतीत काल का प्रमाण जानना चाहिये, जो कि अनन्त काल है। अनागत काल का प्रमाण – अनागत अर्थात् भविष्य काल का प्रमाण सर्व जीव राशि से तथा सर्व पुद्गल राशि से भी अनन्तगुणा है। (गो.जी. 578, 579)

वर्तमान काल का प्रमाण – वर्तमान काल एक समय मात्र जानना चाहिये।

उपर्युक्त काल शब्द के जितने भेद-प्रभेदों के नाम कहे उनका विशेष कथन परिभाषा के माध्यम से करते हैं-

सामान्य काल – अभेद की अपेक्षा काल द्रव्य एक प्रकार का है, वही सामान्य काल है।

विशेष काल – भेद-प्रभेद की अपेक्षा विशेष काल कहलाता है।

निश्चय काल – वर्तना को अथवा वस्तु के प्रतिसमय होने वाले स्वाभाविक उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप परिणमन को निश्चय काल कहते हैं।

व्यवहार काल – समय, निमेष, कला, घड़ी, अहोरात्र, मास, ऋतु, अयन और वर्ष आदि यह सभी व्यवहार काल कहलाता है अर्थात् जिसके द्वारा कर्म, भव, काय और आयु की स्थितियाँ कल्पित अथवा जानी जाती है उसे व्यवहार काल कहते हैं। और भूत-भविष्य-वर्तमान की अपेक्षा व्यवहार काल तीन प्रकार का है

निक्षेप रूप चार प्रकार के काल का लक्षण –

(1) नामकाल – 'काल' इस प्रकार का शब्द नामकाल कहलाता है।

(2) स्थापना काल – स्थापना काल दो प्रकार का है। सद्भाव स्थापना काल एवं असद्भावस्थापना काल।

(3) सद्भावना स्थापना काल – 'वह यही है' इस प्रकार से अन्य वस्तु में बुद्धि के द्वारा अन्य का आरोपण करना स्थापना है। उनमें से पल्लवित आदि वनखण्ड से उद्योतित, चित्र लिखित, बसन्त काल को सद्भावना स्थापना काल निक्षेप कहते हैं।

(4) असद्भावना स्थापना काल – मणि विशेष, गैरूक, मिट्टी, ठीकरा इत्यादि में यह बसन्त है, इस प्रकार बुद्धि के बल से स्थापना करने को असद्भावना स्थापना काल कहते हैं।

(3) द्रव्य काल – द्रव्य काल दो प्रकार का है। 1. आगम द्रव्य काल 2. नोआगम द्रव्य काल।

1. आगम द्रव्य काल – काल विषयक प्राभृत का ज्ञापक किन्तु वर्तमान में उसके उपयोग से रहित जीव आगम द्रव्य काल है।

2. नोआगम द्रव्य काल – जीव और अजीवादि के योग से बने हुये आठ भंग रूप द्रव्य को नोआगम द्रव्य काल कहते हैं।

(4) भाव काल – भाव काल भी दो प्रकार का है– 1. आगम भाव काल 2. नोआगम भाव काल।

(1) आगम भाव काल – काल विषयक प्राभृत का ज्ञायक और वर्तमान में उपयुक्त जीव आगम भाव काल है।

(2) नोआगम भाव काल – द्रव्य काल से जनित परिणाम या परिणमन नोआगम भाव काल कहा जाता है। वह काल समय, आवली, क्षण, मुहूर्त, दिवस, पल्योपम, सागरोपम आदि रूप है।

दीक्षादि कालों के आगम की अपेक्षा लक्षण –

(1) दीक्षा काल – जब कोई मुमुक्षु चतुर्विध आराधना के अभिमुख हुआ, पंचाचार से युक्त आचार्य को प्राप्त करके बाहर व अभ्यन्तर परिग्रह से रहित होकर जिनदीक्षा ग्रहण करता है वह दीक्षा काल है।

(2) शिक्षा काल – दीक्षा के पश्चात् चतुर्विध आराधनादि चरणानुयोग के ग्रंथों की शिक्षा ग्रहण करता है, वह शिक्षा काल है।

(3) गणपोषण काल – शिक्षा के पश्चात् चरणानुयोग में कथित अनुष्ठान और उसके व्याख्यान के द्वारा पंचभावना सहित होता हुआ जब शिष्यगण का पोषण करता है वह गणपोषण काल है।

(4) आत्मसंस्कार काल – गणपोषण के पश्चात् अपने गण अर्थात् संघ को छोड़कर आत्मभावना के संस्कार का इच्छुक होकर परसंघ को जाता है, वह आत्मसंस्कार काल है।

(5) सल्लेखना काल – आत्मसंस्कार के अनन्तर परमात्म पदार्थ में स्थित होकर, रागादि विकल्पों के कृश करने रूप भाव सल्लेखना तथा उसी के अर्थ कायक्लेशादि के अनुष्ठान रूप द्रव्य सल्लेखना है इन दोनों का आचरण करता है वह सल्लेखना काल है।

(6) उत्तमार्थ काल – सल्लेखना के उपरान्त चार प्रकार की आराधना की भावना रूप समाधि को धारण करता है, वह उत्तमार्थ काल है।

नोट – दीक्षा–शिक्षा आदि कालों की विशेषता यह है कि दीक्षादि छ: कालों में से कोई जीव तो प्रथम काल (दीक्षा काल) में कोई द्वितीय काल में, कोई तृतीय काल आदि काल में केवलज्ञान को उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार छ: कालों को प्रत्येक जीव प्राप्त करेंगे ऐसा कोई नियम नहीं है।

अब इस काल प्रमाण के द्वारा माप भी किया जाता है। उस काल प्रमाण के द्वारा माप करने की सबसे छोटी इकाई ''समय'' है। यह समय इकाई इतनी सूक्ष्म है कि हम अपने अल्प ज्ञान से इसे नहीं जान सकते, फिर भी भौतिक विज्ञान के माध्यम से उसकी सूक्ष्मता बतलाने का प्रयत्न करता हूँ –

हम सभी अभी तक प्रचलित रूप से एक सेकेण्ड को ही सबसे छोटी काल की इकाई के रूप में जानते आये हैं लेकिन वैज्ञानिकों ने अपने अन्वेषण, खोज (रिसर्च) के माध्यम से माइक्रोसेकेण्ड (10^{-6}) अर्थात् एक सेकेण्ड के 10 लाख भाग करने पर वह माइक्रोसेकेण्ड प्राप्त होती है। इसके आगे और खोज करने पर नैनो सेकेण्ड (10^{-9}) प्राप्त होती है अर्थात् एक सेकेण्ड के 100 करोड़ या 1 अरब भाग (टुकड़े) करने पर एक नैनो सेकेण्ड की प्राप्ति होती है और एक पीको सेकेण्ड (10^{-10}) अर्थात् एक सेकेण्ड के 1000 करोड़ भाग करने पर एक पीको सेकेण्ड की प्राप्ति होती है। तात्पर्य यह है कि 1 सेकेण्ड के 1000 करोड़

भाग करेंगे तब कितना सूक्ष्म समय प्राप्त होगा वह हमारे ज्ञान से परे है लेकिन वैज्ञानिक मशीनों के माध्यम से पीको सेकेण्ड तक पहुँच गये हैं लेकिन यह भी बहुत बड़ा है, क्योंकि यदि हम एक पीको सेकेण्ड में दो आवली भी मानतें हैं (क्योंकि एक श्वासोच्छ्वास में संख्यात करोड़ आवली होती हैं) तो अभी हमको 1 आवली का 1000 करोड़ भाग पीको सेकेन्ड प्राप्त हुआ है, जबकि 1 आवली में जघन्य युक्तासंख्यात समय पाये जाते हैं अर्थात् 1 आवली के जघन्य युक्तासंख्यात भाग करेंगे तब 1 समय की प्राप्ति होगी। इस काल की सूक्ष्म इकाई को वर्तमान के वैज्ञानिक खोज ही नहीं सकते। जिसका हमारे पूर्ववर्ती आचार्यों ने आगम में विस्तार से प्रयोग किया है।

अब आगम के आधार से जानते हैं कि 1 समय की प्राप्ति कैसे होती है –

प्रवचनसार, नियमसार, तत्त्वार्थ वृत्ति ग्रन्थों में आचार्यों ने कहा है कि किसी प्रदेश मात्र काल द्रव्य के द्वारा आकाश का जो प्रदेश व्याप्त हो उस प्रदेश को जब परमाणु मन्द गति से उल्लंघन करता है तब प्रदेश मात्र अतिक्रमण के बराबर जो काल लगता है वह समय है अर्थात् आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में परमाणु गमन करता है उतने काल का नाम समय है।

प्रश्न – जितने काल में आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में मंद गति से परमाणु गमन करता है उतने काल का नाम समय है'' ऐसा शास्त्र में कहा है तो एक समय में परमाणु के चौदह रज्जु गमन करने पर, जितने आकाश प्रदेश हैं उतने ही समय होने चाहिये?

उत्तर – आगम में जो परमाणु का एक समय में एक आकाश के प्रदेश के साथ वाले दूसरे प्रदेश पर गमन करना कहा है, तो मंद गति की अपेक्षा से है तथा परमाणु का एक समय में जो चौदह रज्जु गमन कहा है वह शीघ्र गमन की अपेक्षा से है इसलिये शीघ्र गति से चौदह रज्जु गमन करने में भी परमाणु को एक ही समय लगता है। इसमें दृष्टान्त यह है कि जैसे कोई व्यक्ति धीमी चाल से सौ योजन सौ दिन में जाता है और वही व्यक्ति विद्या के प्रभाव से शीघ्र गति के द्वारा सौ योजन एक दिन में भी जाता है, तो उस व्यक्ति को शीघ्र गति से सौ योजन गमन करने में सौ दिन लगे क्या? नहीं, एक ही दिन लगेगा। इसी तरह शीघ्र गति से चौदह रज्जु गमन करने पर जितने आकाश के प्रदेश हैं उतने समय न लगकर मात्र 1 समय ही लगेगा। इस प्रकार परमाणु के गमन के आश्रित समय होता है। इसके पश्चात् आँख मिचने के आश्रित निमेष होता है तत्पश्चात् उच्छवास, घड़ी, पक्ष, मास, वर्ष..... अद्धा सागर तक आगम से जानना चाहिये।

एक समय की महिमा – जब किसी जीव को 33 सागर से 1 समय कम की देवायु प्राप्त होती है तो वह जीव एक भवातारी नहीं रह जाता, मात्र एक समय की कम आयु प्राप्त होने पर दो से अधिक भव धारण करने पड़ते हैं और 1 समय अधिक अर्थात् पूर्ण 33 सागर की आयु मिलने पर वह जीव अगले भव से नियम से मोक्ष जायेगा यह निश्चय हो जाता है, इस तरह जैनागम में एक समय का विशेष महत्त्व है।

जो जीव मरण के पश्चात् मात्र एक समय में अगली आयु प्राप्त कर लेते हैं अर्थात् ऋजुगति से जन्म लेते रहते हैं वे जीव असंख्यातासंख्यात उत्सर्पिणी अवसर्पिणी काल के समयों के बराबर अहारक ही रहते हैं, अनाहारक नहीं होते।

यह स्थिति मात्र एक समय में जन्म लेने वाले जीव की ही बनती है।

काल प्ररूपणा द्वार का लक्षण

जिसमें पदार्थों की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति का वर्णन हो उसे काल प्ररूपणा कहते हैं।

वह प्ररूपणा सामान्य, विशेष से दो प्रकार की होती है– सामान्य गुणस्थान को कहते हैं और विशेष मार्गणा को कहते हैं।

सामान्य (गुणस्थान) की अपेक्षा कथन

(1) मिथ्यात्व गुणस्थान – नाना जीवों की अपेक्षा तो मिथ्यादृष्टि जीव सर्वकाल ही मिथ्यात्व गुणस्थान में रहते हैं अर्थात् तीनों कालों में एक भी समय ऐसा नहीं है जिस समय मिथ्यादृष्टि जीव न पाये जाते हो।

एक जीव की अपेक्षा मिथ्यात्व गुणस्थान का काल तीन प्रकार का होता है–

1. अनादि अनंत 2. अनादि सान्त 3. सादि सान्त।

1. अनादि अनंत – जो अभव्य है अर्थात् जिन्हें तीनों काल में भी सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होगी, ऐसे जीवों का मिथ्यात्व–गुणस्थान का काल अनादि अनंत है, क्योंकि उनके मिथ्यात्व का न कभी आदि है न अन्त है।

2. अनादि सान्त – जो जीव भव्य तो है लेकिन अभी मिथ्यात्व में है उसका मिथ्यात्व अनादि सान्त है, क्योंकि अभी तक मिथ्यात्व की शृंखला टूटी नहीं अर्थात् सम्यक्त्व प्राप्त नहीं किया है इसलिये अनादि है किन्तु आगे उसको सम्यक्त्व की प्राप्ति और मिथ्यात्व का अन्त होगा इसलिये सान्त है। इस प्रकार अनादि सान्त कहा गया है।

3. सादि सान्त – जिस जीव ने एक बार सम्यक्त्व प्राप्त कर लिया तथापि परिणामों के संक्लेशादि निमित्त से फिर मिथ्यात्व को प्राप्त हो जाता है। उसके मिथ्यात्व का काल सादि माना जाता है, क्योंकि ऐसे जीव के मिथ्यात्व का आदि और अन्त ये दोनों पाये जाते हैं, इसलिये इन्हें सादि सान्त कहते हैं।

मिथ्यादृष्टि का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त बतलाया गया है। वह सादि सान्त की अपेक्षा से है– इसका अभिप्राय यह है कि यदि कोई सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयत, देशसंयत तथा प्रमत्तसंयत जीव परिणामों के निमित्त से मिथ्यात्व को प्राप्त हुआ और मिथ्यात्व में सर्व लघु काल अन्तर्मुहूर्त काल तक रह कर पुन: सम्यग्मिथ्यात्व, असंयत, देशसंयत, अप्रमत्त गुणस्थानों में से किसी एक गुणस्थान में चला गया। इस प्रकार मिथ्यात्व का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त प्राप्त हुआ। ऐसे मिथ्यात्व को सादि सान्त कहते हैं क्योंकि उसके आदि और अंत है जबकि इसी प्रकार सादि सान्त मिथ्यात्व का उत्कृष्ट काल कुछ कम अर्द्ध पुद्गल परिवर्तन प्रमाण है। इसका अभिप्राय यह है कि जब कोई जीव प्रथम बार सम्यकत्वी होकर पुन: मिथ्यात्व को प्राप्त हो जाता है, तो वह अधिक से अधिक अर्द्ध पुद्गल परिवर्तन काल के भीतर पुन: सम्यक्त्व को प्राप्त कर मोक्ष चला जाता है।

(2) सासादन गुणस्थान – द्वितीय गुणस्थान में नाना जीवों की अपेक्षा जघन्य काल – एक समय और उत्कृष्ट काल पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण है।

इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है– नाना जीवों का जो जघन्य काल एक समय है क्योंकि उपशम सम्यक्त्व के काल में जब एक समय शेष रहे तब अनंतानुबंधी कषाय की चोकड़ी में से किसी एक के उदय आने पर एक साथ नाना जीव सासादन गुणस्थान को प्राप्त हुये और 1 समय रहे पश्चात् मिथ्यात्व गुणस्थान को प्राप्त हो गये। इस प्रकार नाना जीवों की अपेक्षा सासादन गुणस्थान का जघन्य काल एक समय प्राप्त हुआ।

उत्कृष्ट काल पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग कहा है क्योंकि यह गुणस्थान सान्तर गुणस्थान है अर्थात् नाना जीव निरन्तर दूसरे गुणस्थान को प्राप्त होते रहेंगे तो वह अधिक से अधिक पल्योपम के असंख्यातवें भाग तक इसके पश्चात् नियम से अन्तर पड़ेगा या ये कहें पल्योपम के असंख्यातवें भाग काल बीत जाने के पश्चात् इस गुणस्थान में कोई भी जीव नहीं रहेगा। इस तरह नाना जीवों की अपेक्षा सासादन गुणस्थान का उत्कृष्ट काल पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग कहा।

एक जीव की अपेक्षा जघन्य काल – एक समय उत्कृष्ट काल – छह आवली।

कोई जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त हुआ और प्रथमोपशम सम्यक्त्व के काल में एक समय शेष रहने पर सासादन गुणस्थान को प्राप्त हुआ। एक समय रहा और मिथ्यात्व को प्राप्त हो गया। इस प्रकार एक जीव की अपेक्षा जघन्य काल एक समय प्राप्त हुआ।

इसी प्रकार प्रथमोपशम सम्यक्त्व के काल में 6 आवली शेष रहने पर अनन्तानुबंधी कषाय का उदय आने पर कोई जीव सासादन गुणस्थान को प्राप्त हुआ और 6 आवली तक रहा पश्चात् मिथ्यात्व को प्राप्त हुआ। इस प्रकार उत्कृष्ट काल 6 आवली प्राप्त हुआ।

(3) सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान – नाना जीव जघन्य काल – अन्तर्मुहूर्त उत्कृष्ट काल – पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग

एक साथ नाना जीव सम्यग्मिथ्यात्व के उदय से तीसरे गुणस्थान को प्राप्त हुये और अन्तर्मुहूर्त रहे पश्चात् मिथ्यात्व के उदय से प्रथम गुणस्थान को अथवा सम्यक्त्व प्रकृति के उदय आने से चतुर्थ गुणस्थान को प्राप्त हो गये। इस प्रकार सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान में नाना जीवों का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त प्राप्त होता है।

नाना जीव निरन्तर तीसरे गुणस्थान को प्राप्त होते रहेंगे उसका उत्कृष्ट काल पल्योपम के असंख्यातवें भाग हैं इसके पश्चात् नियम से अन्तर पड़ेगा क्योंकि यह गुणस्थान भी सान्तर गुणस्थान है अर्थात् पल्योपम के असंख्यातवें भाग बीत जाने के पश्चात् ऐसा भी समय आता है जब सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान में कोई जीव न हो। इस प्रकार तीसरे गुणस्थान का नाना जीवों की अपेक्षा से उत्कृष्ट काल प्राप्त होता है।

एक जीवापेक्षा जघन्य व उत्कृष्ट काल–अन्तर्मुहूर्त है। कोई सम्यग्दृष्टि जीव अथवा सादि मिथ्यादृष्टि जीव सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय आने पर तीसरे गुणस्थान को प्राप्त हुआ वह नियम से अन्तर्मुहूर्त काल बीत जाने के पश्चात् ही अन्य गुणस्थान को प्राप्त होगा उससे पूर्व नहीं और अन्तर्मुहूर्त काल से अधिक इस गुणस्थान में रह भी नहीं सकता इसलिये इस गुणस्थान का जघन्य व उत्कृष्ट काल एकजीवापेक्षा अन्तर्मुहूर्त ही प्राप्त होता है।

(4) असंयत सम्यग्दृष्टि – नाना जीव–सर्वकाल पाये जाते हैं अर्थात् तीनों कालों में ऐसा कोई भी समय नहीं है जब असंयत सम्यग्दृष्टि जीव न पाये जाते हों।

एकजीवापेक्षा – जघन्य काल – अन्तर्मुहूर्त उत्कृष्ट काल – कुछ अधिक 33 सागर।

कोई मिथ्यादृष्टि जीव सम्यक् प्रकृति के उदय से असंयत गुणस्थान को प्राप्त हुआ और अन्तर्मुहूर्त काल रहा पश्चात् मिथ्यात्व के उदय से प्रथम गुणस्थान को अथवा सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से तृतीय गुणस्थान को अथवा पंचम गुणस्थान को अथवा संज्वलन कषाय के उदय से सप्तम गुणस्थान को प्राप्त हुआ इस प्रकार असंयत (चतुर्थ) गुणस्थान का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त प्राप्त हुआ। कोई उपशम श्रेणी वाला जीव मरकर एक समय कम 33 सागर की आयु वाला हुआ फिर पूर्व कोटि आयु वाले मनुष्यों में उत्पन्न होकर जीवन भर असंयम के साथ रहा, केवल जीवन के अन्तर्मुहूर्त काल शेष रहने पर संयम को प्राप्त होकर सिद्ध होता है, उसके असंयत सम्यग्दृष्टि का उत्कृष्ट काल प्राप्त होता है। यह काल अन्तर्मुहूर्त कम एक पूर्व कोटि अधिक 33 सागर है।

(5) देशसंयत गुणस्थान – नाना जीवों की अपेक्षा सर्वकाल, एकजीवापेक्षा जघन्य काल – अन्तर्मुहूर्त

उत्कृष्ट काल – कुछ कम 1 कोटि पूर्व।

कोई सादि मिथ्यादृष्टि जीव, असंयत सम्यग्दृष्टि जीव, प्रमत्तसंयत जीव प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से देशसंयत गुणस्थान को प्राप्त हुआ और अन्तर्मुहूर्त काल रहा पश्चात् वह अन्य गुणस्थान को प्राप्त हो गया इस प्रकार एकजीवापेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त प्राप्त होता है।

1 पूर्व कोटि की आयु वाला सम्मूर्च्छिन तिर्यञ्च उत्पन्न होने के अन्तर्मुहूर्त पश्चात् वेदक सम्यक्त्व के साथ संयमासंयम को प्राप्त कर पूरे जीवन भर संयमासंयम के साथ रहा। उस जीव के अन्तर्मुहूर्त कम 1 पूर्व कोटि उत्कृष्ट काल देशसंयम गुणस्थान का प्राप्त होता है।

(6–7) प्रमत्त संयत एवं अप्रमत्त संयत – प्रमत्त और अप्रमत्त संयत नाना जीवों की अपेक्षा सर्वकाल है।

एकजीवापेक्षा जघन्य काल – एक समय उत्कृष्ट काल – अन्तर्मुहूर्त

सभी जीव परिणामों की विशेषतावश मुनिव्रत धारण कर सर्वप्रथम अप्रमत्त गुणस्थानों को ही प्राप्त होते हैं, पश्चात् प्रमत्त गुणस्थान में आते हैं। अत: कोई प्रमत्त गुणस्थानवर्ती जीव अपनी आयु का एक समय शेष रहने पर अप्रमत्त गुणस्थान को प्राप्त कर मरण करता है। इसी प्रकार कोई अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती जीव अपनी आयु का एक समय शेष रहने पर प्रमत्त गुणस्थान को प्राप्त

कर मृत्यु को प्राप्त होता है। इस प्रकार इन दोनों गुणस्थानों में एक जीव का जघन्य काल एक समय है और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त है, क्योंकि इन दोनों गुणस्थानों में एक अन्तर्मुहूर्त से अधिक काल तक जीव नहीं रह सकता।

(8-11) चारों उपशामकों का नाना जीव और एकजीवापेक्षा जघन्य काल - एक समय और उत्कृष्ट काल - अन्तर्मुहूर्त

यहाँ जघन्य काल एक समय मरण की अपेक्षा बतलाया है। अर्थात् उपशम श्रेणी पर चढ़ने वाले नाना जीव अथवा कोई एक जीव चारों उपशामक गुणस्थानों में से किसी भी एक गुणस्थान को अपनी आयु का एक समय रहने पर प्राप्त हुये पश्चात् मरण को प्राप्त हो गये। इस प्रकार जघन्य काल एक समय प्राप्त हुआ।

उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है क्योंकि इन चारों गुणस्थानों में अन्तर्मुहूर्त से अधिक काल तक जीव नहीं रह सकता।

नोट- अपूर्वकरण गुणस्थान में चढ़ते हुए जीव का एक समय में मरण नहीं होता अत: चढ़ते समय अन्तर्मुहूर्त से पहले नहीं मरता किंतु उतरते हुए अर्थात् अनिवृत्ति कर के अपूर्वकरण को प्राप्त हुए जीव का एक समय के पश्चात् मरण संभव हैं।

(8-12) चारों क्षपक का नाना जीवों और एक जीव की अपेक्षा जघन्य व उत्कृष्ट काल - अन्तर्मुहूर्त है। क्योंकि यहाँ मरण नहीं होता और इन चारों गुणस्थानों में अन्तर्मुहूर्त से अधिक काल तक कोई जीव नहीं रह सकता।

(13) सयोग केवली - नाना जीवों की अपेक्षा - सर्वकाल है। अर्थात् सयोग केवली जीव हमेशा पाये जाते हैं।

एक जीव की अपेक्षा जघन्य काल - अन्तर्मुहूर्त उत्कृष्ट काल - कुछ कम एक कोटि पूर्व।

किसी जीव ने अपनी आयु के अन्तर्मुहूर्त काल शेष रहने पर केवलज्ञान को प्राप्त किया और अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् सिद्ध हो गया। इस प्रकार सयोग केवली का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त प्राप्त होता है।

कोई जीव एक कोटि पूर्व आयु वाले जीव ने आठ वर्ष की अवस्था में दीक्षा ग्रहण कर केवलज्ञान प्राप्त किया पश्चात् आठ वर्ष कम एक कोटि पूर्व काल तक सयोग केवली रहा अत: एक जीव की अपेक्षा सयोग केवली का उत्कृष्ट काल कुछ कम एक कोटि पूर्व घटित होता है, अधिक नहीं क्योंकि एक कोटि पूर्व की आयु से अधिक आयु वाले केवली नहीं बन सकते क्योंकि कर्म भूमिया मनुष्य ही दीक्षा ग्रहण करते हैं और कर्मभूमि की उत्कृष्ट आयु 1 कोटि पूर्व है।

(14) अयोग केवली - नाना जीव और एक जीव की अपेक्षा जघन्य व उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। पाँच ह्रस्व अक्षर (अ, इ, उ, ऋ, लृ) के उच्चारण में जितना समय लगता है मात्र उतना ही काल इस गुणस्थान का है जो कि अन्तर्मुहूर्त है।

इस प्रकार गुणस्थानों में कालानुयोग का अन्वेक्षण पूर्ण हुआ।

नोट- अपूर्वकरण गुणस्थान में चढ़ते हुए जीव का एक समय में मरण नहीं होता। अत: चढ़ते समय अन्तर्मुहूर्त से पहले नहीं मरता किंतु उतरते हुए अर्थात् अनिवृत्तिकरण से अपूर्वकरण को प्राप्त हुए जीव का एक समय के पश्चात् मरण संभव है।

सिद्धान्त प्रबोधिनी टीका के अन्तर्गत समुद्घात व केवली समुद्घात की मीमांसा

श्रमणी आर्यिका 105 विमलश्री माताजी
(संघस्थ-उच्चारणाचार्य 108 श्री विनम्रसागर जी महामुनिराज)

नमो नमः सर्व हितंकराय, जगतां भव्याम्बुज भास्कराय।
अनंत ज्ञानाय च दर्शनाय, देवाधि देवाय नमो जिनाय।।
नमो नमः श्री धरसेन नित्यं, नमो नमः भूत पुष्पदंत देवम्।
नमः सदा वीरसेनं श्री पवित्रं, नमः सदा आदि महावीर चित्तं
नमो विमल सन्मति सिंधु नित्यं, नमः सदा गुरु विराग दिव्यम्।
नमस्त्रियोगेन बलेन नित्यं, नमामि गुरुवर विनम्र चित्तं।।
नमः श्री जिनमुख निःसृताय, नमो गणीश्वर श्री गणधराय।
नमो गुरो मम आराधकाय, विशाल ग्रंथं सृजनात्मकाय।।

अनादिकालीन तीर्थंकर देवों की अक्षुण्ण परम्परा दिव्य ध्वनि के माध्यम से संपूर्ण जगत् में प्रवाहमान रही है जिससे यह भारत की पुनीत वसुन्धरा तीर्थ भूमि बन गई है। उन्हीं तीर्थकर्त्ता की दिव्य देशना का रसपान करते हुये अनुबद्ध केवली, श्रुत केवली, पूर्णधारी, अंगधारी, अंगांशज्ञान के धारी आ. उन्हीं की ज्ञान धारा में प्रवाहित स्रोत रूप आ. धरसेन स्वामी, गुणधर स्वामी, पुष्पदंत भूतबली वीरसेन स्वामी आदि के द्वारा उस ज्ञान बाग का सिंचन किया गया है। उन्हीं आचार्य भगवंतों के वंश के दैदीप्यमान नक्षत्र, गणधर पीठ पर विराजित, अध्यात्म सरोवर के राजहंस, मम श्रद्धालय के देवता पूज्य गुरुदेव ज्ञान पिपासु हैं और हम सभी की प्यास बुझाने वाले हैं। ज्ञान के विषय में आचार्य भगवन् कहते हैं- सुदणाण भावणाए णाणं मत्तंड किरण सुपयासं । चंदुज्ज्वल चारित्तं णिय वस चित्तं य भव्वाणं ।। अर्थात् श्रुतज्ञान की भावना से भव्य जीवों का ज्ञान, सूर्य की किरणों के समान प्रकाशमान होता है चारित्र उज्ज्वल चंद्रमा के समान होता है और मन अपने वश में होता है।

बात आती है सिद्धान्त की तो सिद्धान्त है क्या? सिद्धान्त वह है जैसे जीवन के लिए ऑक्सीजन, शरीर के लिए रीढ़ की हड्डी, ज्ञान के लिए बुद्धि, पेड़ों के लिए पानी जितना आवश्यक है उसी प्रकार धर्म समझने के लिए, गुरु उपदेश मानने के लिए, स्वयं का अनुभव करने के लिए, तत्त्वों को आत्मसात करने के लिए सिद्धान्त को जानना परम आवश्यक है। क्योंकि सिद्धान्त जस्टिस है बिना सिद्धान्त के हम लंगड़े, अन्धे, गूँगे, अपाहिज हैं। कानून में जो धारा का महत्त्व है वही धर्म में सिद्धान्त का महत्त्व है।

उसी सिद्धान्त को समझाने हेतु पूज्य गुरुदेव ने यह सिद्धान्त प्रबोध का सृजन किया है। जिसकी विद्वत गोष्ठी में मेरा विषय समुद्घात व केवली समुद्घात की मामांसा एवं 11 से 14 गुणस्थान में संख्या, क्षेत्र, काल, अन्तर व भाव की व्याख्या।

उस विषय को जो गुरु चरण सन्निधि में बैठकर जानने का प्रयास किया।

समुद्घात

कहने में तो शब्द बहुत छोटा सा प्रतीत होता है लेकिन सर्वलोक व्यापी बन जाता है। तो चलिये जानते हैं उन पहलुओं को जो नाम सुनकर हमारे मन मस्तिष्क में प्रश्नों का अम्बार खड़ा कर देते हैं कि आखिर समुद्घात क्या है? अर्थ क्या है? किसके होता है? कब होता है? कहाँ होता है? क्यों होता है? कितने भेद हैं? गुरु कृपा से आज हम इन सभी पर विचार करने का प्रयास करते हैं।

समुद्घात क्या है?

जिन धर्म सनातन है अपनाऽऽऽ मैं उसकी गाथा गाता हूँ ऽऽऽ
महावीर ने जो उपदेश दिया-2 मैं उसको तुम्हें सुनाती हूँ ऽऽऽ जय हो.....
जब मूल शरीर बिना छोड़े आतम प्रदेश बाहर निकलें ऽऽऽ
सम्यक् प्रकार से फैलें जो कुछ ही क्षण में वापस हो लें ऽऽऽ
हैं सप्त भेद गुरु ने गाये-2, मैं तुमको-2 उन्हें बताता हूँ ऽऽऽ

सम्+उद्घात = सम उद् घात सम्यक् प्रयत्न से फैलना, बाहर निकलना है। उद्घाटित होना।

गोम्मटसार जीवकाण्ड में गाथा 668 में आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती जी कहते हैं-

मूल सरीर मछंडिय उत्तर देहस्स जीव पिंडस्स।
णिग्गमणं देहादो होदि समुग्घाद णामं तु।।

अर्थात् मूल शरीर को न छोड़कर तैजस कार्माण रूप उत्तर देह के साथ-साथ जीव प्रदेशों के शरीर से बाहर निकलने को समुद्घात कहते हैं। जिस प्रकार रबड़ को खींचने पर वह स्वप्रमाण से अधिक लम्बी हो जाती है और छोड़ने पर स्व प्रमाण रह जाती है उसी प्रकार समुद्घात होता है।

ध.1/1,160/300/6 **घातनं घातः स्थित्यनुभवयोर्विनाशं इति यावत्.....उपरि उपरि घातः उद्घातः समीचीन उद्घातः उद्घातः।** (केवली समुद्घात के प्रकरण में) घातने रूप धर्म को घात कहते हैं जिसका प्रकृत में अर्थ कर्मों की स्थिति व अनुभाग का विनाश होता है। उत्तरोत्तर होने वाले घात को उद्घात कहते हैं और समीचीन उद्घात को समुद्घात कहते हैं।

किसके होता है समुद्घात?

सर्व गतियों में सर्व प्राणियों के समुद्घात होता है। धवला जी महाग्रंथ में आचार्य पुष्पदंत भूतबली जी ने समुद्घात के स्वामित्व ओघ व आदेश की प्ररूपणा करते हुये समझाया है जिसे एक चार्ट के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

(ध-4/1,2,3-3/38-42)

समुद्घातों में स्वामित्व

जहाँ-जहाँ मरण होता है वहाँ मारणान्तिक समुद्घात होता है।

गुणस्थान	वेदना	कषाय	मारणान्तिक	वैक्रियिक	तैजस	आहारक	केवली
1. मिथ्यात्व	हाँ	हाँ	हाँ	हाँ	नहीं	नहीं	नहीं
2. सासादन	हाँ	हाँ	हाँ	हाँ	नहीं	नहीं	नहीं
3. मिश्र	हाँ	हाँ	नहीं	हाँ	नहीं	नहीं	नहीं
4. असंयत	हाँ	हाँ	हाँ	हाँ	नहीं	नहीं	नहीं
5. संयतासंयत	हाँ	हाँ	हाँ	हाँ	नहीं	नहीं	नहीं
6. प्रमत्त संयत	हाँ	हाँ	हाँ	हाँ	हाँ	हाँ	नहीं
7. अप्रमत्त संयत	नहीं	नहीं	हाँ	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं
8. अपूर्वकरण	''	नहीं	हाँ	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं
9. अनिवृत्तिकरण	''	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं
10. सूक्ष्म साम्पराय	''	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं

11. उपशांत मोह	''	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं
12. क्षीण मोह	''	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं
13. सयोग केवली	''	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं	हाँ
14. अयोग केवली	''	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं

कौन किस समुद्घात को करता है? वेदना समुद्घात = सभी जीव कर सकते हैं, कषाय समुद्घात = 1 से 10वें गुणस्थान के जीव, वैक्रियिक समुद्घात = चारों गति के जीव, मारणान्तिक समुद्घात = भविष्यायु बंधक, तैजस व आहारक समुद्घात = 6 गुणस्थान, मुनिराज, केवली समुद्घात = तेरहवें गुणस्थानवर्ती केवली जिन

ध./पृ. 302 जिन केवली की संसार व्यक्ति अर्थात् आयु कर्म के समान वेदनीय आदि तीन कर्मों की स्थिति रह जाती है वे समुद्घात नहीं करते शेष केवली करते हैं।

समुद्घात कब होता है? रा.वा. 1/20/12/77/12 में आचार्य अकलंक देव जी कहते हैं-

हन्तेर्गमिक्रियात्वात् संभूयात्म प्रदेशानां च बहिरुद्हननं समुद्घातः।

वेदना आदि के निमित्त से कुछ आत्म प्रदेशों का बाहर निकलना समुद्घात है।

जब शेष कर्मों की स्थिति आयु के समान न हो तब उसका समीकरण करने के लिए समुद्घात किया जाता है।

क्यों होता है समुद्घात?

आत्म प्रदेशों के फैलने से वेदनादि का अस्तित्व समाप्त हो जाता है। जैसे- धुले गीले वस्त्र को सुखाना है यदि घड़ी करके सूखने डालते हैं तो चार घंटे लगते हैं और उसी वस्त्र को फैला कर डालते हैं तो घंटे भर में सूख जाता है उसमें पानी का अस्तित्व समाप्त हो जाता है।

पं.का./ता.वृ./153/221/8 संसार की स्थिति का विनाश करने के लिए केवली समुद्घात करते हैं।

वस्तु के फैलने से असर कम होता है। जैसे-एटमबम, इंजेक्शन लगना।

कहाँ-कहाँ तक होता है समुद्घात? सभी गतियों में व सर्व प्राणियों में होता है।

वेदना = काफी दूर तक कषाय = शरीर से तीन गुणा

वैक्रियिक = मेरु पर्वत के ऊपर और मानुषोत्तर पर्वत तक तिर्यक्

मारणान्तिक = सर्वलोक तैजस = शुभ व अशुभ 12 योजन

आहारक = ढाई द्वीप तक केवली = सर्वलोक

गमन दिशा संबंधी नियम - मारणान्तिक समुद्घात निश्चय से आगे जहाँ उत्पन्न होना है ऐसे क्षेत्र की दिशा के अभिमुख होता है। शेष 6 समुद्घात दशों दिशाओं में प्रतिबद्ध होते हैं।

रा.वा. 1/20/12/77/21 में आचार्य अकलंक देव ने कहा है कि- आहारक और मारणान्तिक समुद्घात एक ही दिशा में होते हैं। क्योंकि आहारक शरीर की रचना के समय श्रेणीगति होने के कारण एक ही दिशा में असंख्य आत्म प्रदेश निकलकर.....आहारक शरीर को बनाते हैं। मारणान्तिक में जहाँ नरक आदि में जीवों को मरकर उत्पन्न होना है वहीं की दिशा में आत्म प्रदेश निकलते हैं। शेष पाँच समुद्घात छहों दिशाओं में होते हैं। क्योंकि वेदना आदि के वश से बाहर निकलते हुये आत्म प्रदेश श्रेणी के अनुसार ऊपर, नीचे, पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर इन छहों दिशाओं में होते हैं।

अवस्थान काल संबंधी नियम

रा.वा. 1/20/12/77/26 में वेदना कषाय मारणान्तिक तेजो वैक्रियिकाहारक समुद्घात षड्संख्येय समयिकाः। केवलि समुद्घातः अष्ट समयिकः।

वेदनादि छह समुद्घातों का काल असंख्यात समय है और केवली समुद्घात का काल आठ समय है।

समुद्घात के भेद पं.सं./प्रा./1/196

वेयण कसाव वेउव्विय मारणंतिओ समुग्घाओ।
तेजोहारो छट्ठो सत्तमओ केवलीणं च।।

वेदना, कषाय, वैक्रियिक, मारणान्तिक, तैजस, आहार और केवली समुद्घात ये सात प्रकार के समुद्घात हैं।

1. वेदना समुद्घात

* रा.वा. 1/20/12/77/13 **वातिकादिरोग विषयादि द्रव्य संबंध संतापापादित वेदना कृतो वेदना समुद्घातः।** वात पित्त विकार जनित रोग या विषपान आदि की तीव्र वेदना से आत्म प्रदेशों का बाहर निकलना वेदना समुद्घात है। रोना-चीखना-चिल्लाना, हाथ-पैर चलाना।

* ध. 4/1,3,2/26/7 में नेत्र वेदना, शिरोवेदना आदि के द्वारा जीवों के प्रदेशों का उत्कृष्टतः शरीर से तिगुने प्रमाण विसर्पण का नाम वेदना समुद्घात है।

* द्र. सं.टी 10/25/3 तीव्र पीड़ा के अनुभव से मूल शरीर को न छोड़ते हुये आत्म प्रदेशों का शरीर से बाहर निकलना सो वेदना समुद्घात है।

निगोद में संभव नहीं – ध. 11/4,2,5,12/21/2 निगोद जीव में उत्पन्न होने वाले जीव के अतिशय तीव्र वेदना का अभाव होने से विवक्षित शरीर से तिगुणा वेदना समुद्घात सम्भव नहीं है।

शुभ लेश्या में भी संभव– ध. 7 पृ. 358, 59, 60 पर कि वेदना, कषाय और वैक्रियिक समुद्घात पदों से तेजो लेश्या वाले जीव तीन लोकों के असंख्यातवें भाग, तिर्यग्लोक के संख्यातवें भाग में और ढाई द्वीप के असंख्यात गुणे क्षेत्र में रहते हैं मारणान्तिकों का क्षेत्र भी इसी प्रकार है।

पद्म लेश्या की अपेक्षा वेदना व कषाय समुद्घात वाले जीव लोक के असंख्यातवें भाग में और मारणान्तिक व उपपाद की अपेक्षा चारों लोक के असंख्यातवें भाग क्षेत्र में रहते हैं।

शुक्ल लेश्या वाले जीव वेदना कषाय और मारणान्तिक समुद्घात पदों की अपेक्षा चारों लोकों के असंख्यातवें भाग क्षेत्र में रहते हैं।

अतः स्पष्ट है कि पीत, पद्म व शुक्ल लेश्या में भी वेदना, कषाय व मारणान्तिक समुद्घात होते हैं। क्योंकि ये तीनों लेश्या देवों में सम्भव है।

2. कषाय समुद्घात–

* ध. 4/1,3,2/26/8 क्रोध, भय आदि के द्वारा जीवों के प्रदेशों का उत्कृष्टतः शरीर से तिगुणे प्रमाण विसर्पण का नाम कषाय समुद्घात है।

* ध. 7/2,6,1/299/8 कषाय की तीव्रता से जीव प्रदेशों का अपने शरीर से तिगुने प्रमाण फैलने को कषाय समुद्घात कहते हैं।

* का.अ.टी. 176/115/19 तीव्र कषाय के उदय से मूल शरीर को न छोड़कर परस्पर में एक दूसरे का घात करने के लिए आत्म प्रदेशों के बाहर निकलने कषाय समुद्घात कहते हैं। जैसे- संग्राम में योद्धा लोग क्रोध में आकर लाल-लाल आँखें करके अपने शत्रु को ताकते हैं यह प्रत्यक्ष देखा जाता है। यही कषाय समुद्घात का रूप है।

3. वैक्रियिक समुद्घात–

* रा.वा. 1/20/12/77/16 एकत्व व पृथक् आदि नाना प्रकार की विक्रिया के निमित्त से शरीर और वचन आदि की विक्रिया के अर्थ वैक्रियिक समुद्घात होता है।

* ध. 4/1,3,2/26/8 वैक्रियिक शरीर के उदय वाले देव और नारकी जीवों का अपने स्वाभाविक आकार को छोड़कर अन्य आकार से रहने तक का नाम वैक्रियिक समुद्घात है। जैसे- देवों में सूर्य व चंद्र देवों के विमान को खींचने वाले शेर, हाथी, घोड़ा और बैल का आकार देव ही धारण करते हैं यह उनकी पृथक् विक्रिया है मूल आकार नहीं है। उसी प्रकार नरक में नारकी जीवों पर दृष्टिपात करते हैं तो जान पड़ता है कि जब कोई नारकी थक हार कर वृक्ष की छाँव में आकर बैठना चाहता है तो बैरी नारकी वहाँ विक्रिया से सेमर वृक्ष का रूप धारण कर लेता है और बैठे हुये नारकी पर वह पत्ता असि पत्र जिसे कहते हैं गिरता है और उसके टुकड़े-टुकड़े कर देता है। पुन: उसके शरीर के टुकड़े पारे के समान एकत्रित हो जाते हैं फिर वह नारकी प्यास बुझाने के लिए उद्यत होता है तो बैरी नारकी वैतरणी नदी का रूप ले लेते हैं जो खून और पीव से दुर्गन्धित है व जिसमें अनेकों कीड़े मकोड़े बिलबिला रहे होते हैं। आदि-आदि अनेक प्रकार की पृथक् व अपृथक् विक्रिया देव व नारकी करते हैं एक सौधर्म इन्द्र एक साथ 170 तीर्थंकरों का अभिषेक, समवशरण की रचना, दीक्षा कल्याणक आदि मनाने की सामर्थ्य रखता है पर मूल शरीर उसका निज विमान में ही रहता है।

* ध. 7/2,6,1/299/10 विविध ऋद्धियों के माहात्म्य से संख्यात व असंख्यात योजनों को शरीर से व्याप्त कर जीव के प्रदेशों के अवस्थान को वैक्रियिक समुद्घात कहते हैं।

* वैक्रियिक समुद्घात का सबसे सुन्दर उदाहरण हम सब से छिपा नहीं है वह है मुनि विष्णु कुमार जिन्होंने वात्सल्य के वशीभूत हो इस विक्रिया का प्रयोग किया।

* द्र.सं.टी. 10/25/5 किसी प्रकार की विक्रिया उत्पन्न करने के लिए अर्थात् शरीर को छोटा बड़ा या अन्य शरीर रूप करने के लिए मूल शरीर को न त्यागकर जो आत्मा के प्रदेशों का बाहर जाना है उसे विक्रिया समुद्घात कहते हैं।

4. मारणान्तिक समुद्घात

* रा.वा. 1/2012/77/15 औपक्रमिक व अनुपक्रमिक रूप से आयु का क्षय होने से उत्पन्न हुये कालमरण या अकालमरण के निमित्त से मारणान्तिक समुद्घात होता है।

* ध. 4/1,3,2/26/10 अपने वर्तमान शरीर को नहीं छोड़कर ऋजुगति अथवा विग्रहगति के द्वारा आगे जिसमें उत्पन्न होता है ऐसे क्षेत्र तक जाकर अन्तर्मुहूर्त तक रहने का नाम मारणान्तिक समुद्घात है। जैसे- किसी का ट्रांसफर हो जाता है तो फैमिली को शिफ्ट करने से पहले वह स्थान आदि देखकर आता है तब फैमिली को लेकर जाता है।

* गो.जी./जी.प्र./199444/2 मरण के अन्त में होने वाला तथा उत्तर भव की उत्पत्ति के स्थान पर्यन्त जीव के प्रदेशों का फैलना है लक्षण जिसका, वह मारणान्तिक समुद्घात है।

स्वामित्व

* यह मारणान्तिक समुद्घात संसारी जीवों को विग्रह गति में होता है धवलाकार कहते हैं यह ऋजुगति व विग्रहगति दोनों में होता है।

* मिश्र गुणस्थान तथा क्षपक श्रेणी के अतिरिक्त सभी गुणस्थानों में सम्भव है। विकलेन्द्रियों के अतिरिक्त सभी जीवों में संभव है।

सासादन सम्यग्दृष्टि जीव मेरु तल के नीचे मारणान्तिक समुद्घात नहीं करते, क्योंकि मेरु तल के नीचे भवनवासी देवों में, नारकियों में व अधोभागवर्ती एकेन्द्रियों में मारणान्तिक समुद्घात नहीं करते। क्योंकि उन गतियों में उनका उपपाद नहीं होता।

लोक नाली से बाहर सासादन सम्यग्दृष्टि समुद्घात नहीं करते।

मनुष्य गति में ही उपशम सम्यग्दृष्टियों के मारणान्तिक समुद्घात देखा जाता है। ध. 4/1,4,173/305/10

प्रदेशों का विस्तार

आयाम की अपेक्षा अपने-अपने अधिष्ठित प्रदेश से लेकर उत्पन्न होने के क्षेत्र तक तथा बाहुल्य से एक प्रदेश को आदि लेकर उत्कर्षत: शरीर से तिगुने प्रमाण जीव प्रदेशों के काण्ड एक खम्भ, स्थित तोरण, हल व गोमूत्र के आकार से अन्तर्मुहूर्त तक रहने को मारणान्तिक समुद्घात कहते हैं। ध.7/2,6,1/299/11

मरण से पूर्व आत्मा के समस्त प्रदेशों का मूल शरीर में प्रवेश हो जाना ऐसा एकांत नियम नहीं है क्योंकि काल पूर्ण होने से पूर्व भी मरण संभव है। ध. 7 पृ. 299-300

वेदना, कषाय और मारणान्तिक समुद्घात में अन्तर

शंका – वेदना समुद्घात और कषाय समुद्घात ये दोनों मारणान्तिक समुद्घात में अन्तर्भूत क्यों नहीं होते?

समाधान–

* नहीं होते क्योंकि जिन्होंने परभव की आयु बाँध ली है ऐसे जीवों के ही मारणान्तिक समुद्घात होता है। अबद्धायुष्क व वर्तमान में आयु बाँधने वालों के नहीं होता है। किन्तु वेदना समुद्घात व कषाय समुद्घात बद्धायुष्क व अबद्धायुष्क दोनों जीवों के होते हैं।

* मारणान्तिक समुद्घात निश्चय से आगे जहाँ उत्पन्न होता है ऐसे क्षेत्र की दिशा के अभिमुख होता है किन्तु अन्य समुद्घातों में इस प्रकार एक दिशा में गमन का नियम नहीं है। क्योंकि उनका दशों दिशाओं में भी गमन पाया जाता है।

* मारणान्तिक समुद्घात की लम्बाई उत्कृष्टत: अपने उत्पद्यमान क्षेत्र के अंत तक है किन्तु इतर समुद्घातों का ऐसा नियम नहीं है।

मारणान्तिक समुद्घात में निमित्तक कर्म कौन सा है?

शंका – पूर्व शरीर को न छोड़ते हुये जीव के विग्रह गति में अथवा ऋजु गति में गमन किस कर्म के उदय से होता है?

समाधान – नहीं क्योंकि पूर्व शरीर को नहीं छोड़ने वाले उस जीव के पूर्व क्षेत्र के परित्याग के अभाव से गमन का अभाव है। (अत: यहाँ आनुपूर्वी नाम कर्म कारण नहीं हो सकता) पूर्व शरीर को नहीं छोड़ने पर भी जीव प्रदेशों का जो प्रसार होता है, वह निष्कारण नहीं है, क्योंकि वह आगामी भव संबंधी आयु कर्म के सत्त्व का फल है। ध. 6/1,9-1,28/57/2

5. तैजस समुद्घात–

जीवानुग्रहोपघात प्रवण तेज: शरीर निर्वर्तनार्थस्तेजस समुद्घात:। रा.वा. 1/20/12/77/16

अर्थात् जीवों के अनुग्रह और विनाश में समर्थ तैजस शरीर की रचना के लिए तैजस समुद्घात होता है।

तेजासरीर समुग्घादो णाम तेजइय सरीर विउव्वणं । ध. 4/1,3,2/27/7

अर्थात् तैजस शरीर के विसर्पण का नाम तैजस शरीर समुद्घात है।

मात्र प्रमत्त संयत गुणस्थान वालों के तैजस समुद्घात का कथन है। प्रमत्त संयत गुणस्थान भावलिंगी के अर्थात् सम्यग्दृष्टि के होता है। अशुभ तैजस समुद्घात भी प्रमत्त संयत गुणस्थान में होता है, अन्य गुणस्थान में नहीं। ध.पु. 4 पृ. 38

निस्सरणात्मक अशुभ तैजस

* राजवार्तिक के अध्याय दो के 49वें वार्तिक में आचार्य अकलंक देव ने अथ चरमवतिष्ठते अग्निसार दाह्यार्थो भवति का अभिप्राय समझाते हुये कहा है नि:सरणात्मक तैजस उग्र चारित्र वाले अति क्रोधी गति के शरीर से निकलकर जिस पर क्रोध है उसे घेर कर ठहरता है और उसे शाक की तरह पका देता है, फिर वापिस होकर यति के शरीर में ही समा जाता है। यदि अधिक देर ठहर जाये तो उसे भस्मसात् कर देता है।

* क्रोध को प्राप्त हुये संयत के वाम कंधे से बारह योजन लम्बा, नौ योजन चौड़ा और सूच्यंगुल के संख्यातवें भाग प्रमाण

मोटा तथा जपा कुसुम के रंग वाला शरीर निकल कर अपने क्षेत्र के भीतर स्थित हुये जीवों का विनाश करके पुन: प्रवेश करते हुये जो उसी संयत को व्याप्त करता है वह अशुभ तैजस शरीर है। ध. 14/5,6,241/328/5 ध. 4/1,3,2/28/1

* अपने मन को अनिष्ट उत्पन्न करने वाले किसी कारण को देखकर क्रोधी संयम के निधान महामुनि के बाएँ कन्धे से सिन्दूर के ढेर जैसी कान्तिवाला बारह योजन लम्बा सूच्यंगुल के संख्यात भाग प्रमाण मूल विस्तार और नौ योजन के अग्र विस्तार वाला काहल (विलाव) के आकार का धारक पुरुष निकल करके बायीं प्रदक्षिणा देकर, मुनि जिस पर क्रोधी हो उस पदार्थ को भस्म करके और उसी मुनि के साथ आप भी भस्म हो जावे। जैसे-द्वैपायन मुनि सो अशुभ तैजस समुद्घात है। द्र.सं.टी. 10/25/8

शुभ तैजस समुद्घात-

उग्र चारित्र वाले तथा दयापूर्वक अनुकम्पा से आपूरित संयत के इच्छा होने पर दाहिने कन्धे से हंस और शंख के वर्ण वाला शरीर निकलकर मारी, विमारी, व्याधि, वेदना, दुर्भिक्ष और उपसर्ग आदि के प्रशमन के द्वारा सब जीवों और संयत के जो सुख उत्पन्न करता है वह शुभ तैजस कहलाता है। ध. 14/5,6,240/328/3 द्र.सं.टी./10/26

जगत् को रोग दुर्भिक्ष आदि से दु:खित देखकर जिसको दया उत्पन्न हुई है ऐसे परम संयम निधान महाऋषि के मूल शरीर को न त्याग कर पूर्वोक्त देह के प्रमाण, सौम्य आकृति का धारक पुरुष दायें कन्धे से निकलकर दक्षिण प्रदक्षिणा देकर, दुर्भिक्षादि को दूर कर फिर अपने स्थान में आकर प्रवेश करे वह शुभ तैजस समुद्घात है।

तैजस समुद्घात का वर्ण शक्ति आदि

विषय	अप्रशस्त	प्रशस्त
वर्ण =	जपा कुसुमवत् रक्त	हंसवत् धवल
शक्ति =	भूमि व पर्वत को जलाने में समर्थ	
विसर्पण =	इच्छित क्षेत्र प्रमाण अथवा 12 यो. 9 यो. = सू.अं. भा. प्रमाण	अप्रशस्तवत्
उत्पत्ति स्थान =	बायाँ कन्धा	दायाँ कन्धा
निमित्त =	रोष	प्राणियों के प्रति अनुकम्पा

तैजस समुद्घात का स्वामी

* संयम के निधान महामुनि को तैजस समुद्घात होता है। द्र.सं.टी. 10/25/9
* प्रमत्तसंयत के उपशम सम्यक्त्व के साथ तैजस समुद्घात नहीं होगा। ध. 7/2,6,1/299/7
* परिहार विशुद्धि संयम के साथ तैजस व आहारक समुद्घात का विरोध है।

6. आहारक समुद्घात-

संयम विशेष से उत्पन्न हुई आहारक शरीर के उत्पादन रूप शक्ति को आहारक ऋद्धि कहते हैं। ध. 1/1,1,60/298/4

रा.वा. 1/20/12/77/18 अल्प हिंसा और सूक्ष्मार्थ परिज्ञान आदि प्रयोजनों के लिए आहारक शरीर की रचना के निमित्त आहारक समुद्घात होता है।

आहारक शरीर की रचना के समय श्रेणी गति होने के कारण असंख्य आत्म प्रदेश निकलकर एक अरत्नि प्रमाण आहारक शरीर को बनाते हैं।

ध 7/2,6,1/300/6 हस्त प्रमाण, सर्वांग सुन्दर, समचतुरस संस्थान से युक्त, हंस के समान धवल रस, रुधिर, माँस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र इन सात धातुओं से रहित विष अग्नि एवं शस्त्रादि समस्त बाधाओं से मुक्त वज्र, शिला, स्तम्भ, जल

व पर्वतों में से गमन करने में दक्ष तथा मस्तक से उत्पन्न हुये शरीर से तीर्थंकर के पादमूल में जाने का नाम आहारक समुद्घात है।

द्र.सं.टी./10/26 पद और पदार्थ में जिसको कुछ संशय उत्पन्न हुआ हो, उस परम ऋषि के मस्तक में से मूल शरीर को न छोड़कर निर्मल स्फटिक के रंग का एक हाथ का पुतला निकलकर अन्तर्मुहूर्त में जहाँ कहीं भी केवली को देखता है तब उन केवली के दर्शन से अपने आश्रय मुनि पद को और पदार्थ का निश्चय करा कर फिर अपने स्थान में प्रवेश कर जावे सो आहारक समुद्घात है।

मात्र केवली समुद्घात में जीव तीन समय के लिए अनाहारक होता है बाकी आहारक समुद्घात में मिश्र अवस्था तो बनती है किन्तु छह समुद्घातों में अनाहारक नहीं होता।

आहारक समुद्घात का स्वामित्व

त.सू. 2/49 आहारक शरीर शुभ विशुद्ध व्याघात रहित है और वह प्रमत्तसंयत के ही होता है।

स.सि. 8/1/376/2 प्रमत्तसंयत गुणस्थान में आहारक ऋद्धिधारी मुनि के आहारक काय योग व आहारक मिश्रकाय योग भी संभव है।

रा.वा. 2/49/7/153/8 प्रमत्त संयत के ही आहारक शरीर होता है।

* ध. 4/1,3,82/135/6 जिनको ऋद्धि प्राप्त हुई है ऐसे महर्षियों के होता है।

* मिथ्यादृष्टि जीव राशि के आहारक समुद्घात संभव नहीं क्योंकि इसके कारणभूत गुणों का मिथ्यादृष्टि और असंयत व संयतासंयतों के अभाव है।

* प्रमत्त संयत में भी परिहार विशुद्धि संयत के आहारक व तैजस समुद्घात नहीं होता।

* प्रमत्त संयत के उपशम सम्यक्त्व के साथ आहारक समुद्घात नहीं होता।

आयु और त्रिविधि स्थिति को जब एक समान बनाना हो।

केवलि जिन का है काम यहाँ है गुणस्थान तेरहवाँ वो।

वे दण्ड कपाट प्रतर पूरण-2 बस आठ-2 समय में गाता हूँ SSS गुरुदेव ने.....

7. केवली समुद्घात-

स.सि. 9/44/4573 जिनके स्वल्प मात्रा में कर्मों का परिपाचन हो रहा है ऐसे केवली अपने आत्म प्रदेशों के फैलने से कर्म रज को परिशातन करने की शक्ति वाले दण्ड, कपाट, प्रतर और लोक पूरण समुद्घात को करके अनन्तर के विसर्पण का संकोच करके

रा.वा. 1/2012/77/19 जैसे- मदिरा में फेन आकर शान्त हो जाता है उसी तरह समुद्घात में देहस्थ आत्म प्रदेश बाहर निकलकर फिर शरीर में समा जाते हैं, ऐसा समुद्घात केवली करते हैं।

ध. 13/2/61/300/9 दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण रूप जीव प्रदेशों की अवस्था को केवली समुद्घात कहते हैं।

भेदों के लक्षण-

दण्ड – जिसकी अपने विष्कम्भ से कुछ अधिक तिगुनी परिधि है ऐसे पूर्व शरीर के बाहल्य रूप अथवा पूर्व शरीर के तिगुने बाहल्य रूप दण्डाकार से केवली जिन के प्रदेश कुछ कम चौदह राजू उत्सेध रूप फैलते हैं।

कपाट – दण्ड समुद्घात में बताये गये बाहल्य और आयाम के द्वारा पूर्व पश्चिम में वात वलय से रहित सम्पूर्ण क्षेत्र के व्याप्त करने को कपाट समुद्घात कहते हैं।

प्रतर – रुके हुये क्षेत्र को छोड़ कर सम्पूर्ण लोक में व्याप्त होने का नाम प्रतर समुद्घात है।

लोकपूरण – घनलोक प्रमाण केवली भगवान के जीव प्रदेशों का सर्वलोक के व्याप्त करने को लोकपूरण समुद्घात कहते हैं। ध. 4/1,3,2/28/8 ध. 13/5/4/26/2

कौन केवली करते हैं कौन नहीं

उत्कर्ष से जिनका आयु छ: महीने का अवशिष्ट रहा है ऐसे समय में जिनको केवलज्ञान हुआ है वे केवली नियम से समुद्घात को प्राप्त होते हैं। बाकी के केवलियों को आयुष्य अधिक होने पर समुद्घात होगा अथवा नहीं भी होगा नियम नहीं।

ध. 1/1,1,60/302/2 यतिवृषभाचार्य जी के उपदेशानुसार क्षीण कषाय गुणस्थान के चरम समय में सम्पूर्ण अघातिया कर्मों की स्थिति समान नहीं होने से सभी केवली समुद्घात करके ही मुक्ति को प्राप्त होते हैं। परन्तु जिन आचार्यों के मतानुसार लोकपूरण समुद्घात करने वाले की संख्या का नियम है, उनके अनुसार कितने ही केवली समुद्घात करते हैं कितने ही नहीं।

ध. 13/5,4,31/151/13 मोक्ष जाने वाले सभी जीवों के केवली समुद्घात नहीं होता।

भ.आ.मू. 2111/ जिनके वेदनीय नाम व गोत्र कर्म की स्थिति अधिक रहती है वे केवली भगवान समुद्घात के द्वारा आयु कर्म की स्थिति की बराबरी करते हैं इस प्रकार वे सम्पूर्ण शीलों के स्वामी बनते हैं।

आयु के 6 माह शेष रहने पर होने न होने संबंधी विचार–

शंका – छह मास प्रमाण आयु के शेष रहने पर जिस जीव को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है वह समुद्घात को करके ही मुक्त होता है। शेष जीव करते भी है नहीं भी करते इस गाथा का अर्थ क्यों ग्रहण नहीं किया है?

समाधान – नहीं क्योंकि इस प्रकार विकल्प के मानने में कोई कारण नहीं पाया जाता है, इसलिए पूर्वोक्त गाथा का उपदेश नहीं ग्रहण किया है।

कदाचित् अन्तर्मुहूर्त आयु शेष रहने पर होता है

भ.आ.म. /2112 आयु कर्म जब अन्तर्मुहूर्त मात्र शेष रहता है तब केवली समुद्घात करते हैं। स.सि. 9/44/457/1 क्ष.सा. 620

* केवली समुद्घात का हेतु मूलभूत कर्म प्र.सा. गाथा 44 में केवली की क्रियाओं के बारे आ. कुन्दकुन्द देव कहते हैं

ठाणणिसेण्ण विहारा धम्मुवदेसो यणियदयो तेसिं।
अरहंताणं काले मायाचारोव्व इत्थीणं।।

उन अरहंतों के अरहंत अवस्था में स्थान, आसन और विहारादि काय योग की क्रिया तथा धर्मोपदेश वचन योग की क्रिया, बिना इच्छा के स्वभाव से होती है, जैसे स्त्रियों के स्वभाव से कुटिल आचरण होता है।

आत्म प्रदेशों का विस्तार

स.सि. 5/8/274/11 केवली समुद्घात के समय यह जीव लोक को व्याप्तता है उस समय जीव के मध्य के आठ प्रदेश मेरु पर्वत के नीचे चित्रा पृथ्वी के वज्रमय पटल के मध्य में स्थित हो जाते हैं और शेष प्रदेश ऊपर नीचे तिरछे समस्त लोक को व्याप्त कर लेते हैं। रा.वा. 5/8/4/450/1 ध. 11/4,2,5,17/31/11

धवलाकार प्रश्न उठाते हैं शंका करते हैं तो फिर कौन से केवली शरीर के तिगुने बाहुल्य से दण्ड समुद्घात को करते हैं?

समाधान – पल्यंकासन से स्थित केवली उक्त प्रकार से दण्ड समुद्घात को करते हैं।

गोम्मटसार जीवकाण्ड की जीव प्रबोधिनी टीका के भावार्थ में लिखा है कि

* 544/953/ **दण्ड** स्थिति दण्ड समुद्घात विषैं एक जीव के प्रदेश वात वलय के बिना लोक की ऊँचाई किंचित् ऊन चौदह राजू प्रमाण है सो इस प्रमाण तैं लंबे बहुरि बारह अंगुल प्रमाण चौड़े गोल आकार प्रदेश हैं। स्थिति दण्ड के क्षेत्र को नवगुणा कीजिए तव उपविष्ट दण्ड विषै क्षेत्र हो है सो यहाँ 36 अंगुल चौड़ाई है।

कपाट

पूर्वाभिमुख स्थित कपाट समुद्घात विषैं एक जीव के प्रदेश वात वलय बिना लोक प्रमाण तो लम्बे हो हैं सो किंचित् ऊन चौदह राजू प्रमाण तो लम्बे हैं। बहुरि उत्तर-दक्षिण दिशा विषैं लोक की चौड़ाई प्रमाण चौड़े हो हैं तातै सात राजू प्रमाण चौड़े हो हैं। बहुरि बारह अंगुल प्रमाण पूर्व पश्चिम विषैं ऊँचे हो हैं। पूर्वाभिमुख स्थित कपाट क्षेत्र तैं तिगुना पूर्वाभिमुख उपविष्ट कपाट विषैं क्षेत्र जानना।

उत्तराभिमुख-

स्थित कपाट के चौदह राजू प्रमाण तो लम्बे पूर्व-पश्चिम दिशा विषैं क्रम से सात, एक, पाँच और एक राजू प्रमाण चौड़े हैं। **उत्तराभिमुख उपविष्ट** कपाट विषैं तातैं तिगुनी छत्तीस अंगुल की ऊँचाई है।

प्रतर-

बहुरि प्रतर समुद्घात विषैं तीन वातवलय बिना सर्व लोक विषैं प्रदेश व्याप्त हैं तातैं तीन वात वलय का क्षेत्र लोक के असंख्यातवें भाग प्रमाण है।

लोकपूरण-

बहुरि लोकपूरण विषैं सर्व लोकाकाश विषैं प्रदेश व्याप्त हो हैं तातैं लोक प्रमाण एक जीव संबंधी लोकपूरण विषैं क्षेत्र जानना।

क्ष.सा. 623/795/8-11 के भावार्थ में कायोत्सर्ग स्थित केवली के दंड समुद्घात उत्कृष्ट 108 प्रमाणांगुल ऊँचा 12 प्रमाणांगल चौड़ा और सूक्ष्म परिधि 37 15/113 प्रमाणांगुल युक्त है। पद्मासन स्थित दण्ड समुद्घात विषैं ऊँचाई 36 प्रमाणांगुल और सूक्ष्म परिधि 113 27/113 प्रमाणांगुल युक्त है।

समय-

केवली समुद्घात का काल आठ समय है। दण्ड, कपाट, प्रतर, लोकपूरण पुन: प्रतर, कपाट और दण्ड स्वशरीर प्रवेश इस तरह आठ समय होते हैं।

प्रतिष्ठापन व निष्ठापन विधि-

समुद्घात केवली भगवन् प्रथम समय में दण्ड रूप समुद्घात करते, द्वितीय समय में कपाट रूप समुद्घात करते हैं, तृतीय समय में प्रतर रूप, चौथे समय में लोकपूरण, पाँचवें समय में लोक के विवरगत आत्म प्रदेशों का संवरण करके प्रतर, छटवें समय में प्रतरगत मन्थान आत्म प्रदेशों का संवरण करते हैं, सातवें समय में कपाटगत आत्म प्रदेशों का दण्ड रूप संवरण कपाट रूप करते और आठवें समय में दण्डगत आत्म प्रदेशों का स्वशरीर रूप संकुचन करते हैं। पं.सं./प्रा 197-198/क्ष.सा. मू/627/ क्ष.स्व.भा. 623

किस समय कौन सा योग रहता है

केवली समुद्घात के उक्त आठ समयों दण्डायिक अर्थात् पहले और सातवें समय में औदारिक काय योग होता है। पं.सं.प्रा. 199/ध.पु. 1

* समुद्घात द्विक में अर्थात् दूसरे व छटवें समय में औदारिक मिश्र काय योग होता है।
* प्रतर समुद्घात द्विक एवं लोकपूरण में तीसरे चौथे पाँचवें समय में अनाहारक होता है।

समुद्घात का प्रयोजन-

भ.आ.मू. 213-2116 गीला वस्त्र पसारने से जल्दी शुष्क होता है परन्तु वेष्टित वस्त्र जल्दी सूखता नहीं उसी प्रकार बहुत काल में होने योग्य स्थिति अनुभाग घात केवली समुद्घात द्वारा शीघ्र हो जाता है। स्थिति बन्ध का कारण जो स्नेहगुण वह इस

समुद्घात से नष्ट होता है और स्नेहगुण कम होने के कारण उसकी अल्प स्थिति होती है। अंत में योग निरोध कर वह धीर मुक्ति को प्राप्त कर लेते हैं।

कर्मों की स्थिति बराबर करने का विधि क्रम ध. 6/1,9,8, 16/412-417/4

प्रथम समय – आयु को छोड़कर शेष तीन अघातिया कर्मों की स्थिति के असंख्यात बहुभाग को नष्ट करके, इसके अतिरिक्त क्षीण कषाय के अंतिम समय में घातने से शेष रहे अप्रशस्त प्रकृति संबंधी अनुभाग के अनंत बहुभाग को भी नष्ट करते हैं।

2. **द्वितीय समय –** शेष स्थिति के असंख्यात बहुभाग को नष्ट करते हैं।

3. **तृतीय समय –** प्रतर संज्ञित मन्थ समुद्घात को करते हैं। इस समुद्घात में भी स्थिति व अनुभाग पूर्व के समान ही नष्ट करते हैं।

4. **चतुर्थ समय –** लोकपूरण समुद्घात में समयोग हो जाने पर योग की एक वर्गणा हो जाती है। इस अवस्था में स्थिति और अनुभाग को पूर्व के समान ही नष्ट करते हैं। लोकपूरण समुद्घात में आयु से संख्यात गुणी अन्तर्मुहूर्त मात्र स्थिति को स्थापित करता है।

5. **पंचम समय –** उतरने के प्रथम समय से लेकर शेष स्थिति के असंख्यात बहुभाग को तथा शेष अनुभाग के अनंत बहुभाग को भी नष्ट करता है।

6. **षष्टम् समय –** यहाँ अन्तर्मुहूर्त जाकर तीनों योग उच्छवास का निरोध करता है पश्चात् अपूर्व स्पर्धक करण करता है।

7. **सप्तम समय –** पश्चात् अन्तर्मुहूर्त काल तक कृष्टियों को करता है फिर अपूर्व स्पर्धकों को करता है।

8. **अष्टम समय –** योग का निरोध हो जाने पर तीन अघातिया कर्म आयु के सदृश हो जाते हैं।

केवली समुद्घात के बाद भी तेरहवाँ गुणस्थान होता है। क्योंकि केवली समुद्घात के अन्तर्मुहूर्त पश्चात् योग निरोध करते हैं। तब तीनों कर्मों की स्थिति आयु कर्मों के सदृश हो जाती है। तत्पश्चात् अन्तर्मुहूर्त काल तक अयोग केवली रह मुक्त हो जाते हैं।

केवली समुद्घात में शरीर से सम्बन्ध ध.पु. 2 पृ. 660

जिस समय लोकपूरण अवस्था में केवली के समस्त आत्म प्रदेश शरीर से बाहर निकलकर सर्व लोकाकाश में फैल जाते हैं। उस समय मूल शरीर से संबंध नहीं रहता है। कहा भी है– कपाट समुद्घात के समय चौदह राजू आयाम (लम्बाई) से सात राजू विस्तार से अथवा चौदह राजू आयाम से और एक राजू को आदि लेकर बढ़े हुये विस्तार से व्याप्त जीव के प्रदेशों का संख्यात अंगुल भी अवगाहना वाले पूर्व शरीर के साथ संबंध नहीं हो सकता।

अन्य समुद्घातों के अर्थात् वेदना कषायादि छह समुद्घातों के समय मूल शरीर से पूर्ण आत्म प्रदेश बाहर नहीं निकलते क्योंकि उन छहों में लोकपूरण अवस्था का अभाव है।

यद्यपि केवली समुद्घात में समस्त आत्म प्रदेश मूल शरीर से बाहर निकलकर सम्पूर्ण लोक में फैल जाते हैं तथापि वह मूल शरीर लोकाकाश के जितने प्रदेशों में स्थित है, उतने आत्म प्रदेश उस शरीर के साथ एकक्षेत्रावगाह रूप होने के कारण उस शरीर में शरीर की अवगाहना प्रमाण आत्म प्रदेश रहते हैं।

पं. रतनचंद मुख्तार जी ने व्यक्तित्व और कृतित्व में इस विषय पर पृष्ठ 513 पर कहा है– चौथे समय में लोक के एक-एक प्रदेश पर एक-एक आत्म प्रदेश स्थित हो जाता है। इस समय उतने ही आत्म प्रदेश शरीर के भीतर रहते हैं जितने आकाश प्रदेशों में शरीर स्थित है।

केवली समुद्घात में प्राण – केवली समुद्घात के समय काय बल और आयु दो प्राण होते हैं।

गुणस्थानों में भाव एक विश्लेषण

श्रमणी आर्यिका विनेहश्री माताजी
(संघस्थ आचार्य विनम्रसागर)

मंगलं जिन अरहंतं, मंगलं सिद्धात्मनः।
मंगलं सर्व साधुनां केवली प्रणीत मंगलं।।
गुरवो निर्मलः शान्ताः: साधवो मित भाषणः।
काम क्रोध विनिर्मुक्तः सदाचाराः जितेन्द्रियः।।

अनेक भव्यात्माओं ने इस अपार संसार सागर को पार करने के लिए तीर्थंकर भगवंतों का आश्रय लेकर संसार को असार जानकर सार तत्त्व को प्राप्त करने के लिए महाव्रतों को धारण करके संयम का दीप जलाया तथा तीनों लोकों के दु:खी जीवों को बोध देकर मिथ्या अंधकार को समाप्त करके निर्वाण को प्राप्त किया।

इन्हीं तीर्थंकरों की दिव्यदेशना का रसपान करते हुये अनुबद्ध केवली, श्रुतकेवली, अंगधारी, पूर्वधारी आदि अनेक आचार्य प्रवर हुए। इन्हीं की अक्षुण्ण परम्परा में आचार्य धरसेन स्वामी, यतिवृषभाचार्य, आचार्य पुष्पदंत भूतवली आदि। अनेकानेक माँ जिनवाणी के पुत्रों के द्वारा श्रुतदेवी निरंतर प्रस्तावित व प्रसारित होती रही है।

पूर्वाचार्यों की परम्परानुसार अनेक ग्रंथों के रचयिता संत शिरोमणि आचार्य श्री विद्यासागर संस्कृत, प्राकृत ग्रंथों के पद्यानुवाद करने वाले सूरिगच्छाचार्य श्री विनम्रसागर जी महामुनिराज के द्वय् चरणों में कोटिश: नमन करते हुए इन्हीं के सुयोग्य, सुशिष्य, गणधर परमेष्ठी के रूप में साक्षात् विराजमान वात्सल्यमयी परम्परा के प्रशिष्य, सिद्धांत दीपक, आगम के मसीहा, सिद्धांत प्रबोधिनी टीका आदि अनेक रचनात्मक कार्य के स्तम्भ, माँ जिनवाणी के उपासक, भक्तों के कर्णधार, अध्यात्म को गहराई से आनंद के मोती लाने वाले वात्सल्य के सागर, ज्ञान के हिमालय, चारित्र के आलय, जिनकी चर्या में अहिंसा, वाणी में स्याद्वाद व दृष्टि में अनेकांत है ऐसे गागर में सागर इस पंक्ति को चरितार्थ करने वाले काव्य सम्राट मम हृदय कमल सम्राट उच्चारणाचार्य भक्तामर वाले बाबा के द्वय चरणों में त्रय योगपूर्वक कोटिश: नमन करती हूँ।

अनेक नगरों से पधारे सारस्वत पुत्र सभी मनीषी विद्वत् वर्ग व स्थानीय विद्वानों के समक्ष मैं अपने लेख का वाचन करने जा रही हूँ। मुझ अल्पज्ञ के द्वारा लेख वाचन में जो भी त्रुटि हो तो आप सभी सुधीजन सुधार करें।

संगोष्ठी की विषयवस्तु–

* प्रस्तावना
* चौंतीस स्थान के अन्तर्गत भाव का लक्षण, भाव का अर्थ, भाव शब्द की व्युत्पत्ति
* सिद्धांत क्या है
* अनेक ग्रंथों के अनुसार भावों की परिभाषा
* भाव लेश्या क्या है?
* भाव के भेद व उदाहरण (जीव की अपेक्षा भावों के भेद)
* गुणस्थान का लक्षण
* गुणस्थानों में भाव, अभाव व भाव व्युच्छित्ति
* उपसंहार

दर्पण सम सब भाव कहे–जीवकाण्ड आधार कहे–2
गुरु ने चौंतीस थान लिखे–2

शुभाशुभ भाव के कर्ता हम-भावों के ही हर्ता हम-2
शुद्ध भावों से-बंधन खुल जाएँ रे- जीवन है पानी की बूँद

प्रस्तावना – मनुष्य के मन में प्रतिक्षण भावों का प्रवाह बहता रहता है, जल प्रवाह होता है तो कुछ मिटाते और कुछ को बनाते चलता है, उसी प्रकार भावों का प्रवाह भी कुछ मिटाते हुए और कुछ को बनाते हैं। जैसे जल प्रवाह का सुव्यवस्थित उपयोग करने के लिए अनेक प्रकारों में बाँधा जाता है वैसे ही भाव प्रवाह भी शाब्दिक विधाओं में बाँधकर स्वर्ग व मोक्ष का पात्र होता है।

श्रेष्ठ भाव ही हमारे जीवन का उत्थान कराते व स्वभाव की प्राप्ति कराते हैं, स्वभाव ही शाश्वत सुख है, मोक्ष में सुख है। अत: भावों से निर्माण व भाव के अभाव से निर्वाण होता है। अत: हम सभी भावों से शून्य अभाव को प्रात करके शाश्वत सुख को प्राप्त करें।

सिद्धांत जज की तरह है – जिस प्रकार जज का निर्णय ही सर्वमान्य सत्य माना जाता है, जैसे- कम्प्यूटर व मोबाइल में गणित का सॉफ्टवेयर सेट होने पर किसी भी तरह का जोड़, गुणा, भाग, वर्गमूल, घनमूल आदि करते हैं तो उसका निर्णय तत्काल ही स्क्रीन पर आ जाता है वैसे ही हमारे अंदर सिद्धांत का सॉफ्टवेयर सेट होता है तो हर प्रश्न का उत्तर निकालने में सफल हो जाते हैं फिर चाहे वह करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग, प्रथमानुयोग संबंधी कोई भी प्रश्न हो। उत्तर निकालने पर हमारे मन की विकलता समाप्त हो जाती है, जिससे हम निर्विकल्प होकर शुद्धोपयोग की स्टेज पर स्थित हो जाते हैं, यही ध्यान केवलज्ञान तक ले जाकर मोक्ष में स्थित कर देता है, इसलिए जैसे जीवन जीने के लिए ऑक्सीजन, पेड़ों के लिए जल, शरीर में रीढ़ अति आवश्यक है वैसे ही धर्म समझने के लिए, तत्त्व समझने के लिए, देव, शास्त्र, गुरु को मानने के लिए सिद्धांत का ज्ञान अति आवश्यक है।

चित्त को दृढ़ करने के लिए, सम्यक्ज्ञान, दर्शन, संयम, तप की सिद्धि प्रसिद्धि व वृद्धि के लिए, भावों में समता बढ़ाने के लिए करणानुयोग दीपक आदि सभी सिद्धांत ग्रन्थों व आचार्यों को विनम्रता से नमन् करते हुए अध्ययन करना चाहिए।

सिद्धांत क्या है ऐसे सिद्धांत को समझाने हेतु मम आराध्य गुरुदेव जिन्हें आगमवेत्ता कहे या न्यायाचार या अध्यात्मवेत्ता या सिद्धान्तज्ञ ऐसे सिद्धांत के रसिक आचार्य भगवन् विनम्रसागर जी गुरुदेव ने धवला पुस्तक को कर्मकांड, जीवकांड, सवार्थसिद्धि, राजवार्तिक आदि ग्रंथों को आधार बनाकर चौबीस ठाणा के सम चौंतीस ठाणा को अपने करकमलों से प्राकृत भाषा, हिंदी भाषा व चौतीस स्थान दर्शन का चार्ट बडे ही सुंदर तरीके से समायोजन किया है, ऐसे पूज्य गुरुवर की यह कृति सिद्धांत प्रबोधिनी टीका अजर अमर रहे। निरंतर सुधी जन, इसका स्वाध्याय कर अपने अन्तर्गत परिणामों को जानने का प्रयास करें सिद्धांत प्रबोधिनी टीका के अन्तर्गत मेरा गोष्ठी का विषय है **गुणस्थानों में भावों का विश्लेषण।**

शुद्ध भाव के अर्थ में भाव का लक्षण है– प्रवचनसार/ता.वृ./115/161/14

शुद्ध चैतन्यं भाव:– शुद्ध चैतन्य रूप, ज्ञान, दर्शन स्वरूपी भाव होना। मैं राग द्वेष से रहित शुद्ध चैतन्य स्वरूपी परम उत्कृष्ट आत्मा हूँ। ऐसा विचार करके क्रियारूप कार्य होना शुद्ध भाव है।

भाव: आत्मरुचि:– आत्मा की रुचि प्रतीति होना भाव है।

भाव कर्म क्या है?– द्रव्य पिंड में जो फल देने की शक्ति है वह भावकर्म है कार्य में कारण का व्यवहार होने से उस शक्ति से जो अज्ञान आदि राग-द्वेष क्रोधादि कषाय रुप परिणाम है वे भी भावकर्म है।

आगम भावकर्म– जो कर्म स्वरूप के कहने वाले आगम को जानने वाले और वर्तमान समय में उसी शास्त्र का चिंतन (विचार) रूप उपयोग सहित हो उस जीव का नाम आगम भाव कर्म कहा है। (चौतीस स्थान दर्शन भाग-2)

भावों का आधार क्या है?– धवला पु.5/जि.सि.को. भाग 3/पृष्ठ 218

कत्थ भावो? भाव कहाँ पर होता है। दव्वन्हि चेव–भाव द्रव्य में होता है

गुणिव्वदिरेगेणं गुणाणम संभवा:–क्योंकि गुणी के बिना गुणों का रहना असम्भव है

जैसे–गुणी हम स्वयं है तथा ज्ञान दर्शन आदि गुण है, जब गुणी ध्यान के माध्यम से आत्मा को तपाकर कुंदन बनाते है तो ज्ञान, दर्शन आदि गुण प्रकट होते है।

चौंतीस स्थान व अन्य ग्रन्थों में भाव शब्द की व्याख्या

द्रव्य परिणाम है भाव, गुण पर्यय रूप है भाव।
चित्त चैतन्यता भाव, आतम की रुचि भाव।।
भू धातु घञ् प्रत्यय से, बना है भाव शब्द ज्ञानी,
ऋषि मुनियों ने उच्चारे जानो समझो सभी भाव,

⁂ राजवार्तिक ग्रंथ में आचार्य प्रवर भाव शब्द के विषय में लिखते हैं– **भवनं भवतीति वा भाव –** होना मात्र या जो होता है सो भाव है। जैसे–जल का स्वभाव शीतलता, जीव का स्वभाव ज्ञान–दर्शन रूप होना यह भाव है।

⁂ **धवला पु. 1 में आचार्य भगवन् कहते हैं– भावो खलु परिणामों**–निश्चय से भाव को ही परिणाम कहा है।

⁂ **प्रवचनसार व समयसार की तात्विक वृत्ति में लिखा है– परिणाम मात्र लक्षणो भाव**– भाव का लक्षण परिणाम मात्र है।

⁂ **कम्म–कम्मोदय–परुवणाहि विणा –** भावों के बिना कर्म व कर्म का उदय नहीं होता, अत: कर्म व कर्म के उदय में भाव ही निमित्त है। जब तक जीव के अंदर विचारों की उत्पत्ति नहीं होगी तब तक क्रिया नहीं होगी जहाँ क्रिया नहीं होगी वहाँ भावों की उत्पत्ति नहीं होती अत: सर्वप्रथम विचार आते हैं फिर क्रिया रूप कार्य होता है वही कार्य हमारी भाव दशा को प्रदर्शित करता है।

द्रव्य के बिना भाव नहीं बनता, द्रव्य है तो परिणाम है, भाव है। जैसा भाव होता है वैसा ही कर्म बनकर तैयार होता है। कोई हेर फेर नहीं होता जैसे– दर्पण में इंसान का चेहरा जैसा हो वैसा ही दिखाई देता है। यदि किसी का चेहरा काला है तो काला दिखेगा, गोरा है तो गोरा दिखेगा, सुंदर है तो सुंदर दिखेगा, जैसा रूप है वैसा ही आईने में दृष्टिगोचर होता है कोई हेर फेर नहीं होता ठीक वैसा ही कर्म सिद्धांत है, जैसे भाव करोगे वैसे ही जीवों के माध्यम से हमारे परिणामों की खोज हमारे समक्ष आ जाती है। कहा भी है– (जैसी करनी वैसी भरनी)। अनुभूत करना है– भाव जैसे–रसगुल्ला चखकर अनुभव करते हैं मीठा है यही भाव है

चौंतीस स्थान दर्शन में भाव लेश्या क्या है?

मोहनीय कर्म के उदय से, उपशम से, क्षय से, क्षयोपशम से जीव की जो चंचलता होती है उसे भाव लेश्या कहा है।

हमारे परिणामों के अनुसार ही भाव लेश्या बनती है जैसे हमारे विचार होते हैं वैसा ही ओरा हमारे शरीर से लगभग 1 हाथ दूरी तक रहता है तथा जो भी हमारे ओरा के सम्पर्क में आता है वह उससे प्रभावित हो जाता है। जैसे जब हम अपने से अधिक मजबूत आभामंडल वाले व्यक्ति से मिलते हैं तो उसके सामने हम कमजोर हो जाते हैं क्योंकि उसका आभामंडल हमसे अधिक शक्तिशाली हैं। अगर हमें अपने भावों को शक्तिशाली बनाना है तो कभी भी निगेटिव विचारों को जन्म न दें, स्वयं को ओज व जोश से भरें, सभी के प्रति क्षमा का भाव रखें, प्रत्येक जीव के प्रति करुणा व दया का भाव हो, प्रभु व गुरु के गुणों का गुणगान, भक्ति, सेवा करने से पॉजिटिव एनर्जी अधिक आती है जो हमारे भाव मन को मजबूती दिलाता है।

भाव लेश्या – कषाय से अनुरंजित योग प्रवृत्ति को भाव लेश्या कहते हैं। यदि इसे अपनी भाषा में समझें तो कषाय से ओरा का जन्म होता है फैलाने का कार्य योग के द्वारा होता है।

हमारे मन, वचन, कार्य के द्वारा जो कषाय मंद या तीव्र गति से हमारे शरीर के अंदर चारों ओर फैल जाती है। वही ओरा

हमारा आभामंडल बन जाती है। वही आभामंडल वही परिणाम कर्मों का अच्छा व बुरा बंध कराते हैं। ये हमारे अन्तरंग भावों का ही खेल है पूज्य गुरुदेव कहते हैं।

भावों की ही पगडंडी पर सरपट दौड़ा करता मन,
भावों ही भावों में भव के सपन सँजोता रहता मन,
भावों ही भावों में भव के बंध बाँधता रहता मन,
भावों ही भावों में भव के बंध काटता रहता मन।

जैसे– कोई–कोई व्यक्ति क्रोध के, मायाचारी के, मारने के, हिंसा करने के, झूठ बोलने के, बुरे कार्य करने के भाव करता है, ऐसे व्यक्ति नरक, तिर्यंच आयु का बंध करते हैं। लेकिन कोई–कोई व्यक्ति सत्यभाषी हो, देव, शास्त्र, गुरु की सेवा, पूजा, भक्ति, दर्शन का भाव करता हो, संयम व्रत त्याग करने की श्रेष्ठ भावना जीव को देव, मनुष्य, आयु का बंध कराती है। शुभ भावों से उत्कृष्ट भावना बनकर शाश्वत सुख अर्थात् मोक्ष सुख प्राप्त कराती है।

जीव की अपेक्षा भावों के भेद – सामान्य से भाव अनेक प्रकार वाला है अर्थात् जितने परिणाम, विचार, जितने विकल्प उतने प्रकार के भाव, मन के द्वारा यह जीव अनेक प्रकार के भाव करता है। एक पल में यह मन सम्मेद शिखर तो दूसरे पल कैलाश यात्रा तो अगले पल विदेह क्षेत्र, नंदीश्वर द्वीप, जम्बूद्वीप, नरक, तिर्यंच आदि की भी यात्रा करता है, यह हमारे भावों के द्वारा ही संभव हो पाता है। इसलिए आचार्य भगवन् कहते हैं भाव अनेक प्रकार वाला है। चेतन व अचेतन सभी द्रव्यों के अनेक स्वभाव हैं वे सब भाव कहलाते हैं।

जीव के असाधारण भावों के विषय में आचार्य भगवंतों ने अनेक शास्त्रों में– त.सू. सर्वार्थसिद्धि, राजवर्तिक, जीव कांड, कर्मकांड, धवला जी, जिनेन्द्र सिद्धांत कोश, भाव संग्रह श्रावकाचार आदि ग्रंथों में लिखा है–

औपशमिक क्षायिको भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्व मौदयिक पारिणामिकौ च – औपशमिक, क्षायिक, क्षयोपशम, औदयिक और पारिणामिक ये जीव के पाँच स्वतत्त्व कहे हैं। ये जीव के असाधारण धर्म व गुण हैं। ये जीव के पाँच परिणाम हैं।

पंचास्तिकाय ग्रंथराज में आचार्य कुंद–कुंद ने लिखा है–

ते जीवगुणा बहुसु य अत्थेसु विच्छिण्णा

तत्त्वार्थसूत्र, सर्वार्थसिद्धि में दूसरे अध्याय में सूत्र–2 में लिखा है–

द्वि नवाष्टादशैक विंशति त्रिभेदा यथाक्रमम् । त.सू.अ.2

1. औपशमिक भाव के 2 भेद
2. क्षायोपशम भाव के 18 भेद
3. औदयिक भाव के 21 भेद
4. क्षायिक भाव के 9 भेद
5. पारिणामिक भाव के 3 भेद

कुल भाव = 53

इस प्रकार पाँच भावों के उत्तर भेद 53 होते हैं।

भाव	उत्तर भेद	उदाहरण
1. औपशमिक भाव	**सम्यकत्व चारित्रे–2 भेद**	1
मोहनीय कर्म के उपशम से आत्मा में जो भाव होता है वह औपशमिक भाव है	1. औपशमिक सम्यक्त्व 2. औपशमिक चारित्र	लाइट अन्तर्मुहूर्त के लिए जलती है फिर बुझ जाती है।
2. क्षायिक भाव	**क्षायिक भाव–9 भेद**	

सभी कर्मों का सर्वथा क्षय हो जाने पर आत्मा का शुद्ध भाव प्रकट होता है वह क्षायिक भाव है।	ज्ञान-दर्शन-दान लाभ भोगोपभोग वीर्याणि च। क्षायिक ज्ञान, क्षायिक दर्शन क्षायिक सम्यक्त्व क्षायिक चारित्र, पंचलब्धि ये 9 भेद हैं। क्षायोपशमिक-18	ऐसी लाइट जो सदा जलती रहती है कभी नहीं बुझती- जैसे केवलज्ञान
3. क्षायोपशमिक भाव कर्मों के क्षयोपशम से आत्मा में जो भाव प्रकट होता है वह क्षायोपशमिक भाव है।	ज्ञाना ज्ञान-दर्शन लब्ध्यश्च चतुस्त्रि-त्रि-पंच भेदा: सम्यक्त्व चारित्र संयमासंयमाश्च 4 ज्ञान, 3 दर्शन, 3 कुज्ञान, 5 लब्धि क्षायो-सम्यकत्व, क्षायो. चारित्र , संयमासंयम ये 18 भेद हैं।	ऐसी लाइट जो झपकती रहती है।
4. औदयिक भाव कर्मों के उदय से आत्मा में जो भाव होते हैं वह औदायिक भाव हैं	**औदयिक भाव के 21 भेद** गति-कषाय-लिंग मिथ्यादर्शना ज्ञानासंयता सिद्ध लेश्याश्चतश- चतुस्त्र्ये कैकैकैक षड्भेदा:4 गति, 4 कषाय अज्ञान, असंयम असिद्धत्व, मिथ्यात्व, तीन वेद षट्लेश्या	ऐसी लाइट जिस पर धुँधली छा गयी है।
5. पारिणामिक भाव-3 कर्मों के उदय, उपशम, क्षय क्षयोपशम के बिना जो भाव उत्पन्न होता है वह परिणामिक भाव है-	3 जीव भव्याभव्यत्वानि च।	जीव का जीवत्व किसी कर्म के उदय से नहीं होता।

विशेष-

1. औपशमिक भाव वह है जो आता जाता रहता है।
2. क्षायिक भाव आने के बाद जाता नहीं है।
3. क्षायोपशमिक भाव है जो आता नहीं पर जाता है।
4. पारिणामिक भाव वह है जो सदैव रहता है जीव में। संसारी व मुक्त सभी जीवों में।

पाँच भावों के उदाहरण – दो व्यक्तियों के बीच झगड़ा हो जाता है, गुस्से में एक व्यक्ति दूसरे को थप्पड़ मार देता है, क्रोध के उदय में मारने का परिणाम किया वह औदयिक भाव है।

वह व्यक्ति भाग जाता है, दूसरा व्यक्ति भी सोचता मैं भी मारूँ, मारने के लिए पत्थर उठा लेता है लेकिन सामने कोई नहीं दिखता द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव नहीं है मारने का। कुछ देर के पश्चात् क्रोध शांत हो जाता है यह औपशमिक भाव है।

धर्मसभा में जाकर बैठ जाता है देखा जिसने थप्पड़ मारा था वह भी धर्मसभा में बैठा है देखकर पुन: सोचता है मैं इसको मारूँगा, मारने की तरंग उठना क्षायोपशमिक भाव है।

क्रोध जहर है, कभी नहीं करना चाहिए, क्रोध करने वाले का जीवन नष्ट हो जाता है, मुनिराज के प्रवचन सुनकर क्रोध का अभाव हो जाना क्षायिक भाव है। ये सब परिणमन जीव के हैं अत: पारिणामिक भाव है।

इस तरह हम सभी ने पंच भावों को स्पष्ट रूप से उदाहरणार्थ समझा।

जिस प्रकार सीढ़ी से उतर सकते हैं उसमें बैठ नहीं सकते, आराम नहीं कर सकते उसी प्रकार आत्मा गुणस्थान मोह व योग के स्थान में चढ़ उतर सकती है आराम तो केवल सिद्धालय में ही कर सकते हैं वही उसका शाश्वत मोक्ष निवास है। (वही उसका निज घर है।)

गुणस्थान का निर्देश व प्रयोजन क्या है? राजवार्तिक 9/1/10

तस्य संवरस्य विभावनार्थ गुणस्थानविभागवचनं क्रियते–

संवर के स्वरूप का विशेष परिज्ञान करने के लिए चौदह (14) गुणस्थानों का विवेचन अति आवश्यक है।

तत्त्वार्थ सूत्र 9/1

आस्रव निरोध संवर:– आस्रव का निरोध करना संवर है नाव में छेद के द्वारा पानी आया छेद को बंद करके पानी को रोकना संवर है। कर्मों का बंध कम हो, विशुद्धि बढ़े इसलिए गुणस्थान का निर्देश किया है।

गुणस्थान की उत्पत्ति गो–जी./मू.3/22

गुणसण्णा सा च मोह जोग भवा–गुणस्थान की उत्पत्ति मोह व योग के कारण होती है।

गुणस्थान– जिस प्रकार शरीर का तापमान थर्मामीटर के द्वारा नामा जाता है कपड़ा का माप मीटर से किया जाता है, दूध का माप लीटर से किया जाता है उसी प्रकार संसारी जीवों के भावों का माप (परिणामों का माप) गुणस्थान रूपी थर्मामीटर के द्वारा नापा जाता है। जैन दर्शन में आध्यात्मिक विकास के उत्थान के लिए गुणस्थान व चौदह चरणों के लिए प्रयोग किया जाता है। जिस कारण यह जीव परिणामों की विशुद्धि के द्वारा धीरे धीरे सीढ़ी दर सीढ़ी चौदहवें गुणस्थान तक पहुंच जाता है तथा कर्मों से मुक्त गुणस्थानातीत हो जाता है।

वे गुणस्थान 14 हैं? षट्खंडागम 1/सूत्र 9–22/161–192

1. ओघेण अत्थि मिच्छाइट्ठी 2. सासणसम्माइट्ठी 3. सम्मामिच्छाइट्ठी 4. असंजदसम्माइट्ठी 5. संजदासंजदा 6. पमत्तसंजदा 7. अपमत्तसंजदा 8. अपुव्वकरणपविट्ठ–सुद्धि संजदेसु अत्थि उवसमाखवा 9. अणियट्टि–बादर–सांपराय–पविट्ठसुद्धि–संजदेसु अत्थि उवसमाखमा 10. सुहुमसांपराइ–पविट्ठ–सुद्धिसंजदेसु अत्थि उवसमा खमा 11. उवसंत कषाय वीतराय–छदुमत्था 12. खीण कसाय–वीतराय–छदुमत्था 13. सजोगकेवली 14. अजोगकेवली

1. मिथ्यादृष्टि 2. सासादन सम्यग्दृष्टि 3. सम्यग्मिथ्यात्वदृष्टि 4. असंयत सम्यग्दृष्टि 5. संयतासंयत 6. प्रमत्तसंयत 7. अप्रमत्त संयत 8. अपूर्वकरण–प्रविष्ट शुद्धि संयत 9. अनिवृत्तिकरण या बादर साम्पराय–प्रविष्ट शुद्धि संयत 10. सूक्ष्मसांपराय या सूक्ष्म शुद्धि संयत 11. उपशान्त कषाय वीतराग छद्मस्थ 12. क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ 13. सयोग केवली 14. अयोग केवली ये 14 गुणस्थान हैं।

(मू.आ./1195–1196, पंचास्तिकाय संग्रह/1/4–5, राजवार्तिक/9/1/11, गोम्मटसार जीवकांड/मू./9–10/30

गुणस्थान 14 ही क्यों जितने परिणाम उतने गुणस्थान क्यों नहीं होते।

धवला पु.1/ में कहा है यावन्त: परिणामास्तावन्त: एव गुणा: किन्न भवन्तीति चेन्न तथा व्यवहारानुपपत्तौद्रव्यार्थिकिनय समाश्रयणात–जितने गुणस्थान होते उतने परिणाम नहीं होते, क्योंकि जितने परिणाम होते हैं उतने ही गुणस्थान माने जायें तो व्यवहार ही नहीं चल सकता इसलिए द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा नियत संख्याा वाले ही गुणस्थान कहे गये हैं।

गुणस्थान क्या है? तथा वे कितने होते हैं?

गोमट्टसार जीवकाण्ड में नेमिचन्द्राचार्य ने गुणस्थान को समझाते हुये लिखा–

जेहिं दु लक्खिंज्जते उदयादिपु संभपेहिं भावेहिं।
जीवा ते गुणसण्णा णिद्दिट्ठा सव्व दरसीहिं।।

पं.सं./सं/1-/12 गो.जी./नू./8/29

कर्मों की उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदि अवस्थाओं के होने पर उत्पन्न होने वाले जिन भावों से जीव लक्षित किये जाते हैं उन्हें आचार्य भगवन्तों ने गुणस्थान कहा है।

मोह + योग = गुणस्थान-मोह और योग दोनों के जोड़ को गुणस्थान कहते हैं।

जीव के परिणामों से गुणस्थान बनते हैं, जैसे अच्छे-बुरे परिणाम करता है वैसे ही गुणस्थानों में उतार चढ़ाव होता रहता है। गुणस्थान मिथ्यात्व आदि के भेद से 14 हैं तथा गुणस्थानातीत है, सिद्ध परमात्मा को गुणस्थानातीत कहा है। इन 14 गुणस्थानों के नाम हैं।

परिणामों के माध्यम से गुणस्थानों का आकलन-

1. **मिथ्यात्व गुणस्थान-** मिथ्यात्व कर्म के उदय से जो मिथ्याश्रद्धान हो रहा है वह मिथ्यात्व गुणस्थान है। मिथ्यात्व के उदय में जीव को धर्म अच्छा नहीं लगता, तत्त्व रूचता नहीं है, जैसे-तेज बुखार (जवर) से पीड़ित जीव को मीठा रस भी रूचिकर नहीं लगता उसी प्रकार मिथ्यात्व रूपी मलेरिया में धर्म की बात विषयुक्त व कड़वी लगती है। (मूलाराधना गा. नं. 41 पृ. 14)

2. **सासादन गुणस्थान-** सम्यक्त्व रूपी पर्वत के शिखर से पतित और मिथ्यात्व रूपी भूमि के सन्मुख बीच के समय के जो परिणाम है वह सासादन गुणस्थान हैं। जैसे-वृक्ष से टूटा फल पर अभी जमीन पर नहीं गिरा।

3. **सम्यक्त्व मिथ्यात्व गुणस्थान-** सम्यक्त्व+मिथ्यात्व=मिश्र जैसे-दही व गुड़ के मिलने पर मिश्रित स्वाद के समान सम्यक्त्व व मिथ्यात्व रूप परिणाम (मिली जुली सरकार)

4. **अविरत सम्यक्त्व-** अविरत सम्यग्दृष्टि जीव, देव शास्त्र गुरु पर श्रद्धान करता है, तत्त्वों पर समीचीन श्रद्धान करता है, हित-अहित सही-गलत का श्रद्धान होता है वह अविरत सम्यग्दृष्टि है।

आचार्य ब्रह्मदेव सूरी कथित सम्यग्दृष्टि तीन प्रकार के औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक होते हैं। ये तीन अवस्थायें दर्शन मोहनीय की तीन व अनंतानुबंधी चतुष्क के उपशम, क्षय और क्षयोपशम से होती है।

1. क्षायिक सम्यक्त्व- कीचड़ रहित स्वच्छ जल के सदृश।
2. औपशमिक सम्यक्त्व-फिटकरी के संयोग से कीचड़ नीचे बैठ जाने से ऊपर स्वच्छ जल के सदृश।
3. क्षायोपशमिक सम्यक्त्व- कुछ गंदले पानी के सदृश

देशविरत गुणस्थान- अप्रत्याख्यानावरण क्रोध,मान, माया, लोभ का क्षयोपशम होने पर जिस सम्यग्दृष्टि जीव के हिंसादि पांच पापों का एकदेश त्याग हो जाता है उसे देशविरत कहते हैं। जैसे-एक व्यक्ति किसी की अपेक्षा मित्र है तो किसी की अपेक्षा मित्र है तथा किसी की अपेक्षा मित्र नहीं है ऐसे ही देशविरत पंचम गुणस्थान है।

प्रमत्तविरत गुणस्थान- जहाँ प्रत्याख्यानावण कषाय का क्षयोपशम होने से हिंसा आदि पाँच पापों का सर्वदेश त्याग हो जाता है परन्तु संज्जवलन कषाय का अपेक्षाकृत तीव्र उदय रहने से प्रमाद रहता है इसलिए प्रमत्तविरत गुणस्थान कहते हैं। जैसे-मृग के समान चितकबरा (अर्थात् प्रमाद मिश्रित आचरण)

अप्रमत्तविरत गुणस्थान-संज्वलन क्रोध, मान-माया-लोभ का उदय मंद पड़ जाने पर जब प्रमाद का अभाव हो जाता है तब अप्रमत्त विरत (सप्तम गुणस्थान) प्रकट होता है। जैसे-सातिशय, अप्रमत्त (अध:करण) खुरदरा बड़े करोत के सदृश स्वस्थान और सातिशय की अपेक्षा दो भेद हैं। जो छठवें और सातवें की भूमिका में ही झूलता रहता है वह स्वस्थान अप्रमत्त है तथा जो आगे की श्रेणी में विशुद्धि के द्वारा चढ़ने का उपक्रम कर रहा है वह सातिशय अप्रमत्त गुणस्थान है। इस गुणस्थान में अध:करण परिणाम होते हैं इसलिए इस गुणस्थान का दूसरा नाम अध:करण है।

अपूर्वकरण गुणस्थान- जहाँ प्रत्येक अपूर्व-अपूर्व नये-नये करण परिणाम होते हैं। विशुद्धि का वेग बढ़ता हुआ होता है। जैसे-थोड़ा छोटा कुछ अधिक पैने करोंत के सदृश

अनिवृत्तिकरण– जहाँ एक काल में एक ही परिणाम होने से सम समयवर्ती जीवों के परिणामों में असमानता ही रहती है उसे अनिवृत्तिकरण कहते हैं। जैसे- सबसे छोटे तीक्ष्ण धार वाले पैंने करोंत के सदृश

सूक्ष्मसाम्पराय– जहाँ संज्जवलन कषाय संबंधी लोभ का ही सूक्ष्म उदय शेष रहने से अत्यन्त सूक्ष्म कषाय होती है उसे सूक्ष्मसाम्पराय कहते हैं। यह जीव यदि उपशम श्रेणी वाला है तो चारित्र मोह का उपशम का चुकता है और यदि क्षपक श्रेणी वाला तो बिल्कुल क्षय कर चुकता है। कौसभी वस्त्र जैसे धुले हुए वस्त्र का थोड़ा सा रंग का अंश रहता है।

उपशांत मोह– उपशम श्रेणी वाला जीव चारित्त मोह का उपशम कर उपशांत मोह ग्याहरवें गुणस्थान को प्राप्त होता है- जिस प्रकार शरद ऋतु के तालाब में पानी ऊपर स्वच्छ हो जाता है। इस प्रकार इस गुणस्थानवर्ती जीव के परिणाम ऊपर स्वच्छ हो जाते हैं। परन्तु सत्ता में मोह कर्म के विद्यमान रहने में अन्तर्मुहूर्त बाद नियम से मलिन हो जाते हैं। इस गुणस्थान में जीव के औपशमिक यथाख्यात चारित्र प्रकट होता है। उसकी स्थिति अन्तमुहूर्त की ही होती है उसके बाद नियम से गिरकर नीचे जाता है।

जैसे–कतक फल युक्त जल के सदृश। शरद ऋतु में सरोवर के निर्मल जल के सदृश।

क्षीण मोह– जिसमें मोह कर्म का सर्वथा क्षय हो जाता है उसे क्षीण मोह कहते हैं। क्षपक श्रेणी वाला जीव दसवें गुणस्थान के बाद सीधा क्षीणमोह गुणस्थान को प्राप्त होता है।

जैसे–स्फटिक के पात्र में रखे हुए जल के सदृश व नंदीश्वर द्वीप की बावड़ी के पवित्र जल के सदृश।

सयोग केवली– जो योग से सहित केवली जिनेन्द्र है, चार घातिया कर्मों का क्षय हो जाने से यह गुणस्थान प्राप्त होता है। उन्हें सयोग केवली गुणस्थान कहते हैं। जैसे–सूर्य की किरणों के सदृश (केवलज्ञान की तरह)

अयोग केवली– जिसमें योगों का सर्वथा अभाव हो जाता है। उसे अयोग केवली जिन कहते हैं। इस गुणस्थान में व्युपरतक्रियानिवृर्तीनि शुक्ल ध्यान प्रकट होता है। उसके प्रभाव से उपान्त्य समय में 72 प्रकृतियों व अन्त समय में 13 प्रकृतियों का क्षय करके निर्वाण को प्राप्त करते हैं।

जैसे- स्थिर सूर्य के सदृश यह गुणस्थान होता है।

उदाहरण–प्रथम गुणस्थान में कषायों का रंग भी है, शरीर रूपी बर्तन भी है, आगे के गुणस्थान में रंग हल्का होता गया है, घाति, अघात कर्म की मिट्टी भी है, योग रूपी लहरे भी हैं।

सासादन गुणस्थान में मिथ्यात्व का अभाव होने से रंग हल्का हो गया। सम्यक्मिथ्यात्व तीसरे व चौथे गुणस्थान में अनंतानुबंधी कषाय का अभाव होने से रंग हल्का हो गया है। घातिया व अघातिया की मिट्टी भी है, योग रूपी लहरें भी है।

देशविरत पंचम गुणस्थान से सूक्ष्म साम्परायय तक– शरीर रूपी बरतन का सद्भाव है, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान संज्वलन कषाय का रंग उत्तरोत्तर हीन होता गया है, घातिया–अघातिया कर्मों की मिट्टी भी है, तथा योग रूपी लहरों का सद्भाव भी है। दसवें गुणस्थान में घातिया कर्म रूपी मिट्टी का अभाव है।

उपशांत कषाय ग्याहरवें से सयोग केवली तेरहवें गुणस्थान तक शरीर रूपी बरतन है, कषाय रूपी रंग का अभाव हो गया है पर कर्म रूपी मिट्टी व योगों का सद्भाव है

तेरहवें गुणस्थान में घातिया कर्म रूपी मिट्टी का अभाव हो चुका है। चौदहवें अयोग केवली गुणस्थान में अघाति कर्मरूपी मिट्टी का सद्भाव है, योगरूपी लहरों का व कषायरूपी रंग का अभाव है।

सिद्ध–शरीर रूपी बरतन, घाति, अघाति कर्मरूपी मिट्टी योगरूपी लहरों का व कषाय रूपी रंग का अभाव है।

जीवकाण्ड ग्रंथराज में आचार्य प्रवर नेमिचन्द्राचार्य ने 11, 12, 13वीं गाथा में लिखा है–

मिच्छे खलु ओदइयो, विदिए पुण पारिणामियो भावो ।
मिच्छे खओव समिओ, अविरद सम्मम्मि तिण्णेव ।।

1. मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में दर्शन मोह के उदय से उत्पन्न औदयिक भाव होता है। यहाँ दर्शन मोह की अपेक्षा न होने से पारिणामिक भाव कहा है।

2. सासादन गुणस्थान में पारिणामिक भाव होता है। यहाँ दर्शन मोह की अपेक्षा न होने से पारिणामिक भाव कहा है।

3. तीसरे सम्यक् मिथ्यात्व गुणस्थान में क्षायोपशमिक भाव होता है।

4. चतुर्थ अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में औपशमिक सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व तथा क्षायिक सम्यक्त्व ये तीन भाव होते हैं। क्योंकि इस गुणस्थान में दर्शन मोह का उपशम-क्षय व क्षयोपशम होता है।

देसविरदे पमत्ते इदरे य खओव समिय भावोदु।
सो खलु चरित्र मोहं पडुच्च भणियं तहा उवरिं।। (जी.गा./13)

देशविरत, प्रमत्त संयत अप्रमत्त संयत गुणस्थान में क्षायोपशमिक संयम रूप भाव होता है। देश संयत में प्रत्याख्यानावरण कषायों के क्षयोपशम से चारित्र मोह की अपेक्षा देशसंयत क्षायोपशमिक भाव है तथा अपूर्वकरण गुणस्थान में चारित्र मोहनीय की अपेक्षा से भाव कहा है।

तत्तो उपरिं उवसम, भावो उवसामगेसु खवगेसु।
खइओ भावो णियमा, अजोगि चरिमोत्ति सिद्धेय।। जी.ठा./14

अप्रमत्त गुणस्थान से ऊपर उपशम श्रेणी संबंधी अपूर्वकरण आदि चार गुणस्थानों में औपशमिक भाव होता है क्योंकि उनमें होने वाला संयम चारित्र मोह के उपशम से ही होता है तथा क्षपक श्रेणी संबंधी अपूर्वकरण आदि गुणस्थानों में और सयोग केवली व अयोग केवली गुणस्थान में क्षायिक भाव होता है क्योंकि सिद्ध पद समस्त कर्मों के क्षय से उत्पन्न होता है।

गुणस्थानों में मूलभावों की संख्या और स्वपर के संयोग रूप भावों की संख्या को दिखलाते हैं।

(देखो गो.क.गा. 821 को. नं. 133)

सिद्धान्त प्रबोध टीका–चौंतीस स्थान दर्शन

गुणस्थान	मूलभावों की संख्या	मूल भावों के नाम और संख्या					जोड़
		औपशमिक	क्षायिक	मिश्र (क्षयोपश.)	औदयिक	पारिणामिक	
1 मिथ्यात्व	3	0	0	1	1	1	3
2 सासादन	3	0	0	1	1	1	3
3 मिश्र	3	0	0	1	1	1	3
4 असंयत	5	1	1	1	1	1	5
5 देशसंयत	5	1	1	1	1	1	5
6 प्रमत्त	5	1	1	1	1	1	5
7 अप्रमत्त	5	1	1	1	1	1	5
8 अपूर्व क. उप.श्रे.	5	1	1	1	1	1	5
9 अनिवृत्तिकरण ''	5	1	1	1	1	1	5
10 सूक्ष्म सां. ''	5	1	1	1	1	1	5
11 उपशांत मोह ''	5	1	1	1	1	1	5
8 अपूर्व क.क्ष.श्रेणी.	4	0	1	1	1	1	4
9. अनिवृत्ति. ''	4	0	1	1	1	1	4
10. सूक्ष्म सां. ''	4	0	1	1	1	1	4
12. क्षीण मोह ''	4	0	1	1	1	1	4
13. सयोग केवली	3	0	1	0	1	1	3
14 अयोग केवली	3	0	1	0	1	1	3
सिद्ध गति में	2	0	1	0	0	1	2

गुणस्थानों में 53 उत्तर भावों के भेद सामान्य से कहते हैं–

(देखो गो.क.गा. 822 को. नं. 234)

	गुणस्थान	औपशमिक भाव 2 में से	क्षायिक भाव 9 में से	मिश्र भाव 18 में से	औदयिक भाव 21 में से	पारिणामिक भाव 3 में से	जोड़ भावों की संख्या
1	मिथ्यात्व	0	0	10= कुज्ञान 3, दर्शन 2, लब्धि 5	21 = सब	3 = सब	34
2	सासादन	0	0	10= '' (ऊपर के समान)	20 = मिथ्यात्व 1 घटाकर	2 = भव्यत्व जीवत्व ये 2	32
3	मिश्र	0	0	11=ज्ञान 3, दर्शन 3 लब्धि 5	20 = ''	2 ''	33
4	असंयत	1 उपशम सम्यक्त्व	1 क्षायिक सम्यक्त्व	12 = ऊपर के 11 में वेदक सम्यक्त्व 1 जोड़कर 12	20 = ''	2 ''	36
5	देशसंयत	1= ''	1= ''	13= ऊपर के 12+1 देशसंयत जोड़कर 13 जानना	14= म. ति. गति 2, कषाय 4 वेद 3, शुभ लेश्या 3 अज्ञान 1 असिद्धत्व 1 ये 14 जानना	2 ''	31
6	प्रमत्त	1= ''	1= ''	14= ज्ञान 4, दर्शन 3, लब्धि 5, वेदक सं. 1, सराग चारित्र 1	13= ऊपर के 14-1 तिर्यंच गति घटाकर जानना	2 ''	31
7	अप्रमत्त	1= ''	1= ''	14= ''	13= ''	2 ''	31
8	अपूर्वकरण	2 = सम्यक्त्व चारित्र	2 = क्षा. सं. 1, क्षा. चारित्र 1	12= ऊपर के 14-2 (वेदक सं. 1, सराग चारित्र 1)=12	11= ऊपर के 13-2 (पीत व पद्म लेश्या)=11	2= ''	29

गुणस्थान	औपशमिक भाव 2 में से	क्षायिक भाव 9 में से	मिश्र भाव 18 में से	औदयिक भाव 21 में से	पारिणामिक भाव 3 में से	जोड़ भावों की संख्या
9 अनिवृत्तिकरण	2 = सब	2 = ''	12 = ''	11 = उपर्युक्त	2 = ''	29
10 सूक्ष्म सां.	2 = ''	2 = ''	12 = ''	5= म. गति 1, सूक्ष्म लोभ 1, शुक्ल लेश्या 1 अज्ञान 1 असिद्धत्व 1	2 = ''	23
11 उपशांत मोह	2 = ''	1 क्षायिक सम्यक्त्व	12 = ''	4 = ऊपर 5-1 लोभ घटाकर=4	2 = ''	21
12 क्षीण मोह	0	2 क्षा. सं. क्षा. चारित्र	12 = ''	4 = ''	2 = ''	20
13 सयोग केवली	0	9 = सब	0	3=मनुष्यगति 1, शुक्ल लेश्या 1, असिद्धत्व 1	2 = ''	14
14 अयोग केवली	0	9 = सब	0	2=मनुष्यगति 1, असिद्धत्व 1	2 = ''	13
सिद्धगति में	0	4 क्षा.ज्ञान, क्षा. दर्शन, क्षा. सम्यक्त्व क्षा. वीर्य, ये 4	0	0	1= जीवत्व	5

सूचना :- कोई आचार्य क्षायिक भाव 9+1 जीवत्व ऐसे 10 भाव मानते है।

स्पर्शन

श्रमणी आर्यिका विपुलश्री माताजी
संघस्थ–प.पू. आचार्य श्री विनम्रसागर जी

स्पर्शन एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान या अनुयोग द्वार है जिसका विवेचन चौंतीस स्थान दर्शन के सत्ताईसवें नम्बर पर किया गया है।

यद्यपि वीर जिनेन्द्र प्रभु की वाणी में स्पर्शन नाम का अनुयोग द्वार प्रकट हुआ पश्चात् गणधरों ने विवेचन किया आगे आचार्य परंपरा से धरसेन स्वामी, पुष्पदंत, भूतबली, गुणधर, आर्य मञ्चु, नागअस्ति, यतिवृषभ, वप्पदेव, वीरसेन, जिनसेन आदि अनेक आचार्यों को प्राप्त हुआ। आचार्य भूतबली स्वामी ने षट्खण्डागम सूत्रों में विशद विवेचन किया है पश्चात् आचार्य उमा स्वामी द्वारा रचित तत्त्वार्थ सूत्र के अन्तर्गत सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, कालान्तर–भावाल्पबहुत्वैश्च। इस प्रकार सूत्र में स्पर्शन का उल्लेख किया है। जिसका विशद व्याख्यान आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने सर्वार्थसिद्धि नामक टीका में किया है। षट्खण्डागम की टीका करते हुये कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य वीरसेन स्वामी ने चतुर्थ व सातवीं पुस्तक खुद्दाबन्ध में विशेष विवेचन किया है। कषाय पाहुड की टीका में भी चूर्णिसूत्र व उच्चारणावृत्ति में जो पन्द्रह अधिकारों में विभक्त जिसका विवेचन सोलह पुस्तकों के माध्यम से किया गया है उसमें हर अधिकार में स्पर्शन अनुयोगद्वार का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उसी आचार्य परंपरा से प्राप्त परमपूज्य उच्चारणाचार्य श्री 108 विनम्रसागर जी गुरुदेव ने सिद्धान्त प्रबोध (चौंतीस स्थान दर्शन) ग्रंथ में स्पर्शन नाम का स्थान अपने आप में अति महत्त्वपूर्ण है।

स्पर्शन की परिभाषा – चौंतीस स्थान दर्शन की प्रस्तावना में स्पर्शन मार्गणा के अन्तर्गत यह बतलाया गया है कि भिन्न भिन्न मार्गणा व गुणस्थान वाले जीव तीनों काल में दश अवस्थाओं के द्वारा अर्थात् स्वस्थान, विहारवत्, वेदना, कषाय, वैक्रियिक, मारणांतिक, तैजस, आहारक, केवलीसमुद्घात व उपपाद इन पदों के द्वारा कितना क्षेत्र स्पर्श करते हैं?

क्षेत्र प्ररूपणा व स्पर्शन प्ररूपणा में अन्तर – क्षेत्र प्ररूपणा में वर्तमान काल में कितने क्षेत्र में जीव स्थित है इतना ज्ञान किया जाता है। स्पर्शन में अतीत, अनागत और वर्तमान इन तीनों कालों का क्षेत्रमान ग्रहण किया जाता है।

यहाँ इन दश अवस्थाओं की संक्षेप में परिभाषा अति आवश्यक है सो ही कहते हैं।

चौंतीस स्थान दर्शन पृष्ठ संख्या 47 पर परिभाषा लिखते हुये कहा है–

''**जीवो जस्सि ठाणे जम्मेदि सो सगटठाणं**'' जीव का जहाँ जन्म होता है वह उसका स्वस्थान कहलाता है।

अणागदे जत्थ–जत्थ गमणं कुणेदि सो विहारवद् सगट्ठाणं खेत्तो जहा देवा विहार गेज्ज जंति तस्स खेत्तो अट्ठ चोद्दस भागा देसूणा पत्तेइ। अनागत जहाँ जहाँ जीव का गमन होता है वह उसका विहारवत् क्षेत्र कहलाता है, जैसे– देवों का गमन त्रसनाली के चौदह भागों में से कुछ कम आठ भाग पाया जाता है। क्योंकि देवों का आवागमन तृतीय पृथ्वी तक होता है जो कि मध्यलोक से ठीक दो राजू नीचे है वहाँ तक भवनवासी देवों का गमन पाया जाता है। यद्यपि सभी देव वहाँ तक जाते हैं जैसा कि सूत्र में पाया जाता है।

भवनवासी व्यन्तर ज्योतिषी मिथ्यादृष्टि देवों का स्पर्शन क्षेत्र कुछ कम आठ राजू पाया जाता है। अब प्रश्न यह है कि वे देव किस प्रकार जाते हैं? तो तीनों प्रकार के देव अपनी शक्ति से नीचे दो राजू यानी तृतीय पृथ्वी तक तथा ऊपर सौधर्म स्वर्ग के ध्वजदण्ड तक कुछ कम दो राजू नीचे डेढ़ राजू ऊपर इस प्रकार साढ़े तीन राजू स्वशक्ति से गमन पाया जाता है। मित्र देव की सहायता से वे देव ऊपर सोलहवें स्वर्ग तक गमन करते हैं जो यहाँ से छह राजू हैं इस प्रकार आठ राजू प्राप्त होता है। इसी प्रकार सौधर्मादि विमान से लेकर शतार, सहस्रार स्वर्ग पर्यंत जानना चाहिए विशेष इतना है कि वे देव स्वशक्ति से अपने अपने ध्वज दण्ड के विमान से ऊपर नहीं जा सकते किंतु मित्र देव की सहायता से सोलहवें स्वर्ग तक जा सकते हैं। कुछ कम से तात्पर्य है

तृतीय पृथ्वी के नीचे 1000 योजन तक नारकी नहीं रहते अत: वहाँ वे देव नहीं जाते इसी प्रकार यदि मनुष्यों का उदाहरण लेते हैं तो मनुष्यों का गमन ऊपर एक लाख योजन व तिरछे में 4500000 योजन ही पाया जाता है जो कि लोक का असंख्यातवाँ भाग ही है।

वेदना – जदो सरीरे वेयणा होदि सहणं ण होदि तदो आदा पदेसा मूल सरीरं ण छड्डमाणा बाहिर णिकिस्सेजं हि वेयणा सम्मुग्धादोत्ति। शरीर में तीव्र वेदना होने पर जब सहन नहीं होती है तो आत्मा के प्रदेश मूल शरीर को न छोड़कर बाहर निकल जाते हैं वह वेदना समुद्घात कहलाता है।

कषाय – (तिव्व कसायोदएण अप्प पदेसाणं सरीरादो णिस्सरणं कसाय समुद्घादो।)

तीव्र कषाय के उदय में आत्मा के प्रदेश शरीर से बाहर निकल जाते हैं उसे कषाय समुद्घाद कहते हैं।

वैक्रियिक समुद्घात – (मूल सरीरेण सह अणेग रूवाणं रचणा वे गुव्विस समुग्घादो। सो दुविहा पिथगेदर वेगुव्विया।)

मूल शरीर से अनेक रूपों की अथवा अनेक शरीरों की रचना करना। वैक्रियिक समुद्घात कहलाता है वह दो प्रकार का है पृथक् विक्रिया यानी अनेक प्रकार अलग अलग शरीरों की रचना करना पृथक् विक्रिया है।

अपृथक् विक्रिया में एक ही शरीर में अनेक रूपों को बनाना हल्का, भारी, सूक्ष्म स्थूल आदि बनाना अपृथक् विक्रिया है।

आहारक समुद्घात – (पमत्त गुणट्ठाणे मुणिस्स मणे संका उप्पज्ज माणे, तिस वंदणा भावणाए होइज्जमाणे मत्थेण एयं हत्थं धवलवण्णस्स पुत्तला णिक्कस्सज्जदि सो केवली पादमूले गच्छिज्जदि व जिणालयं वंदणा कुणदि सो आहारक समुग्घादो अत्थि अस्स फोसणं वि लोयस्स असंखेज्जदि भागो।)

अर्थ – छटवे गुणस्थानवर्ती मुनिराज के मन में जब कोई शंका उत्पन्न होती है अथवा तीर्थ वंदना की भावना होती है उस समय उनके मस्तक से धवल वर्ण का एक हाथ का पतुला निकलता है वह आहारक समुद्घात कहलाता है वह पुतला तीर्थंकर केवली के पादमूल में जाकर चरण स्पर्श करता है तो उनकी शंका का समाधान हो जाता है अथवा जिनालयों में जाकर वंदना करता है तो उनकी वंदना हो जाती है। इसका स्पर्शन क्षेत्र भी लोक का असंख्यातवाँ भाग ही होता है।

तैजस समुद्घात – (रिद्धिजुत्त पमत्त गुणट्ठाणी मुणिस्स जीवेसु अणुकंपा होइज्जमाणे दक्खिण खंधादो धवल वण्णस्स सुह तेजस पुत्तलो णिक्कस्सदि सो बारस जोजण त्तो सुभिक्खं पसरदि। इमत्तो विवरीदो कोप जुत्त मुणिस्स बाम खंधादो रत्तवण्णस्स विलाव आयारस्स असुह पुत्तला णिकसदि सो बारस जोजणत्तो दुब्भिख पसरदि अस्स फासो वि लोयस्स असंज्जदि भागो अत्थि।)

अर्थ – ऋद्धि युक्त प्रमत्त गुणस्थानवर्ती मुनिराज के जीवों में अनुकम्पा होने पर उनके दायें कंधे से धवल वर्ण का पुतला निकलता है वह बारह योजन तक सुभिक्ष फैलाता है तथा इसके विपरीत प्रमत्त संयत मुनिराज को जीवों पर कोप हो जाये तो उनके बायें कंधे से रक्त वर्ण बिलाव के आकार का पुतला निकलता है। जो बारह योजन तक दुर्भिक्ष फैलाता है। यह तैजस समुद्घात कहलाता है इसका स्पर्शन भी लोक का असंख्यातवाँ भाग है।

(मारणांतिक समुद्घात = मरणस्स अंतोमुहुत्त पुव्वं..... इत्थेव णा दव्वं) अर्थात् – मरण से पूर्व आत्मा के प्रदेश मूल शरीर को न छोड़कर बाहर निकल जाते हैं और वहाँ तक जाते हैं जहाँ उसे उत्पन्न होना है उसे मारणांतिक समुद्घात कहते हैं। जैसे– द्वितीय सासादन गुणस्थानवर्ती जीव मारणांतिक समुद्घात में लोक नाली के चौदह भागों में से कुछ कम बारह भाग स्पर्श करते हैं वह इस प्रकार है। यथा कोई नारकी छटवी पृथ्वी का मारणांति समुद्घात मध्य लोक तक करता है क्योंकि नारकी मरकर संज्ञी पंचेन्द्रिय गर्भज मनुष्य तिर्यंच ही बनता है अत: छटवी पृथ्वी यहाँ से पाँच राजू है अत: उसका इतना स्पर्शन बन जाता है।

इसी प्रकार कोई मनुष्य या तिर्यंच सासादन गुणस्थान वाला एकेन्द्रियों में उत्पन्न होता है और वह इषत्प्राग्भार पृथ्वी में उत्पन्न होता है तो उसका स्पर्शन सात राजू पाया जाता है इस प्रकार सात राजू + पाँच राजू = बारह राजू बन जाता है। मिथ्यादृष्टि जीवों

का स्पर्श मारणांतिक पद की अपेक्षा तथा विहारवत्, स्वस्थान, कषाय वेदना, विक्रिया, उपपाद इन सभी पदों की अपेक्षा सर्वलोक पाया जाता है। कभी कोई जीव त्रस नाली के बाहर से त्रस नाली में आ रहा है अथवा त्रस नाली से बाहर जाकर जन्म ले रहा है, तो उसका मारणांतिक व उपपाद दोनों पदों की अपेक्षा सर्वलोक बन जाता है। यहाँ एक बात और ज्ञातव्य है कि कोई भी मार्गणा में जहाँ स्पर्शन सर्वलोक पाया जाता है वहाँ सिर्फ मिथ्यादृष्टि ही लेना चाहिए पद जानकर लगा लेना चाहिए सासादन आदि गुणस्थान से सम्पन्न जीव त्रस नाली के बाहर जन्म नहीं लेते हैं ऐसा सिद्धान्त है।

(केवली समुद्घात = अघादी कम्माणं ठिदिं..... इयं तं सगखेत्तं विहोदि।) अर्थात् = घातिया कर्मों की स्थिति को आयु कर्म के बराबर करने के लिए केवली भगवान समुद्घात करते हैं। उस समय दण्ड = डंडे के समान सीधी पंक्ति में कुछ कम चौदह राजू लम्बे उनके आत्म प्रदेश का फैलना यह दण्ड समुद्घात है। कपाट = फाटक जिस प्रकार दोनों ओर खुलते हैं उसी प्रकार दोनों तरफ उनके आत्म प्रदेश फैल जाते हैं यहाँ तक उनका स्पर्शन लोक का असंख्यातवाँ भाग है। प्रतर = वातवलयों को छोड़कर सम्पूर्ण लोक में उनके आत्म प्रदेश फैल जाते हैं उसे प्रतर समुद्घात कहते हैं, यहाँ पर उन्होंने लोक का असंख्यात बहुभाग को स्पर्श किया है। लोकपूरण – सम्पूर्ण वात वलयों सहित पूरे लोक में आत्म प्रदेश फैल जाते हैं यह लोकपूरण समुद्घात कहलाता है इसमें सम्पूर्ण लोक को स्पर्श कर लेते हैं। इस प्रकार चार समय में फैलना पुन: पाँचवें समय में प्रतर, छटवे समय में कपाट सातवे समय दण्ड और आठवे समय में मूल शरीर में आ जाते हैं इस प्रकार केवली समुद्घात होता है। यही उनका स्वक्षेत्र भी होता है।

(उपपाद पद = एयं पज्जायादो मरिऊण विदिय पज्जाए उप्पज्जदि तं उप्पज्जस्स पढम समयं उववादं भणिदं।) अर्थात् = जीव एक पर्याय से मरण करके दूसरी पर्याय में उत्पन्न होता है, उस उत्पन्न होने के प्रथम समय को उपपाद कहते हैं अत: उपपाद से परिणत जीवों का सर्वलोक व लोक का असंख्यातवाँ भाग स्पर्शन बन जाता है। इस प्रकार से दश अवस्थाओं का संक्षेप से कथन करके प्रयोग विधि बतलाते हैं पुन: मार्गणा व गुणस्थानों में स्पर्शन का कथन करेंगे।

उदाहरणार्थ– क्षेत्र प्ररूपणा में सासादन सम्यग्दृष्टिओं का क्षेत्र लोक का असंख्यातवाँ भाग है। यह क्षेत्र वर्तमान काल से ही संबंध रखता है अर्थात् वर्तमान काल में इस समय स्वस्थानादि यथासंभव पदों को प्राप्त सासादन सम्यग्दृष्टि जीव लोक के असंख्यातवे भाग प्रमाण क्षेत्र को व्याप्त करके विद्यमान हैं। यही बात स्पर्शन प्ररूपणा में वर्तमान कालिक स्पर्शन को बताते समय कही है। उसके पश्चात् दूसरे सूत्र में अतीत काल सम्बन्धी क्षेत्र बतलाया गया है कि सासादन सम्यग्दृष्टि जीवों ने अतीत काल में आठ बटे चौदह (8/14) और बारह बटे चौदह (12/14) भाग स्पर्श किये हैं, इसका अभिप्राय जान लेना आवश्यक है वही कहते हैं। तीन सौ तेतालीस (343) घन राजू प्रमित इस लोकाकाश के ठीक मध्य भाग में वृक्ष में सार के समान एक राजू लम्बी एक राजू चौड़ी और चौदह राजू ऊँची लोक नाली अवस्थित है इसे त्रस नाली भी कहते हैं, क्योंकि त्रस जीवों का संसार इसके भीतर ही होता है केवल कुछ अपवाद हैं जिनमें कि इसके बाहर भी त्रस जीवों का पाया जाना संभव है। इस त्रस नाली के एक राजू लम्बे चौड़े और मोटे भाग बनाये जाये तो चौदह ही बनेंगे उनमें से जो जीव जितने घन राजू प्रमाण क्षेत्रों को स्पर्श करता है। उसका उतना ही स्पर्शन क्षेत्र माना जाता है जैसे प्रकृत में सासादन सम्यग्दृष्टियों का स्पर्शन क्षेत्र आठ बटे चौदह (8/14) राजू या बारह बटे चौदह राजू बतलाया गया है इनमें से विहारवत्, स्वस्थान, वेदना, कषाय और वैक्रियक समुद्घातगत सासादन सम्यग्दृष्टि जीवों ने उक्त त्रस नाली के चौदह भागों में से आठ भागों को स्पर्श किया है अर्थात् आठ घन राजू प्रमाण त्रस नाली के भीतर एक भी प्रदेश ऐसा नहीं है, जिसे सासादन सम्यग्दृष्टि जीवों (देव, तिर्यंच, मनुष्य, नारकी इन सभी) ने मिलकर स्पर्श न किया हो यह क्षेत्र आठ घन राजू क्षेत्र नाली में जहाँ कहीं से नहीं लेना चाहिए किन्तु नीचे तीसरी बालूका पृथ्वी से लेकर ऊपर सोलहवें अच्युत कल्प तक लेना चाहिए। इसका कारण यह है कि भवनवासी देव स्वत: नीचे तीसरी पृथ्वी तक विहार करते हैं और ऊपर सौधर्म स्वर्ग के ध्वजदण्ड तक अपनी शक्ति से विहार कर सकते हैं उससे ऊपर किसी मित्र देव की सहायता से सोलहवें अच्युत स्वर्ग तक जा सकते हैं इस प्रकार तीसरी पृथ्वी, चित्रा पृथ्वी से दो राजू तथा अच्युत कल्प चित्रा पृथ्वी से छह राजू की

दूरी पर है। सौधर्म स्वर्ग 1½ राजू की दूरी पर है। इस प्रकार सासादन सम्यग्दृष्टियों का विहारवत् उत्कृष्ट स्पर्शन आठ राजू प्राप्त होता है यानी इतने क्षेत्र में जितने भी आकाश के प्रदेश हैं उनमें एक भी प्रदेश ऐसा नहीं है जिसे अतीतकाल में उक्त गुणस्थान वालों ने स्पर्श न किया हो। मारणांतिक समुद्घात की अपेक्षा उक्त गुणस्थानवर्ती जीवों ने लोक नाली के चौदह भागों में से बाहर भाग स्पर्श किये हैं क्योंकि छटवीं पृथ्वी का सासादन सम्यग्दृष्टि नारकी मध्यलोक में तिर्यंचों में मारणांतिक समुद्घात कर सकता है। अत: उसका पाँच राजू स्पर्श बन जाता है। इसी प्रकार कोई देव सिद्धक्षेत्र लोक नाली के अन्त में एकेन्द्रियों में मारणांतिक समुद्घात करता है तो यहाँ से सिद्ध शिला सात राजू ऊपर है। अत: सात राजू + पाँच राजू = 12 राजू हुआ अर्थात् 12 राजू लम्बे, एक राजू चौड़े, एक राजू मोटे क्षेत्र में एक भी प्रदेश ऐसा नहीं है जिसे उक्त गुणस्थान वालों ने स्पर्श न किया हो। अत: मारणांतिक समुद्घात की अपेक्षा उक्त 12 राजू क्षेत्र बन जाता है। उक्त प्रकार से बतलाये गये स्पर्शन क्षेत्र को यथासंभव जान लेना चाहिए। ध्यान रखने की बात केवल इतनी है कि वर्तमान कालिक स्पर्शन क्षेत्र तो लोक के असंख्यातवें भाग प्रमाण होता है, किन्तु अतीत कालिक स्पर्शन क्षेत्र त्रस नाली के चौदह भागों में से यथासंभव 1/14,2/14 राजू को आदि लेकर 12/14 राजू तक होता है। मिथ्यादृष्टि जीवों का मारणंतिक, वेदना, कषाय समुद्घात आदि की अपेक्षा सर्वलोक स्पर्शन क्षेत्र होता है क्योंकि सारे लोक में सर्वत्र ही एकेन्द्रिय जीव ठसाठस भरे हैं और गमनागमन कर रहे हैं। अतएव उनके द्वारा वर्तमान में भी सर्वलोक स्पर्श किया जा रहा है और अतीतकाल में भी स्पर्श किया जा चुका है। इन एकेन्द्रियों के अलावा सयोग केवली भगवान भी प्रतर समुद्घात के समय लोक के असंख्यात बहुभागों को स्पर्शन कर लेते हैं और लोकपूरण समुद्घात के समय सर्व लोकाकाश को स्पर्श करते हैं तथा उपपाद और मारणांतिक समुद्घात वाले त्रस जीवों का भी त्रस नाली के बाहर भी अस्तित्व पाया जाता है, वह इस प्रकार से कि लोक के अन्तिम वातवलय में स्थित कोई जीव मरण करके विग्रहगति के द्वारा त्रस नाली के अन्त:स्थित त्रस पर्याय में उत्पन्न होने वाला है वह जीव जिस समय मरण करके प्रथम मोड़ा लेता है, उस समय त्रस पर्याय को प्राप्त वह त्रस नाली के बाहर है। अतएव उपपाद की अपेक्षा त्रस जीव त्रस नाली के बाहर रहता है। इसी प्रकार त्रस नाली में स्थित किसी ऐसे त्रस जीव ने जिसे कि त्रस नाली के बाहर मरकर उत्पन्न होना है। मारणांतिक समुद्घात के द्वारा त्रस नाली के बाहर के आकाश प्रदेशों का स्पर्शन किया है तो उस समय भी त्रस जीव का अस्तित्व त्रस नाली के बाहर पाया जाता है, उक्त तीन अवस्थाओं को छोड़कर शेष त्रस नाली के बाहर त्रस जीव कभी नहीं पाये जाते।

इस प्रकार चौदह गुणस्थानों में चौदह मार्गणाओं में उक्त स्वस्थानादि दश पदों को प्राप्त जीवों का स्पर्शन क्षेत्र मूल ग्रंथ में किया गया है, यह सब विषय धवला जी पुस्तक चार पृष्ठ संख्या 212 में तथा पृष्ठ संख्या 229 में मुद्रित है। यहाँ स्पर्शन ज्योतिषी देव की प्रधानता से भी जाना जा सकता है क्योंकि यह राशि सर्वाधिक है तथा सम्पूर्ण एक राजू में व्याप्त है।

अब गुणस्थानों और मार्गणाओं में प्रयोग विधि के द्वारा जानते हैं कि कौन से जीव ने कितना क्षेत्र स्पर्श किया है।

गुणस्थान व मार्गणाओं में जीवों का स्पर्श

मिथ्यादृष्टि गुणस्थान – सभी पदों की अपेक्षा सर्वलोक

सासादन सम्यग्दृष्टि – लोक का असंख्यातवाँ भाग व 8/14, 12/14, 11/14 राजू

सम्यग्मिथ्यादृष्टि – लोक का असंख्यातवाँ भाग व कुछ कम 8/14 राजू

अविरत – लोक का असंख्यातवाँ भाग व कुछ कम 8/14 राजू

देशविरत – लोक का असंख्यातवाँ भाग व कुछ कम 6/14 राजू

प्रमत्त विरत – लोक का असंख्यातवाँ भाग

अप्रमत्त – लोक का असंख्यातवाँ भाग

अपूर्वकरण – लोक का असंख्यातवाँ भाग

अनिवृत्तिकरण – लोक का असंख्यातवाँ भाग

सूक्ष्म सांपराय – लोक का असंख्यातवाँ भाग
उपशांत मोह – लोक का असंख्यातवाँ भाग
क्षीण मोह – लोक का असंख्यातवाँ भाग
सयोग केवली – लोक का असंख्यातवाँ भाग, असंख्यात बहुभाग, सर्वलोक
अयोग केवली – लोक का असंख्यातवाँ भाग

गति मार्गणा

नरक गति – लोक का असंख्यातवाँ भाग व कुछ कम 6/14 राजू
प्रथम नरक में मिथ्या से अविरत तक – लोक का असंख्यातवाँ भाग सभी पदों की अपेक्षा
द्वितीय नरक में प्रथम, द्वितीय गुणस्थान – लोक का असंख्यातवाँ भाग व कुछ कम 1/14 राजू
अविरत व मिश्र – लोक का असंख्यातवाँ भाग
तृतीय नरक प्रथम व द्वितीय गुणस्थान – लोक का असंख्यातवाँ भाग व कुछ कम 2/14 राजू
मिश्र, अविरत – लोक का असंख्यातवाँ भाग
चतुर्थ नरक में प्रथम, द्वितीय गुणस्थान – लोक का असंख्यातवाँ भाग व कुछ कम 3/14 राजू
मिश्र व अविरत – लोक का असंख्यातवाँ भाग
पंचम नरक में प्रथम व द्वितीय गुणस्थान – लोक का असंख्यातवाँ भाग व कुछ कम 4/14 राजू
मिश्र, अविरत गुणस्थान – लोक का असंख्यातवाँ भाग
छटवें नरक में प्रथम व द्वितीय गुणस्थान–लोक का असंख्यातवाँ भाग व कुछ कम 5/14 राजू
मिश्र, अविरत गुणस्थान – लोक का असंख्यातवाँ भाग
सातवीं पृथ्वी में प्रथम गुणस्थान – लोक का असंख्यातवाँ भाग व कुछ कम 6/14 राजू
सासादन, मिश्र व अविरत गुणस्थान – लोक का असंख्यातवाँ भाग

तिर्यंच सामान्य

सामान्य तिर्यंच – सर्वलोक (ओघ के समान)

तिर्यंच सासादन गुणस्थान – लोक का असंख्यातवाँ भाग व कुछ कम 7/14 राजू
तिर्यंच सम्यग्मिथ्यादृष्टि – लोक का असंख्यातवाँ भाग
तिर्यंच सम्यग्दृष्टि – लोक का असंख्यातवाँ भाग व कुछ कम 6/14 राजू
तिर्यंच देशविरत – लोक का असंख्यातवाँ भाग व कुछ कम 6/14 राजू

पञ्चेन्द्रिय तिर्यंच

सामान्य से लोक का असंख्यातवाँ भाग व सर्वलोक
मिथ्यादृष्टि – लोक का असंख्यातवाँ भाग व सर्वलोक
सासादन – लोक का असंख्यातवाँ भाग व कुछ कम 7/14 राजू
मिश्र – लोक का असंख्यातवाँ भाग
अविरत/देशविरत – लोक का असंख्यातवाँ भाग व कुछ कम 6/14 राजू

तिर्यञ्चनी

सामान्य – लोक का असंख्यातवाँ भाग व मा., उ. सर्वलोक

मिथ्यादृष्टि – लोक का असंख्यातवाँ भाग व सर्वलोक

सासादन सम्यक् दृष्टि – लोक का असंख्यातवाँ भाग व कुछ कम 7/14 राजू

मिश्र गुणस्थान – लोक का असंख्यातवाँ भाग

अविरत व देशविरत – लोक का असंख्यातवाँ भाग व कुछ कम 6/14 राजू

लब्ध्यपर्याप्तक तिर्यंच – लोक का असंख्यातवाँ भाग व सर्वलोक

मनुष्य

मनुष्य गति सामान्य – लोक का असंख्यातवाँ भाग व सर्वलोक

मिथ्यादृष्टि – लोक का असंख्यातवाँ भाग व सर्वलोक

सासादन – लोक का असंख्यातवाँ भाग मा.उ. कुछ कम 7/14 राजू

मिश्र – लोक का असंख्यातवाँ भाग

अविरत – लोक का असंख्यातवाँ भाग

देशविरत – लोक का असंख्यातवाँ भाग

सामान्य मनुष्य –गुणस्थानवत् जानना चाहिए।

लब्ध्यपर्याप्तक – सामान्य मनुष्यवत् जानना चाहिए। (लोक का असंख्यातवाँ भाग सर्वलोक)

देवगति

तीनों प्रकार के देव सौधर्मादि सहस्रार पर्यंत, मिथ्यादृष्टि, सासादन = लोक का असंख्यातवाँ भाग व कुछ कम 8/14 राजू मा. = 9/14 उप. तीनों निकाय लो. का असंख्यातवाँ भाग विहारादि की अपेक्षा स्वशक्ति कुछ कम 3½/14 राजू मित्रवत् 8/14 राजू।

सौधर्मादि सहस्रार पर्यंत उप. 3/28, 3/14, आगे आधा आधा राजू जोड़ते जाये उन्हीं देवों में मिश्रगुण गुणस्थान लोक का असंख्यातवाँ भाग व कुछ कम 8/14 राजू, अविरत = लोक का असंख्यातवाँ भाग, 8/14 राजू. उ. 3/28, 3/14, 5/14 राजू, आनंत. प्राण. आर. अच्यु.= लोक का असंख्यातवाँ भाग व कुछ कम 6/14 राजू नव अनुदिश से सर्वार्थसिद्धि पर्यंत सभी पदों की अपेक्षा लोक का असंख्यातवाँ भाग।

देवियों में स्व. लोक का असंख्यातवां भाग विहारादि की अपेक्षा कुछ कम 8/14 राजू, उप. 1½/14 राजू

नोट – देवगति से संबंध रखने वाली सभी मार्गणाओं का इसी प्रकार बनेगा मनु. गति संबंधी गुणस्थानवत् तिर्यंच गति संबंधी 1–5 गुणस्थानवत् नरक गति स्वस्थान, विहार, वेदना, विक्रिया, कषाय इन पदों का लोक का असंख्यातवाँ भाग ही बनेगा मा. व उप. क्रमश: लोक का असंख्यातवाँ भाग पुन: 1,2,3,4,5,6 राजू इस प्रकार जानना चाहिए।

इन्द्रिय मार्गणा

एकेन्द्रिय –

बादर व सूक्ष्म पर्याप्त व अपर्याप्त = सर्वलोक, बादर – लोक का असंख्यातवाँ व सर्वलोक

2–4 इन्द्रिय = लोक का असंख्यातवाँ भाग व सर्वलोक

पंचेन्द्रिय मि. लोक का असंख्यातवाँ भाग, कुछ कम 8/14, सर्वलोक

2–14 गुणस्थान = ओघवत्

काय मार्गणा सामान्य व पृथ्वी कायिक सा.

काय मार्गणा व पृथ्वीकायिक सामान्य = सर्वलोक

पृथ्वीकायिक बादर पर्याप्त = लोक का असंख्यातवाँ भाग व सर्वलोक, अपर्याप्त = सर्वलोक

पृथ्वीकायिक सूक्ष्म = सर्वलोक
इसी प्रकार शेष कायिकों में जानना चाहिए।
वनस्पति कायिक सामान्य व साधारण वनस्पति कायिक सामान्य = सर्वलोक
प्रत्येक वन. अप्र. सामान्य = लोक का असंख्यातवाँ भाग व सर्वलोक
बादर वनस्पति नि. निगोद, इतर नि. पर्याप्त अपर्याप्त–सर्वलोक
त्रस कायिक = पर्याप्त पंचेन्द्रियवत् अपर्याप्त गुणस्थानवत्
लब्धि अपर्याप्तक = सर्वलोक
अकाय = लोक का असंख्यातवाँ भाग
योग मार्गणा = मनोयोगी = देवगति के समान व गुणस्थानवत्
वचनयोगी मिथ्यादृष्टि = लोक का असंख्यातवाँ भाग, सर्वलोक, कुछ कम 8/14 राजू. 2–13 गुणस्थान तक ओघवत्
काययोगी सामान्य = ओघवत्
औदारिक काययोग सामान्य मिथ्यादृष्टि = लोक का असंख्यातवाँ भाग/सर्वलोक (ओघवत्)
सासादन = लोक का असंख्यातवाँ भाग व कुछ कम 7/14 राजू
मिश्र = लोक का असंख्यातवाँ भाग
अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरत = लोक का असंख्यातवाँ भाग व कुछ कम 6/14 राजू
6–13 गुणस्थान तक = मनोयोगियों के समान
औदारिक मिश्र = सर्वलोक व लोक का असंख्यातवाँ भाग
मिथ्यादृष्टि = सर्वलोक (ओघवत्)
सासादन = लोक का असंख्यातवाँ भाग व उप. कुछ कम 7/14 राजू
अविरत = लोक का असंख्यातवाँ भाग
सयोग केवली = लोक का असंख्यातवाँ भाग
वैक्रियिक काययोग= सामान्य, मि. गु., अवि. गु. = लोक का असंख्यातवाँ भाग व कुछ कम 8/14 राजू, 13/14 राजू
मिथ्यात्व = लोक का असंख्यातवाँ भाग/कुछ कम 8/14 राजू/13/14 राजू
सासादन, मिश्र, अवि. गु. = ओघवत्
वैक्रियक मिश्र काययोगी मिथ्या. सा. अवि.गु.= लोक का असंख्यातवाँ भाग
आहारक काय योगी आहारक मिश्रकाय योगी = लोक का असंख्यातवाँ भाग

कार्माण काय योगी

कार्माण काययोगी सयोगकेवली= लोक का असंख्यातवा भाग व सर्वलोक सामान्य, मि. गु. = सर्वलोक
सासादन = लोक का असंख्यातवाँ भाग, 11/14 अथवा 12/14 राजू
अविरत = लोक का असंख्यातवाँ भाग व 6/14 राजू

वेद मार्गणा स्त्री वेदी

सामान्य, प्रथम गुणस्थान = लोक का असंख्यातवाँ भाग, कुछ कम 8/14 राजू व सर्वलोक
सासादन गुणस्थान = लोक का असंख्यातवाँ भाग, कुछ कम 8/14, 11/14, 12/14 राजू
मिश्र गुणस्थान = लोक का असंख्यातवाँ भाग, कुछ कम 8/14 राजू
अविरत = लोक का असंख्यातवाँ भाग, कुछ कम 8/14 राजू
देशविरत = लोक का असंख्यातवाँ भाग, कुछ कम 6/14 राजू
6–9 गुणस्थान : ओघवत्

पुरुष वेदी

सामान्य व प्रथम गुणस्थान = लोक का असंख्यातवाँ भाग व कुछ कम 8/14 राजू व सर्वलोक
सासादन = लोक का असंख्यातवाँ भाग व कुछ कम 8/14, 9/14, उप. 11/14 राजू
मिश्र = लोक का असंख्यातवाँ भाग व कुछ कम 8/14
अविरत = लोक का असंख्यातवाँ भाग व कुछ कम 8/14 राजू
देशविरत = लोक का असंख्यातवाँ भाग व कुछ कम 6/14 राजू
प्रमत्तादि = ओघवत्

नपुंसक वेदी

सामान्य व मिथ्यादृष्टि = सर्वलोक
सासादन = लोक का असंख्यातवाँ भाग, मा. कुछ कम 12/14 राजू व उ. 11/14 या 12/14 राजू
मिश्र = लोक का असंख्यातवाँ भाग
अविरत = लोक का असंख्यातवाँ भाग व कुछ कम 6/14 राजू
देशविरत = लोक का असंख्यातवाँ भाग व कुछ कम 6/14 राजू
प्रमत्तविरत–अनि. करण = ओघवत्

कषाय मार्गणा

क्रोध कषायी मिथ्यादृष्टि जीवों ने सर्वलोक स्पर्श किया है सासादन से लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थान तक ओघवत् जानना चाहिए।

नोट – मान, माया कषाय का क्रोघ कषायवत् व लोभ का इसी प्रकार फर्क इतना है यहाँ सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान भी होता है।

अकषाय उप. व क्षीणमोह गुणस्थान अयोग केवली, सिद्ध = लोक का असंख्यातवाँ भाग
अकषाय सयोग केवली = लोक का असंख्यातवाँ भाग, लोक का असंख्यातवाँ बहुभाग व सर्वलोक

ज्ञान मार्गणा मत्याज्ञानी श्रुताज्ञानी

सामान्य = सर्वलोक, कुछ कम 8/14 राजू
मिथ्यादृष्टि = सर्वलोक, वि. विक्रि. कषाय कुछ कम 8/14 राजू
सासादन = ओघवत्

विभंग ज्ञानी

सामान्य, मिथ्यात्व गुणस्थान = लोक का असंख्यातवाँ भाग व कुछ कम 8/14 राजू
सासादन गुणस्थान = लोक का असंख्यातवाँ भाग व कुछ कम 8/14 व 12/14 राजू

मति, श्रुत, अवधिज्ञान सामान्य

गुणस्थान सामान्य = लोक का असंख्यातवाँ भाग व कुछ कम 8/14 राजू
असंयत = लोक का असंख्यातवाँ भाग व कुछ कम 6/14 राजू
संयतासंयत–क्षीण मोह = ओघवत्

मन: पर्यय ज्ञान

सामान्य + प्रमत्तविरत – क्षीण मोह = लोक का असंख्यातवाँ भाग

केवलज्ञान

सामान्य + सयोग केवली = लोक का असंख्यातवाँ भाग, असंख्यात बहुभाग, सर्वलोक

अयोग केवली = लोक का असंख्यातवाँ भाग

संयम मार्गणा

सामायिक, छेदोपस्थापन, परि. वि. सू. सा. = ओघवत्, लोक का असंख्यातवाँ भाग

यथाख्यात – उप. मोह, क्षीण मोह, अयोग केवली = ओघवत् (लोक का असंख्यातवाँ भाग)

सयोग केवली= लोक का असंख्यातवाँ भाग, असंख्यात बहुभाग, सर्वलोक

संयतासंयत = (ओघवत्) लोक का असंख्यातवाँ भाग व कुछ कम 6/14 राजू

असंयत, 1,2,3,4 (ओघवत्) स्व. स्व. गुणस्थानवत्

दर्शन मार्गणा चक्षुदर्शन

सामान्य = लोक का असंख्यातवाँ भाग, कुछ कम 8/14 राजू सर्वलोक

मिथ्यात्व गुणस्थान = लोक का असंख्यातवाँ भाग, वि. वे. वि. कषा. कुछ कम 8/14 राजू व मा. उ. सर्वलोक

2,3,4,5,6,7,8,9,10,11,12 गुणस्थान = ओघवत्

अचक्षु दर्शन

मिथ्यात्व गुणस्थान = ओघवत् (सर्वलोक)

2–12 गुणस्थान = ओघवत्

अवधि दर्शन

अवधि ज्ञानियों के समान स्पर्शन जानना चाहिए

अर्थात् लोक का असंख्यातवाँ भाग, कुछ कम 6/14 व 8/14 राजू

केवल दर्शन

केवल ज्ञानियों के समान जानना चाहिए अर्थात् लोक का असंख्यातवाँ भाग, असंख्यातवाँ बहुभाग, सर्वलोक

लेश्या मार्गणा/कृष्ण लेश्या सा.

मिथ्यादृष्टि गुणस्थान = ओघवत्, सर्वलोक

सासादन = लोक का असंख्यातवाँ भाग व कुछ कम 5/14 राजू

मिश्र, अविरत = लोक का असंख्यातवाँ भाग

नोट – नील लेश्या का कथन कृष्ण लेश्या के समान समझना चाहिए विशेषता इतनी है कि उसका स्पर्शन मा. पद की अपेक्षा कुछ कम चार राजू बनेगा।

कापोत लेश्या (सा.)

सामान्य व मिथ्यात्व गुणस्थान = सर्वलोक (ओघवत्)

सासादन = लोक का असंख्यातवाँ भाग व मा. कुछ कम 2/14 राजू

मिश्र व अविरत = लोक का असंख्यातवाँ भाग

पीत लेश्या (लेश्या मार्गणा)

सामान्य मिश्र गुणस्थान = लोक का असंख्यातवाँ भाग, वि. वे. वि. क. कुछ कम 8/14, उप. 3/28 मा.=9/14 राजू

मिथ्यादृष्टि, सासादन (पी. ले.) = लोक का असंख्यातवाँ भाग व कुछ कम 8/14, 9/14, उप. 3/28 राजू मा. 9/14 राजू

मिश्र = लोक का असंख्यातवाँ भाग, कुछ कम 8/14 राजू

अविरत, देशविरत = लोक का असंख्यातवाँ भाग मा. कुछ कम 3/28 राजू
प्रमत्त, अप्रमत्त गुणस्थान = (ओघवत्) लोक का असंख्यातवाँ भाग

पद्म लेश्या

मिथ्यादृष्टि सासादन = लोक का असंख्यातवाँ भाग व वि. वे. वि. क. कुछ कम 8/14 राजू, मा. उप. 5/14 राजू
मिश्र गुणस्थान = लोक का असंख्यातवाँ भाग व कुछ कम 8/14 राजू
अविरत = लोक का असंख्यातवाँ भाग, वि. वे. वि. क. कुछ कम 8/14 राजू
देशविरत = लोक का असंख्यातवाँ भाग, मा. कुछ कम 5/14 राजू
प्रमत्ताप्रमत्त = लोक का असंख्यातवाँ भाग

शुक्ल लेश्या

सामान्य व मिथ्यादृष्टि से संयतासंयत तक = लोक का असंख्यातवाँ भाग व कुछ कम 6/14 राजू
प्रमत्त संयत से क्षीण मोह गुणस्थान पर्यंत = ओघवत् (लोक का असंख्यातवाँ भाग)
सयोग केवली = लोक का असंख्यातवाँ भाग व सर्वलोक
अलेश्या = लोक का असंख्यातवाँ भाग

भव्य मार्गणा

सामान्य = सामान्य आलापवत् सर्वलोक = व लोक का असंख्यातवाँ भाग
नोट – भव्यों के सभी आलाप गुणस्थानवत्
अभव्यों के मिथ्यात्व गुणस्थानवत् (सर्वलोक, लोक का असंख्यातवाँ भाग व कुछ कम 8/14 राजू)

सम्यक्त्व मार्गणा

मिथ्यात्व, सासादन, मिश्रगुणस्थान = ओघवत्

क्षायिक सम्यक्त्व

सामान्य = लोक का असंख्यातवाँ भाग असंख्यातवाँ बहुभाग, सर्वलोक
अविरत = लोक का असंख्यातवाँ भाग, कुछ कम 8/14 राजू
देशविरत से क्षीणमोह पर्यंत = लोक का असंख्यातवाँ भाग
अयोग केवली = लोक का असंख्यातवाँ भाग
सयोग केवली = सामान्यवत्

क्षयोपशम सम्यक्त्व

सामान्य = लोक का असंख्यातवाँ भाग, कुछ कम 8/14 व 6/14 राजू
अविरत गुणस्थान = सामान्यवत्
देशविरत = लोक का असंख्यातवाँ भाग व कुछ कम 6/14 राजू
प्रमत्ताप्रमत्त संयत = ओघवत्

उपशम सम्यक्त्व

सामान्य = लोक का असंख्यातवाँ भाग व कुछ कम 8/14 राजू
अविरत सम्यक्त्व = सामान्यवत्
देशविरत = लोक का असंख्यातवाँ भाग
प्रमत्त संयत से–उपशांत मोह = लोक का असंख्यातवाँ भाग

संज्ञी मार्गणा

संज्ञी सामान्य =लोक का असंख्यातवाँ भाग, वि. वे. वि. क.मा.उ. कुछ कम 8/14 राजू

सासादन मिश्रगुण. = लोक का असंख्यातवाँ भाग व कुछ कम 8/14 राजू
अविरत = लोक का असंख्यातवाँ भाग व कुछ कम 8/14 व उपपाद कुछ कम 6/14 राजू
देशविरत = लोक का असंख्यातवाँ भाग व कुछ कम 6/14 राजू
प्रमत्त से क्षीण मोह पर्यन्त = ओघवत् (लोक का असंख्यातवाँ भाग)
असंज्ञी = विकलत्रय के समान जानना चाहिए

आहार मार्गणा (आहारक)

सामान्य = सर्वलोक
मिथ्यादृष्टि = सर्वलोक
सासादन = ओघवत्
मिश्र व अविरत = लोक का असंख्यातवाँ भाग व कुछ कम 8/14 राजू
देशविरत = लोक का असंख्यातवाँ भाग व कुछ कम 6/14 राजू
प्रमत्तादि = ओघवत् (लोक का असंख्यातवाँ भाग)
सयोग केवली = लोक का असंख्यातवाँ भाग, असंख्यातवाँ बहुभाग सर्वलोक

अनाहारक

सामान्य = सर्वलोक
मिथ्यात्व गुणस्थान = सर्वलोक
सासादन = लोक का असंख्यातवाँ भाग व कुछ कम 11/14 राजू
असंयत = लोक का असंख्यातवाँ भाग व कुछ कम 6/14 राजू
सयोग केवली = लोक के असंख्यातवें बहुभाग व सर्वलोक को स्पर्श किया है।
अयोग केवली = लोक का असंख्यातवाँ भाग

इस प्रकार गुणस्थानों में व मार्गणाओं में 'जीवों' के द्वारा त्रैकाल में कितना क्षेत्र स्पर्श किया है इसका विस्तार पूर्ण विवेचन धवला पुस्तक चार व सात में किया गया है। कथन दो प्रकार से किया जाता है एक सामान्य एक विशेष यहाँ हम सामान्य को मार्गणा भी कह सकते हैं और विशेष को गुणस्थान कह सकते हैं। यद्यपि शास्त्रकारों ने गुणस्थानों को सामान्य कहा है। जैसा कि ओघ या सामान्य आदेश या विशेष किन्तु यहाँ जो कथन करने की पद्धति है उससे तो यही प्रतीत होता है कि यहाँ सामान्य मार्गणा को स्वीकारा है व विशेष कथन गुणस्थानों के माध्यम से किया है। जैसे मनुष्य गति अब ये मार्गणा है और इसके अनुसार मनुष्यों ने मारणांतिक समुद्घात व उपपाद की अपेक्षा सर्वलोक स्पर्श किया है, पश्चात् उस मार्गणा में विशेष दिखलाते हुये अलग-अलग गुणस्थानों के जीवों ने अलग अलग स्पर्श किया। जैसे चतुर्थ गुणस्थान वाले जीवों ने लोक का असंख्यातवाँ भाग स्पर्श किया है। इसी प्रकार अन्य-अन्य गुणस्थानों में स्पर्श बनता है किन्तु मार्गणा सामान्य की अपेक्षा उन्हीं मनुष्यों का सर्वलोक स्पर्श बनता है। इस प्रकार हमने स्पर्श को जाना, समझा और जीवों की कौन-कौन सी अवस्था कहाँ कहाँ बनती है इस बात का पता चलता है, जीवों का समुदाय तीनों लोकों में किसी न किसी पर्याय विशेष से परिणत होकर तीनों लोकों में व्याप्त है जरा सा भी स्थान खाली नहीं है।

और इस प्रकार जानकर उन जीवों पर दया धारण कर अपने जीवन में पुण्य का उपार्जन करें ज्ञान में वृद्धि व कर्मों की विशेष निर्जरा इस ग्रंथ को पढ़ने का फल है। पूर्ण फल केवलज्ञान निर्वाण की प्राप्ति है जो आगामी काल में फलीभूत होगा।

।। ॐ नमः।।

संदर्भ सूची-

1. षट्खण्डागम ध.पु. 4
2. कषाय पाहुड़
3. चउतीस स्थान दर्शन
4. जैनेन्द्र सिद्धांत कोश

संख्या की व्यापकता तथा गुणस्थान व मार्गणाओं में जीवों की संख्या

श्रमणी आर्यिका विमुदश्री माताजी

मंगलाचरण

मंगलं भगवान अर्हन्, मंगलं गुरु गणधर,
मंगलं धरसेन स्वामिन्, मंगलं भूतपुष्पकं ।
मंगलं विमल विरागं च, मंगलं मम गुरुवरम्,
मंगलं ठाण चउतीसं, जयतु जिन शासनम् ।।

भगवान महावीर की अक्षुण्ण धारा में अनेकानेक तत्त्वान्वेषी आचार्यगण हुए हैं जिनने जैन वाङ्मय को सुसज्जित किया है। उन्हीं पूर्वाचार्यों की परम्परा को ध्यान में रखते हुए उसमें एक शृंखला और जोड़ने का सफल प्रयास किया है पूज्य गुरुवर उच्चारणाचार्य 108 श्री विनम्रसागर जी गुरुदेव जिनके द्वारा रचित ''सिद्धान्त प्रबोध (चौंतीस स्थान दर्शन)'' जिसमें मैंने प्रयास किया है ''संख्या की व्यापकता तथा गुणस्थानों व मार्गणाओं में जीवों की संख्या पर प्रकाश डालने का।

24 ठाणा सबसे सुनने में आता है, चर्चा में है परन्तु पूज्य गुरुदेव ने इन 24 स्थानों में 10 स्थान (संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव, अवगाहना, बंध, उदय व सत्त्व) को और जोड़कर इस चौंतीस स्थान दर्शन ग्रंथ की रचना की। इन चौंतीस स्थानों में से मेरा विषय ''संख्या की व्यापकता तथा गुणस्थानों व मार्गणाओं में जीवों की संख्या का विवेचन'' है। आइये जानते हैं कि संख्याएँ कब से हैं व कितनी हैं?

द्वादशांग यद्यपि अनादिकाल से है और रहेगा। न तो इसे किसी ने उत्पन्न किया है और न कोई इसे समाप्त कर सकेगा। कहा भी है ''सिद्धों वर्ण समाम्नाय'' अर्थात् वर्ण कहो या अंक कहो यह अनादि काल से है अनंत काल तक रहेंगे जैसे कि सिद्ध अनादि काल से है और अनंत काल तक रहेंगे।

इस युग के प्रथम तीर्थंकर वृषभदेव हुये उन्होंने षट् कर्त्तव्यों का उपदेश दिया। लेखन कला का प्रारम्भ उनकी पुत्री ब्राह्मी–सुन्दरी के माध्यम से हुआ। भगवान वृषभदेव ने ब्राह्मी को वर्ण एवं सुन्दरी को अंक विद्या प्रदान की। वहीं से यह गणीतिय पद्धति का प्रारम्भ हुई। जैन शास्त्रों में गणित का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है बिना गणित के जैन आगम को पढ़ना और समझना मुश्किल ही नहीं असंभव है। हमारे अर्वाचिन आचार्यों ने गणित शास्त्र पर विशेष जोर दिया। भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात् (633 वर्ष पश्चात्) षट्खण्डागम ग्रंथ की रचना हुई जिसमें गणित सूत्रों का विशद् विवेचन मिलता है। आचार्य पुष्पदंत व आचार्य भूतबली के इस षट्खण्डागम ग्रंथ में और उनके पश्चात् के प्राय: सभी ग्रंथों में संख्यात, असंख्यात और अनन्त शब्द बिल्कुल साधारण शैली में उपयोग में लाये जाते हैं मानो ये हमसे अपरिचित ही नहीं हैं।

लौकिक गणित में/वैदिक गणित में 19 अंक तक की संख्या का प्रमाण है अर्थात् एक अंक की संख्या को इकाई, दो अंक की संख्या को दहाई, तीन अंक की संख्या को सैकड़ा, चार अंक की संख्या को हजार इसी प्रकार क्रमश: दस हजार, लाख, दस लाख, करोड़, दस करोड़, अरब, दस अरब, खरब, दस खरब, नील, दस नील, पद्म, दस पद्म इस प्रकार उन्नीस अंक की संख्या को दस शंख के रूप में पढ़ा जाता है। इससे आगे आने वाली संख्याओं को असंख्यात व अनन्त कह दिया जाता है। जहाँ लौकिक गणित का अंत होता है वहाँ से अलौकिक गणित प्रारम्भ होती है।

लेकिन जैन गणित में संख्याएँ अति दीर्घता को लिए व्याप्त है जिनका उल्लेख अर्वाचिन ऋषियों ने/आचार्य भगवन्तों ने करणानुयोग के ग्रंथों में बड़ी अच्छी तरह से किया है। षट्खण्डागम, राजवार्तिक, जम्बूद्वीप पण्णत्ति, त्रिलोकसार, तिलोय पण्णत्ति आदि ग्रंथों में इन संख्याओं का भलीभाँति विश्लेषण किया है। आचार्य यतिवृषभ ने 150 अंक तक की संख्या को उच्चारण

करके बताया है किन्तु आचार्य वीरसेन स्वामी ने 2 का तीन बार वर्गित-संवर्गित करके 617 अंक की संख्या प्राप्त करके दिखलाया है लेकिन इस संख्या का उच्चारण नहीं किया जा सकता किन्तु उसे भी संख्यात ही कहा है। असंख्यात की श्रेणी से अभी भी यह संख्या बहुत दूर है।

जैसे 19 अंक की संख्या को 10 शंख कहा है वैसे ही 150 अंक की संख्या को अचलात्मक, 121 अंकों की संख्या को लता, 67 अंक की संख्या को कमल कहा जाता है। धवला पुस्तक - नं. 3 व 5, जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश नं.-2, तिलोय पण्णत्ति, राजवार्तिक में 1 से 150 अंक तक की संख्या को क्या-क्या कहा जाता है सब लिखा है, यहाँ विस्तार के भय से नहीं बताया जा रहा है।

संख्यात, असंख्यात और अनन्त के भेद से संख्या प्रमाण तीन प्रकार का है। इनमें संख्यात एक ही प्रकार का है किन्तु परीतासंख्यात, युक्तासंख्यात और असंख्यातासंख्यात के भेद से असंख्यात तीन प्रकार का है तथा परीतानन्त, युक्तानन्त और अनन्तानन्त के भेद से अनन्त भी तीन प्रकार का है। इस प्रकार तीनों के कुल 7 भेद हुये।

इन सातों ही स्थानों के जघन्य, मध्यम व उत्कृष्ट के भेद से तीन-तीन प्रकार हैं। अत: $7 \times 3 = 21$ भेद संख्या के होते हैं।

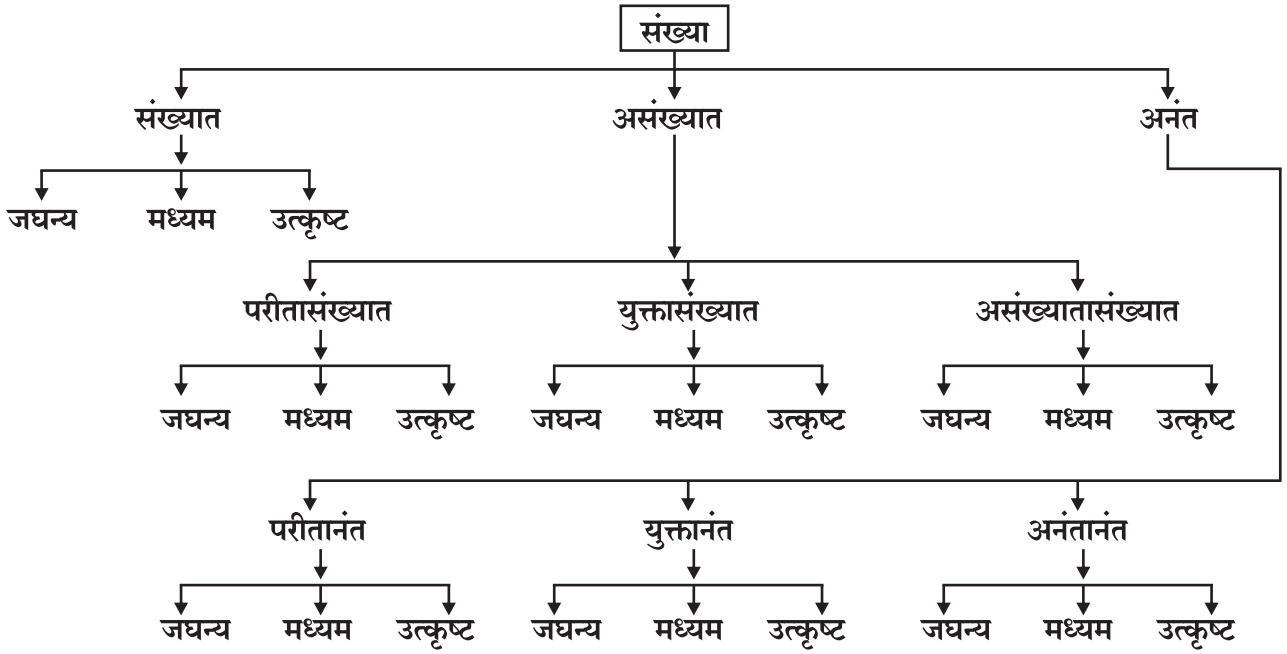

* जितने विषयों को श्रुतज्ञान युगपत् प्रत्यक्ष जानता है, उसे **संख्यात** कहते हैं।
* जितने विषयों को अवधिज्ञान युगपत् प्रत्यक्ष जानता है, उसे **असंख्यात** कहते हैं।
* जितने विषयों को केवलज्ञान युगपत् प्रत्यक्ष जानता है, उसे **अनंत** कहते हैं।

अनंत के दो भेद हैं- (1) सक्षय अनंत, (2) अक्षय अनंत।

(1) सक्षय अनंत – जो राशि/काल व्यय होते हैं अन्त को प्राप्त हो जाए वह सक्षय अनंत है।

(2) अक्षय अनंत – आय के बिना व्यय होते-होते रहने पर भी जिस राशि/काल का अन्त न हो वह अक्षय अनंत है।

संख्यात, असंख्यात और अनंत की सिद्धि के लिए 14 धाराओं को जानना आवश्यक है। यहाँ हम धाराओं के नाम ही बता रहे हैं क्योंकि इनका विस्तार बहुत है।

14 धाराएँ – सर्वधारा, समधारा, विषमधारा, कृतिधारा, अकृतिधारा, घनधारा, अघनधारा, वर्गमातृकधारा, अवर्गमातृकधारा, घनमातृकधारा, अघनमातृकधारा, द्विरूपवर्गधारा, द्विरूपघनधारा, द्विरूपघनाघनधारा।

विस्तार के भय से पूरा नहीं बताया जा रहा है, विस्तार से जानने के लिए देखें त्रिलोकसार ग्रंथ।

गुणस्थानों में जीवों की संख्या

मिथ्यात्व गुणस्थान – इस गुणस्थान में सम्पूर्ण जीवों की संख्या **अनंतानंत** है। यहाँ निगोदिया जीवों की अपेक्षा अनंतानंत है, शेष मिथ्यादृष्टि जीव तो असंख्यातासंख्यात होते हैं।

सासादन गुणस्थान – इस गुणस्थान में सम्पूर्ण जीवों की संख्या अर्थात् चारों गतियों के जीवों की संख्या **पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग** है अर्थात् असंख्यात है। इन सम्पूर्ण जीवों में से मनुष्य तो 52 करोड़ ही हो सकते हैं इनसे ज्यादा नहीं हो सकते हैं।

सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान – इस गुणस्थान में सम्पूर्ण जीवों की संख्या **पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग** है अर्थात् असंख्यात है। इन सम्पूर्ण जीवों में से मनुष्य तो 104 करोड़ ही हो सकते हैं, इनसे ज्यादा नहीं हो सकते हैं।

असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान – इस गुणस्थान में भी सम्पूर्ण जीवों की संख्या **पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग** है अर्थात् असंख्यात है। इनमें से मनुष्य 700 करोड़ हो सकते हैं, इनसे ज्यादा नहीं हो सकते हैं।

संयतासंयत गुणस्थान – इस गुणस्थान में भी सम्पूर्ण जीवों की संख्या **पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग** है अर्थात् असंख्यात है। इनमें से मनुष्य तो 13 करोड़ ही हो सकते हैं, इनसे ज्यादा नहीं हो सकते हैं।

शंका – अब प्रश्न ये उठता है कि सासादन, मिश्र, असंयत और संयतासंयत चारों गुणस्थानवर्ती जीवों की संख्या पल्योपम का असंख्यातवें भाग है तो कौन से गुणस्थान में जीव कम हैं और कौन से गुणस्थान में जीव ज्यादा हैं अथवा चारों गुणस्थान में समान संख्या ही है?

समाधान – सम्पूर्ण सम्यग्दृष्टियों से असंख्यात भागहीन असंयत सम्यग्दृष्टि है। असंयत सम्यग्दृष्टियों से असंख्यात गुणे हीन सम्यग्मिथ्यादृष्टि होते हैं, इनसे संख्यात गुणे हीन सासादन सम्यग्दृष्टि होते हैं, इनसे असंख्यात गुणे हीन संयतासंयत जीव होते हैं।

पल्योपम में अन्तर्मुहूर्त का भाग देने पर चतुर्थ गुणस्थानवर्ती असंयत सम्यग्दृष्टि होते हैं। पश्चात् उसी अन्तर्मुहूर्त में आवली के असंख्यातवें भाग का भाग देकर भागफल को उसी अन्तर्मुहूर्त में जोड़ देने पर सम्यग्मिथ्यादृष्टियों की संख्या प्राप्त होती है। उसी भागहार को आवली के संख्यातवें भाग से गुणित कर उसका भाग पल्य में देने पर सम्पूर्ण सासादन सम्यग्दृष्टि की संख्या प्राप्त होती है। पश्चात् उसी भागहार को आवली के असंख्यातवें भाग से गुणित कर उसका भाग पल्य में देने पर संयतासंयतों की संख्या प्राप्त होती है।

अर्थात्

सम्पूर्ण असंयत सम्यग्दृष्टि जीव = पल्योपम/अन्तर्मुहूर्त

सम्पूर्ण सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव = पल्योपम/अन्तर्मुहूर्त + अन्तर्मुहूर्त/आवली का असंख्यातवाँ भाग

सम्पूर्ण सासादन सम्यग्दृष्टि जीव = पल्योपम/सम्यग्मिथ्यादृष्टि का भागहार × आवली का संख्यातवाँ भाग

सम्पूर्ण संयतासंयत सम्यग्दृष्टि जीव = पल्योपम/सासादन सम्यग्दृष्टि का भागहार × आवली का असंख्यातवाँ भाग

अत: कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण असंयत सम्यग्दृष्टियों से कम सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव इनसे कम सासादन सम्यग्दृष्टि जीव होते हैं, इनसे कम संयतासंयत सम्यग्दृष्टि जीव होते हैं। अथवा यूँ कहें कि सबसे ज्यादा चौथे गुणस्थानवर्ती इनसे कम तीसरे गुणस्थानवर्ती इनसे कम दूसरे गुणस्थानवर्ती जीव होते हैं और इनसे कम अर्थात् सबसे कम 5वें गुणस्थानवर्ती जीव होते हैं। इनका आलेख निम्न हैं–

असंयत सम्यग्दृष्टि > सम्यग्मिथ्यादृष्टि > सासादन सम्यग्दृष्टि > संयतासंयत सम्यग्दृष्टि

अब 5वें गुणस्थान से ऊपर अर्थात् 6वें गुणस्थान से 14वें गुणस्थान तक के जीव मनुष्य ही होते हैं अर्थात् मुनिराज ही होते

हैं। यहाँ अन्य गति के जीव नहीं होते हैं। एक से चार गुणस्थान तो चारों गतियों में पाये जाते हैं और पाँचवां गुणस्थान तिर्यंच व मनुष्यों में पाया जाता है। 6वें से 14वें गुणस्थानवर्ती मुनिराजों की संख्या 3 कम 9 करोड़ होती है। अब अलग-अलग गुणस्थानों में बताते हैं कि कितने-कितने मुनिराज होते हैं?

प्रमत्त संयत गुणस्थान – इस गुणस्थान में 5 करोड़ 93 लाख 98 हजार 206 मुनिराज होते हैं।

अप्रमत्त संयत गुणस्थान – इस गुणस्थान में 6वें गुणस्थानवर्ती मुनिराजों की संख्या से आधे, अर्थात् 59398206/2 = 29699103 अर्थात् 2 करोड़ 96 लाख 99 हजार 103 मुनिराज होते हैं।

8वें, 9वें और 10वें गुणस्थान में – यहाँ प्रत्येक गुणस्थान में 897-897 मुनिराज होते हैं। इनमें से 598-598 तो क्षपक श्रेणी वाले और 299-299 मुनिराज उपशम श्रेणी वाले होते हैं।

उपशांत मोह गुणस्थान – इस गुणस्थान में 299 मुनिराज होते हैं।

क्षीण मोह गुणस्थान – इस गुणस्थान में 598 मुनिराज होते हैं।

सयोग केवली गुणस्थान – इस गुणस्थान में 8 लाख 98 हजार 502 मुनिराज होते हैं।

अयोग केवली गुणस्थान – इस गुणस्थान में 598 मुनिराज होते हैं।

गुणस्थानातीत – सिद्ध भगवान अनंतानंत होते हैं।

गुणस्थानों की संख्या का चार्ट

गुणस्थान	**संख्या**
I	अनंतानंत
II, III, IV, V	प्रत्येक में पल्योपम का असंख्यातवें भाग प्रमाण
IV	5,93,98,206
VII	2,96,99,103
VIII, IX, X	प्रत्येक में 897
XI	299
XII	598
XIII	8,98,502
XIV	598
गुणस्थानातीत	अनंतानंत

मार्गणाओं में जीवों की संख्या

1. गति मार्गणा –

(i) **नरक गति –** सम्पूर्ण नारकीयों की संख्या असंख्यात जगत् श्रेणी प्रमाण है। अथवा यूँ कहे कि जगत् प्रतर का असंख्यातवें भाग प्रमाण है अथवा ऐसे भी कह सकते हैं कि घनांगुल के द्वितीय वर्गमूल को जगत् श्रेणी से गुणा करने पर प्राप्त लब्ध प्रमाण सम्पूर्ण नारकीयों की संख्या है।

❊ प्रथम नरक में सम्पूर्ण नारकीयों से कुछ कम नारकी है। **जैसे–** माना कि सम्पूर्ण नारकी 100 हैं तो 99 नारकी तो पहले नरक में हैं और शेष 1 भाग प्रमाण नारकी शेष छहों नरकों में है।

❊ दूसरे नरक में **जगत् श्रेणी के असंख्यातवें भाग** प्रमाण नारकी हैं। अथवा **जगत् श्रेणी में जगत् श्रेणी के 12वें वर्गमूल का भाग देने पर प्राप्त लब्ध** प्रमाण दूसरे नरक में नारकी जीव है।

* तीसरे आदि नरकों में भी **जगत् श्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण** नारकी हैं। बस फर्क इतना है कि तीसरे नरक में **जगत् श्रेणी में जगत् श्रेणी के 10वें वर्गमूल का भाग देने पर प्राप्त लब्ध,** चौथे नरक में जगत् श्रेणी/जगत् श्रेणी का 8वाँ वर्गमूल से प्राप्त लब्ध, पाँचवें नरक में जगत् श्रेणी/जगत् श्रेणी का 6वाँ वर्गमूल से प्राप्त लब्ध, छठवें नरक में जगत् श्रेणी/जगत् श्रेणी का तीसरा वर्गमूल से प्राप्त लब्ध, सातवें नरक में जगत् श्रेणी/जगत् श्रेणी का दूसरा वर्गमूल से प्राप्त लब्ध क्रम-क्रम से नारकीयों की संख्या प्राप्त होती है।

इस प्रकार प्रथम नरक में सबसे ज्यादा नारकी, इनसे कम दूसरे नरक में क्रम-क्रम से उत्तरोत्तर कम-कम नारकी जीव हैं। सबसे कम नारकी सातवें नरक में हैं।

(ii) **तिर्यंच गति –** * सम्पूर्ण तिर्यंचों की संख्या अनंतानंत है क्योंकि इनमें एकेन्द्रिय सूक्ष्म बादर, निगोदिया जीव व विकलत्रय जीव और पंचेन्द्रिय तिर्यंच जीव सभी सम्मिलित हैं।

* देवों के अवहार काल को आवली के असंख्यातवें भाग से भाषित करने पर सामान्य पंचेन्द्रिय तिर्यंचों की संख्या आती है जो कि असंख्यात है।

* पंचेन्द्रिय तिर्यंच पर्याप्त और अपर्याप्त और योनिनी तिर्यंच प्रत्येक की संख्या असंख्यात-असंख्यात है। फिर भी योनिनि पंचेन्द्रिय तिर्यंचों की संख्या इनमें से सबसे ज्यादा है।

(iii) **मनुष्य गति –** * सम्पूर्ण मनुष्य **असंख्यात** है। पर्याप्त मनुष्य **संख्यात है जो कि 29 अंक प्रमाण है।** यह संख्या द्विरूपवर्ग धारा के पंचम वर्ग के घन प्रमाण अर्थात् $(65536)^3$ = 792281625142643375935439503 36 है।

अर्थात् 7 खरब, 92 अरब, 28 करोड़, 16 लाख, 25 हजार, 142 शंख, 64 पद्म, 33 नील, 75 खरब, 93 अरब, 54 करोड़, 39 लाख, 50 हजार 336 हैं।

* मनुष्यनी जीव पर्याप्त मनुष्य के 2/3 भाग प्रमाण है और पुरुष वेदी मनुष्य पर्याप्त मनुष्य के 1/3 भाग प्रमाण है। फिर भी इनका प्रमाण 29 अंक प्रमाण ही है क्योंकि संख्या तो कम हो जाती है पर वह संख्या भी 29 अंक प्रमाण ही प्राप्त होती है।

(iv) **देव गति –** * सम्पूर्ण देव असंख्यात है। **देवियाँ –** सम्पूर्ण देवों की संख्या के 33 भाग करने पर 32 भाग प्रमाण देवियाँ व 1 भाग प्रमाण देव होते हैं। अर्थात् देवियों की संख्या भी असंख्यात ही है।

* भवनत्रिक देवों की संख्या सबकी असंख्यात-असंख्यात है। फिर भी व्यन्तर देवों से ज्योतिषी देव 81 हजार करोड़ गुणे हैं।

* वैमानिक देवों में पहले स्वर्ग से लेकर सर्वार्थसिद्धि को छोड़कर चारों अनुत्तरों तक प्रत्येक में असंख्यात-असंख्यात देव है।

* सौधर्म ऐशान स्वर्ग में देवों की संख्या **जगत् श्रेणी में घनांगुल के तीसरे वर्गमूल का गुणा करने पर प्राप्त लब्ध राशि है।** अर्थात् वैमानिक देवों में से सबसे ज्यादा देव पहले-दूसरे स्वर्ग में है।

* तीसरे-चौथे स्वर्ग में देवों की संख्या जगत् श्रेणी/जगत् श्रेणी का 11वाँ वर्गमूल प्राप्त लब्ध राशि है।

* पाँचवें-छठवें स्वर्ग में देवों की संख्या जगत् श्रेणी/जगत् श्रेणी का 9वाँ वर्गमूल प्राप्त लब्ध राशि है।

* सातवें-आठवें स्वर्ग में जगत् श्रेणी/जगत् श्रेणी का 7वाँ वर्गमूल प्राप्त लब्ध राशि, नौवे-दसवें स्वर्ग में जगत् श्रेणी/जगत् श्रेणी का 5वाँ वर्गमूल प्राप्त लब्ध राशि, ग्यारहवें-बारहवें स्वर्ग में जगत् श्रेणी/जगत् श्रेणी का चौथा वर्गमूल प्राप्त लब्ध राशि, 13वें स्वर्ग से सर्वार्थसिद्धि को छोड़कर चारों अनुत्तरों तक असंख्यात-असंख्यात देव राशि है।

* सर्वार्थसिद्धि में संख्यात देव है जो कि मनुष्यनियों से 3 या 7 गुणे है।

2. इंद्रिय मार्गणा–

* एकेन्द्रिय सूक्ष्म व बादर पर्याप्त-अपर्याप्त समस्त जीवों की संख्या **अनंत** है।

* दो, तीन, चार, पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीव प्रत्येक इन्द्रिय में **असंख्यात** जीव होते हैं। अपर्याप्तक जीव भी प्रत्येक इन्द्रिय में **असंख्यात** होते हैं।

3. **काय मार्गणा–**

* स्थावर काय पर्याप्तक, अपर्याप्तक जीव **अनंत** होते हैं।

* त्रसकाय पर्याप्तक, अपर्याप्तक जीव **असंख्यात** होते हैं। यहाँ असंख्यात अर्थात् जगत्प्रतर के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं।

4. **योग मार्गणा–**

* पाँचों मनोयोगी व पाँचों वचनयोगी **असंख्यात** होते हैं।

* औदारिक व औदारिक मिश्र काय योगी **अनंतानंत** होते हैं। क्योंकि एकेन्द्रियादि तिर्यंच जीवों के औदारिक-औदारिक मिश्र काय योग होता है और एकेन्द्रिय जीवों की संख्या **अनंत** है।

* वैक्रियक व वैक्रियक मिश्र काय योगी **असंख्यात** होते हैं।

* आहारक काय योगी जीव **संख्यात अर्थात्** 54 हो सकते हैं।

* आहारक मिश्र काय योगी जीव **संख्यात अर्थात्** 27 हो सकते हैं।

* कार्माण काय योगी जीव अनंतानंत है।

5. **वेद मार्गणा–**

* स्त्री वेदी जीव **असंख्यात** होते हैं जो देवियों से कुछ अधिक होते हैं।

* पुरुष वेदी जीव **असंख्यात** होते हैं जो कि देवों से कुछ अधिक होते हैं।

* नपुंसक वेदी व अपगत वेदी जीव **अनंतानंत** होते हैं। नपुंसक वेदी निगोदिया जीवों की अपेक्षा और अपगत वेदी सिद्धों की अपेक्षा अनंतानंत होते हैं।

6. **कषाय मार्गणा–**

* क्रोध, मान, माया, लोभ कषायी जीव **अनंतानंत** होते हैं। संसारी जीव निगोदिया जीवों की अपेक्षा **अनंतानंत** होते हैं और अकषायी जीव सिद्धों की अपेक्षा **अनंतानंत** होते हैं।

7. **ज्ञान मार्गणा–**

* कुमति, कुश्रुत ज्ञानी जीव **अनंतानंत** होते हैं, निगोदिया जीवों की अपेक्षा से।

* विभंग ज्ञानी अर्थात् कुअवधि ज्ञानी जीव **असंख्यात** होते हैं जो कि देवों से कुछ अधिक होते हैं।

* मति, श्रुत, अवधि ज्ञानी जीव **असंख्यात** होते हैं जो कि पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण है।

* मन:पर्ययज्ञानी जीव **संख्यात** होते हैं।

* केवलज्ञानी जीव **अनंतानंत** होते हैं, क्योंकि सभी सिद्धों की संख्या इनमें सम्मिलित है।

8. **संयम मार्गणा**

* असंयत जीवों की संख्या **अनंतानंत** है क्योंकि पहले से चौथे गुणस्थान तक के जीव इनमें सम्मिलित हैं और पहले गुणस्थान में निगोदिया जीवों की संख्या **अनंतानंत** है।

* संयतासंयत जीवों की संख्या **पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग** है।

* सामायिक व छेदोपस्थापना संयमी जीव संख्यात अर्थात् 8 करोड़ 90 लाख 97 हजार 309 है, इसे कोटि पृथक्त्व भी कह सकते हैं।

* परिहार विशुद्धि संयमी जीव भी संख्यात होते हैं, जो कि 6997 हैं, इन्हें सहस्र पृथक्त्व भी कह सकते हैं।

* सूक्ष्म साम्पराय संयमी जीवों की संख्या 897 हैं, इन्हें शत् पृथक्त्व भी कहा जा सकता है।

* यथाख्यात संयमी जीवों की संख्या 8 लाख 99 हजार 997 जीव हैं। ये जीव 11वें से 14वें गुणस्थान तक के जीवों की संख्या है।

9. **दर्शन मार्गणा–**

* चक्षु दर्शनी जीवों की संख्या **असंख्यात** है।

* अचक्षु दर्शनी जीवों की संख्या **अनंतानंत** है क्योंकि इसमें एकेन्द्रिय जीवों की संख्या सम्मिलित है।

* अवधि दर्शनी जीवों की संख्या अवधिज्ञानियों के समान **असंख्यात** है।

* केवल दर्शनी जीवों की संख्या केवलज्ञानियों के समान **अनंतानंत** है।

10. **लेश्या मार्गणा–**

* कृष्ण, नील, कापोत लेश्या वाले जीव **अनंतानंत** हैं। असंयमियों के समान।

* पीत लेश्या वाले जीव **असंख्यात** है जो कि ज्योतिष देवों से कुछ अधिक है।

* पद्म लेश्या वाले जीव **असंख्यात** है। अर्थात् जगत् प्रतर/संख्यात प्रतरांगुल है, जो कि पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनियों के संख्यातवें भाग प्रमाण है।

* शुक्ल लेश्या वाले जीव **असंख्यात** है। अर्थात् पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग अथवा यो कहें कि पल्योपम/अन्तर्मुहूर्त अथवा असंख्यात आवली प्रमाण जीव शुक्ल लेश्या वाले होते हैं।

11. **भव्य मार्गणा–**

* भव्य सिद्धिक जीव **अनंतानंत** है अथवा **अनंतानंत लोक प्रमाण** है। अथवा यों कहें कि **अनंतानंत उत्सर्पिणी–अवसर्पिणी काल के समयों से भी अधिक** जीव भव्य सिद्धिक होते हैं।

* अभव्य सिद्धिक जीव **जघन्य युक्तानंत** है।

* भव्य, अभव्य और सिद्ध जीवों की संख्या अनंत–अनंत ही है फिर भी अभव्य जीव सबसे कम अर्थात् है तो अनंत ही इनसे अनंत गुणे जीव सिद्ध जीव होते हैं और इनसे अनन्त गुणे जीव संसारी भव्य जीव होते हैं अर्थात् अनंतानंत है।

12. **सम्यक्त्व मार्गणा–**

* मिथ्यादृष्टि जीव **अनंतानंत** होते हैं जो कि असंयतों से कुछ कम होते हैं।

* सासादन सम्यक्त्व वाले जीव **पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण** होते हैं अर्थात् पल्योपम/असंख्यात आवली

* सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव **पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण** ही होते हैं परन्तु सासादन सम्यग्दृष्टि जीवों से अधिक है।

* उपशम सम्यग्दृष्टि जीव **पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण** होते हैं। अपर्याप्त अवस्था में उपशम सम्यग्दृष्टि जीव **संख्यात** ही होते हैं क्योंकि उपशम श्रेणी या द्वितीयोपशम सम्यक्त्व केवल मनुष्यों में ही होता है और मनुष्य संख्यात ही है। और प्रथमोपशम सम्यक्त्व में मरण होता नहीं है इसलिए अपर्याप्त अवस्था नहीं बनती है। अत: उपशम सम्यक्त्वी अपर्याप्तक अवस्था में संख्यात ही होते हैं।

* क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि जीव **पल्योपम का असंख्यातवें भाग प्रमाण** होते हैं।

* क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव **पल्योपम का असंख्यातवें भाग प्रमाण अथवा अनंतानंत** होते हैं।

संसारी जीवों की अपेक्षा पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग व सिद्ध जीव राशि की अपेक्षा अनंतानंत होते हैं। अथवा यों कहें कि संसारी क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव = पल्योपम/संख्यात आवली प्रमाण।

13. **संज्ञी मार्गणा–**

* संज्ञी जीवों की संख्या **असंख्यात** होती है जो कि देवों से कुछ अधिक होते हैं।

* असंज्ञी जीवों की संख्या **अनंतानंत** होती है जो कि असंयतों के समान जानना चाहिए क्योंकि निगोदिया जीव अनंतानंत होते हैं जो कि सब असंज्ञी होते हैं।

14. **आहार मार्गणा–**

* आहारक व अनाहारक दोनों ही प्रकार के जीवों की संख्या अनंतानंत होती है।

इस आलेख से हम सबने जीवों की संख्याओं को जाना। इन संख्याओं को जानने से हमें बहुत लाभ प्राप्त होता है, इनको जानने से हमारे अन्दर आश्चर्य प्रकट होता है और उन पूर्वाचार्यों के प्रति श्रद्धा, समर्पण भाव विशेषता से प्रकट होता है कि हमारे आचार्यों ने इतनी बड़ी–बड़ी संख्याओं को लिखकर, पढ़कर हमें बताया है। इससे हम सब अपने पूर्वाचार्यों के प्रति बहुमान प्रकट करते हैं। और इन संख्याओं को जानने से हमारे अन्दर विशुद्धि बढ़ती है, अनन्त गुणी कर्मों की निर्जरा होती है।

सिद्धान्त प्रबोध ग्रन्थ के अन्तर्गत-प्रत्यय की गुणस्थानों में अन्वेषणा

बा.ब्र. डॉ. सीमा जैन

पुत्री-श्री अजित जैन एडवोकेट, सिविल लाईन, ललितपुर

सिद्धान्त प्रबोध टीका के अन्तर्गत गुणस्थानों की विशद् विवेचना की गई है। जीव को कर्मों का आस्रव कैसे होता है? आचार्य श्री नेमिचन्द्र जी गोम्मटसार कर्मकाण्ड में कहते हैं-

देहोदयेण सहिओ, जीवो आहरदि कम्म णोकम्मं ।
पडिसमयं सव्वंगं, तत्ताय सपिंड ओव्व जलं ।।3।।

यह जीव औदारिक आदि शरीर नामकर्म के उदय से योग सहित होकर प्रतिसमय कर्म-नोकर्म वर्गणा को सर्वांग से ग्रहण करता है, जैसे तपाया हुआ लोहे का गोला सर्वांग से जल को ग्रहण करता है।[1]

आस्रव के प्रत्ययों (कारणों) की अन्वेषणा के लिए गुणस्थानों को जानना आवश्यक है। मोह और योग के निमित्त से होने वाले तारतम्य-विशेष को गुणस्थान कहते हैं।[2] कर्मों की उदयादि अवस्थाओं में होने वाले जिन भावों से जीव देखे जाते हैं वे गुणस्थान कहलाते हैं।[2]

परिणाम अनंत होते हैं फिर भी उत्कृष्ट-मलिन परिणामों से लेकर उत्कृष्ट विशुद्ध परिणामों तक या उससे ऊपर जघन्य वीतराग परिणामों से लेकर उत्कृष्ट वीतराग परिणाम तक की अनन्तों की वृद्धियों के क्रम बनाने के लिए उन्हें 14 भागों में विभाजित किया जाता है वे 14 गुणस्थान कहलाते हैं।

(1) मिथ्यात्व गुणस्थान – मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से अतत्त्व श्रद्धान रूप (तत्त्वार्थ श्रद्धान रहित) आत्मा के परिणाम को मिथ्यात्व गुणस्थान कहते हैं।[4]

मिथ्यात्व पाँच प्रकार का होता है-

(1) एकान्त मिथ्यात्व – वस्तु पदार्थ द्रव्य को सर्वथा एक रूप मानना एकान्त मिथ्यात्व है जैसे वस्तु नित्य ही है या सर्वथा अनित्य ही है ऐसा मानना।

(2) विपरीत मिथ्यात्व – जैसा वस्तु का स्वरूप है वैसा न मानना विपरीत मिथ्यात्व है।

(3) वैनयिक मिथ्यात्व – विनय से ही मुक्ति मानना।

(4) संशय मिथ्यात्व – किसी वस्तु में एक का निश्चय नहीं कर पाना।

(5) अज्ञान मिथ्यात्व – यथार्थ का ज्ञान न होना अज्ञान मिथ्यात्व है। यह जीव है ऐसा कोई नहीं जानता।[5]

(2) सासादन गुणस्थान – स+आसादन = सासादन अर्थात् जिस जीव ने सम्यक्त्व की विराधना कर दी है उसे यह गुणस्थान होता है। पर्वत से गिरने पर भूमि पर गिरने से पहले का काल सासादन काल कहलाता है।

(3) मिश्र गुणस्थान – सम्यक् मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से जीव के न तो सम्यक्त्व रूप परिणाम होते हैं और न केवल

---

1. गो.क. - गाथा 3/3, पृष्ठ सं.
2. द्रव्य संग्रह - गाथा 13
3. पंच संग्रह, गो.जी. 8/जैन लक्षणावली-2/454
4. सिद्धान्त प्रबोधिनी टीका - xxxii
5. सिद्धान्त प्रबोधिनी टीका - xxxii

मिथ्यात्व रूप। किन्तु मिले हुये दही शर्करा स्वाद की तरह एक भिन्न जाति के मिश्र परिणाम होते हैं। इसी मिश्र परिणाम को मिश्र गुणस्थान कहते हैं।

(4) अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान – दर्शन मोहनीय की तीन और अनंतानुबंधी की चार इन सात प्रकृतियों के उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम से सम्यक्त्व सहित अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ के उदय से व्रत रहित परिणाम को अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान कहते हैं।[1]

(5) देशविरत गुणस्थान – प्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ के उदय से संयम भाव रहित किन्तु अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ के क्षयोपशम से श्रावक व्रत रूप देश चरित्र सहित परिणाम को देशव्रत नामक पंचम गुणस्थान कहते हैं।

(6) प्रमत्त विरत गुणस्थान – संज्वलन और नोकषाय के तीव्रोदय से प्रमाद युक्त मलजनक संयम रूप परिणाम को प्रमत्त विरत गुणस्थान कहते हैं।

चारित्र मोहनीय कर्म का क्षयोपशम होने से सकल संयम (महाव्रत) के होते हुये जहाँ प्रमाद का सद्भाव होता है वह प्रमत्त विरत गुणस्थान है।

(7) अप्रमत्त विरत गुणस्थान – संज्वलन और नोकषाय के मंद उदय से प्रमाद रहित संयम परिणाम को अप्रमत्त विरत गुणस्थान कहते हैं। इसके दो भेद हैं–

(1) स्वस्थान अप्रमत्त – जैसे झूला झूलने वाला अपनी अवस्थिति में ऊपर–नीचे होता रहता है उसी प्रकार छठे से सातवें में और सातवें से छठे गु. में जो साधक आता जाता रहता है उसे स्वस्थान अप्रमत्त विरत कहते हैं।

(2) सातिशय अप्रमत्त – जब साधक उपशम अथवा क्षपक श्रेणी के अभिमुख होकर अध:प्रवृत्तकरण रूप परिणाम करते हैं उसे सातिशय अप्रमत्त विरत कहते हैं।

(8) अपूर्वकरण गुणस्थान – जहाँ चारित्र मोहनीय के उपशम अथवा क्षय के लिए उत्तरोत्तर अपूर्व–अपूर्व ही परिणाम हों उसे अपूर्वकरण गुणस्थान कहते हैं। इसमें सम समयवर्ती साधक के परिणाम समान–असमान दोनों होते हैं किन्तु भिन्न समय में रहने वाले साधक के परिणाम भिन्न (विसदृश) ही होते हैं।

(9) अनिवृत्तिकरण गुणस्थान – अनिवृत्तिकरण के काल में से किसी एक समय (सम–समयवर्ती) में रहने वाले अनेक जीव जिस प्रकार शरीर के आकार आदि से परस्पर में भिन्न–भिन्न होते हैं किन्तु उनके परिणाम–विशुद्धि में भेद नहीं पाया जाता अतएव इन परिणामों को अनिवृत्तिकरण कहते हैं। परिणामगत निवृत्ति अर्थात् भेद न होने के कारण ही इसे अनिवृत्तिकरण गुणस्थान कहा जाता है।

(10) सूक्ष्म–साम्पराय गुणस्थान – अत्यन्त सूक्ष्म अवस्था को प्राप्त सूक्ष्म संज्वलन लोभ कषाय मात्र का जहाँ उदय शेष रहता है। वह सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान है।

(11) उपशांत मोह गुणस्थान – चारित्र मोहनीय की इक्कीस प्रकृतियों के उपशम से यथाख्यात चारित्र रूप परिणाम को उपशांत गुणस्थान कहते हैं।

(12) क्षीण–मोह गुणस्थान – मोहनीय कर्म के अत्यन्त क्षय से स्फटिक भाजनगत जल की तरह अत्यन्त निर्मल, अविनाशी, यथाख्यात चारित्र रूप परिणाम को क्षीण मोह गुणस्थान कहते हैं।

(13) सयोग केवली गुणस्थान – घातिया कर्मों की 47 और अघातिया कर्मों की 16 (नरक गति, तिर्यंच गति, तिर्यंच गत्यानूपूर्वी, नरक गत्यानुपूर्वी, विकलत्रय, मनुष्यायु बिना आयुत्रिक, उद्योत, आतप, एकेन्द्रिय, साधारण सूक्ष्म, स्थावर) इन 63

1. द्रव्य संग्रह प्रश्नोत्तरी – गा. 13/पृ. 52

प्रकृतियों का क्षय होने से लोकालोक प्रकाशी केवलज्ञान तथा योग सहित परिणाम होने से इस गुणस्थान को सयोग केवली कहते हैं।

(14) अयोग केवली गुणस्थान – मन–वचन–काय से रहित केवलज्ञान सहित परिणाम को अयोग केवली गुणस्थान कहते हैं। इस गुणस्थान का काल अ, इ, उ, ऋ, लृ इन ह्रस्व अक्षरों के उच्चारण करने में लगने वाले समय के बराबर है। अपने गुणस्थान के द्विचरम समय में सत्तागत 85 प्रकृतियों में से 72 और चरम समय में 13 (यदि तीर्थंकर है तो 13 अन्यथा 12 प्रकृतियों का क्षय करके अर्हन्त भगवान मोक्ष धाम (सिद्ध शिला) को पधारते हैं।[1]

अब आस्रव का वर्णन करते हैं–

आस्रव

कायवाङ्मन: कर्मयोग: । स आस्रव: ।[2] आचार्य उमास्वामी जी ने श्री 'तत्त्वार्थ सूत्र' जी ग्रन्थ में मन, वचन, काय योग से कर्म के आने के द्वार को आस्रव कहा है। जिस प्रकार तालाब में जल लाने का दरवाजा जल के आने का कारण होने से आस्रव कहलाता है। उसी प्रकार आत्मा से बँधने के लिए कर्म योग रूपी नाली के द्वारा आते हैं इसलिए योग आस्रव संज्ञा को प्राप्त होता है। ऐसा आचार्य श्री पूज्यपाद स्वामी जी ने अपने 'सर्वार्थसिद्धि' ग्रन्थराज में कहा है।[3] कषाय सहित होने से जीव कर्म के योग्य जो पुद्गलों को ग्रहण करता है वह आस्रव है।[4]

आस्रव के प्रत्ययों (कारणों) के विषय में आचार्यों ने भिन्न–भिन्न रूप से परिभाषित किया है–

(1) इन्द्रिय, कषाय, अव्रत और 25 क्रिया रूप भेद है।[5]

(2) मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग।[6]

(3) मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग।[7]

(4)

शुभ	और	अशुभ[8]
मन	वचन	काय

इस प्रकार सिद्धान्त प्रबोधिनी टीका में आचार्य श्री विनम्रसागर जी ने मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग को आस्रव के प्रत्ययों में प्रमुख रूप से–

गुणस्थानों में विशद् विवेचना की है। जिसका वर्णन हम आगे करेंगे। आचार्य श्री अकलंक स्वामी जी ने तत्त्वार्थ राजवार्तिक ग्रन्थ में शुभ, अशुभ, मन, वचन, काय का वर्णन करते हुये कहा है– हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील आदि में प्रवृत्ति करना अशुभ कायाश्रव है तथा निवृत्ति शुभ कायाश्रव है। कठोर, गाली, चुगली आदि रूप से परबाधक वचनों की प्रवृत्ति वाचनिक अशुभाश्रव है और इनसे निवृत्ति वाचनिक शुभाश्रव है। मिथ्याश्रुति, ईष्या, मात्सर्य, षड्यन्त आदि रूप से मन की प्रवृत्ति मानस अशुभाश्रव है और निवृत्ति मानस शुभाश्रव है।[9]

---

1. द्रव्य संग्रह प्रश्नोत्तरी – मुनिश्री समतासागर जी कृत पृ. 56 गा./13
2. तत्त्वार्थ सूत्र जी – अ 6/ सूत्र – 1–2
3. सर्वार्थसिद्धि – अ 6/2/319/5
4. तत्त्वार्थ सूत्र – 8/2
5. तत्त्वार्थ सूत्र – 6/5 (तत्त्वार्थ सार – 4/8)
6. द्रव्यसंग्रह – मू.गा. 30/ (अनगार धर्मामृत – 2/37)
7. गोम्मटसार, कर्मकाण्ड – भू. 786 (बारस अणुवेक्खा – 47)
8. राजवार्त्तिक – 1/14/39/25
9. रा.वा. 1/7/14/39/251

आश्रव द्रव्यास्रव और भावाश्रव के भेद से दो प्रकार है। भावास्रव के प्रत्ययों को पहले कह चुके हैं अब द्रव्यास्रव किन निमित्तों को पाकर होता है उनका कथन अति आवश्यक है। आचार्य श्री नेमिचन्द्र जी ने द्रव्य संग्रह जी में कहा है–

णाणावरणादीणं जोग्गं जं पुग्गलं समासवदि।
दव्वासवो स णेओ अणेयभेओ जिणक्खवादो।।[2]

ज्ञानावरणादि कर्मों के योग्य जो पुद्गल आता है उसको द्रव्यास्रव जानना चाहिये। वह अनेक भेदों वाला है ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है।

आस्रव के उदय कार्यभूत जीव के परिणाम में ज्ञानावरणादि कर्म बंध का कारणपना अर्थात् आठ कर्मों में आस्रवों के विशेष भाव बतलाते हैं।[3]

(1) ज्ञानावरण (2) दर्शनावरण – आचार्य श्री उमास्वामी जी तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ में कहते हैं– ''तत्प्रदोष–निह्नव–मात्सर्यान्तराय। सादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयो:''[4]

(1) प्रदोष – तत्त्वज्ञान में हर्ष नहीं मानने रूप प्रदोष से **(2) निह्नव –** जानते हुये भी किसी कारण से ज्ञान को छुपाना अथवा जिनसे अपने को ज्ञान प्राप्त हुआ है उनका नाम छिपाकर अन्य को गुरु कहने से। **(3) अन्तराय –** ज्ञान में विच्छेद करने से। **(4) मात्सर्य –** शास्त्र ज्ञान होते हुये भी दूसरे को इस भाव से नहीं बताना कहीं ये मेरे बराबर न हो जाये ऐसी प्रवृत्ति से। **(5) असादन–** दूसरे के द्वारा प्रकाशित किये जाने वाले ज्ञान को रोक देना अथवा किसी के प्रशंसा योग्य उपदेश की तारीफ न करना। **(6) उपघात–** प्रशस्त ज्ञान में दूषण लगाने से। स्थिति और अनुभाग बंध की बहुलता से ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण इन दो कर्मों को बाँधता है।

(3) वेदनीय कर्म – वेदनीय कर्म के दो भेद– **(1) असाता वेदनीय – ''दु:ख शोक–तापाक्रन्दन–वध परिदेवनान्यात्मपरोभयस्थानान्यसद्वेद्यस्य।''**[1]

(1) दु:ख – पीड़ा रूप परिणाम विशेष को दु:ख कहते हैं।

(2) शोक – अपने उपकारी का वियोग होने पर मन में विकलता होना।

(3) ताप – संसार में निन्दा आदि के हो जाने से तीव्र पश्चाताप होना।

(4) आक्रन्दन – पश्चाताप से अश्रुपात करते हुये रोना।

(5) परिदेवन – अत्यन्त दु:खी होकर करुणाजनक रुदन करना।

ये सब असाता वेदनीय के आस्रव के कारण हैं।

(2) साता वेदनीय कर्म – आचार्य श्री उमास्वामी जी साता वेदनीय कर्म के आश्रव को कहते हैं– **''भूत वृत्यनुकम्पा–दान सराग–संयमादि–योग: क्षान्ति:– शौचमिति सद्वेद्यस्य।''**[2] अर्थात्

(1) भूतानुकम्पा – सभी प्राणियों पर दया करना।

(2) व्रती अनुकम्पा – अहिंसादि व्रत–पालन करने वाले व्रतियों पर दया का परिणाम।

(3) दान – निज और परहित की भावना से आहारादि चार प्रकार का दान।

(4) सराग संयम – छठवें गुणस्थान से दशवें गुणस्थान तक दिगम्बर मुनिराजों को होता है।

(5) योग – शुभ परिणामों में एकाग्रता रखने रूप

2. द्र.सं. – मू. 31
3. गो.क.गा. 800 से 810
4. तत्त्वार्थसूत्र जी – 6/10

(3) शान्ति – क्रोध के त्याग रूप क्षमा। पंच परमेष्ठी की भक्ति सहित जीव बहुधा करके प्रचुर अनुभाग के साता वेदनीय को बाँधता है।[1]

(4) मोहनीय – मोहनीय कर्म के दो भेद हैं–

(1) दर्शन मोहनीय – ''केवली–श्रुत संघ–धर्म–देवावर्णवादो दर्शन मोहस्य।''[2] केवली श्रुत, संघ, धर्म और देव के प्रति झूठा दोष लगाने से दर्शन मोहनीय कर्म का आस्रव होता है अथवा अरहंत, सिद्ध, चैत्य (प्रतिमा) तत्पश्चरण, निर्दोष शास्त्र, निर्ग्रंथ गुरु, वीतराग प्रणीत धर्म और मुनि आदि का समूह संघ– इनसे जो जीव प्रतिकूल हो अर्थात् इनके स्वरूप से विपरीतता ग्रहण करे वह उत्कृष्ट स्थिति तथा तीव्र अनुभाग बाँधता है।[3]

(2) चारित्र मोहनीय – चारित्र मोहनीय कर्म के आस्रव के कारण कहते हैं– **''कषायोदयात्तीव्र– परिणामश्चारित्र मोहस्य।''**[4] अर्थात् कषाय के उदय से होने वाली परिणामों की तीव्रता में चारित्र मोहनीय का आस्रव होता है अथवा जो जीव तीव्र कषाय और हास्यादि नो कषाय सहित हो, बहुत मोह रूप परिणमता हो, राग और द्वेष में अत्यंत लीन हो तथा चारित्र गुण के नाश करने में जिसका स्वभाव हो ऐसा जीव कषाय और नोकषाय दो प्रकार के चारित्र मोहनीय कर्म को बाँधता है।

(5) आयु – आयु कर्म चार प्रकार का है–

(1) नरकायु – जो जीव मिथ्यादृष्टि हो, बहुत आरम्भी हो, शील रहित भाव हो, रौद्र परिणामी हो वह जीव नरकायु को बाँधता है।[5] तत्त्वार्थ सूत्र जी में इसी भाव को छठवें अध्याय में दर्शाया है–

''बह्वारम्भ–परिग्रहत्वं नारकस्यायुष:''[6] अर्थात् बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह नरकायु के आस्रव के कारण हैं। मरण के समय कृष्ण लेश्या और रौद्र ध्यान आदि के परिणाम भी कारण हैं।

(2) तिर्यंचायु – ''माया तैर्यग्योनस्य''[1] मायाचारी करने से तिर्यंचायु का आस्रव होता है। जो धर्मोपदेश में मिथ्या बातों को मिलाकर उनका प्रचार करना, शीलरहित जीवन बिताना, ठगना, मिथ्यामाया, निदान शल्यों से सहित हो तथा मरण के समय नील व कापोत–लेश्या होना तथा आर्त्तध्यान का होना आदि अशुभ परिणाम से तिर्यंच आयु का बंध होता है।

(3) मनुष्यायु – 'अल्पारम्भ–परिग्रहत्व मानुषस्य'[2] **तथा स्वभाव मार्दव च**[3] अर्थात् स्वभाव से ही परिणामों का कोमल होना मनुष्यायु के आस्रव का कारण है तथा थोड़ा आरम्भ और थोड़ा परिग्रह का होना, शील संयम से रहित हो, मध्यम गुणों से युक्त हो।[4]

(4) देवायु – 'सरागसंयम–संयमासंयमा काम निर्जरा–बालतपांसि दैवस्य'।[5] जो जीव सम्यग्दृष्टि है वह केवल सम्यक्त्व से व साक्षात् अणुव्रत, महाव्रतों से देवायु को बाँधता है तथा जो मिथ्यादृष्टि है वह बाल तप अर्थात् अज्ञान रूप तपश्चरण, सेवा, अकाम निर्जरा से देवायु का आश्रव करता है।

(6) नामकर्म – नामकर्म के दो भेद हैं– **अशुभ नामकर्म – 'योगवक्रता विसंवादनं चाशुभस्य नाम्न:'**[6] मन, वचन, काय की कुटिलता और परस्पर में विसंवादन। अन्यथा प्रवृत्ति करने से अशुभ नामकर्म का आस्रव होता है। **शुभ नामकर्म – 'तद्विपरीतं शुभस्य'।**[7] योगों की सरलता है शुभ नामकर्म का आस्रव होता है तथा सोलह कारण भावनाएँ तीर्थंकर नामकर्म के आस्रव में कारण है।[1]

(7) गोत्र कर्म – गोत्र कर्म दो प्रकार का होता है–

(1) नीच गोत्र – ''परात्मनिन्दाप्रशंसे – सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य'।[2] अर्थात् दूसरे की निन्दा करना, अपनी प्रशंसा करना, तथा दूसरे के मौजूद गुणों को छिपाने और अपने अप्रकट गुणों को प्रकट करने से नीच गोत्र का आश्रव होता है।

(2) उच्च गोत्र – ''तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य'[3] अर्थात् पर की प्रशंसा, आत्मनिन्दा, नम्र वृत्ति, मद का अभाव ये उच्च गोत्र के आस्रव के कारण है। अथवा जो जीव अरहंतादि पाँच परमेष्ठियों में भक्तिवंत हो, वीतराग कथित शास्त्र में प्रीति

रखता हो, पढ़ना, विचार करना इत्यादि गुणों का दर्शक हो वह जीव उच्च गोत्र का बंध करता है और इनसे विपरीत चलने वाला नीच गोत्र का आश्रव करता है।[4]

(8) अन्तराय कर्म – 'विघ्नकरणमन्तरायस्य'[5] पर के दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य में विघ्न करना अन्तराय कर्म का आश्रव है तथा दान की निन्दा करना, द्रव्य का संयोग करना, निर्माल्य हड़पना, धर्म का उच्छेदन करना अधर्म का आचरण करना आदि से भी आश्रव होता है। अथवा जो जीव अपने व पर के प्राणों की हिंसा करने में लीन हो और जिनेश्वर की पूजा तथा रत्नत्रय की प्राप्ति में विघ्न डालना आदि अन्तराय कर्म का आस्रव है।[6]

मूल आस्रवों में गुणस्थान

	गुणस्थान	आश्रव संख्या	विशेष विवरण
1.	मिथ्यात्व	4	मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग
2.	सासादन	3	अविरति, कषाय, योग
3.	मिश्र	3	अविरति, कषाय, योग
4.	असंयत	3	अविरति, कषाय, योग
5.	देशसंयत	3	अविरति, कषाय, योग यहाँ संयतासंयत मिश्र भाव है।
6.	प्रमत्त विरत	2	कषाय और योग
7.	अप्रमत्त	2	कषाय और योग
8.	अपूर्वकरण	2	कषाय और योग
9.	अनिवृत्तिकरण	2	कषाय और योग
10.	सूक्ष्म साम्पराय	2	कषाय और योग
11.	उपशांत मोह	1	योग जानना
12.	क्षीण मोह	1	योग जानना
13.	सयोग केवली	1	योग जानना
14.	अयोग केवली	0	0

मूल आस्रवों में 4 (चार) प्रत्यय होते हैं। पहले गुणस्थान में चारों प्रत्यय होते हैं। मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग। दूसरे गुणस्थान से पाँचवें गुणस्थान तक मिथ्यात्व बिना तीन प्रत्यय होते हैं। छठवें गुणस्थान से दशवें गुणस्थान तक मिथ्यात्व और अविरति के बिना कषाय और योग दो प्रत्यय होते हैं। ग्यारहवें गुणस्थान से सयोग केवली गुणस्थान तक एक ही प्रत्यय योग पाया जाता है।

आस्रव के उत्तर भेद 57 होते हैं–

(1) मिथ्यात्व – 5 प्रकार का है– विपरीत, एकान्त, विनय, संशय और अज्ञान।

(2) अविरति – 12 होती है– पाँच इन्द्रिय + मन + षट् (6) काय के जीवों की रक्षा न करना।

(3) कषाय – अनंतानुबंधी 4 + अप्रत्याख्यान 4 + प्रत्याख्यान 4 + संज्वलन 4 + हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री वेद, पुरुष वेद, नपुंसक वेद = 25

(4) योग – 15 होते हैं– असत्य मनोयोग, सत्य मनोयोग, उभय मनोयोग, अनुभय मनोयोग, असत्य वचन योग, सत्य वचन योग, उभय वचन योग, अनुभय वचन योग, औदारिक काय योग, औदारिक मिश्र काय, आहारक काय योग, आहारक मिश्र काय योग, वैक्रियक काय योग, वैक्रियक मिश्र काय योग, कार्माण काय योग। = 15 योग

गुणस्थानों में 57 उत्तर भेदों में आश्रव

सं.	गुणस्थान	अनुदय संख्या	अनुदयगत आस्रवों के नाम	उदयगत आस्रवों की संख्या	आस्रव की व्युच्छित्ति संख्या	व्युच्छित्ति प्राप्त आस्रवों का नाम
(1)	मिथ्यात्व	2	आहारक 1 आहारक मिश्र काय योग	55	5	मिथ्यात्व 5 जानना
(2)	सासादन	7	2 + 5 मिथ्यात्व	50	4	4 अनंतानुबन्धीकषाय
(3)	मिश्र	14	11 + 3 (औदारिक मिश्र काय योग 1, वैक्रियक मिश्र 1, कार्माण काय योग 1	43	0	0
(4)	असंयत	11	14-3 = 11 (ऊपर के 3 योग=11 अर्थात् 7 + 4 = 11	46	9	अप्रत्याख्यानावरण कषाय - 4, वैक्रियक-काय योग वै.मि.-1कार्माण काय योग 1 औदारिक मि.1 त्रस हिंसा 1
(5)	देशसंयत	20	11 + 9 = 20 जानना	37	15	प्रत्याख्यानावरण कषाय 4, अविरति 11
(6)	प्रमत्त	33	20 + 15 = 35 - 2 (आहारक द्विक) = 33	24	2	आहारक काय योग 1
(7)	अप्रमत्त	35	33 + 2 (आहारक द्विक)	22	0	
(8)	अपूर्वकरण	35	33 + 2 (आहारक द्विक)	22	6	हास्यादिनो कषाय 6
(9)	अनिवृत्तिकरण					
	भाग 1	41	35 + 6 = 41	16	1	नपुंसक वेद 1
	भाग 2	42	41 + 1 = 42	15	1	स्त्री वेद
	भाग 3	43	42 + 1 = 43	14	1	पुरुष वेद
	भाग 4	44	43 + 1 = 44	13	1	संज्वलन क्रोध
	भाग 5	45	44 + 1 = 45	12	1	संज्वलन मान
	भाग 6	46	45 + 1 = 46	11	1	संज्वलन माया
	भाग 7	47	46 + 1 = 47 (यहाँ स्थूल लोभ जानना)	10	0	0
(10)	सूक्ष्म	47	46 + 47 (यहाँ सूक्ष्म लोभ साम्पराय जानना)	10	1	संज्वलन लोभ
(11)	उपशांत मोह	48	47 + 1 = 48	9	0	0
(12)	क्षीण मोह	48	47 + 1 = 48	9	4	''असत्य मनोयोग उभय'' असत्य

					वचनयोग उभय''
(13)	सयोग केवली 50	48 + 4 = 52 औ. मि. काययोग कार्माण काय योग बिना = 50	17	7	सत्य मनोयोग उभय मनोयोग सत्य वचन योग उभय वचन योग औदारिक काय योग औदारिक मिश्र काय योग कार्माण काय योग
(14)	अयोग केवली 57	सभी आस्रव	0	0	0

इस प्रकार उपर्युक्त सारणी से गुणस्थानों में प्रत्ययों का स्पष्टीकरण हो जाता है। छठवें प्रमत्त गुणस्थान में ही आहारक काय योग और आहारक मिश्र काय योग का उदय वहीं पर होता है और व्युच्छित्ति भी वहीं हो जाती है। आचार्य श्री उमास्वामी जी ने तत्त्वार्थ सूत्र ग्रन्थराज में कहा है– **'शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं प्रमत्तसंयतस्यैव।'**[1] आहारक शरीर शुभ अर्थात् शुभ कार्य करने वाला विशुद्ध अर्थात् विशुद्ध कर्म का कार्य व्याघात और या बाधारहित तथा प्रमत्तसंयत नामक छठे गुणस्थानवर्ती मुनि महाराज के ही होता है।

योगों के आस्रव तेरहवें सयोग केवली गुणस्थान तक होता है। लेकिन औदारिक मिश्र काय योग तथा कार्माण काय की व्युच्छित्ति असंयत यानी चतुर्थ गुणस्थान में हो जाती है क्योंकि उपशान्त मोह ग्यारहवें गुणस्थान से दशवें आदि गुणस्थान से गिरकर मरण को प्राप्त होकर चतुर्थ गुणस्थान में आते हैं। अत: ऐसी अवस्था बन जाती है। क्योंकि पंचमादि गुणस्थानों में मरण नहीं होता है। परन्तु सयोग केवली गुणस्थान में औदारिक मिश्र तथा कार्माण काय योग का उदय पाया जाता है तथा वहीं उसी गुणस्थान में व्युच्छित्ति हो जाती है क्योंकि उसके आगे योग का अभाव है। जिन जीवों का केवली समुद्घात होता है उनके ही इन दोनों योगों का उदय पाया जाता है। अन्य केवली के नहीं।

केवली समुद्घात के बिना अनुदय योग्य प्रकृतियों की संख्या 52 होगी और व्युच्छित्ति 5 प्रकृतियों की होगी।

इनके अलावा भी आस्रव के अन्य भेद-प्रभेद हैं–

आस्रव[1]

साम्परायिक			ईयापथ
इन्द्रिय	कषाय	अव्रत	क्रिया
इन्द्रिय	कषाय	अव्रत	क्रिया
(5)	(4)	(5)	(25)

आस्रव का आधार क्या है? कर्मों का आगमन किन निमित्तों से होता है? ऐसा प्रश्न उठने पर आचार्य उमास्वामी जी कहते हैं– जीव और अजीव के निमित्त से कर्म आते हैं।[2] जीवाधिकरण 108 प्रकार का है और अजीवाधिकरण के 11 भेद बताये हैं।[3]

अधिकरण1

जीवाधिकरण								अजीवाधिकरण
समारम्भ	समारंभ	आरंभ	योग	कृत	कारित	अनुमोदना	कषाय	
	मन	वचन	योग	क्रोध	मान	माया	लोभ	
निर्वर्त्तना	निक्षेप	संयोग	निसर्ग					
			मन	वचन	काय			

1. तत्त्वार्थ सूत्र - 6/4-5
2. अधिकरणं जीवाजीवा: - तत्त्वार्थ सूत्र - 6/7
3. तत्त्वार्थ सूत्र - 6/8-9

मूलगुण उत्तरगुण भक्तपान संयोग उपकरण संयोग
अप्रत्यवेक्षित दुष्ट सहसा
प्रमष्ट निक्षेप अनाभोग निक्षेप

विशेष – संरम्भ, समारम्भ, आरम्भ, मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदना, क्रोध, मान, माया, लोभ ये तीन, तीन, तीन, और चार हैं। इनको परस्पर में गुणा करने से जीवाधिकरण के 108 भेद बन जाते हैं।

परिणामों के अनुसार ही आश्रव में विशेषता आती है। **'तीव्र मन्द ज्ञाताज्ञात–भावाधिकरण–वीर्य–विशेषेभ्यस्तद्विषेशः'।** अर्थात् तीव्र भाव, मन्द भाव, ज्ञात भाव, अज्ञात भाव, अधिकरण विशेष, वीर्य विशेष से आस्रव में हीनाधिकता आती है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आस्रव के जितने भी कारण हैं सभी कारण आचार्य श्री विनम्रसागर जी कृत 'सिद्धान्त प्रबोधिनी टीका' में उल्लिखित मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग इन चार प्रत्ययों में सभी का समावेश हो जाता है।

1. तत्त्वार्थ सूत्र – 6/7,8,9
2. तत्त्वार्थ सूत्र – 6/6

सिद्धान्त प्रबोध ग्रन्थ के अन्तर्गत चारों गतियों में बन्ध-अबन्ध प्रकृतियों का अन्वेषण

ब्र. डॉ. मीना जैन
ललितपुर

सिद्धान्त प्रबोध में आचार्य श्री विनम्रसागर जी ने गति का विश्लेषण करते हुये कहा है- गमन करने को गति कहते हैं अथवा भव से भवान्तर को गति कहते हैं। गति नामकर्म के उदय से होने वाली अवस्था विशेष को गति कहते हैं।[1]

गम्यते इति गति - जो प्राप्त की जाय उसे गति कहते हैं।[2]

भवाद भव संक्रान्तिर्वा गति - एक भव से दूसरे भव में जाने को गति कहते हैं।[3]

देशादेशान्तर प्राप्ति हेतुर्गति - एक देश से दूसरे देश के प्राप्त करने का जो साधन है उसे गति कहते हैं।[4]

गतियाँ चार होती हैं- (1) नरक गति (2) तिर्यंच गति (3) मनुष्य गति (4) देव गति

इसके अलावा एक गति पंचम गति अथवा अगति सिद्ध गति है अर्थात् जहाँ जाया तो जाता है परन्तु वहाँ से आया नहीं जाता।

शंका - गतियाँ चार होती हैं फिर पाँचवीं गति कहाँ से आई? क्योंकि पूर्व में कह चुके हैं कि गति नामकर्म उदय से होने वाली अवस्था विशेष को गति कहते हैं। परन्तु वहाँ तो नामकर्म समाप्त हो जाने पर कोई कर्म ही शेष नहीं फिर उसे गति नहीं कहना चाहिए वहाँ भव से भवान्तर भी नहीं होता गमन भी नहीं होता वहाँ गति क्यों कहा?

समाधान - यद्यपि वहाँ कर्म की अपेक्षा नहीं है फिर भी प्ररूपणा करने के लिए उसे अलग से गति संज्ञा दी गयी है तथा उसे चारों गतियों में ग्रहण न करके अलग से पंचम गति अथवा अगति सिद्ध गति नाम दिया है।

विशेषार्थ - चार गतियों में जीव जाता भी है वहाँ से आता भी है। इसलिए उन्हें गत्यागति कहा जाता है। किन्तु सिद्ध गति में जीव जाता है परन्तु वहाँ से आता नहीं है इसलिए गति तो कहा है परन्तु आगति नहीं कहा है इसलिए उसे अलग से कहा है।[5]

नरक गति - नारत: अर्थात् जो आपस में रति (प्रेम) को प्राप्त नहीं होते उन्हें नारक या नारकी कहते हैं। उनकी होने वाली अवस्था को नरक गति कहते हैं अथवा नरक गति नामकर्म के उदय से होने वाली अवस्था विशेष को नरक गति कहते हैं जहाँ पर जीवों के कषाय रूप परिणाम पाये जाते हैं उन्हें नारकी कहते हैं।

तिर्यंच गति - तिर्यंच गति नामकर्म के उदय से होने वाली अवस्था विशेष को तिर्यंच गति कहते हैं।

जिस गति में जीव षट्कर्त्तव्यों को न करते हुये चारों पुरुषार्थों को नहीं कर सकता एवं हित अहित का विचार नहीं कर सकता वह तिर्यंच गति है।

मनुष्य गति - मनुष्य गति नामकर्म के उदय से होने वाली अवस्था विशेष को मनुष्य गति कहते हैं जिसमें जीव षट्कर्मों को करके तथा तीन पुरुषार्थ करके अंतिम पुरुषार्थ (मोक्ष पुरुषार्थ) को कर सकता है उसे मनुष्य गति कहते हैं।

देव गति - देव गति नामकर्म के उदय से होने वाली अवस्था विशेष को देव गति कहते हैं। अणिमा, महिमा आदि ऋद्धि से सम्पन्न अवस्था विशेष को देव गति कहते हैं।[1]

आगे अब बंध का विश्लेषण करते हुये कहा गया कि बंध किसे कहते हैं।

आत्मा का और कर्मों का संश्लेष संबंध होता है उसे बंध कहते हैं।[1] कषाय सहित होने से जीव कर्म के योग्य कार्मण वर्गणा रूप जिन पुद्गल परमाणुओं को ग्रहण करता है वह बंध है। बंध दो प्रकार का होता है मिथ्यात्वादि रूप जिन चेतन परिणामों से कर्म बँधता है वह भाव बंध है और कर्म तथा आत्म-प्रदेशों का एकमेक होना 'द्रव्य बंध' है।[2]

1. सिद्धान्त प्रबोधिनी टीका भाग-1 पृ. 14

बन्ध के भेद व कारण –

''पयडिट्ठिदि अणु – भागप्पदेसभेदा दु चदुविधो बंधो ।

जोगा पयडिपदेसा ठिदि अणुभागा कषाय दो होंति।।'' (33)[3]

बंध चार प्रकार का होता है – प्रकृति बंध, स्थिति बंध, अनुभाग बंध और प्रदेश बंध। इनमें से प्रकृति बंध और प्रदेश बंध योग से होता है तथा स्थिति और अनुभाग बंध कषाय से होता है।

प्रकृति बंध – ज्ञानावरणादि कर्मों के स्वभाव को प्रकृति बंध कहते हैं जैसे शक्कर में मिठास एवं नीम में कड़वापन का होना उसकी प्रकृति है।

स्थिति बंध – अपने स्वभाव को न छोड़ते हुये जितने काल तक कर्म अपना फल देने के लिए आत्मा के साथ बँधे रहते हैं उस समय सीमा (काल, मियाद, मर्यादा) को स्थिति बंध कहते हैं जैसे– बकरी, गाय, भैंस आदि के दूध में एक निश्चित समयावधि तक माधुर्य रूप स्वभाव बने रहने की स्थिति रहती है।

अनुभाग बंध – बँधे हुये ज्ञानावरणादि कर्मों में तीव्र या मंद आदि रूप फलदान की शक्ति (रस विशेष) को अनुभाग बंध कहते हैं।

प्रदेश बंध – ज्ञानावरणादि कर्म रूप होने वाले पुद्गल स्कन्धों के परमाणुओं की संख्या को प्रदेश बंध कहते हैं।

प्रति समय एक जीव के 'समय प्रबद्ध' प्रमाण कर्म परमाणु का बंध होता है। प्रति समय यह जीव कर्म–नोकर्म रूप होने वाले कितने पुद्गल परमाणुओं को ग्रहण करता है यह कहते हैं–

''सिद्धाणंतिम भागं, अभव्य सिद्धादणंत गुणमेव।

समय पबद्धं बंधदि, जोगावसादो दु विसरित्थं।।''(4)[1]

यह जीव सिद्ध जीवों के अनन्तवें भाग अथवा अभव्य जीव राशि जो जघन्य युक्तानन्त प्रमाण है उससे अनन्तगुणी वर्गणाओं वाले समय प्रबद्ध को प्रति समय बाँधता है तथा योगों की विशेषता से हीनाधिक रूप कर्म परमाणुओं को बाँधता है।

जैसे अधिक शक्ति वाला चुम्बक अधिक लौह कणों को ग्रहण करता है और हीन शक्ति वाला चुम्बक अल्प लौह कणों को ग्रहण करता है उसी प्रकार आत्मा भी योग शक्ति की हीनाधिकता से अल्प या अधिक कर्म पर परमाणुओं को ग्रहण करता है।

अभव्य राशि से अनन्तगुणे और सिद्ध राशि के अनन्तवें भाग परमाणुओं की एक कार्मण वर्गणा होती है और उतनी ही कार्मण वर्गणाओं का एक समय प्रबद्ध होता है। प्रति समय एक जीव के इतने कर्म परमाणु बँधते हैं इसी से इसे समय प्रबद्ध कहते हैं।

समय प्रबद्ध प्रमाण कर्म परमाणु का विभाजन आठ कर्मों में किस प्रकार होता है?

सर्वाधिक कर्म परमाणु वेदनीय को मिलते हैं उससे कम मोहनीय को उससे कम ज्ञानावरण, दर्शनावरण एवं अन्तराय को किन्तु इन तीनों को बराबर रहते हैं। इससे कम गोत्र कर्म को और सबसे कम आयु कर्म को परमाणु मिलते हैं।[2]

इस प्रकार बन्ध के विश्लेषण के पश्चात् अबन्ध और व्युच्छित्ति किसे कहते हैं? आचार्य नेमिचन्द्र स्वामी जी श्री गोम्मटसार कर्मकाण्ड जी में परिभाषित करते हुये कहते हैं–

1. सिद्धान्त प्रबोधिनी टीका भाग–1 पृ. 14
2. धवला पुस्तक – 1
3. धवला पुस्तक–1
4. सर्वार्थसिद्धि
5. सिद्धान्त प्रबोधिनी टीका भाग–1 पृ. 14,

व्युच्छित्ति नाम बिछुड़ने का है किन्तु जहाँ पर व्युच्छित्ति कही जाती है, वहीं पर उनका संयोग रहता है। जैसे दो पुरुष एक नगर में रहते थे उसमें से एक पुरुष दूसरे स्थान पर गया वहाँ किसी ने पूछा कि तुम कहाँ बिछुड़े थे तब उसने कहा कि हम अमुक नगर में बिछुड़े थे। इस प्रकार जहाँ पर उनका संयोग था वहीं बिछुड़ना कहा, इसी तरह जहाँ-जहाँ पर कर्मों के बंध की व्युच्छित्ति बताई है वहाँ पर तो उन-उन कर्मों का बंध रहता है उससे आगे नहीं रहता। ऐसा व्युच्छित्ति का स्वरूप जानना सो यह तो द्रव्यार्थिक नय का अभिप्राय है तथा उसी पुरुष को पूछने पर ऐसा भी कहा गया कि हम अमुक नगर को छोड़कर अमुक नगर आये और वहाँ से पृथक् हुये तो जैसे जहाँ संयोग का अभाव हुआ बिछुड़ना वहीं हुआ, उसी प्रकार अबन्ध में बन्ध का अभाव जानना यह पर्यायार्थिक नय का अभिप्राय है।[1]

अब नरक गति संबंधी बंध, अबंध, और बंध व्युच्छित्ति प्रकृति का अन्वेषण किया जा रहा है।

कुल बंध योग्य प्रकृति - 120

नरक गति में बंध योग्य प्रकृतियाँ 101 हैं 19 प्रकृति बंध योग्य नहीं हैं।

1. गोम्मटसार कर्मकाण्ड गा. 4, पृ. 4
2. द्रव्य संग्रह प्रश्नोत्तरी (मुनिश्री समतासागर जी) प-. 114
1. सिद्धान्त प्रबोधिनी टीका भाग-1, [पृ. xviii]
2. द्रव्य संग्रह प्रश्नोत्तरी गा. 32 (मुनिश्री समतासागर जी)
3. द्रव्य संग्रह प्रश्नोत्तरी गा. 33

19 प्रकृति बंध के अयोग्य – एकेन्द्रिय, स्थावर, आतप, सूक्ष्म, साधारण, अपर्याप्त विकलत्रय, नरक गति, नरकगत्यानुपूर्वी, नरकायु देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, देवायु, वैक्रियिक शरीर, वैक्रियिक अंगोपांग, आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग।

नरक गति संबंधी बंध, अबंध और बंध व्युच्छित्ति

प्रथम द्वितीय तृतीय नरक में पर्याप्तावस्था में बंध योग्य – 101 प्रकृति

गुण.	बन्ध	अबन्ध	व्युच्छित्ति	विशेष
मिथ्यात्व	100	1	4	1 तीर्थंकर 4 (हुण्डक संस्थान, मिथ्यात्व, नपुंसक वेद
सासादन	96	5	25	25 गुणस्थानोक्त (सृपाटिका संहनन)
मिश्र	70	31	0	31 (25+5+1 मनुष्यायु) इस गुण. आयु का बंध नहीं होता
असंयत	72	29	10	29 31-2 (तीर्थंकर, मनुष्यायु) 10 (गुणस्थानोक्त)

द्वितीय-तृतीय नरक में जाते समय सम्यक्त्व छूट जाता है तथा एक अन्तर्मुहूर्त तक तीर्थंकर प्रकृति का बंध रुक जाता है। अन्तर्मुहूर्त पश्चात् वेदक सम्यक्त्व को प्राप्त कर तीर्थंकर प्रकृति का बंध पुन: होने लगता है।

चतुर्थ पंचम षष्ठ नरक में बंध अबंध बंध व्युच्छित्ति

पर्याप्तावस्था में बंध योग्य प्रकृतियाँ 100

गुण.	बंध	अबंध	व्युच्छित्ति	विशेष
मिथ्यात्व	100	0	4	4 (पूर्वोक्त मिथ्यात्वादि)
सासादन	96	4	25	25 गुणस्थानरोक्त
मिश्र	70	30	0	30 (25+4+1 (मनुष्यायु)
असंयत	71	29	10	29 [30-1] (मनुष्यायु) 10 गुणस्थानोक्त

अञ्जनादि तीन नरकों में तीर्थंकर प्रकृति बिना बंध योग्य प्रकृतियाँ 100 हैं। शेष सर्व कथन धर्मादि के समान ही है।

माघवी नामक सप्तम नरक में मनुष्यायु बिना बंध योग्य प्रकृतियाँ 99 हैं।

सप्तम माघवी नामक पृथ्वी संबंधी बंध–अबंध–बंध व्युच्छित्ति रूप प्रकृतियाँ पर्याप्तावस्था में
बंध योग्य प्रकृतियाँ 99 गुण. चार

गुण.	बंध	अबंध	व्युच्छित्ति	विशेष
मिथ्यात्व	96	3	5	3 (उच्च गोत्र–मनुष्यद्विक) 5 (पूर्वोक्त 4+1 (तिर्यंचायु)
सासादन	91	8	24	24 (गुणस्थानोक्त 25–5 तिर्यंचायु)
मिश्र	70	29	0	29 24+8 – 3 (उच्च गोत्र मनुष्यद्विक)
असंयत	70	29	9	9 गुणस्थानोक्त 10–1 (मनुष्यायु)

प्रथम नरक संबंधी अपर्याप्त काल में मिश्र काय योगी के समान मनुष्यायु एवं तिर्यञ्चायु के बिना बंध योग्य 99 प्रकृतियाँ हैं। क्योंकि वैक्रियिक मिश्र काय योग आयु बंध नहीं है यहाँ गुण. पहला और चौथा है क्योंकि नारकी के अपर्याप्तावस्था में सासादन गुण. नहीं होता नरक में दूसरे गुण. में अपर्याप्त अवस्था नहीं होती।[1] क्योंकि सासादन सम्यग्दृष्टि मरण कर नरक नहीं जाता है।

प्रथम नरक में अपर्याप्तावस्था में बंध योग्य प्रकृतियाँ 99 गुण. दो

गुण.	बंध	अबंध	व्युच्छित्ति	विशेष
मिथ्यात्व	98	1	28	1 (तीर्थंकर) 28 (4 मिथ्यात्वादि एवं 24 सासादन गुण. की)
असंयत	71	28	9	28 (29–1 तीर्थंकर) 9 अप्रत्याख्यान 4 + वज्रवृषभनाराच संहनन, मनुष्य गति, मनुष्य गत्यानुपूर्वी औदारिक शरीर औदारिक अंगोपांग

वंशा को आदि लेकर पाँच पृथ्वियों की अपर्याप्तावस्था में 98 प्रकृति बंध योग्य है तथा गुण. एक मिथ्यात्व ही पाया जाता है (मिथ्यात्व गुण. में तीर्थंकर प्रकृति का बंध नहीं होता) अंतिम माघवी नामक पृथ्वी में भी अपर्याप्तावस्था में बंध योग्य प्रकृति 95 है। गुणस्थान मिथ्यात्व ही है। क्योंकि यहाँ मिथ्यात्व गुण. में उच्च गोत्र और मनुष्यद्विक का बंध नहीं होता है।[1] क्योंकि सप्तम नरक का नारकी मरण करके नियम से तिर्यंच ही बनता है इसलिए मनुष्यद्विक और उच्च गोत्र का बंध नहीं पाया जाता है।

किसी भी जीव के जब नरक आयु का बंध हो जाता है तो आयु कर्म छूटता नहीं है। आयु कर्म का बंध हो जाने के बाद यदि सम्यग्दर्शन हो जाता है तो वह जीव प्रथम नरक से आगे नहीं जाता है।

यदि तिर्यंचायु का बंध हो गया बाद में सम्यग्दर्शन हो जाता है तो वह भोगभूमि का तिर्यंच बनता है।

यदि मनुष्यायु का बंध हो जाता है फिर बाद में सम्यग्दर्शन होता है तो वह जीव भोगभूमि का मनुष्य ही बनता है।

यदि देवायु का बंध हो जाता है तो वह जीव देव गति में ही जाता है।

तिर्यञ्च गति – कुल बंध योग्य 120 उनमें से तिर्यंच गति में तीर्थंकर, आहारकद्विक बिना बंध योग्य प्रकृति – 117 हैं तथा असंयत गुण. में अप्रत्यख्यान चार कषाय की व्युच्छित्ति है, शेष वज्रवृषभनाचादि छह प्रकृतियों की व्वुच्छित्ति सासादन गुण. में ही हो जाती है क्योंकि तिर्यंच गति के मिश्र और असंयत गुणस्थान में तिर्यंच और मनुष्य गति सम्बन्धी प्रकृतियों का बंध नहीं है।[1]

सामान्य, पंचेन्द्रिय, पर्याप्त, योनिनी और लब्ध्यपर्याप्ति के भेद से तिर्यंच पाँच प्रकार के हैं प्रथम चार प्रकार के तिर्यंचों में तो पूर्ण गाथा के अनुसार बंध व्युच्छित्ति जानना किन्तु लब्ध्यपर्याप्त तिर्यंच में देवायु–नरकायु और वैक्रियक षट्क (देव गति, देव गत्यानुपूर्वी, नरक गति, नरक गत्यानुपूर्वी, वैक्रियिक शरीर, वैक्रियिक अंगोपांग) इनका बंध नहीं होता क्योंकि इनके जो प्रकृतियाँ आगामी भव में उदय योग्य नहीं हैं उनका यहाँ बंध नहीं है।[2]

लब्ध्यपर्याप्त बिना शेष चार प्रकार के तिर्यंच सम्बन्धी बंध–अबंध व्युच्छित्ति
बंध योग्य प्रकृति 117 गुण–5

गुण.	बंध	अबंध	व्युच्छित्ति	विशेष विवरण
मिथ्यात्व	117	0	16	16 एकेन्द्रिय सूक्ष्मत्रिक विकलत्रय नरकत्रिक, हुण्डक संस्थान, नपुंसक वेद, मिथ्यात्व सृपाटिका संहनन
सासादन	101	16	31	31 (25+6 [वज्रवृषभनाराच संहनन, औदारिक द्विक, मनुष्य द्विक मनुष्यायु]
मिश्र	69	48	0	48 [31+16+ देवायु]
असंयत	70	47	4	47 (48–1 देवायु) 4 (अप्रत्याख्यान कषाय)
देशविरत	66	51	4	4 (प्रत्याख्यान कषाय)

सामान्यादि चारों प्रकार के तिर्यंचों की निर्वृत्य पर्याप्तावस्था में बन्ध योग्य प्रकृति 111 है। क्योंकि इनके निर्वृत्य अपर्याप्तावस्था में चारों आयु और नरक द्विक का बंध नहीं होता अत: पूर्वोक्त 117 में से छ: कम करने पर 111 प्रकृति बंध योग्य नहीं गुणस्थान तीन है।[1]

लब्ध्य पर्याप्त बिना शेष चार प्रकार के तिर्यंच सम्बन्धी निर्वृत्य पर्याप्त अवस्था की संदृष्टि–बंध योग्य प्रकृति 111 गुणस्थान तीन

गुण.	बंध	अबंध	व्युच्छित्ति	विशेष
मिथ्यात्व	107	4	13	4 (सुर चतुष्क) 13 (16–3 नरक द्विक नरकायु)
सासादन	94	17	29	29 (31–2) (तिर्यंचायु मनुष्यायु बिन)
असंयत	69	42	4	42 (46–4 [सुर चतुष्क का बंध न होने से]) 4 [अप्रत्याख्यान कषाय]

लब्ध्य पर्याप्त तिर्यंचों के नरकायु नरक द्विक देवायु देव द्विक और वैक्रियिक द्विक इन 8 प्रकृति बिना (117–8) 109 प्रकृति का बंध होता है यहाँ एक गुणस्थान ही है।[2]

अपर्याप्त अवस्था में सुर चतुष्क बंध नहीं होता इसलिए 111 प्रकृति सामान्य से बंध योग्य है किन्तु व्युच्छित्ति पर्याप्तक में 16 और अपर्याप्तक में 13 प्रकृति की होती है क्योंकि नरक द्विक और नरकायु पहले से ही अबंध है।[3]

पूर्व में पाँच प्रकार के तिर्यंच बतलाये थे–

तिर्यंच सामान्य – इसमें सभी प्रकार के तिर्यंच एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय

पर्याप्त, अपर्याप्त मिथ्यात्व से लेकर संयतासंयत गुणस्थान तक सभी समाहित हैं। पंचेन्द्रिय तिर्यंच यहाँ पंचेन्द्रिय संज्ञी असंज्ञी जीवों की अपेक्षा कथन है। पर्याप्तक जिन जीवों के पर्याप्त नामकर्म का उदय है वे जीव पर्याप्तक के अन्तर्गत आते हैं भले ही वे अभी अपर्याप्तक हैं उन्हें निर्वृत्य पर्याप्तक कहते हैं। ऐसे जीव नियम से पर्याप्तियाँ पूर्ण करके ही आयु का बंध करते हैं व मरते हैं उससे पहले नहीं।

अपर्याप्तक जिन जीवों में अपर्याप्त नामकर्म का उदय पाया जाता है उन्हें अपर्याप्तक कहते हैं, ये कभी भी पर्याप्तियाँ पूर्ण नहीं करते हैं और मर जाते हैं विशेषता में उन्हें लब्धय पर्याप्तक कहते हैं। योनिनी–स्त्री वेदी तिर्यंचों को योनिनी कहते हैं ये द्रव्य से पुरुष भाव से स्त्री वेद तथा द्रव्य भाव दोनों से स्त्री वेदी भी हो सकते हैं। सामान्य भाषा में जिनके पर्याप्त नामकर्म का उदय है और अभी पर्याप्तियाँ पूर्ण नहीं की हैं उन्हें भी अपर्याप्तक कह देते हैं। अत: एकान्त से नहीं लेना।[1]

मनुष्य गति संबंधी बंध, अबंध, व्युच्छित्ति

मनुष्य गति संबंधी सर्व कथन तिर्यंच गतिवत् है, किन्तु विशेषता यह है कि यहाँ तीर्थंकर और आहारक द्विक का बंध होने लगता है अत: यहाँ पर बंध योग्य 120 प्रकृति है। सामान्य मनुष्य, पर्याप्त मनुष्य और मनुष्यनी में बंध–अबंधादि की रचना तिर्यंच गति के समान है और लब्ध्य पर्याप्तक मनुष्य की रचना लब्ध्य पर्याप्त तिर्यंच ही है।

विशेषार्थ – मनुष्य गति संबंधी असंयत गुणस्थान में यद्यपि व्युच्छित्ति अप्रत्याख्यान कषाय रूप चार प्रकृति की है और शेष वज्रवृषभनाराचादि छह प्रकृतियों की व्युच्छित्ति सासादन गुणस्थान में ही हो जाती है। तथापि इतनी विशेषता है कि तीर्थंकर और आहारक द्विक का बंध मनुष्यों में पाया जाता है। सामान्य मनुष्य, पर्याप्त मनुष्य और मनुष्यनी की भी रचना इसी प्रकार जानना।

बंध योग्य प्रकृति 120 एवं गुणस्थान 14 है। पूर्व–पूर्व गुणस्थानों की व्युच्छिन्न प्रकृतियों को बंध में से घटाने पर विशेष कथनपूर्वक अबंध योग्य प्रकृतियों में मिलाने पर गुणस्थानों में बंध और अबंध होता है।[1]

गुण.	बंध	अबंध	बंध	व्युच्छित्ति	विशेष
मिथ्यात्व	117	3	16	3	(तीर्थंकर, आहारक द्विक) 16 [एकेन्द्रिय त्रिक, सूक्ष्म त्रिक, विकलयत्रय, नरक त्रिक, मिथ्यात्व, नपुंसक वेद, हुण्डक संस्थान, सृपाटिका संहनन]
सासादन	101	19	31	31	25+6 [वज्रवृषभनाराच संहनन, औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग, मनुष्य गति, मनुष्य गत्यानुपूर्वी और मनुष्यायु]। 25 [अनंतानुबंधी कषाय 4, स्त्यानगृद्धि, निद्रा–निद्रा, प्रचला–प्रचला, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय, स्त्री वेद]

गुण.	बंध	अबंध	व्युच्छित्ति	विशेष
				न्यग्रोध परिमंडल, स्वाति कुब्जक और वामन संस्थान वज्रनाराच, अर्धनाराच, कीलित संहनन अप्रशस्त विहायोगति, नीच गोत्र, तिर्यंय गति, तिर्यंच गत्यानुपूर्वी, तिर्यंचायु और उद्योत।
मिश्र	69	51	0	51 (31+19+1 देवायु) इस गुण. में आयु का बंध नहीं होता।
असंयत	71	49	4	49 [51-2 तीर्थंकर, देवायु] 4 [अप्रत्याख्यान चतुष्क]
देश संयत	67	53	4	4 [प्रत्याख्यान चतुष्क]
प्रमत्त संयत	63	57	6	6 [अस्थिर, अशुभ, असाता वेदनीय अयशकीर्ति, अरति, शोक]
अप्रमत्त	59	61	1	61 (63-2 आहारिक द्विक) 1 (देवायु)
अपूर्वकरण	58	62	36	36 [तीर्थंकर, निर्माण, प्रशस्त विहायोगति, पंचेन्द्रिय जाति तैजस, कार्माण, आहारक शरीर-आहारक अंगोपांग-समचतुरस्र संस्थान, देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, वैक्रियिक शरीर, वैक्रियिक अंगोपांग, वर्णादि 4, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छवास, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक शरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर और आदेय।] प्रथम भाग में- निद्रा और प्रचला इस भाग में उपशम श्रेणि चढ़ते समय मरण नहीं होता। सप्तम भाग में- हास्य, रति, भय, जुगुप्सा व 36 प्रथम भाग में दो, षष्ठ भाग में 30, सप्तम भाग में 4
अनिवृत्तिकरण	22	98	5	प्रथम भाग I पुरुष वेद द्वितीय भाग I सञ्ज्वलन क्रोध तृतीय भाग I सञ्ज्वलन मान चतुर्थ भाग I सञ्ज्वलन माया पंचम भाग I सञ्ज्वलन लोभ

गुण.	बंध	अबंध	बंध व्युच्छित्ति	विशेष
सूष्म साम्पराय	17	103	16	16 [ज्ञानावरण 5, दर्शनावरण 4, अन्तराय 5, यश:कीर्ति और उच्च गोत्र]
उपशान्त मोह	1	119	0	1 (सातावेदनीय)
क्षीण मोह	1	119	0	1 (सातावेदनीय)
सयोगी	1	119	1	1 (व्युच्छित्ति रूप सातावेदनीय)
अयोगी	0	120	0	

इस प्रकार सामान्य मनुष्य, पर्याप्त मनुष्य, मनुष्यनी संबंधी बंध, अबंध-व्युच्छित्ति का वर्णन हुआ।[1]

सामान्य-पर्याप्त मनुष्य तथा मनुष्यनी के निर्वृत्य पर्याप्तावस्था में बंध योग्य 112 प्रकृति है। ये तीनों मिश्र काय योगी निर्वृत्य पर्याप्तक है। अत: यहाँ चार आयु, आहारक द्विक, नरक द्विक इन आठ प्रकृतियों का बंध नहीं है। गुणस्थान- 1,2,4,6,13 ये पाँच हैं।

सामान्य पर्याप्त मनुष्य और मनुष्यनी इन तीनों की निर्वृत्य पर्याप्तावस्था में बंध-अबंध व्युच्छित्ति 4 आयु-नरक द्विक-आहारक द्विक इन आठ बिना (120-8) 112 बंध योग्य

गुण.	बंध	अबंध	व्युच्छित्ति	
मिथ्यात्व	107	5	13	5 (सुर चतुष्क, तीर्थंकर) 13 (गुणस्थानोक्त 16-3 (नरकद्विक, नरकायु)
सासादन	94	18	29	29 [पर्याप्तवत् 31-2 मनुष्यायु, तिर्यंचायु] किन्तु मनुष्यनी के व्युच्छित्ति 98 प्रकृति की।
असंयत	70	42	8	42 [29+18+5 (तीर्थंकर-सुर चतुष्क)] 8 [प्रत्याख्यान-अप्रत्याख्यान की चार-चार] नोट- यह गुणस्थान मनुष्यनी के नहीं होता
प्रमत्त	62	50	61	61 [प्रमत्त की 6+ अपूर्वकरण की आहारक द्विक बिना 34 + अनिवृत्तिकरण 5 + सूक्ष्म साम्पराय 16] यह गुणस्थान मनुष्यनी के नहीं होता

गुण.	बंध	अबंध	व्युच्छित्ति	
सयोगी	1	111	1	I (सातावेदनीय)

यहाँ इतनी विशेषता है कि मनुष्यनी के चतुर्थ व षष्ठ गुणस्थान नहीं होता क्योंकि सम्यक्त्व सहित मनुष्यनी में उत्पत्ति नहीं होती है और भाव स्त्री वेद वाले जीव के प्रमत्त संयत गुणस्थान में आहारक द्विक का उदय नहीं होता है अर्थात् उन जीवों के आहारक ऋद्धि की उत्पत्ति नहीं होती है।[1]

लब्ध्य पर्याप्तक मनुष्य का सर्व कथन लब्ध्य पर्याप्तक तिर्यंच के समान ही है। यहाँ तीर्थंकर, आहारक द्विक देवायु-नरकायु और वैक्रियिक षट्क के बिना बंध योग्य प्रकृति 109 है। गुणस्थान एक मिथ्यात्व ही है।[2]

मनुष्य ही तीर्थंकर प्रकृति का बंध करते हैं। अन्य गति वाले जीव तीर्थंकर प्रकृति का बंध प्रारम्भ नहीं कर सकते हैं क्योंकि उनके उत्कृष्ट सामग्री का अभाव है।[3]

तीर्थंकर प्रकृति का बंध तिर्यंच गति के बिना शेष तीन गतियों में होता है। इसके बंध का उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त अधिक आठ वर्ष कम दो कोटि पूर्व और तैंतीस सागर प्रमाण है। इसके बंध का प्रारम्भ केवली द्वय के पादमूल में ही होता है ऐसा नियम है क्योंकि अन्यत्र उस प्रकार की परिणाम विशुद्धि नहीं हो सकती है जिससे तीर्थंकर प्रकृति का बंध प्रारम्भ हो सके।[4]

देव गति – देव गति का सर्वकथन नरक गतिवत् है किन्तु यहाँ विशेषता यह है कि मिथ्यात्व गुणस्थान में ईशान स्वर्ग पर्यन्त सात प्रकृतियों की ही व्युच्छित्ति होती है। शेष 9 प्रकृतियों का यहाँ बंध नहीं है अत: 9 तो ये एवं सुर चतुष्क देवायु, आहारक शरीर और आहारक अंगोपांग ये सात ऐसे सर्व 16 प्रकृतियाँ बंध योग्य न होने से 104 प्रकृति का ही यहाँ बंध है। भवनत्रिक देवों के तीर्थंकर प्रकृति का बंध नहीं होता है।

विशेषार्थ – देवगति संबंधी मिथ्यात्व गुणस्थान में सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, नरक द्विक और नरकायु ये 9 प्रकृतियाँ बंध योग्य नहीं हैं। अत: 9 तो ये तथा सुरपंचक और आहारक द्विक ये सात मिलकर 16 प्रकृति देवगति में बंध योग्य नहीं है अत: सामान्य से 104 का ही बंध है।

1. गोम्मटसार कर्मकाण्ड गा. 110, पृ. 64-65
1. गोम्मटसार कर्मकाण्ड गा. 110, पृ. 65
2. गोम्मटसार कर्मकाण्ड गा. 110, पृ. 66
3. जैन कर्म अनुचिंतन गा. 110, पृ. 74
4. जैन कर्म अनुचिंतन गा. 110, पृ. 74-75

सर्वभवनत्रिक में तथा ''कप्पित्थीसु णतित्थं''[2] गाथा 112 के इन वचनों के अनुसार कल्पवासिनी देवाङ्गनाओं में तीर्थंकर प्रकृति का बंध नहीं होता अत: यहाँ बंध योग्य 103 प्रकृति है तथा गुण चार हैं। सर्वभवनत्रिक की तथा कल्पवासिनी देवाङ्गनाओं की पर्याप्तावस्था की संदृष्टि

बंध योग्य प्रकृति 103 गुण. 4

गुण.	बंध	अबंध	व्युच्छित्ति	विशेष
मिथ्यात्व	103	0	7	7 (मिथ्यात्व, हुण्डक संस्थान, नपुंसक वेद, सृपाटिका संहनन, एकेन्द्रिय, स्थावर, आतप
सासादन	96	7	25	25 (गुणस्थानोक्त)
मिश्र	70	33	0	33 [25+7+1 (मनुष्यायु)]
असंयत	71	32	10	32 [(33-1 (मनुष्यायु)]

सौधर्म-ईशान स्वर्ग में बंध योग्य प्रकृति 104 है। गुणस्थान चार सौधर्म ईशान स्वर्ग में बंध-अबंध-व्युच्छित्ति की संदृष्टि

गुण.	बंध	अबंध	व्युच्छित्ति	विशेष
मिथ्यात्व	103	1	7	1 (तीर्थंकर) 7 [मिथ्यात्वादि पूर्वोक्त]
सासादन	96	8	25	
मिश्र	70	34	0	34 (25+8+1 मनुष्यायु)
असंयत	72	32	10	32 (34-2 तीर्थंकर व मनुष्यायु)

कल्पवासिनी देवाङ्गनाओं में तीर्थंकर प्रकृति का बंध नहीं होता है। तिर्यंच गति, तिर्यंच गत्यानुपूर्वी तिर्यंचायु और उद्योत, इन चार प्रकृतियों का बंध ग्यारहवें-बारहवें (सतार-सहस्रार) स्वर्ग पर्यन्त होता है। इन चार प्रकृतियों को 'शतार चतुष्क' भी कहते हैं। क्योंकि शतार युगल तक ही इनका बंध होता है उससे आगे आनतादि स्वर्गों में इनका बंध नहीं होता।[1]

कल्पवासिनी देवाङ्गनाओं में बंध-अबंधादि का कथन भवनत्रिक वत् होता है।

सनत्कुमार से सहस्रार स्वर्ग पर्यन्त बंधादि की संदृष्टि यहाँ पर्याप्तावस्था में बंध योग्य प्रकृति 101 गुण. चार

गुण.	बंध	अबंध	व्युच्छित्ति	विशेष
मिथ्यात्व	100	1	4	1 (तीर्थंकर), 4 (मिथ्यात्व, हुण्डक संस्थान, नपुंसक वेद और सृपाटिका संहनन
सासादन	96	5	25	
मिश्र	70	31	0	31 (25+5+ मनुष्यायु)
असंयत	72	29	10	29 (31-2 (तीर्थंकर, मनुष्यायु)

शतार चतुष्क का बंध शतार-सहस्रार स्वर्ग युगल तक ही होता है, अत: आनतादि चार स्वर्गों में तथा नवग्रैवेयक में बंध योग्य प्रकृति (101-4) 97 है।

आनतादि चार स्वर्गों तथा नवग्रैवेयक संबंधी संदृष्टि यहाँ पर्याप्तावस्था में बंध योग्य प्रकृति 97 गुण. चार

गुण.	बंध	अबंध	व्युच्छित्ति	विशेष
मिथ्यात्व	96	1	4	1 (तीर्थंकर) 4 [मिथ्यात्वादि पूर्वोक्त]
सासादन	92	5	21	21 (25-4 (शतार चतुष्क)
मिश्र	70	27	0	27 (21+5+1 मनुष्यायु)
असंयत	72	25	10	25 (27-2 तीर्थंकर-मनुष्यायु)

अनुदिश एवं अनुत्तर विमानवासी अहमिन्द्र देव सभी सम्यग्दृष्टि होते हैं। इनमें बंध योग्य प्रकृति 72 तथा गुणस्थान एक असंयत ही होता है।

सर्वभवनत्रिक में और कल्पवासी देवाङ्गनाओं के बंध योग्य 103 प्रकृति है किन्तु इनकी निर्वृत्य पर्याप्तावस्था में तिर्यंच, मनुष्यायु का बंध न होने से बंध योग्य प्रकृति 101 है गुण. दो हैं क्योंकि असंयत सम्यग्दृष्टि मरण कर भवनत्रिक में उत्पन्न नहीं होता।[1]

सर्वभवनत्रिक और कल्पवासी देवाङ्गनाओं की निवृत्त्य पर्याप्तावस्था में बंध योग्य प्रकृति 101 गुण. 2

गुण.	बंध	अबंध	व्युच्छित्ति	विशेष
मिथ्यात्व	101	0	7	7 (मिथ्यात्व-हुण्डक संस्थानादि पूर्वोक्त)
सासादन	94	7	24	24 (25-1 (तिर्यंचायु)

सौधर्म-ईशान स्वर्ग संबंधी निर्वृत्य पर्याप्त्क अवस्था में बंध योग्य प्रकृति 102 तथा गुण. तीन हैं।

गुण.	बंध	अबंध	व्युच्छित्ति	विशेष
मिथ्यात्व	101	1	7	1 (तीर्थंकर) 7 (मिथ्यात्वादि पूर्वोक्त)
सासादन	94	8	24	24 (25-1 तिर्यंचायु बिना)
असंयत	71	31	9	31 (24+8-1 तीर्थंकर)
				9 (गुणस्थानोक्त 10-1 मनुष्यायु)

सनत्कुमार से सहस्रार पर्यंत 10 स्वर्गों की निर्वृत्य पर्याप्तावस्था में बंध योग्य प्रकृति 99 गुण. 3

गुण.	बंध	अबंध	व्युच्छित्ति	विशेष
मिथ्यात्व	98	1	4	1 (तीर्थंकर) 4 (मिथ्यात्व, हुण्डक संस्थान, नपुंसक वेद, सृपाटिका संहनन
सासादन	94	5	24	24 (गुणस्थानोक्त 25-1 तिर्यंचायु)
असंयत	71	28	9	28 (24+5-1 तीर्थंकर 9 (गुणस्थानोक्त 10-1 मनुष्यायु

आनतादि चार स्वर्गों में तथा नवग्रैवेयक तिर्यंचादिक उद्योत रहित बंध योग्य 96 प्रकृति गुण. 3

आनत-प्रणात-आरण-अच्युत स्वर्ग तथा नवग्रैवेयक संबंधी बंध-अबंध और व्युच्छित्ति रूप प्रकृतियों की संदृष्टि-निवृत्य पर्याप्तकावस्था में बंध योग्य प्रकृति 961 गुण. 3

गुण.	बंध	अबंध	व्युच्छित्ति	विशेष
मिथ्यात्व	95	1	4	1 (तीर्थंकर) 4 (मिथ्यात्वादि 4 पूर्वोक्त)
सासादन	91	5	21	21 (गुणस्थानोक्त 25-4 शतार चतुष्क)
असंयत	71	25	9	25 (21+5-1 तीर्थंकर) 9 (गुणस्थानोक्त 10-1 मनुष्यायु

अनुदिश और अनुत्तरवासी सभी देव असंयत होते हैं। इनके निर्वृत्य पर्याप्त अवस्था में 71 प्रकृति बंध योग्य हैं। गुणस्थान एक असंयत है।

इस प्रकार सिद्धान्त प्रबोधिनी टीका के अन्तर्गत चारों गतियों में बंध-अबंध प्रकृतियों का अन्वेषण किया गया।

सिद्धान्त प्रबोध के रचयिता का व्यक्तित्व कृतित्व एवं योग एक सामान्य परिचय

बा.ब्र. प्राची (श्रिया) दीदी ''दर्शनाचार्य''

प्रकाशमान बिंदू–

ग्रंथकार का व्यक्तित्व
ग्रंथकार का कृतित्व
योग–एक सामान्य परिचय
योग के प्रकार
शुभाशुभ योग
शुभ योग
अशुभ योग
गुणस्थानों में योग अयोगी जिन

जिनधर्म सनातन है अपना, मैं उसकी गाथा गाती हूँ।
गुरुदेव ने जो उपदेश दिया, मैं गाती और सुनाती हूँ।।

इस महाग्रंथ और ग्रंथकार के, चरणों शीश झुकाती हूँ।
व्यक्तित्व और कृतित्व बता, मैं योगों को समझाती हूँ।
इस गुणरूपी सागर की मैं, बूँदों को–3 यहाँ बिखराती हूँ।।
गुरुदेव ने जो उपदेश दिया...

Jainism is like a beautiful tree, on which there are many flowers. Which are spreading their fragrance all over the world. Amisdst all those flowers, I'm a very tiny bud have i don't have the capacity to speaks some things about the beautiful bigest tree means jainism but I'm i also follow the jainism that's my duty to obey the order of may preceptor P.P. Uchcharnacharya 108 shree vinamra sagar ji gurudev so jin trying to say somethings about jainism and the topic of this seminar my topic is personality and work of the writer and general introduction of yoga, kinds, diffrences in good and sad yoga, idvartru stages and .....

सर्वप्रथम त्रयभक्तियुत आचार्य श्री 108 धरसेन स्वामी, पुष्पदंत, भूतबली स्वामी, वीरसेन स्वामी एवं सिद्धांत चक्रवर्ती श्री नेमिचन्द्राचार्य जी को त्रय भक्तिपूर्वक नमोऽस्तु ज्ञापित कर दीक्षा–शिक्षा में कुशल मम दादा गुरुदेव काव्य शिरोमणि सूरिगच्छाचार्य श्री 108 विरागसागर जी महामुनिराज की चरण वंदना कर जिस प्रकार मीन जल में अपने अण्डों को समय–समय पर देखती रहती है और उसके देखने मात्र से ही अण्डे परिपक्व हो जाते हैं ठीक उसी प्रकार से अपनी दिव्य दृष्टि के माध्यम से मुझे सिद्धांत के ज्ञान से शिक्षित करने वाले मम जीवनोद्धारक, मम हृदय कमल सम्राट प.पू. उच्चारणाचार्य श्री 108 विनम्रसागर जी महामुनिराज के कमल सदृश युगल चरणों में नमन कर मंच पर विराजमान समस्त विद्वत साधुगणों को यथायोग्य नमोऽस्तु वंदामि कर आप सभी सरस्वती पुत्रों का स्वागत करती हूँ...

विश्ववन्द्य तीर्थंकरों की दिव्य ध्वनि के अर्थ व्याख्यान की साकार शब्दरुपता रूप गणधर देवों के ग्रंथ एवं परम्पराचार्यों का महत्वपूर्ण स्थान है। तीर्थंकर परम्परा श्रमण संस्कृति के उन्नायक, अध्यात्म सरोवर के राजहंस, विश्ववंद्य, सर्वोपास्य, सर्ववंद्य, महाव्रतिन् प.पू. भक्तामर महोदधि गुरुदेव

कालचक्र सतत गतिमान है, युग बीतते हैं, सृष्टियाँ बदलती हैं, दृष्टियों में भी परिवर्तन आ जाता है। लेकिन कुछ व्यक्ति अपनी अमर गाथाओं को चिरंजीवित चिरस्थायी बना देते हैं। उन्हीं महापुरुषों का जीवन स्वर्णिम अक्षरों में लिखा जाता है। जो असंख्य जनमानस को घोर तिमिर से निकालकर उज्ज्वल प्रकाश से प्रकाशित करते हैं।

इस कल्पनातीत व्यक्तित्व को कहने का प्रयास समुद्र को चुल्लु में समाहित करने के सदृश ही है किंतु भाव विश्राम का नाम ही नहीं लेते।

My preceptor is not depends any introduction. He have all the glamour the dignity of phylosophy

Glory of knowledge

Attentiveness of character

Mastery in tapashya

Purity of bhaktamar

Sweetness in speech

Importance of devotion

Ability of sprituality

Efficiency of theory

Humility of humble

गुरुदेव के हृदय में इतना प्रेम है कि संसार के सारे पुष्प उसमें समा जावें लेकिन उसमें रंचमात्र भी ऐसी जगह नहीं जहाँ छोटा–सा शुल भी प्रवेश पा सके। गुरुदेव के वचन ही क्या सम्पूर्ण जीवन ही आकर्षण का केन्द्र बिंदु है। ऐसे पूज्य गुरुदेव के विशाल व्यक्तित्व को मैं शब्दों में नहीं बाँध सकती।

जिनके आचार में सदैव अहिंसा, विचार में अनेकांत, वाणी में स्याद्वाद और जीवन में अपरिग्रह यह मूलभूत सिद्धांत हैं। जो सदैव प्रदर्शन से दूर दर्शन की ओर अग्रसर रहते हैं। पूज्य गुरुदेव एक ऐसी स्फटिक मणि हैं जो अपनी आभा से प्रत्येक शिष्य को प्रत्येक क्षेत्र में नख से शीरा तक प्रकाशित कर रहे हैं।

पूज्य गुरुदेव एक ऐसे साधक हैं। जो शिष्यों को अनुग्रह करने वाले, पापरूपी ईंधन को जलने के लिए अग्नि रूपी, पंचेन्द्रिय सम्बंधी महाभोगों से विरक्त, सबके द्वारा वंदनीय, जिनकी आत्मा प्रमाद और मद से रहित है। जो जिनेन्द्र देव की आज्ञा का पान करने वाले, धर्मोपदेश रूपी अमृत से जिसका मन सम्बन्धी मल धुल गया है, जो सम्यग्दर्शनरूपी रत्नमय आभूषण से सहित हैं, सम्यग्ज्ञान ही जिनका भोजन है, सम्यग्चारित्र रूपी वस्त्र से जिनका शरीर वेष्टित है, जो विशुद्ध बुद्धि वाले हैं, महान उपशमभाव रूपी हाथी पर जो आरूढ़ हैं, शुभ अभिप्राय वाले हैं, सब जीवों को हितकर हैं, मूलगुणों के आधार, मूलमार्ग को दिखाने वाले

हैं इत्यादि अनेक गुणरुपी समीचीन रत्नों के सागर हैं तथा संसाररूपी समुद्र में पड़ने वाले भव्यजीवों के प्रति जो हस्तावलम्बन हैं ऐसे महान व्यक्तित्व के धनी पूज्य गुरुदेव भिण्ड नगर की पावन धरा पर माता चमेली देवी की कुक्षि से पिता मेरचंद के आँगन में सन् 1963, एक अक्टूबर को अवतरित हुए। बचपन से ही तीक्ष्ण बुद्धि के धारक पूज्य गुरुदेव ने बी.कॉम., एम.कॉम. की शिक्षा जिले में प्रथम स्थान गोल्ड मैडल की विशेष योग्यता के साथ पूर्ण की। पूज्य गुरुदेव आठ वर्ष तक शिक्षक पद पर रहे आपका प्रोफेसर बनना तय हो गया था। आपकी CA एवं PSC की तैयारी चल रही थी। तभी आचार्य विरागसागर जी गुरुदेव को पाकर आपने समस्त उपाधियों का व्यामोह त्यागकर वैराग्य धारण कर लिया। गुरुदेव की ऐलक दीक्षा 09/08/1992 को सिद्धक्षेत्र द्रोणगिरी में एवं मुनि दीक्षा 08/06/2003 को ललितपुर में इक्कीस दीक्षार्थियों के साथ सम्पन्न हुई जिसमें पूज्य गुरुदेव प्रथम दीक्षार्थी थे।

पूज्य विरागसागर जी गुरुदेव ने सन् 2005 में कुंथुगिरि में 14 आचार्यों व 200 पिच्छियों के सान्निध्य में गुरुदेव को आचार्य घोषित किया व 12/12/2010 बांसवाड़ा (राज.) की पावन भूमि पर स्वगुरु के हस्त से आचार्य विनम्रसागर नाम को प्राप्त हुए। गुरुदेव के जीवन के घटनाक्रम को विस्तृत बताते हुए इतना जरूर कहना चाहेंगे कि आपका संत बनने का पुण्य इतना प्रबल था कि भाग्य भी आपको डिगा नहीं सका अर्थात् मृत्यु को कई बार दबे पाँव भागना पड़ा। आपके जीवन की यह घटनाएँ ज्ञान-वैराग्य से ओतप्रोत आपके व्यक्तित्व की विशालता को प्रकटकर हम जैसे मुमुक्षु जीवों को भी आत्म साधना हेतु उत्साहित करती हैं।

गुरुदेव के पिताश्री ने भी मुनि दीक्षा धारण कर (मुनि विश्वकिर्ती) परम समाधि को प्राप्त किया। पूज्य गुरुदेव की दो बहिने के पुत्र मुनि विनंदसागर व विनुतसागर जी के रूप में व अग्रज भाई की पुत्री आर्यिका विश्रेयश्री के रूप में संघ में विराजमान हैं।

आपके महान व्यक्तित्व के समस्त गुणों को मुझ अल्पमति के द्वारा कह पाना शक्य नहीं यहाँ अपने वक्तव्य में किंचित् प्रलाप द्वारा आपकी पूर्ण महिमा प्रकट करने में मैं असमर्थ हूँ। अत: समुद्र की पूरी विशेषता व गहराईयाँ को कहने में असमर्थ अब तक बस तट की ठण्डी बयार ही दे रही थी। अब चलते हैं इस महान ग्रंथ के ग्रंथकार के कृतित्व की ओर...

कृतित्व

ज्ञान, दर्शन के स्वामी, चारित्र रूपी समुद्र में गम्भीर तथा पात्र स्नेही, परोपकारी गुरुदेव ने सिद्धान्त के पिपासुओं के लिए

प्राकृत भाषा में – सिद्धांत पबोहिणी टीआ, चउतीस ठाण दंसण

प्राकृत भाषा में – कम्म पबोहिणी टीआ (कुछ ही समय में साकार रूपता)

संस्कृत भाषा में – भक्ति प्रबोधिनी टीका

संस्कृत भाषा में – कल्याण प्रबोधिनी टीका (कुछ ही समय में साकार रूपता)

अंग्रेजी भाषा में अनुवाद – सर्वोदया टीका एवं हिन्दी भाषा में जन-मानस के मस्तिष्क को झंकृत कर देने वाला ''श्रुतमंथन महाकाव्य'' का सृजन किया इतना ही नहीं ग्रंथकार ने ''जीवन है पानी की बूँद'' पर 9000 छंद लिखे हैं जो सारे भारत में गूँज रहे हैं। ''कितना प्यारा तेरा दुआरा'' धीरे-धीरे चलो जी मंदिर'' ''चेतन पिंजरे वाली ना'' ''कर ले आतम ध्यान बाबा'' मेरा जीवन कोरा कागज एवं कई देश भक्ति गीतों को धर्ममय बना दिया।

आचार्यश्री ने लगभग 1000 कविताएँ, 500 भजन, 350 गजलें (उर्दू में), 2000 मुक्तक, 1500 पहेलियाँ, 2000 English Quation लिखें हैं, तथा भक्तामर स्तोत्र को दस तरह से एवं कई स्तोत्रों का पद्यानुवाद करके अपने चिन्तन की पराकाष्ठा, विलक्षण काव्यशैली और अध्यात्म की उच्चतम संवेदना की अभिव्यक्ति का परिचय दिया है लगभग 100 पुस्तकों की रचना करके जन-जन को कई तरीकों से धर्मज्ञान दिया हैं। जिसमें सच्ची बात, जीव विज्ञान पुस्तकों की रचना करके जन-जन को कई तरीकों से धर्मज्ञान दिया है। English में Philosophy of Karma, Moral Science for Children Part I,II, III, What is truth, Know your future एवं What is Life ये पुस्तकें आज की युवा पीढ़ी के लिये उपयोगी सिद्ध हैं। णमोकार महामंत्र व उसकी महिमा को अंग्रेजी में इस ढंग से सरल भाषा में लिखा है जिसे णमोकार मंत्र की तरह गा भी सकते

हैं और अर्थ भी बहुत सरल है इस तरह से णमोकार मंत्र विश्व में पहली बार लिखा है।

प्रकाश में ग्रंथ–

''आइरिय पसाएण विज्जा मंत सिज्जंति''

आचार्य के प्रसाद से विद्या व मंत्र की सिद्धि होती है। मैं बड़ी ही सौभाग्यशाली हूँ। मैंने स्वयं की साक्षी में अपनी ही जन्म स्थली आगरा में इस ग्रंथ की नीव पड़ते हुए देखी है। इस महान ग्रंथ के संपादन का महान कार्य पूज्य गुरुदेव के विज्ञ गुण के धारक श्रमण मुनि श्री 108 विज्ञसागर जी मुनिराज एवं गुरुदेव के विमल ज्ञान से पल्लवित श्रमणी आर्यिका 105 विमलश्री माताजी को मिला। इस ग्रंथ में मुदित भाव से अपना विपुल सहयोग श्रमणी आर्यिका विपुलश्री एवं विमुदश्री माताजी ने दिया एवं समस्त संघ ने इस ग्रंथ की साकर रूपता के लिए अपना यथा संभव योगदान दिया। इस ग्रंथ का लोकार्पण श्री मज्जिनेन्द्र आदिनाथ जिनबिम्ब पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महामहोत्सव धौलपुर में तपकल्याणक के शुभ दिन ग्रंथ को गजारोहणकर समग्र नगर में श्रुत प्रभावना हेतु ग्रंथ की भव्य शोभायात्रा निकाली गयी तदोपरांत षट्खण्डागम आदि महान ग्रंथों के साथ ग्रंथ की पूजनकर ग्रंथ को कमल पर चतुर्मुखी विराजमान कर भव्य लोकार्पण हुआ और मुझे प्रभु ऋषभदेव की कनिष्ठ पुत्री सुन्दरी बन लोकार्पण करने का शुभावसर मिला। अब आगे चलते हैं मेरे उत्तर विषय पर जो है योग, योग के प्रकार, शुभाशुभ योग, गुणस्थानों में एवं अयोगी जिन।

योग सामान्य परिचय Activity of mind speech & body spritual evolution or vibration

कायवाङ् मन: कर्मयोग: "The activity of mind speech and body called yoga"

* मन–वचन–काय के निमित्त से आत्म प्रदेशों में होने वाला हलन–चलन ''योग'' कहलाता है। पुद्गल विपाकी शरीर नामकर्म के उदय से मन, वचन, काय से युक्त जीव की जो कर्मों को ग्रहण करने में कारणभूत शक्ति है, उसे योग कहते है। (गो.जी.)

* मन, वचन, काय के प्रति जो आत्मा का व्यापार होता है, वह योग कहलाता है। (ध.पु.12)

* क्रिया की उत्पत्ति में जो जीव का उपयोग होता है। वह योग कहलाता है। (ध.पु.10)

* जीव प्रदेशों का जो संकोच विकोच व परिभ्रमण रूप परिस्पंदन होता है वह योग कहलाता है।

* कर्मों के संयोग के कारणभूत जीव के प्रदेशो ंका परिस्पदंन योग कहलाता है।

* यह योग शक्ति जीव के पास प्रति समय मौजूद रहती है। जिसके कारण कार्मण स्कंध आकर्षित होकर जीव के साथ एकमेक हो जाते है।

योग के प्रकार

योग अनंत होते हैं–

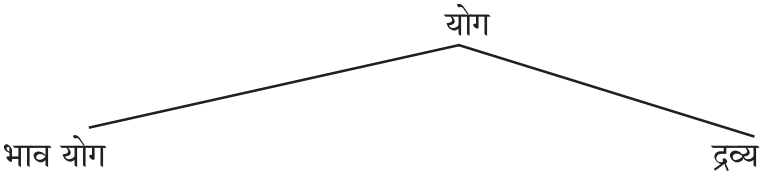

Psychical Vibration	Vibration due to physical activity of the soul
कर्म व नो कर्म को ग्रहण करने की	मन–वचन काय द्वारा आत्म प्रदेशों में परिस्पंदन

जीव की शक्ति विशेष

* योग मार्गणा के अनुवाद की अपेक्षा – मनोयोगी, वचनयोगी, काययोगी तीन प्रकार है।

* द्रव्य योग के 15 भेद–आगे कहें जायेंगे।

योग भाव की अपेक्षा से – पारिणामिक है, शरीर की अपेक्षा से –) औदयिक या क्षायोपशमिक है। (पंचसंग्रह) में बताया गया है।

* **नो आगम भाव योग 3 प्रकार का** गुणयोग, संभवयोग, योजनायोग (जिनेन्द्र सिद्धांतकोश–3)

* **गुणयोग 2 प्रकार का** कौन–कौनसे हैं–सचित्तगुण योग, अचित्तगुण योग

* **अचित्तगुण योग** कौन–कौनसे हैं–रूप, रस, गंध और स्पर्श आदि।

* **सचित्त गुण योग** कौन–कौनसे हैं–औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, परिणामिक

* **संभव योग** कौन–कौनसे हैं–मेरु पर्वत चलाने की शक्ति होना संभव योग है।

* **योजना योग** कौन–कौनसे हैं–मन–वचन–काय का व्यापार योजना योग है।

* **योजना योग–3 प्रकार का**–उपपाद योग, एकान्तानुवृद्धि योग, परिणाम योग।

* 15 **योग कौन–कौन से होते हैं** मन के –4 सत्य, असत्य, उभय, अनुभय मनोयोग

वचन के – 4 – सत्यवचन योग, असत्यवचन योग, उभयवचनयोग और अनुभयवचनयोग

काय के – 7 – औदारिक औदारिकमिश्र काय योग, वैक्रियक, वैक्रियकमिश्र, आहारक, आहारक मिश्र, कार्मण काययोग

* **मनोयोग –** मन से उत्पन्न हुए हलन–चलन लक्षण वीर्य के द्वारा जो योग होता है वह मनोयोग है।

(1) **सत्यमनोयोग–** वस्तु जैसी है वैसा ही चिंतन वि चारण आदि होना वह सत्य मनोयोग है।

(2) **असत्य मनोयेाग–** वस्तु जैसी है वैसा विचार नहीं होना मनोयोग नहीं होना वह असत्य मनोयोग है।

(3) **उभय मनोयोग–**जिस मन की स्थिति में विषयभूत वस्तु सत्य व असत्य है। वह उभय मनोयोग है।

(4) **अनुभय मनोयोग–**जिस मन के कार्य को ना सत्य कह सके ना असत्य वह अनुभय मनोयोग है।

* **वचन योग** वचन की उत्पत्ति के लिए जो पुरुषार्थ हो वह वचन योग है। (धवला पु. 1)

(1) **सत्य वचन योग–** वचन वर्गणा के निमित्त से जो योग होता है उसे सत्य वचन योग कहते हैं।

(2) **असत्य वचन योग–** इससे विपरीत योग को असत्य वचन योग कहते हैं।

(3) **उभय वचन योग–** सत्य और असत्य वचन रूप योग को उभय वचन योग कहते हैं।

(4) **अनुभय वचन योग–** जो वचन ना सत्य है ना असत्य रूप है। उसे अनुभय वचन योग कहते हैं।

10 सत्यवचन

* **सत्य वचन के 10 भेद**

(1) **जनपद सत्य –** देशवासी मनुष्यों के व्यवहार में जो शब्द रूढ़ हो (बोला जाता) रहा है। जैसे – भक्त, भात–कुलु

(2) **सम्मति सत्य –** बहुत मनुष्यों की सम्मति से जो साधारण में रूढ़ हो (बोला जाता है) उसको सम्मति सत्य या संवृति सत्य कहते हैं) जैसे – पट्टरानी के सिवाय साधारण स्त्री को देवी कहना।

(3) **न्यास या स्थापना सत्य –** भिन्न वस्तु में भिन्न वस्तु के समारोप करने वाले वचन को स्थापना सत्य कहते हैं। जैसे – प्रतिमा को चन्दप्रभ कहना।

(4) **नाम सत्य –** दूसरी कोई अपेक्षा न रखकर केवल व्यवहार के लिये जो किसी का संज्ञा कर्म करना जैसे – व्यवहार से किसी को जिनदत्त कहना।

(5) **रूप सत्य –** पुद्गल के रूपादिक अनेक में से रूप की प्रधानता से जो वचन कहा जाय जैसे – किसी मनुष्य के बालों को काला सुंदर कहना।

(6) **प्रतीत्य सत्य –** किसी विवक्षित पदार्थ की अपेक्षा दूसरे पदार्थ के स्वरूप को कहना। ये आपेक्षिक सत्य है। जैसे –किसी व्यक्ति को बड़ा, लम्बा या स्थूल कहना।

(7) **व्यवहार सत्य –** नैगम आदि की मुख्यता से जो शब्द बोला जाये उसको व्यवहार सत्य कहते हैं। जैसे – नैगमनय की मुख्यता से 'भात पकाता हूँ।

(8) **संभावना सत्य –** असंभव का परिहार करते हुए वस्तु के धर्म को कहना संभावना सत्य है। जैसे – इन्द्र जम्बूद्वीप को पलट सकता है।

(9) **भाव सत्य –** आगमोक्त विधि निषेध के अनुसार अतीन्द्रिय पदार्थों में संकल्पित परिणाम को भाव कहते हैं, उसके आश्रित जो वचन हो उसको भावसत्य कहते हैं। जैसे – नमक, मिर्च, खटाई आदि से अच्छी तरह मिलाये हुए द्रव्य को प्रासुक कहना।

(10) **उपमा सत्य –** सदृश पदार्थ को उपमा कहते हैं। इसके आश्रय से जो बोला जाये उसे उपमा सत्य कहते हैं। जैसे – पल्य यहाँ पर रोम खण्डों का आधारभूत गड्डा पल्य के सदृश होता है। इसलिए उसको पल्य कहते हैं। इस प्रमाण को उपमा सत्य कहते हैं।

वचन योग का स्वरूप

नोट – दश प्रकार के सत्य वचन हुए इसी प्रकार उल्टा असत्य वचन होता है।

(अनुभय वचन) किसके होते हैं

* दोइन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चारइन्द्रिय के जीवों की भाषा को अनुभय वचन कहते हैं। और केवली की भाषा भी अनुभय भाषा होती हैं।

* संज्ञी जीवों की आमंत्रणी आदि भाषा भी अनुभय भाषा है। आमंत्रण का अर्थ – आमंत्रण देने की भाषा।

* याचना करना, पूछना आदि जो भाषा है वे सभी अनुभय भाषा कहलाती हैं।

(अनुभय वचन) के 9 भेद होते हैं

(1) **आमन्त्रणी –** हे देवदत्त! यहाँ आओ, इस तरह बुलाने के शब्दों को **आमंत्रणी** भाषा कहते हैं।

(2) **अज्ञापनी –** यह काम करो, इस तरह के आज्ञावचनों को **आज्ञापनी** भाषा कहते हैं।

(3) **याचनी –** वह मुझे दो, इस तरह प्रार्थना के शब्दों को **याचनी** भाषा कहते हैं।

(4) **आपृच्छनी –** यह क्या है? इस तरह के प्रश्न करने को **आपृच्छनी** भाषा कहते हैं।

(5) **प्रज्ञापनी –** मैं क्या करूँ इस तरह के सूचना वाक्यों को **प्रज्ञापनी** भाषा कहते हैं।

(6) **प्रत्याख्यानी –** इसको छोड़ता हूँ, इस तरह के छोड़ने वाले शब्द बोलना प्रत्याख्यानी भाषा कहते हैं।

(7) **संशयवचनी –** यह बालक है या बालिका। ऐसे संशय के शब्दों को संशय वचनी भाषा कहते हैं।

(8) **इच्छानुलोम्नी –** मेरे लिए भी ऐसा होना चाहिए। ऐसी इच्छा रखने वाले वचनों को इच्छानुलोम्नी भाषा कहते हैं।

(9) **अनक्षरगता –** द्वीइन्द्रियादिक व असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यंत जीवों की भाषा **अनक्षरात्मक** होती है।

नोट – ये सब ही भाषाएँ अनुभय वचन रूप है। इनके सुनने से व्यक्त और अव्यक्त दोनों ही अंशों का बोध होता है।

⁂ सामान्य अंश से असत्य भी नहीं कह सकते, विशेष अंश के व्यक्त न होने से सत्य भी नहीं कह सकते।

पंच संग्रह योगभाव की अपेक्षा से– कथंचित पारिणामिक, औदयिक, क्षायोपशमिक (पंच संग्रह)

नो आगम भाव योग – 1. गुणयोग, संभवयोग, योजनायोग (जि.सि.को.–3)

सत्य मनोयोग–

10 प्रकार के समय

1. जनपद, सम्मति, स्थापना

9 अनुभयात्मक भाषा – आमंत्रणी, आज्ञायनी, याथ्नी (परिभाषा सहित लेख से)

प्रश्न–मैने पूर्व में एक कथन किया कि योग अनंत होते हैं। उस वक्तव्य पर प्रकाश डालते हुए अध्यावसाय स्थान असंख्यात लोक प्रमाण हैं फिर योग अनंत कैसे?

उत्तर–अनंतानंत पुद्गल प्रदेश से बंधे हुए ज्ञानवरण वीर्यान्तराय के देशघाती और सर्वघाती स्पर्धकों के क्षयोपशम भेद से अनंतानंत प्रदेश वाले कर्मों के ग्रहण का कारण होने से तथा अनंतानंत नाना जीवों की दृष्टि से तीनों योग अनंत प्रकार के हो जाते हैं। (अकलंक देवविरचित राजवार्तिक)

शुभाशुभ योग

चुम्बक में जैसे लोहे को आकर्षित करने की शक्ति है और लोहे में आकर्षित होने की। ठीक वैसे ही संसारी जीव में भी चुम्बक की तरह कर्मों के आकर्षित करने की शक्ति है और कार्मण वर्गणा में आकर्षित होने की।

जीव में आकर्षण शक्ति योग की है।

योग 2 प्रकार के होते है–1. शुभ योग 2. अशुभ योग

आचार्य भगवंत उमास्वामी जी तत्त्वार्थ सूत्र में कहते हैं–शुभापुण्यास्याशुभ पापस्य। शुभ योग से पुण्य व अशुभ योग से पाप रूपी पुद्गल वर्गणाओं का आस्रव होता है।

उदाहरण– जैसे

लोहे का गोला	अग्नि में तपाकर	पानी में डाला	गोला सर्वांग से पानी अवशोषित करता हुआ
आत्मा	कषाय रूपी अग्नि में तपकर	संसार समुद्र में गिरा	आत्मा सर्वांग से पुण्य–पाप रूपी जल को अवशोषित करते हुए

''यही ''शक्ति योग की है।''

यह जीव जिस प्रकार शुभाशुभ विकल्पों को करता चला जायेगा। वैसे ही पुण्य-पाप रूपी कर्म जैसे चुम्बक की ओर लोहा आकर्षित होता है उसी प्रकार खींचे चले आयेंगे।

शुभयोग

मन योग – सभी के कल्याण व परोपकार की भावना, जिनेन्द्र भक्ति आदि

वचन योग – हित-मित-प्रिय वचन

काय योग – अहिंसादि

शुभ योगों के माध्यम से शुभ कर्म यानि पुण्य का बंध होता है। हित-मित-प्रिय वचनादि के माध्यम से शुभ कर्मों का आस्रव होता है। उदाहरण-डॉक्टर मरीज की रक्षा हेतु (काय से) उसे इंजेक्शन लगाता है, वचनों के माध्यम से मीठे-मीठे शब्द बोलता है जिससे रोगी का आधा रोग तो ऐसे ही कम हो जाता है। कहते भी हैं-शब्द-शब्द में फेर है शब्द करें आघात एक शब्द मरहम बने दूजा करता घात। मीठे-मीठे शब्द कहने के साथ-साथ वह मन में विचार करता है इसे पूर्णरूप से किस माध्यम से स्वस्थ किया जाये। यहाँ तीनों योग शुभ में प्रवृत्त हो रहे हैं अत: शुभयोग से पुण्य का बंध होता है।

अशुभयोग

अशुभयोग- हिंसा, झूठादि अशुभ क्रिया में कभी तीनों योगों की एकता, कभी दो तो कभी एक योग के माध्यम से भी अशुभ कर्मों का आस्रव होती है।

जैसे-एक योग-आप टी.वी. देख रहे हैं उसमें किसी व्यक्ति को सजा मिलता देख मन में विचारना की अच्छा हुआ ऐसा ही होना चाहिए था यहाँ मात्र एक योग ''मन योग'' के माध्यम से कर्मों का आस्रव हो रहा है।

दो योगों से कुछ समय पश्चात् वह व्यक्ति मुँह से वचनों के माध्यम से कहने लगा अच्छा हुआ इसको ऐसे ही मारना चाहिए था यहाँ ''मन-वचन'' दोनों योगों के माध्यम से कर्म का आस्रव हुआ।

त्रय योगों की एकता-एक नौकर है जो अपने मालिक सेद्वेष रखता है, मन में रोज उसके बारे में बुरा-भला सोच ''मन:योग'' का व्यापार करता है, वचनों के माध्यम से कहता है कि ये मर जाये तो इसका सारा धन मेरा हो जाये यहाँ ''वचनयोग'' का व्यापार हुआ और वह नौकर मौका पाकर मालिक की हत्या कर देता है यहाँ ''काय योग'' भी प्रवृत्त होता है और तीनों योगों की एकता के माध्यम से अशुभ कर्मों का आस्रव होकर बंध हो जाता है।

शुभाशुभ योगों की चर्चा के उपरांत अब समस्त योगों को रोक अयोगी अवस्था को प्राप्त जिन का कथन करते हैं।

गुणस्थान में योग

1.	मिथ्यात्व	आहारक, आहारकद्विक, आहारक मिश्र बिना
2.	सासादन	आहारक, आहारकद्विक, आहारक मिश्र बिना
3.	मिश्र	औदा. मिश्र, वैक्रि. मिश्र. आहारकद्विक कार्मण बिना
4.	अविरत सम्य.	आहारकद्विक
5.	देशविरत	4 मन, 4 वचन, औदारिक
6.	प्रमत्त	'' '' औदा. आहारकद्विक
7.	अप्रमत्त	4 मन, 4 वचन औदारिक

8.	अपूर्वकरण	,,
9.	अनिवृत्तिकरण	,,
10.	सूक्ष्म साम्पराय	,,
11.	उपशांत मोह	,,
12.	क्षीण मोह	,,
13.	सयोग केवली	सत्य व अनुभय मनोयोग/वचनयोग, औदारिकद्विक कार्मण
14.	अयोग केवली	

पर्याप्ति-अपर्याप्ति व प्राण का विचार, परिभाषा, कार्य व प्रकारों की अन्वेषणा

डॉ. श्रीमती अल्पना अशोक जैन
डॉ. शिवहरे के पास गणेश कॉलोनी
नया बाजार लश्कर, ग्वालियर (म.प्र.)
मो. 8989737946

भारत गौरव, राष्ट्र संत, परम पूज्य गणाचार्य श्री विरागसागर जी महामुनिराज के परम प्रभावक शिष्य परम पूज्य उच्चारणाचार्य श्री विनम्रसागर जी मुनिराज एक ऐसा व्यक्तित्व है, जो निर्ग्रन्थ साधक हैं, विद्वान हैं, वक्ता हैं, लेखक हैं, चिन्तक हैं, साहित्यकार हैं, अन्वेषक हैं, प्रयोक्ता हैं, कवि हैं, विनम्र हैं, धर्म प्रभावक शिष्य हैं, रचनाकार हैं, अनुशासन प्रिय हैं और रत्नत्रय धर्म मार्ग पर पूर्णतया समर्पित हैं। जहाँ तक मैंने अनुभव किया है कि पूज्य आचार्य श्री जी के व्यक्तित्व की यह विलक्षणता है कि आप अपनी आत्म-समीक्षा और अपने कार्यों की समीक्षा समय समय पर स्वयं करते हैं। सचमुच आत्म-समीक्षा ही व्यक्ति के व्यक्तित्व का दर्पण है। आप अपनी साधना में सबकी सहभागिता चाहते हैं। यह आपका सबके प्रति आत्मीय वात्सल्य गुण है।

पूज्य आचार्य श्री जी द्वारा श्री भक्तामर स्तोत्र एवं कल्याण मन्दिर स्तोत्र पद्य प्रदत्त व्याख्या जनव्यापी सिद्ध हो रही है। क्योंकि यह व्याख्याएँ आपके अन्तर्मन की गहराइयों से उद्भूत होकर बाह्य जगत् में विस्तीर्णता को प्राप्त हुई हैं। अभिव्यक्ति को प्रयोग के धरातल पर उतारना प्रत्येक व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं है, पर पूज्य आचार्य श्री जी जब कथनी को करनी के धरातल पर ले आते हैं तो हजारों-हजारों लोग जीवन्त प्रेरणा प्राप्त करते हैं।

पूज्य श्रमणाचार्य श्री जी व्याकरण, छन्द, काव्य, अलंकार आदि विषयों के पारंगत विद्वान हैं। आपकी विद्वता और कवित्व शक्ति का प्रभाव जन सामान्य जनों पर पड़ता है। पूज्य आचार्य श्री जी उच्चारणाचार्य विशेषण के अलंकरण से अलंकृत हैं। यह उच्चारणाचार्य आपके लिए कोई आगमिक पद नहीं है। यह तो एक गुणात्मक शब्दालंकरण है। आपके गुणात्मक व्यक्तित्व की व्याख्या करना सहज, सरल नहीं है।

पूज्य सिद्धान्त रत्न, उच्चारणाचार्य विनम्रसागर जी मुनिराज संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी, प्राकृत, उर्दू आदि भाषाओं में दक्ष, नय-न्याय-सिद्धान्त-अध्यात्म आगम के पारगामी निर्ग्रन्थ श्रमणाचार्य हैं। आपने श्रुत मंथन महाकाव्य, जीवन है पानी की बूँद भजन पर अनेक शास्त्रों की गाथाओं को पद्यमय किया है, अंग्रेजी भाषा में सर्वोदयी टीका, संस्कृत भाषा में भक्तामर स्तोत्र पर भक्ति प्रबोधनी टीका एवं प्राकृत भाषा में सिद्धान्त प्रबोधनी टीका (चौंतीस स्थान दर्शन) आदि कृतियों का आगमानुसार सृजन कर जैन वाङ्मय को गौरवान्वित किया है।

चौंतीस स्थान दर्शन यह एक अनूठा ग्रन्थराज है। इसका विषय जैन दर्शनांतर्गत कर्म तत्त्वज्ञान से सम्बद्ध है और कर्म तत्त्वज्ञान करणानुयोग से सम्बद्ध है। करणानुयोग यह एक निरतिचार निर्दोष निर्विकल्प गणित प्रस्तुत करता है। चतुर्गति भ्रमण के कारणभूत जीवों के परिमाणों की विचित्रता यह भी एक महत्त्वपूर्ण विषय है। इस महनीय ग्रन्थराज पर परम पूज्य श्रमणाचार्य श्री विनम्रसागर जी मुनिराज ने प्राकृत भाषा में सिद्धान्त प्रबोधनी टीका का सृजन भगवान श्री चन्द्रप्रभु जी की देशना स्थली एवं नंगानंगकुमार सहित साढ़े पाँच करोड़ मुनिराजों की निर्वाण स्थली स्वर्णगिरि (सोनागिर, दतिया म.प्र.) में स्थित बीसपंथी कोठी में देवाधिदेव प्रथम तीर्थंकर भगवान श्री ऋषभदेव जी तथा अन्तिम तीर्थेश श्री वर्धमान वीर प्रभु जी व श्रमणाचार्य परम्परा को नमन करके वात्सल्य रत्नाकर परम पूज्य आचार्य श्री विमलसागर जी मुनिराज की प्रतिमा के समक्ष उनकी चरण सन्निधि में अपने पूज्य गुरुदेव गणाचार्य श्री विरागसागर जी मुनिराज की वंदना करते हुये दिनांक 4 दिसम्बर 2017 को शुभारम्भ किया तथा जनवरी 2018 को पोरसा नगर में ग्रन्थराज का लेखन कार्य पूर्ण रूप से सम्पन्न किया। इस टीका में धवला पुस्तक 1-2-3-4-5-6-7,

गोम्मटसार कर्मकाण्ड, जीवकाण्ड, त्रिलोकसार, सर्वार्थसिद्धि तथा मुनि श्री आदिसागर जी महाराज द्वारा रचित चौंतीस स्थान दर्शन ग्रन्थ को आधार रूप में उपयोग किया गया है। प्रस्तुत टीका में उपस्थान निरूपण करते हुये सारणियों का प्रणयन किया गया है, जो विषय की विवेचना को सुस्पष्ट कर रहे हैं। टीका का हिन्दी अनुवाद, पाद टिप्पण में सन्दर्भ ग्रन्थों का उल्लेख आदि इस टीका की विशेषताएँ हैं।

इस ग्रन्थराज पर आयोजित संगोष्ठी में मेरा विषय **''पर्याप्ति–अपर्याप्ति व प्राण का विचार, परिभाषा, कार्य व प्रकारों की अन्वेषणा''** है। विषय अनुसार सर्वप्रथम पर्याप्ति का अर्थ एवं परिभाषा का विवेचन कर रहे हैं।

पर्याप्ति का अर्थ एवं परिभाषा – जन्म के समय पुद्गल परमाणुओं को ग्रहण कर जीवन धारण में उपयोगी विशिष्ट प्रकार की पौद्गलिक शक्ति की प्राप्ति को पर्याप्ति कहते हैं। पर्याप्ति का अर्थ है– जीवन धारण में उपयोगी पौद्गलिक शक्ति। यह शक्ति जीव उस समय ग्रहण करता है, जब वह एक स्थूल शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर को धारण करता है। वहाँ वह अपेक्षित पुद्गल समूह को ग्रहण करता है और उन्हें आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास और मन के रूप में परिणत कर वैसी पौद्गलिक क्षमता अर्जित कर लेता है। तात्पर्य यह है कि पर्याप्ति आहार, शरीरादि की निष्पत्ति का ही दूसरा नाम है।[1]

पर्याप्ति का अर्थ होता है कार्यरूप शक्ति। **परिसमन्तान् आप्ति–पर्याप्ति: शक्तिनिष्पत्ति–रित्यर्थ:।**[2] 'परि' अर्थात् समंत रूप से आप्ति अर्थात् प्राप्ति पर्याप्ति है, जिसका अर्थ है शक्ति की निष्पत्ति। अतएव चारों तरफ से प्राप्ति को पर्याप्ति कहते हैं। अर्थात् शक्ति को प्राप्त करना पर्याप्ति है। पर्याप्ति का स्वरूप बतलाते हुए आचार्य कार्तिकेय स्वामी ने कहा है–

आहार–सरीरींदिय–णिस्सासुस्सास–भास–मणसाणं।
परिणइ–वावारेसु य जाओ छच्चेव सत्तीओ।।
तस्सेव कारणाणं पुग्गल–खंधाण जा हु णिप्पत्ति।
सापज्जत्ती भण्णदि छब्भेया जिणवरिंदेहिं।[3]

आहार, शरीर, इन्द्रिय आदि के व्यापारों में अर्थात् प्रवृत्तियों में परिणमन करने की जो शक्तियाँ हैं उन शक्तियों के कारण जो पुद्गल स्कन्ध हैं उन पुद्गल स्कन्धों की निष्पत्ति को पर्याप्ति कहते हैं। सिद्धान्त प्रबोधिनी टीका में परम पूज्य श्रमणाचार्य श्री जी पर्याप्ति को परिभाषित करते हुये लिखते हैं कि– **सत्तिपुण्णाइं पज्जत्ति।**[4] अर्थात् शक्ति की पूर्णता को पर्याप्ति कहते हैं। **पर्याप्तक आहारादि कारण निष्पत्तय:** अर्थात् आहारादि कारणों की पूर्णता को पर्याप्ति कहते हैं।

आहार की पूर्णता का कारण अथवा आहार के विषय में कर्म और नो–कर्म रूप से परिणत हुये पुद्गलों को ग्रहण करना आहार है अथवा तृप्ति के लिए कारणभूत पुद्गल समूह का नाम आहार है। शरीर की पूर्णता में कारण अथवा शरीर के विषय में औदारिक आदि रूप से पुद्गलों का परिणत होना शरीर है। इन्द्रियों की पूर्णता का कारण अथवा इन्द्रिय के विषय में पुद्गल स्वरूप से परिणमन करना इन्द्रिय है। श्वासोच्छ्वास की पूर्णता का कारण अथवा श्वासोच्छ्वास के विषय में उच्छ्वास–नि:श्वासरूपवायु के स्वरूप से पुद्गल समूह को ग्रहण करना उच्छ्वास–नि:श्वास है। भाषा की पूर्णता का कारण अथवा भाषा के विषय में शब्द रूप से पुद्गलों का परिणत होना भाषा है। मन की पूर्णता का कारण अथवा मन के विषय में चित्त की उत्पत्ति के निमित्त परमाणु समूह का नाम मन है। पूर्णता के कारण का नाम पर्याप्ति है।[5]

वस्तुत: जीव एक स्थूल शरीर छोड़कर दूसरा शरीर धारण करता है, तब भावी जीवन की यात्रा के निर्वाह के लिए अपने नवीन जन्म–क्षेत्र में एक साथ आवश्यक पौद्गलिक सामग्री का निर्माण करता है। इसे या इससे उत्पन्न होने वाली शक्ति को या पौद्गलिक शक्ति को पर्याप्ति कहते हैं।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जन्म के समय पुद्गल परमाणुओं को ग्रहण कर, जीवन धारण में उपयोगी विशिष्ट प्रकार की पौद्गलिक शक्ति को पर्याप्ति कहते हैं। संसारी प्राणी किसी भी जीव की योनि में उत्पन्न हो वह जब तक जीवित रहता है

तब तक उसे किसी पुष्ट आलम्बन की अपेक्षा रहती है वह आलम्बन प्राण शक्ति तो है ही, उसके साथ एक विशिष्ट प्रकार की पौद्गलिक शक्ति भी है, जो पर्याप्ति के नाम से अपनी पहिचान कराती है। अतएव पर्याप्ति जीव की एक विशिष्ट शक्ति है।

पर्याप्तियों के प्रकार (भेद), कार्य – पर्याप्तियाँ जिनेन्द्र देव के द्वारा कही गई हैं। **जिनख्याता: सर्वज्ञप्रतिपादिता:।** षड्खण्डागम, गोम्मटसार जीवकाण्ड, मूलाचार आदि ग्रन्थों में पर्याप्ति के छह प्रकारों का उल्लेख किया गया है। पूज्य श्रमणाचार्य श्री ने टीका में पर्याप्तियों के छह प्रकारों का उल्लेख किया है–

सो छव्विहा आहार–सरीर–इंदिय–आणापाण–भासा–मणो य अर्थात् आहार पर्याप्ति, शरीर पर्याप्ति, इन्द्रिय पर्याप्ति, श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति, भाषा पर्याप्ति और मन: पर्याप्ति। इन छह पर्याप्तियों के स्वरूप एवं कार्य का विवेचन निम्न प्रकार से है–

1. **आहार पर्याप्ति –** जीव जन्म ग्रहण करते समय आहार के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है। उन पुद्गलों या उनकी शक्ति को आहार पर्याप्ति कहते हैं। पूज्य श्रमणाचार्य श्री ने टीका में लिखा है कि– नवीन शरीर के लिए कारणभूत नोकर्म वर्गणा को जीव ग्रहण करता है, उनको खल रस भाग रूप परिणमाने की शक्ति के निमित्त भूत आगत पुद्गलों की प्राप्ति को आहार पर्याप्ति कहते हैं। गोम्मटसार जीवकाण्ड के अनुसार– औदारिक शरीर, वैक्रियिक शरीर, आहारक शरीर इन तीन शरीर और छह पर्याप्तियों के योग्य पुद्गल स्कन्धों को खल और रस भाग रूप से परिणमाने की शक्ति की पूर्णता को आहार पर्याप्ति कहते हैं। जैसे तिलों को पेलकर खल और तेल के रूप में परिवर्तित करते हैं वैसे ही शरीर नाम कर्म का उदय होते ही शरीर और पर्याप्तियों के योग्य जो पुद्गल स्कन्ध जीव ग्रहण करता है, उनको खल और रस भाग रूप से परिणमाने की शक्ति की पूर्णता को आहार पर्याप्ति कहते हैं।[6] मूलाचार की आचार वृत्ति में लिखा है कि– जिस कारण से यह जीव तीन शरीर के योग्य ग्रहण की गयीं आहार वर्गणाओं को खल–रस–अस्थि–चर्मादिरूप और रक्त–वीर्यादिरूप भाग से परिणमन कराने में समर्थ होता है, उस कारण की सम्पूर्णता का होना आहार पर्याप्ति है। आहार पर्याप्ति अन्तर्मुहूर्त के बिना केवल एक समय में उत्पन्न नहीं हो पाती है, क्योंकि आत्मा का एक साथ उस प्रकार का परिणाम नहीं हो सकता है। यह आहार पर्याप्ति शरीर ग्रहण के प्रथम समय से लेकर एक अन्तर्मुहूर्त में निष्पन्न होती है। वस्तुत: आहार पर्याप्ति पहले पूर्ण होती है। इस पर्याप्ति के द्वारा जीव, जीवन भर आहार योग्य पुद्गलों को ग्रहण, परिणमन और विसर्जन की क्षमता प्राप्त कर लेता है।

प्रसंगानुसार आहार पर्याप्ति के सन्दर्भ में जीव वैज्ञानिकों की व्याख्या को स्पष्ट करना चाहती हूँ– जीव वैज्ञानिकों का मानना है कि आहार ग्रहण करना एवं उसे रस रूप में परिवर्तित करने के लिए विभिन्न प्रकार की प्रक्रियाएँ जीवों के शरीर को करनी पड़ती हैं। आहार ग्रहण करते ही मुँह से ही पाचन की प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है। यहाँ एक 'टाइलिन' नामक रासायनिक तत्त्व निकलता है, जो आहार में उपस्थित 'वसा' तत्त्व के साथ क्रिया करता है। 'वसा' एक कार्बनिक जटिल तत्त्व है जो सरल तत्त्व में बदल जाता है। आहार पेट में पहुँचता है। पेट में एक बहुत ही लम्बी आहार नली होती है, इससे अनेक प्रकार के रासायनिक तत्त्व निकलते हैं। यह रासायनिक तत्त्व आहार को पूर्णत: रस के रूप में परिवर्तित कर देते हैं और यह रस शरीर के द्वारा सोख लिया जाता है और शेष बचा हुआ पदार्थ मल के रूप में निकल जाता है।[7]

जीव वैज्ञानिकों ने सम्भवत: आहार पर्याप्ति को पाचन क्रिया के साथ जोड़ा है। जैन अवधारणा के अनुसार आहार पर्याप्ति के द्वारा जो योग्य आहार (पुद्गल समूह) ग्रहण किया जाता है एवं उसे रस रूप में परिवर्तित किया जाता है। इसको किस अर्थ में समझें यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है। क्योंकि यह तो स्पष्ट है कि पाचन क्रिया के द्वारा ही आहार रस रूप में बदल जाता है। इस दृष्टि से आहार पर्याप्ति को आधुनिक विज्ञान में वर्णित पाचन क्रिया मानने में किसी तरह की समस्या नहीं होनी चाहिए।

2. **शरीर पर्याप्ति –** मूलाचार आचार वृत्ति में शरीर पर्याप्ति का लक्षण इस प्रकार कहा गया है– जिस कारण से जीव शरीर के योग्य पुद्गल वर्गणाओं को ग्रहण करके उन्हें औदारिक, वैक्रियिक, आहारक शरीर के स्वरूप से परिणमन कराने में समर्थ होता है, उस कारण की सम्पूर्णता का होना शरीर पर्याप्ति है। पूज्य श्रमणाचार्य श्री ने शरीर पर्याप्ति का स्वरूप बतलाते हुये लिखा है– जिन परमाणुओं को खल रूप परिणमाया था, उन्हें हड्डी आदि कठोर रूप और जिनको रस रूप परिणमाया था उन्हें रुधिरादि रूप

में परिणमाने के कारणभूत जीव की शक्ति की पूर्णता को शरीर पर्याप्ति कहते हैं।[8] शरीर पर्याप्ति के द्वारा शरीर के अंगोपांग का निर्माण होता है। शरीर में सात धातुएँ हैं– रस, रक्त, माँस, मेद, हड्डी, मज्जा और वीर्य। इन्हीं सात धातुओं से शरीर का निर्माण होता है। क्योंकि प्रत्येक जीव के शरीर में किसी न किसी रूप में रक्त, माँसादि आवश्यक रूप से विद्यमान रहते हैं। इनके बिना किसी प्रकार से शरीर की कल्पना करना सम्भव नहीं है। यह शरीर पर्याप्ति आहार पर्याप्ति के पश्चात् एक अन्तर्मुहूर्त में पूर्ण होती है।

3. **इन्द्रिय पर्याप्ति –** इन्द्रिय पर्याप्ति के विषय में कहा गया है कि– जिस कारण से एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पंचेन्द्रियों के योग्य पुद्गल द्रव्यों को ग्रहण करके यह आत्मा अपने विषयों को जानने में समर्थ होता है, उस कारण की पूर्णता का नाम इन्द्रिय पर्याप्ति है।[9] **सिद्धान्त प्रबोध ग्रन्थ के अनुसार–** आहार वर्गणा के परमाणु को इन्द्रिय का आकार रूप परिणमाने को तथा इन्द्रिय द्वारा विषय ग्रहण करने में कारणभूत जीव की शक्ति की पूर्णता को इन्द्रिय पर्याप्ति कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जो आहार ग्रहण किया गया, वह आहार पर्याप्ति के द्वारा धातु रूप में बदल गया और यही धातु जब इन्द्रिय रूप में बदलता है तो यह इन्द्रिय पर्याप्ति कहलाती है। अर्थात् धातु का इन्द्रिय रूप में बदलना इन्द्रिय पर्याप्ति के कारण सम्भव है। इन्द्रिय पर्याप्ति के द्वारा ही जीव के बाह्य अंग बनते हैं। अत: इन्द्रिय पर्याप्ति कार्य निर्माण का ही दूसरा नाम है। क्योंकि इन्द्रिय पर्याप्ति स्पर्शन आदि इन्द्रियों के निर्माण का कार्य सम्पन्न करती है।

योग्य देश में स्थित रूपादि से युक्त पदार्थों के ग्रहण करने रूप शक्ति की उत्पत्ति के निमित्तभूत पुद्गल प्रचय (समूह) की प्राप्ति को इन्द्रिय पर्याप्ति कहते हैं। इन्द्रिय पर्याप्ति की शक्ति के पूर्ण होने में ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम तथा जाति नाम कर्म के उदय की अपेक्षा होती है। इन्द्रिय पर्याप्ति शरीर पर्याप्ति के पश्चात् पूर्ण होती है। परन्तु इन्द्रिय पर्याप्ति के पूर्ण हो जाने पर भी उसी समय बाह्य पदार्थ सम्बन्धी ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है, क्योंकि उस समय उसके उपकरण रूप द्रव्य इन्द्रिय नहीं पाई जाती है।[10]

आहार पर्याप्ति, शरीर पर्याप्ति एवं इन्द्रिय पर्याप्ति में एक तारतम्य दृष्टिगोचर होता है। क्योंकि हम देखते हैं कि क्रमश: आहार, धातु एवं इन्द्रिय निर्माण की प्रक्रियाएँ एक क्रम से शुरू होती है और इन्द्रिय पर्याप्ति के रूप में इनका अंत होता है। यह जीव–विज्ञान में वर्णित पाचन क्रिया, पाचक रस के द्वारा निर्मित रसों से रक्तादि बनने की प्रक्रिया का ही दूसरा नाम है।

4. **श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति –** आहार वर्गणा के परमाणुओं की श्वासोच्छ्वास रूप परिणमाने में कारणभूत जीव की शक्ति की पूर्णता को श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति कहते हैं। इसे प्राणापाण, आनप्राण पर्याप्ति भी कहा जाता है। श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति के द्वारा श्वास वायु के ग्रहण और उत्सर्जन की क्षमता प्राप्त होती है। श्री धवला जी ग्रन्थ में उच्छ्वास और नि:श्वास रूप शक्ति की पूर्णता के निमित्तभूत पुद्गल प्रचय की प्राप्ति को श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति कहा है।[11] मूलाचार आचार वृत्ति के अनुसार– जिस कारण के द्वारा यह जीव श्वासोच्छ्वास के योग्य पुद्गल द्रव्यों को ग्रहण करके श्वासोच्छ्वास रूप रचना करने में समर्थ होता है। उस कारण की सम्पूर्णता का नाम आनप्राण अर्थात् श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति है।

श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति में कहा गया है श्वासोच्छ्वास योग्य पुद्गलों को ग्रहण करना एवं उन्हें श्वासोच्छ्वास के रूप में परिणत कर देना ही श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति है। वस्तुत: इसका यही अर्थ है ऑक्सीजन ग्रहण करना और कार्बनडाइऑक्साइड छोड़ना क्योंकि श्वासोच्छ्वास का सही अर्थ भी यही है।

5. **भाषा पर्याप्ति –** शब्द वर्गणा के परमाणुओं को वचन रूप परिणामने के कारणभूत जीव की शक्ति की पूर्णता को भाषा पर्याप्ति कहते हैं। जिस शक्ति से जीव भाषा–वर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करके भाषा रूप में परिणत करे और उसका आधार लेकर अनेक प्रकार की ध्वनि के रूप में छोड़े, वही शक्ति भाषा पर्याप्ति है। भाषा पर्याप्ति जीव की वाक् शक्ति की द्योतक है। इसी के माध्यम से जीव अपनी अभिव्यक्ति को शब्द या भाषा रूप में व्यक्त कर पाता है।

स्वर नाम कर्म के उदय से भाषा वर्गणा रूप पुद्गल स्कन्धों को सत्य, असत्य, उभय, अनुभय भाषा रूप परिणमाने की शक्ति की निष्पत्ति को भाषा पर्याप्ति कहते हैं। अथवा जिस कारण से सत्य, असत्य, उभय और अनुभय इन चार प्रकार की भाषा के योग्य पुद्गल द्रव्यों का आश्रय लेकर उन्हें चतुर्विध भाषा रूप में परिणमन कराने में समर्थ होता है, उस कारण की सम्पूर्णता का नाम भाषा पर्याप्ति है।[12] अतएव भाषा पर्याप्ति भाषा के योग्य पुद्गलों का ग्रहण और उत्सर्जन करती है।

6. **मन:पर्याप्ति –** षट्खण्डागम ग्रन्थ के अनुसार– मनोवर्गणा के स्कन्ध से उत्पन्न हुये जो पुद्गल अनुभूत पदार्थ के स्मरण की शक्ति में निमित्त होते हैं, उन्हें मन:पर्याप्ति कहते हैं अथवा द्रव्यमन के आलम्बन से जो अनुभूत पदार्थ के स्मरण करने की शक्ति उत्पन्न होती है, उसे मन:पर्याप्ति कहते हैं। मनोवर्गणा के परमाणुओं को हृदय में 8 पांखुड़ी के कमलाकार रूप मन की रचना करने की शक्ति तथा उसके द्वारा यथावत् विचार करने में कारणभूत जीव की शक्ति की पूर्णता को मन:पर्याप्ति कहते हैं। मन को ग्रहण करने योग्य पुद्गल परमाणु को मन के परिणामी भावों में व्यक्त करने की शक्ति मन:पर्याप्ति है। सत्य, असत्य, उभय और अनुभय रूप चार प्रकार के मन योग्य पुद्गल द्रव्यों का अवलम्बन कर चार प्रकार के मन की रचना यह जीव करता है, उस कारण की सम्पूर्णता अर्थात् परिपूर्णता का होना मन:पर्याप्ति है।[13] मन:पर्याप्ति मनन करने योग्य पुद्गलों के ग्रहण करने और छोड़ने में जीव का सहयोग करती है।

छह पर्याप्तियों के कार्य को एक भवन के प्रतीकात्मक दृष्टांत के द्वारा ठीक तरह से समझ सकते हैं। एक भवन निर्माता भवन बनाने की योजना क्रियान्वित करते समय पत्थर, चूना, सीमेन्ट, रेत, काष्ट समस्त सामग्री एकत्रित करता है। इसी तरह सभी प्रकार के पौद्गलिक सामग्री के संचयन का कार्य आहार पर्याप्ति का है। जिस प्रकार भवन निर्माता अपनी संग्रहित सामग्री का वर्गीकरण करता है कि अमुख पत्थर दीवार के काम आयेगा, अमुख काष्ट, कपाट (दरवाजा) आदि के काम में आयेगा। इसी प्रकार शरीर के अंगोपांगों के वर्गीकरण का कार्य शरीर पर्याप्ति का है। भवन बनाते समय उसमें हवा के प्रवेश–निर्गमन हेतु तथा अन्दर आने–जाने के लिए द्वार–खिड़कियाँ आदि बनाई जाती हैं। इसी प्रकार इन्द्रिय श्वासोच्छ्वास और भाषा पर्याप्तियाँ होती हैं। भवन बनाने के बाद व्यक्ति आवश्यकता और समयानुसार उसका उपयोग करता है। सर्दी में निर्वात (वायु रहित) कमरों का उपयोग करता है और गर्मी में हवादार कमरों का उपयोग करता है। यह काम मन:पर्याप्ति का है। कब, क्या करना है, कैसे करना है? आदि चिन्तन–मनन की सम्पूर्ण शक्ति मन:पर्याप्ति सापेक्ष है।

इन सभी पर्याप्तियों का प्रारम्भ एक ही समय में होता है और पूर्णता क्रम–क्रम से होती है। प्रत्येक पर्याप्ति की पूर्णता में एक–एक अंतर्मुहूर्त का समय लगता है तथा छहों पर्याप्तियों की पूर्णता का काल भी अंतर्मुहूर्त ही है। ये पर्याप्तियाँ स्थूल शरीर के ग्रहण काल में ही अंतर्मुहूर्त में पूर्ण हो जाती हैं तथा जीवन पर्यन्त प्राणी के लिए जीवनोपयोगी सामग्री जुटाती रहती हैं।

पर्याप्तियों के आधार पर जीव के प्रकार – सिद्धान्त प्रबोधिनी टीका में पर्याप्तियों के आधार पर पर्याप्तक, अपर्याप्तक, निर्वृत्य पर्याप्तक, लब्ध्यपर्याप्तक जीवों का उल्लेख किया गया है। जो निम्न प्रकार है–

पर्याप्तक – जिसके पर्याप्तक नाम कर्म का उदय पाया जाता है वह पर्याप्तक कहलाता है। यहाँ यह उल्लेख नहीं किया है कि पर्याप्तक जीव अपनी पर्याप्तियाँ पूर्ण कर लेते हैं या नहीं। जबकि ग्रन्थों में उल्लेख मिलता है कि जो जीव पर्याप्तक नाम कर्म के उदय से अपने योग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण कर लेते हैं वे पर्याप्तक कहलाते हैं।[14] पर्याप्ति नाम कर्म के उदय से एकेन्द्रियादि जीव अपने–अपने योग्य पर्याप्तियों की सम्पूर्णता की शक्ति से युक्त होते हैं, जब तक उनकी शरीर पर्याप्ति पूर्ण नहीं होती तब तक अर्थात् उतने काल तक उसको पर्याप्त नहीं कहते, किन्तु निर्वृत्यपर्याप्त कहते हैं। निर्वृत्यपर्याप्तक से पर्याप्तक को ग्रहण करना चाहिए क्योंकि जब तक पर्याप्तियाँ पूर्ण नहीं हो जाती हैं तब तक उसका मरण नहीं होता है अर्थात् निर्वृत्यपर्याप्तक अवस्था में मरण नहीं होता है और वहाँ नियम से पर्याप्तियाँ पूर्ण होती हैं। निर्वृत्य पर्याप्तक अवस्था का पर्याप्तक जीवों में ही ग्रहण होता है। पर्याप्त नाम कर्म से युक्त होने के कारण पर्याप्त संज्ञा दी गई है। उपचार कर लेने में कोई विरोध नहीं आता है।

अपर्याप्तक – अपर्याप्तक नाम कर्म के उदय से आहार, शरीर आदि के योग्य वर्गणाओं को ग्रहण कर आहार आदि छह पर्याप्तियों को पूर्ण नहीं करने की शक्ति को अपर्याप्त प्रतिपादित किया है। यहाँ अपर्याप्तक को लब्ध्यपर्याप्तक शब्द से निरूपित किया है और लिखा है कि वह पर्याप्तियाँ पूर्ण करने से पहले ही मर जाता है। क्योंकि लब्ध्यपर्याप्तक जीवों की आयु–श्वांस के अठारहवें भाग मात्र होती है। यहाँ टीका में पूज्य श्रमणाचार्य श्री जी ने कतिपय विशेषताओं का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार हैं–

- सम्यग्दृष्टि जीव लब्ध्यपर्याप्तक में जन्म नहीं लेता है।
- जिनका जन्म–मरण अन्तर्मुहूर्त में होता है वह लब्ध्यपर्याप्तक है। इसे क्षुद्रभव भी कहते हैं।
- संज्ञी लब्ध्यपर्याप्तक जीव म्लेच्छखण्ड व भोगभूमि में नहीं होते हैं और ये गर्भज भी नहीं होते हैं।
- गर्भज केवल दो प्रकार के होते हैं– 1. निर्वृत्यपर्याप्तक और 2. पर्याप्तक।
- सम्मूर्च्छन जीव – लब्ध्यपर्याप्तक, पर्याप्तक और निर्वृत्यपर्याप्तक।
- संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक मनुष्य जीव नियम से गर्भज ही होते हैं। संज्ञी लब्ध्यपर्याप्तक नियम से सम्मूर्च्छन ही होते हैं।
- असंज्ञी पचेंन्द्रिय गर्भज व सम्मूर्च्छन दोनों हो सकते हैं।
- संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंचों में सम्मूर्च्छन भी हो सकते हैं।
- एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय तक पर्याप्तक, निर्वृत्य अपर्याप्तक और लब्ध्यपर्याप्तक ये तीनों ही प्रकार के जीव सम्मूर्च्छन ही होते हैं।
- तेरहवें गुणस्थान में पर्याप्तियाँ प्रारम्भ नहीं करता और न ही पूर्ण करता है, लेकिन मिश्र काय योग होने के कारण उसे अपर्याप्तक कहा जाता है।
- मिश्र काय योग अपर्याप्तक अवस्था में होता है।
- विग्रह गति में कार्माण काय योग होता है।
- सभी पर्याप्तियों को प्रारम्भ एक साथ करता है और पूर्णता क्रम–क्रम से करता है।
- निर्वृत्य अपर्याप्तक में गुणस्थान 1, 2, 4, 6 लब्ध्यपर्याप्तक में गुणस्थान– पहला ही होता है।

पर्याप्ति के तीन स्थान होते हैं–

1. छह पर्याप्ति रूप – सैनी पंचेन्द्रिय जीव।
2. पाँच पर्याप्ति रूप – द्वीन्द्रिय से असैनी पंचेन्द्रिय पर्यन्त।
3. चार पर्याप्ति रूप – एकेन्द्रिय जीव।

अर्थात् छह पर्याप्ति वाले, पाँच पर्याप्ति वाले और चार पर्याप्ति वाले जीव होते हैं।[15]

गुणस्थान की अपेक्षा पर्याप्तियाँ सभी चौदह गुणस्थानों में छह पर्याप्तियाँ होती हैं। किन्तु एकेन्द्रिय जीवों में भाषा और मन के बिना आहार, शरीर, इन्द्रिय और श्वासोच्छ्वास चार पर्याप्तियाँ होती हैं। विकलेन्द्रिय (अर्थात् द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय) से असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों तक मन:पर्याप्ति के बिना पाँच पर्याप्तियाँ होती हैं। संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों में आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन ये छह पर्याप्तियाँ होती हैं गर्भ जन्म वाले के कम से कम पाँच एवं अधिक से अधिक छह पर्याप्तियाँ होती हैं। असंज्ञी पंचेन्द्रिय के पाँच एवं संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच मनुष्यों के छह पर्याप्तियाँ ग्रहण करना चाहिए। उपपाद जन्म वाले अर्थात् देव, नारकियों के छह पर्याप्तियाँ होती हैं एवं कार्मण काय योग में एक भी पर्याप्ति नहीं होती है। ऐसा मूलाचार ग्रन्थ में उल्लिखित है। लब्ध्यपर्याप्तक अवस्था मात्र मिथ्यात्व गुणस्थान में होती है वह भी सम्मूर्च्छन जन्म से उत्पन्न होने वाले मनुष्य गति और तिर्यंच गति के जीवों के होती है, अन्य जीवों के नहीं होती है। निर्वृत्यपर्याप्त अवस्था मिथ्यात्व, सासादन सम्यक्त्व,

अविरत सम्यक्त्व, प्रमत्तविरत (आहारक शरीर की अपेक्षा) और सयोग केवली (समुद्धात केवली की अपेक्षा) के होती है। पर्याप्त अवस्था सभी गुणस्थान में होती है।

छह पर्याप्ति वालों के ग्यारह योग होते हैं। चार मनोयोग, चार वचन योग और तीन काय योग तथा औदारिक मिश्र वैक्रियिक मिश्र, आहारक मिश्र, कार्मण ये चार योग नहीं होते हैं। औदारिक मिश्र आदि तीन योग निर्वृत्यपर्याप्तक एवं लब्ध्यपर्याप्तक अवस्था में होते हैं तथा कार्मण काय योग अनाहारक अवस्था में होता है। निर्वृत्यपर्याप्तक अवस्था में ही उपचार से पर्याप्तक मान लेने पर कार्मण काय योग को छोड़कर शेष चौदह योग होते हैं। छह पर्याप्ति वालों के कम से कम एक औदारिक काय योग होता है। औदारिक काय योग पाँचवें तथा सातवें गुणस्थान से तेरहवें गुणस्थान तक होता है। अथवा छह पर्याप्ति वाले अयोग केवली भगवान योग से रहित होते हैं। छह पर्याप्ति वालों के अधिक से अधिक तीन काय योग, औदारिक काय योग, वैक्रियिक काय योग, आहारक काय योग होते हैं। ये योग त्रस काय, संज्ञी पंचेन्द्रिय आदि मार्गणाओं में होते हैं।

पाँच पर्याप्ति वालों के औदारिक काय योग तथा अनुभय वचन योग ये दो योग होते हैं। यद्यपि असंज्ञी जीवों के औदारिक मिश्र एवं कार्मण काय योग भी होता है, लेकिन उनके जब ये दोनों योग होते हैं, तब पाँच पर्याप्तियाँ नहीं होती हैं, क्योंकि पाँच पर्याप्ति पूर्ण होने पर ही जीव पर्याप्तक होता है। चार पर्याप्तियाँ पर्याप्तक अवस्था में ही होती है, चार पर्याप्तियाँ मात्र एकेन्द्रिय पर्याप्तक जीव के ही होती हैं। निर्वृत्यपर्याप्तक अवस्था शरीर पर्याप्ति पूर्ण होने तक ही रहती है, इस अवस्था में जीव के औदारिक मिश्र काय योग रहता है तथा विग्रह गति में कार्मण काय योग होता है वहाँ पर्याप्तियाँ नहीं होती हैं। इसलिए चार पर्याप्ति वालों के औदारिक मिश्र तथा कार्मण काय योग नहीं होता है। श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति जिनके पूर्ण हो गई हैं उनके स्पर्शन इन्द्रिय, कायबल, श्वासोच्छ्वास और आायु ये कम से कम चार प्राण हो सकते हैं। यद्यपि चौदहवें गुणस्थान में भी श्वासोच्छ्वास प्राण भले ही नहीं हों श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति रहती है क्योंकि उनके छहों पर्याप्तियाँ मानी गई हैं। उनके केवल एक आयु प्राण होता है तथा अधिक से अधिक दस प्राण हो सकते हैं क्योंकि श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति पूर्ण होने के बाद संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के शेष दो पर्याप्तियाँ भी नियम से पूर्ण होती हैं।

अपर्याप्ति का अर्थ एवं प्रकार – छह पर्याप्ति की तरह छह अपर्याप्ति होती हैं। **छ पज्जत्तीयो, छ अपज्जत्तीयो।** पर्याप्तियों की अनिष्पत्ति–अपूर्णता को अपर्याप्ति कहते हैं। अपर्याप्ति छह होती हैं– आहार, अपर्याप्ति, शरीर–अपर्याप्ति, भाषा–अपर्याप्ति, इन्द्रिय–अपर्याप्ति, आनपान (श्वासोच्छ्वास) – अपर्याप्ति और मन:अपर्याप्ति। छह अपर्याप्तियाँ संज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर असंयत सम्यग्दृष्टि जीवों तक होती हैं। तृतीय गुणस्थान में अपर्याप्त काल का अभाव होने के कारण वहाँ छहों अपर्याप्तियों नहीं होती हैं। अपर्याप्ति नाम कर्म के उदय से द्वीन्द्रिय जीवों से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यन्त पाँच अपर्याप्तियाँ होती हैं। एकेन्द्रिय जीवों के अपर्याप्त काल में अपूर्ण अवस्था तक चार अपर्याप्तियाँ होती हैं।

सम्मूर्च्छन जन्म वाले जो लब्ध्यपर्याप्तक जीव हैं, उनके चार, पाँच, छह अपर्याप्तियाँ होती हैं। निर्वृत्यपर्याप्तक अवस्था में जीवों के यथायोग्य अपर्याप्तियाँ होती हैं, लेकिन इनके नियम से पर्याप्तियाँ पूर्ण होती हैं। निर्वृत्यपर्याप्तक, लब्ध्यपर्याप्तक तथा कार्मण काय योग में स्थित एकेन्द्रिय जीवों के चार अपर्याप्तियाँ होती हैं, यहाँ पर्याप्तियाँ नहीं होती हैं। पर्याप्ति से युक्त होने पर जीव का जो कार्य प्रारम्भ होता है उसे प्राण कहते हैं। जिसका निरूपण किया जा रहा है।

प्राण का अर्थ एवं परिभाषा – प्राण का अर्थ है जीवन शक्ति। यह वह शक्ति है जिसके आधार पर प्राणी जीवन जीता है। प्राणों के संयोग–वियोग के आधार पर ही प्राणी का जीवन–मरण घटित होता है। प्राण का निरुक्ति अर्थ इस प्रकार है– **जीवन्ति प्राणन्ति जीवितव्यव्यवहारयोग्या भवन्ति जीवा यैस्ते प्राणा:।**[16] श्री धवला जी ग्रन्थ में प्राण को परिभाषित करते हुये लिखा है कि– जिनके द्वारा आत्मा जीवन संज्ञा को प्राप्त होता है उन्हें प्राण कहते हैं। जिस प्रकार बहिरंग प्राणों के द्वारा जीव जीता है उसी प्रकार जिन अभ्यन्तर प्राणों के द्वारा जीता है वे प्राण हैं।[17] प्रवचनसार के अनुसार– ''संसारावस्था में जिसके सद्भाव में जीव जीता

है'' ऐसा व्यवहार होता है तथा ''जिसके अभाव में जीव मर गया'' ऐसा व्यवहार होता है उसे प्राण कहते हैं।[18] सिद्धान्त प्रबोधिनी टीका में प्राण को परिभाषित करते हुये लिखा है- **जं संजोगेण जीवो जीवदि विजोगेण मरदि तं पाणं भणेदि।** जिनके संयोग से जीव जीता है, वियोग से जीव मर जाता है उसे प्राण कहते हैं।[19]

प्राणों के प्रकार – सिद्धान्त प्रबोधिनी टीका में प्राणों के प्रकारों का जो निरूपण किया गया है वह इस प्रकार है। सर्वप्रथम प्राण दस होते हैं- पाँच इन्द्रियाँ, तीन बल, आयु और श्वासोच्छ्वास। इसका उल्लेख किया है। प्राण दो प्रकार के होते हैं- भाव प्राण और द्रव्य प्राण। इनके लक्षणों को बतलाया है। तदोपरांत प्राण के दो भेद निश्चय प्राण और व्यवहार प्राण। इन्हें निरूपित किया है। फिर 1 इन्द्रिय प्राण 2 बल प्राण 3 मनोबल 4 वचनबल 5 कायबल 6 श्वासोच्छ्वास 7 आयु प्राण का उल्लेख किया है। इस वर्गीकरण में क्रमबद्धता स्पष्ट नहीं होती है। यद्यपि प्राण के दो प्रकार होते हैं- भाव प्राण और द्रव्य प्राण। भाव प्राण को अभ्यन्तर प्राण या निश्चय प्राण भी कहते हैं। आत्मा की जिस शक्ति के निमित्त से इन्द्रियादिक कार्य में प्रवृत्ति करती हैं उसे भाव प्राण कहते हैं। भाव प्राण चेतनात्मक होता है। जो सिद्धों में ही पाया जाता है तथा जिनके सहयोग से यह जीव जीवन अवस्था को प्राप्त हो एवं वियोग में मरण अवस्था को प्राप्त हो उनको द्रव्य प्राण कहते हैं। द्रव्य प्राणों की उत्पत्ति के कारण हैं- पाँच इन्द्रिय प्राण मतिज्ञानावरण एवं वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम, मनोबल प्राण मतिज्ञानावरण (नोइन्द्रियावरण) एवं वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम, वचन बल प्राण स्वर नामकर्म का उदय, काय बल प्राण शरीर नाम कर्म का उदय, श्वासोच्छ्वास प्राण श्वासोच्छ्वास नाम कर्म का उदय, आयु प्राण आयु का उदय। द्रव्य प्राण को बाह्य या व्यवहार प्राण कहते हैं। यह मूलत: चार प्रकार का होता है। इन्द्रिय प्राण, बल प्राण, श्वासोच्छ्वास प्राण और आयु प्राण। इनके उत्तर भेद क्रमश: पाँच इन्द्रिय, तीन बल, एक श्वासोच्छ्वास और एक आयु हैं। इन दस प्रकार के प्राणों का विवरण निम्नानुसार है-

1. स्पर्शन इन्द्रिय प्राण
2. रसना इन्द्रिय प्राण
3. घ्राण इन्द्रिय प्राण
4. चक्षु इन्द्रिय प्राण
5. श्रोत्र इन्द्रिय प्राण
6. मनोबल प्राण
7. वचनबल प्राण
8. कायबल प्राण
9. श्वासोच्छ्वास प्राण
10. आयु प्राण

जीवों में प्राणों की संख्या – भाव (निश्चय) प्राण तो सभी जीवों (संसारी व मुक्त) में होता है किन्तु द्रव्य (व्यवहार) प्राण केवल संसारी जीवों के ही होता है। अर्थात् मुक्त जीवों के द्रव्य प्राण नहीं होता है। सभी जीवों में प्राणों की संख्या समान नहीं परन्तु अलग-अलग होती है। प्रत्येक जीव अपनी-अपनी इन्द्रियों की क्षमता के अनुसार प्राण धारण करते हैं। पंचेन्द्रिय संज्ञी पर्याप्तक जीवों के दस प्राण होते हैं। पंचेन्द्रिय संज्ञी अपर्याप्तक जीवों के श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन के बिना सात प्राण होते हैं। असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीवों के दश प्राणों के मध्य मन के बिना नव प्राण होते हैं। अपर्याप्तक अवस्था को प्राप्त इन्हीं जीवों के वचन बल और श्वासोच्छ्वास के बिना सात प्राण होते हैं। चतुरिन्द्रिय पर्याप्त जीवों के श्रोत्रेन्द्रिय और मनोबल प्राणों के बिना आठ प्राण होते हैं। इनमें से ही अपर्याप्तक चतुरिन्द्रिय जीवों के श्वासोच्छ्वास और भाषा के बिना छह प्राण होते हैं। पूर्वोक्त आठ प्राणों में से चक्षु इन्द्रिय के कम कर देने पर शेष सात प्राण त्रीन्द्रिय पर्याप्त जीवों के होते हैं। उन सात प्राणों में से

श्वासोच्छ्वास और वचनबल प्राण के कम कर देने पर शेष पाँच प्राण त्रीन्द्रिय अपर्याप्तकों के होते हैं। त्रीन्द्रिय पर्याप्तकों के सात में से घ्राणेन्द्रिय के कम कर देने पर शेष छह प्राण द्वीन्द्रिय पर्याप्तक जीव के होते हैं। द्वीन्द्रिय पर्याप्तक जीवों के छह प्राणों में से श्वासोच्छ्वास और भाषा के कम कर देने पर शेष चार प्राण द्वीन्द्रिय अपर्याप्तक जीवों के होते हैं। द्वीन्द्रिय पर्याप्तक के छह प्राणों में से रसना इन्द्रिय और वचनबल इन प्राणों के कम कर देने पर एकेन्द्रिय जीवों के चार प्राण होते हैं। इन चारों प्राणों में से श्वासोच्छ्वास प्राण कम कर देने पर एकेन्द्रिय जीवों के चार प्राण होते हैं। इन चारों प्राणों में से श्वासोच्छ्वास प्राण कम कर देने पर एकेन्द्रिय अपर्याप्तक जीव के तीन प्राण होते हैं। दश प्राणों के अभाव में अतीत प्राण सिद्ध जीव होते हैं।

इस प्रकार एकेन्द्रिय जीव के कम से कम तीन प्राण और अधिक से अधिक चार प्राण होते हैं। दो इन्द्रिय जीव के कम से कम चार प्राण एवं अधिक से अधिक छह प्राण होते हैं। तीन इन्द्रिय जीव के कम से कम पाँच प्राण एवं अधिक से अधिक सात प्राण होते हैं। चार इन्द्रिय जीव के कम से कम छह एवं अधिक से अधिक आठ प्राण होते हैं तथा पंचेन्द्रिय जीव के कम से कम सात प्राण एवं अधिक से अधिक दस प्राण होते हैं। सिद्ध जीवों की प्राण रहित अवस्था होती है। जीवों में प्राणों की संख्या को सारणी के रूप में निम्नानुसार प्रतिपादित किया गया है।

सारणी द्वारा प्राणों की विवक्षा

जीव	प्राण सं.	पर्याप्तक	प्राण सं.	अपर्याप्तक
एकेन्द्रिय	4	स्पर्श इन्द्रिय, काय बल श्वासोच्छ्वास, आयु	3	स्पर्शन इन्द्रिय, काय बल, आयु
द्वीन्द्रिय	6	स्पर्शन, रसना इन्द्रिय, काय बल, वचन बल, श्वासोच्छ्वास, आयु	4	स्पर्शन, रसना इन्द्रिय, काय बल, वचन बल,
त्रीन्द्रिय	7	स्पर्शन, रसना, घ्राण इन्द्रिय, काय बल, वचन बल श्वासोच्छ्वास, आयु	5	स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, काय बल
चतुरिन्द्रिय	8	स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु इन्द्रिय, काय बल, श्वासोच्छ्वास, आयु	6	स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, काय वचन बल,
पंचेन्द्रिय असंज्ञी	9	स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र, काय बल, वचन बल, श्वासोच्छ्वास, आयु	7	स्पर्शन, रसना, घ्राण इन्द्रिय, काय बल, वचन बल, श्वासोच्छ्वास, आयु
पंचेन्द्रिय संज्ञी	10	स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र, काय बल, वचन बल, श्वासोच्छ्वास, आयु	7	स्पर्शन, रसना, घ्राण इन्द्रिय, काय बल, वचन बल, श्वासोच्छ्वास, आयु
सयोग केवली	4	वचन बल, काय बल, आयु, श्वासोच्छ्वास		
	3	काय बल, आयु, श्वासोच्छ्वास		
	2	काय बल, आयु		

अयोग केवली में मात्र एक आयु प्राण होता है। दण्ड समुद्घात की स्थिति में केवली के तीन प्राण (श्वासोच्छ्वास, आयु व काय बल) तथा कपाट, प्रतर व लोकपूरण समुद्घात की स्थिति में दो प्राण (आयु व काय बल) होते हैं। आयु प्राण सभी जीवों में पाया जाता है। इसमें आयु कर्म का उदय निमित्त है। श्वासोच्छ्वास प्राण सभी पर्याप्तक जीवों में होता है। अपर्याप्तक जीवों में नहीं होता है। सिद्धों के शरीर न होने से सिद्धों के द्रव्य प्राण (दस प्राण) नहीं होते मात्र भाव प्राण होता है। क्योंकि द्रव्य प्राण कर्म सापेक्ष होते हैं और सिद्ध भगवान के आठों कर्म नष्ट हो चुके हैं। सिद्ध भगवान शुद्ध ज्ञान-दर्शन मय शुद्ध चैतन्य प्राणों

से जीते हैं। कहा भी है– **णिच्छयणयदो दु चेदणा जस्स** निश्चय नय से जीव चैतन्य प्राणों से जीता है।[20] ऐसे भी जीव हैं जिनके श्वासोच्छ्वास प्राण नहीं पाया जाता है वे हैं– अयोग केवली भगवंतों के, कार्मण काय योग तथा निर्वृत्यपर्याप्तक अवस्था में, सभी लब्ध्यपर्याप्तक जीवों के, जब तक श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति पूर्ण नहीं होती है, सयोग केवली भगवान जब श्वासोच्छ्वास का निरोध कर देते हैं। अतएव इन जीवों के श्वासोच्छ्वास प्राण नहीं पाया जाता है। जो जीव मनुष्य गति में जन्म लेने वाला है, उसके विग्रह गति में सात प्राण अर्थात् पाँच इन्द्रिय, काय बल और आयु प्राण होते हैं। चार, तीन, दो व एक इन्द्रिय जीव बनने वालों के क्रमश: छह, पाँच, चार व तीन प्राण होते हैं।

दस प्राण वालों के नौ योग नरक गति, तिर्यंच गति, देव गति इन तीन गतियों में होते हैं। मनुष्य गति में भोगभूमियाँ जीवों के भी नौ योग ही होते हैं। दस प्राण वालों के औदारिक मिश्र, वैक्रियिक मिश्र तथा आहारक मिश्र काय योग में श्वासोच्छ्वास, वचन बल तथा मनोबल की कारणभूत क्रमश: श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति, भाषा पर्याप्ति तथा मन:पर्याप्ति पूर्ण नहीं होती है। इन पर्याप्ति के पूर्ण हुये बिना दस प्राण नहीं होते हैं। कार्मण काय योग में पर्याप्तियों का प्रारम्भ ही नहीं होता है इसलिए दस प्राण वालों के कार्मण काय योग नहीं होता है। दस प्राण वालों के औदारिक मिश्र काय योग, वैक्रियिक मिश्र काय योग, आहारक मिश्र काय योग और कार्मण काय योग ये चार योग नहीं होते हैं। अतएव ग्यारह योग होते हैं।

दस प्राण वालों के द्वितीयोपशम–सम्यक्त्व केवल एक मनुष्य गति में ही होता है। यद्यपि देव गति में भी द्वितीयोपशम–सम्यक्त्व होता है लेकिन उनके दस प्राण होने के पहले ही समाप्त हो जाता है। क्योंकि द्वितीयोपशम–सम्यक्त्व के काल से छह पर्याप्तियों के पूरा होने का काल अधिक होता है।[21]

दस प्राण वाले कृतकृत्य वेदक सम्यग्दृष्टि के 14 लाख जातियाँ होती हैं– मात्र मनुष्य गति सम्बन्धी। यद्यपि कृतकृत्य वेदक सम्यग्दृष्टि चारों गतियों में होते हैं। तथापि यदि वह छहों पर्याप्ति पूर्ण करके क्षपणा का निष्ठापक होता है तो उस दस प्राण वाले कृतकृत्य वेदक के पंचेन्द्रिय सम्बन्धी 26 लाख जातियाँ होंगी और यदि वह छह पर्याप्तियाँ पूर्ण होने के पहले ही निष्ठापक हो जाता है, तो उसके मात्र मनुष्य गति सम्बन्धी 14 लाख जातियाँ ही होती हैं। दस प्राण वालों के दो गुणस्थान नहीं होते हैं– तेरहवाँ तथा चौदहवाँ। मात्र प्रथम से बारहवें तक 12 गुणस्थान होते हैं। दस प्राण वालों के चार आर्त्त ध्यान, चार रौद्र ध्यान, चार धर्म ध्यान और दो शुक्ल ध्यान इस प्रकार चौदह ध्यान होते हैं। चार धर्म ध्यान तथा निदान के बिना तीन आर्त्त ध्यान इस प्रकार सात ध्यान केवल एक छटवें गुणस्थान में होते हैं।

छह पर्याप्ति वालों के दस, चार, तीन, दो, एक प्राण होते हैं। छह पर्याप्ति वाले जीव मिथ्यादृष्टि से चौदहवें गुणस्थान तक पाये जाते हैं। छह पर्याप्ति वाले मिथ्यादृष्टि के कम से कम भी दस प्राण होते हैं क्योंकि छह पर्याप्तियाँ पूर्ण होने पर दस प्राण हो जाते हैं। पर्याप्तियाँ पूर्ण होने के पहले उसके छह अपर्याप्तियाँ होती हैं। पाँच इन्द्रिय, तीन बल, एक श्वासोच्छ्वास, एक आयु। निर्वृत्य पर्याप्तक अवस्था में उपचार से पर्याप्त मान लेने पर वचन बल, मनोबल एवं श्वासोच्छ्वास को छोड़कर शेष सात प्राण कह सकते हैं। छह पर्याप्ति वालों के दस, चार, तीन, दो, एक प्राण होते हैं। सैनी पंचेन्द्रिय की अपेक्षा दस प्राण होते हैं। सयोग केवली की अपेक्षा चार प्राण होते हैं। सयोग केवली भगवन के जब वचन योग का निरोध हो जाता है तब तीन प्राण होते हैं। सयोग केवली भगवान के जब श्वासोच्छ्वास का निरोध हो जाता है, तब दो प्राण और केवली भगवान के कार्मण काय योग में भी दो प्राण होते हैं। चौदहवें गुणस्थान में अयोग केवली जिन की अपेक्षा एक प्राण होता है। पूर्व से आयी हुई छह पर्याप्तियाँ स्थित रहती हैं किन्तु यहाँ पर पर्याप्ति जनित कोई कार्य नहीं होता है। अत: आयु नामक एक ही प्राण उपचार से होता है, क्योंकि वहाँ अवस्थान के कारणभूत नये कर्मों का आना और योग प्रवृत्ति आदि भी नष्ट हो गये हैं। इसलिए केवल औपचारिक रूप से आयु प्राण का अस्तित्व है।[22]

छह अपर्याप्तियों में सात प्राण होते हैं। पाँच पर्याप्ति वालों के छह, सात, आठ, नौ प्राण होते हैं। क्रमश: द्वीन्द्रिय से असैनी पंचेन्द्रिय पर्यन्त जीवों के होते हैं। इनमें से सात प्राण असैनी पंचेन्द्रिय के पाँच अप्राप्तियों के भी होते हैं। चार पर्याप्ति वालों के चार प्राण एकेन्द्रिय की अपेक्षा से होते हैं, इन्हीं के तीन प्राण चार अपर्याप्तियों में होते हैं। जिनके श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति पूर्ण हो

गई है उनके कम से कम चार प्राण हो सकते हैं। स्पर्शन, इन्द्रिय, काय बल, श्वासोच्छ्वास, आयु। निर्वृत्य पर्याप्तक अवस्था में एकेन्द्रिय जीवों की अपेक्षा तीन प्राण, द्वीन्द्रिय जीवों की अपेक्षा चार प्राण, त्रीन्द्रिय जीवों की अपेक्षा पाँच प्राण, चतुरिन्द्रिय जीवों की अपेक्षा छह प्राण, संज्ञी, असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों की अपेक्षा सात प्राण होते हैं। तेरहवें गुणस्थानवर्ती भगवंतों के निर्वृत्य पर्याप्तावस्था में दो प्राण काय बल और आयु होते हैं।

चौदहवें गुणस्थान में भी श्वासोच्छ्वास प्राण भले ही नहीं हो श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति रहती है। क्योंकि उनके छहों पर्याप्तियाँ मानी गई हैं। उनके केवल एक आयु प्राण होता है तथा अधिक से अधिक दस प्राण हो सकते हैं क्योंकि श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति पूर्ण होने के बाद संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के शेष दो पर्याप्तियाँ नियम से पूर्ण होती हैं। एक जिज्ञासा हो सकती है कि ऐसे कोई पर्याप्तक जीव हैं क्या जिनके श्वासोच्छ्वास प्राण नहीं होता है? इसका उत्तर है हाँ, चौदहवें गुणस्थान वाले पर्याप्तक जीवों के श्वासोच्छ्वास प्राण नहीं होता है। तेरहवें गुणस्थान वाले केवली भगवान जब श्वासोच्छ्वास का निरोध कर देते हैं, तब वे शेष समय में पर्याप्त होते हुये भी श्वासोच्छ्वास प्राण से रहित होते हैं। शरीर पर्याप्ति पूर्ण होने के बाद जब तक श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति पूर्ण नहीं होती है, तब तक श्वासोच्छ्वास प्राण नहीं होता है।

चार प्राण वालों के एक, दो और पाँच योग होते हैं। एक औदारिक काय योग एकेन्द्रिय पर्याप्तक जीवों के, दो योग औदारिक मिश्र एवं कार्मण काय योग, द्वीन्द्रिय अपर्याप्तक जीवों के पाँच योग सत्य एवं अनुभय मन:योग, सत्य एवं अनुभय वचन योग, औदारिक काय योग, इस प्रकार पाँच योग सयोग केवली भगवान के होते हैं। चार प्राण वालों में एकेन्द्रिय के चार पर्याप्तियाँ आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास होती हैं। द्वीन्द्रिय के पाँच पर्याप्तियाँ आहार, शरीर आदि होती हैं। पंचेन्द्रिय के छह पर्याप्तियाँ आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा, मन: होती हैं। यहाँ स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि द्वीन्द्रिय के श्वासोच्छ्वास तथा भाषा पर्याप्ति पूर्ण होने पर चार प्राण नहीं होते हैं। पंचेन्द्रियों में छह पर्याप्तियाँ सयोग केवली के होती हैं।

चार प्राण वालों के चार आर्त्त ध्यान, चार रौद्र ध्यान इस प्रकार आठ ध्यान होते हैं। चार प्राण वालों के दो दर्शन अचक्षु दर्शन और केवल दर्शन होते हैं। अचक्षु दर्शन एकेन्द्रिय तथा द्वीन्द्रिय के होते हैं तथा केवल दर्शन केवली भगवान के तेरहवें गुणस्थान में होते हैं। प्राणों का एक स्थान अनाहारक जीवों के ही होता है, एक प्राणरूप–चौदहवें गुणस्थान वर्ती भगवंतों के। प्राणों के तीन स्थान आहारक जीवों के ही होते हैं। आठ प्राण चतुरिन्द्रिय जीवों के, नौ प्राण असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के, दस प्राण संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के होते हैं। इस प्रकार प्राणों की विवक्षा प्रतिपादित की है।

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि प्राणों का यह वर्गीकरण व्यवहार दृष्टि से सम्बद्ध है। क्योंकि ये सभी चेतन शक्ति होने के बाद भी पौद्गलिक शक्ति पर्याप्ति के सापेक्ष है। इसलिए इन्हें व्यवहार प्राण कहते हैं। निश्चयनय की दृष्टि से पौद्गलिक शक्ति निरपेक्ष शुद्ध चेतना ही वास्तविक प्राण है इसलिए इसे निश्चय प्राण भी कहते हैं। मुक्तात्मा दसों प्राणों से अतीत होते हैं।

पर्याप्ति और प्राण में सम्बन्ध – पर्याप्ति पौद्गलिक शक्ति है और प्राण आत्मिक शक्ति है। पर्याप्ति कारण है, प्राण कार्य है। इन दोनों में कारण कार्य सम्बन्ध है। बोलने में व्यक्ति का जो आत्मीय प्रयत्न होता है वह प्राण है और उस प्रयत्न के अनुसार जो शक्ति भाषा योग्य पुद्गलों का संग्रह करती है वह है पर्याप्ति। प्राण के विवेचन में स्पष्ट किया है कि प्राण का अर्थ जीवन शक्ति है। वस्तुत: इस शक्ति का सीधा सम्बन्ध जीव से है, फिर भी ये पौद्गलिक शक्ति सापेक्ष है। जीवन धारण करने में प्राण शक्ति का उपयोग होता है। यह शक्ति तब प्राप्त होती है, जब जीव जन्म धारण करने के अनन्तर पर्याप्तियाँ पूर्ण कर लेता है। इस दृष्टि से पर्याप्ति और प्राण सम्बद्ध है। प्राण संख्या में दस हैं, जिनमें पाँच इन्द्रिय प्राणों का सम्बन्ध इन्द्रिय पर्याप्ति से है। मनोबल, वचन बल, व काय बल का सम्बन्ध मन: पर्याप्ति, भाषा पर्याप्ति और शरीर पर्याप्ति से है। श्वासोच्छ्वास प्राण का सम्बन्ध श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति से है। आयु प्राण आहार पर्याप्ति से सम्बद्ध है। जब तक नौ कर्म वर्गणाओं का ग्रहण–आहार होता रहता है तब तक आयु प्राण के आधार पर जीव जीवित रहता है। आहार की समाप्ति आयु की समाप्ति है। आयु के क्षीण होते ही प्राणी की मृत्यु हो जाती है। पर्याप्ति और प्राण में सम्बन्ध को चार्ट के द्वारा स्पष्ट किया गया है जो संलग्न है।

पर्याप्ति और प्राण में अन्तर – हिमवान् और विन्ध्याचल पर्वत के समान पर्याप्ति और प्राण में अन्तर पाया जाता है, क्योंकि जीवन के कारणपने की अपेक्षा न करके इन्द्रिय आदि रूप शक्ति की पूर्णता मात्र को पर्याप्ति कहते हैं और वचन व्यापार आदि की कारणभूत योग्यता जो जीवन के कारण हैं उन्हें प्राण कहते हैं। बाह्य प्राणों से जीव जीते हैं उसी प्रकार आभ्यन्तर प्राणों से भी जिस जीव में जीवितपने का व्यवहार हो उनको प्राण कहते हैं। बाह्य द्रव्य प्राणों के समान यह जीव आभ्यन्तर भाव प्राणों से जीता है। भाव प्राण कारण है और पर्याप्ति कार्य है तथा पर्याप्ति कारण है और द्रव्य प्राण कार्य। इस प्रकार इन दोनों में अन्तर पाया जाता है।

मुक्ताएँ समस्त प्रकार की पौद्गलिक शक्तियों से निरपेक्ष हो जाती हैं इसलिए उनमें दसों प्राणों में से एक भी प्राण नहीं पाया जाता है, क्योंकि प्राण जीवनी शक्ति होने पर भी पौद्गलिक शक्ति पर्याप्तियों की अपेक्षा रखते हैं। मुक्त जीव में शुद्ध चेतना अवशिष्ट रहती है। पुद्गल का प्रभाव वहाँ सर्वथा क्षीण हो जाता है इसलिए प्राण की सत्ता केवल संसारी जीवों में रहती है।

इस प्रकार सिद्धान्त प्रबोधिनी टीका चौंतीस स्थान दर्शन एवं जैन आगम ग्रन्थों के आधार पर 'पर्याप्ति-अपर्याप्ति व प्राण का विचार, परिभाषा कार्य व प्रकारों की अन्वेषणा' विषय को प्रतिपादित किया है। वस्तुत: सिद्धान्त प्रबोधिनी टीका गागर में सागर भरने की युक्ति को चरितार्थ करती हुई प्रतीत होती है। इस सिद्धान्त प्रबोधिनी टीका में गूढ़ विषय का सरल, सहज, सुबोध भाषा में अनुपम प्रतिपादन हुआ है, उससे पूज्य आचार्य श्री जी एवं सम्पादन कर्त्ता की अद्भुत मेघा शक्ति एवं गहन ज्ञान का परिचय प्राप्त होता है। इस टीकाकार एवं सम्पादन कर्त्ता को त्रियोग पूर्वक कोटि-कोटिश: नमोस्तु।

इत्यलम् शुभम्

सन्दर्भ

1. आहार, शरीर.....निष्पत्ति: पर्याप्ति: । धवला, 1/1,1, 70 पृ. 352
2. गोम्मटसार जीवकाण्ड भाग 1 गाथा 2/15 पृ. 34
3. कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा 134-135, पृ. 72
4. चौंतीस स्थान दर्शन भाग 1 पृ. 9
5. मूलाचार आचार वृत्ति गाथा 1046 आ. सिद्धान्त चक्रवर्ती वसुनंदी पृ. 205-207
6. गोम्मटसार जीवकाण्ड भाग 1 गाथा 119 की टीका पृ. 212, मूलाचार की आचार वृत्ति पृ. 207
7.
8. सिद्धान्त प्रबोधिनी टीका - चौंतीस स्थान दर्शन पृ. 9
9. मूलाचार उत्तरार्द्ध गाथा 1047 आचार वृत्ति पृ. 207
10. षट्खण्डागम पु. 1 तृतीय महाधि. पृ. 279, गोम्म. जीव. भा 1 गाथा 119 पृ. 252
11. धवला पुस्तक 1/254
12. गोम्मटसार जीव भाग 1 गा. 119 पृ. 253, मूलाचार उत्तरार्थ पृ. 208
13. मूलाचार वृत्ति, 12/4
14. जैन दर्शन पारिभाषिक शब्दकोश पृ. 198
15. गोम्मटसार जीव काण्ड भाग 1 गाथा 119 पृ. 251
16. गोम्मटसार जीव काण्ड भाग 1 गाथा 2 टीका पृ. 34
17. धवला 1/258, 256 पंच संग्रह प्राकृत अधिकार गाथा 45-46
18. प्रवचन सार गाथा 147
19. सिद्धान्त प्रबोधिनी टीका - चौंतीस स्थान दर्शन पृ. 11
20. वृहद द्रव्य संग्रह गाथा 3 की टीका पृ. 10
21. धवला 4/7/569
22. षट्खण्डागम ख. 1 पु. 2 महाधिकार 1 पृ. 38

छह पर्याप्तियाँ

क्र.	स्थान	भेद	विवरण	विशेष
1.	गति	4	नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव	यहाँ सैनी को ही ग्रहण करना चाहिए।
2.	इन्द्रिय	1	पंचेन्द्रिय	
3.	काय	1	त्रस	
4.	योग	11	4 मन 4 वचन 3 काय	योगातीत जीव भी होता हैं।
5.	वेद	3	स्त्री. पुरुष. नपुंसक.	वेदातीत जीव भी होते हैं।
6.	कषाय	25	16 कषाय 9 नो कषाय	कषायातीत जीव भी होते हैं
7.	ज्ञान	8	3 कुज्ञान 5 ज्ञान	
8.	संयम	7	सा. छे. परि. सू. य. संय. असं.	
9.	दर्शन	4	चक्षु. अचक्षु. अवधि. केवल.	
10.	लेश्या	6	कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, शुक्ल	लेश्यातीत जीव भी होते हैं।
11.	भव्य	2	भव्य, अभव्य	
12.	सम्यक्त्व	6	क्षा. क्षायो. उप. सा. मिश्र. मि.	
13.	संज्ञी	1	सैनी	
14.	आहार	2	आहारक, अनाहारक	अनाहारक चौदहवें गुणस्थान की अपेक्षा जानना चाहिए।
15.	गुणस्थान	14	पहले से चौदहवें गुणस्थान तक	
16.	जीव समास	1	सैनी पंचेन्द्रिय	
17.	पर्याप्ति	6		
18.	प्राण	10	5 इन्दिय. 3 बल. श्वा. आ.	
19.	संज्ञा	4	आ. भ. मै. परि.	संज्ञातीत जीव भी होते हैं।
20.	उपयोग	12	8 ज्ञानोपयोग, 4 दर्शनोपयोग	
21.	ध्यान	16	4 आर्त्त, 4 रौद्र, 4 धर्म, 4 शुक्ल	
22.	आस्रव	53	5 मि. 12 अवि. 25 क. 11 योग	
23.	जाति	26 लाख	सैनी पंचेन्द्रिय सम्बन्धी	
24.	कुल कोटि	108½ ला.क	सैनी पंचेन्द्रिय सम्बन्धी	
25.	संख्या		असंख्यात जगत् श्रेणी प्रमाण	
26.	क्षेत्र		लोक का असंख्यातवा भाग	
27.	स्पर्शन		लोक का असंख्यातवा भाग	
28.	काल		नाना जीवापेक्षा सर्वकाल, एक जीवापेक्षा	अन्तर्मुहूर्त
29.	अन्तर		नाना जीवापेक्षा निरन्तर एक जीवापेक्षा	जघन्य अन्तर्मुहूर्त
30.	भाव		53	
31.	अवगाहना		जघन्य घनांगुंल का असंख्यातवाँ भाग	उत्कृष्ट एक हजार योजन
32.	बन्ध		120 सभी प्रकृतियाँ	
33.	उदय		104 (गुणस्थानों)	
34.	सत्त्व		148 सभी	

पाँच पर्याप्तियाँ

क्र.	स्थान	भेद	विवरण	विशेष
1.	गति	1	तिर्यंच	
2.	इन्द्रिय	4	द्विन्द्रिय, त्रिन्द्रिय चतुन्द्रिय, पंचेन्द्रिय	असै. पंचे. को ग्रहण करना चाहिए।
3.	काय	1	त्रस	
4.	योग	2	1 व. 1 का.	अनुभय वचन योग है।
5.	वेद	3	स्त्री, पुरुष, नपुंसक	
6.	कषाय	25	16 कषाय, 9 नोकषाय	
7.	ज्ञान	2	कुमति, कुश्रुत	
8.	संयम	1	असंयम	
9.	दर्शन	2	चक्षु. अचक्षु.	
10.	लेश्या	4	कृष्ण, नील, कापोत, पीत	पद्म-शुक्ल लेश्या नहीं है।
11.	भव्य	2	भव्य, अभव्य	
12.	सम्यक्त्व	1	मिथ्यात्व	
13.	संज्ञी	1	असैनी	
14.	आहार	1	आहारक	
15.	गुणस्थान	1	पहला	
16.	जीव समास	4	द्वी. त्री. चतु. असैनी. पंचेन्द्रिय सम्बन्धी	
17.	पर्याप्ति	5	-	
18.	प्राण	9	5 इन्द्रिय, 2 बल, श्वा., आयु	मनोबल प्राण नहीं है।
19.	संज्ञा	4	आ. भ. मै. परि.	
20.	उपयोग	4	2 ज्ञानोपयोग, 2 दर्शनोपयोग	
21.	ध्यान	8	4 आर्त्त, 4 रौद्र	
22.	आस्रव	43	5 मि. 11 अवि. 25 क. 2 यो.	
23.	जाति	10ला.	द्वीन्द्रिय से असैनी पंचेन्द्रिय तक	एके. व सैनी पंचे. की जाति नहीं है।
24.	कुल	67	द्वीन्द्रिय से असैनी पंचेन्द्रिय तक	
25.	संख्या	अनंतानंत		
26.	क्षेत्र	सर्वलोक		
27.	स्पर्शन	सर्वलोक		
28.	काल	नाना जीवापेक्षा सर्वकाल एक जीवापेक्षा जघन्य अन्तर्मुहूर्त		
29.	अन्तर	नाना जीवापेक्षा निरन्तर, एक जीवापेक्षा जघन्य क्षुद्रभव		
30.	भाव	39 पर्याप्त	की अपेक्षा, अपर्याप्त 33	
31.	अवगाहना	जघन्य	घनागुंल का असंख्यातवाँ भाग उत्कृष्ट	एक हजार योजन (महामत्स्य)
32.	बन्ध	पर्याप्त	117 अपर्याप्त 111	
33.	उदय	107		
34.	सत्त्व	147		

चार पर्याप्तियाँ

क्र.	स्थान	भेद	विवरण	विशेष
1.	गति	1	तिर्यंच	
2.	इन्द्रिय	1	एकेन्द्रिय	
3.	काय	5	पृथ्वी आदि वनस्पति पर्यन्त	
4.	योग	1	1 काय योग	
5.	वेद	1	नपुंसक	
6.	कषाय	23	16 कषाय 7 नोकषाय	दो वेद नहीं है।
7.	ज्ञान	2	कुमति कुश्रुत	
8.	संयम	1	असंयम	
9.	दर्शन	1	अचक्षुदर्शन	
10.	लेश्या	3	कृष्ण, नील, कापोत	
11.	भव्य	2	भव्य, अभव्य	
12.	सम्यक्त्व	1	मिथ्यात्व	
13.	संज्ञी	1	असैनी	
14.	आहार	1	आहारक	
15.	गुणस्थान	1	प्रथम	
16.	जीव समास	14	एकेन्द्रिय सम्बन्धी	
17.	पर्याप्ति	4	आ. श. इ. श्वा.	
18.	प्राण	4	1 इन्द्रिय. 1 बल. श्वा. आ.	काय बल प्राण होता है।
19.	संज्ञा	4	आ. भ. मै. परि.	
20.	उपयोग	3	2 ज्ञानोपयोग, 1 दर्शनोपयोग	
21.	ध्यान	8	4 आर्त्त, 4 रौद्र	
22.	आस्रव	36	5 मि. 7 अवि. 23 क. 1 योग	
23.	जाति	52 ला	एकेन्द्रिय सम्बन्धी	
24.	कुल कोटि	67 ला.क.	एकेन्द्रिय सम्बन्धी	
25.	संख्या	अनंतानंत		
26.	क्षेत्र	सर्वलोक		
27.	स्पर्शन	सर्वलोक		
28.	काल	नानाजीवा	वापेक्षा सर्वकाल एक जीवापेक्षा जघन्य क्षुद्रभव	
29.	अन्तर	नानाजीवा	वापेक्षा निरन्तर, एक जीवापेक्षा अन्तर्मुहूर्त	
30.	भाव	25 अपर्याप्त	पर्याप्त 22	
31.	अवगाहना	जघन्य	घनागुंल का असंख्यातवाँ भाग उत्कृष्ट	एक हजार योजन (कमल की)
32.	बन्ध	109		
33.	उदय	80	-	
34.	सत्त्व	145		

दस प्राण

क्र.	स्थान	भेद	विवरण	विशेष
1.	गति	4	नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव	
2.	इन्द्रिय	1	पंचेन्द्रिय	
3.	काय	1	त्रस	
4.	योग	11	4 मन, 4 वचन, 3 काय	
5.	वेद	3	स्त्री. पुरुष. नपुसंक.	वेदातीत जीव भी होते हैं।
6.	कषाय	25	16 कषाय, 9 कषाय	कषायातीत जीव भी होते हैं।
7.	ज्ञान	7	3 कुज्ञान, 4 ज्ञान	केवलज्ञान नहीं है।
8.	संयम	7	सा. छे. परि. सू. य. संय. असं.	
9.	दर्शन	3	चक्षु. अचक्षु. अवधि.	केवलदर्शन नहीं है।
10.	लेश्या	6	कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, शुक्ल	
11.	भव्य	2	भव्य, अभव्य	
12.	सम्यक्त्व	6	क्षा. क्षायो. उप. सा. मिश्र. मि.	
13.	संज्ञी	1	सैनी	
14.	आहार	1	आहारक	
15.	गुणस्थान	12	पहले से बारहवें गुणस्थान तक	तेरहवाँ चौदहवाँ गुणस्थान नहीं है।
16.	जीव समास	1	सैनी पंचेन्द्रिय	
17.	पर्याप्ति	6	आ. श. इ. श्वा. भा. म.	
18.	प्राण	10	-.	
19.	संज्ञा	4	आ. भ. मै. परि.	
20.	उपयोग	10	7 ज्ञानोपयोग, 3 दर्शनोपयोग	
21.	ध्यान	14	4 आर्त्त, 4 रौद्र, 4 धर्म, 2 शुक्ल	अंतिम दो शुक्ल ध्यान नहीं है।
22.	आस्रव	53	5 मि. 12 अवि. 25 क. 11 योग	
23.	जाति	26 ला.	पंचेन्द्रिय सम्बन्धी	
24.	कुल कोटि	108½ ला.क.	पंचेन्द्रिय सम्बन्धी	
25.	संख्या	पल्योपम का असंख्यातवा भाग		
26.	क्षेत्र	लोक का असंख्यातवा भाग		
27.	स्पर्शन	लोक का असंख्यातवा भाग कुछ कम 8/4 राजू उपपाद 6/14 राजू		
28.	काल	नाना जीवापेक्षा सर्वकाल, एक जीवापेक्षा जघन्य अन्तर्मुहूर्त		
29.	अन्तर	नाना जीवापेक्षा निरन्तर एक जीवापेक्षा अन्तर्मुहूर्त		
30.	भाव	57 पर्याप्त 53 अपर्याप्त 46		
31.	अवगाहना	जघन्य घनागुंल का संख्यातवाँ भाग		उत्कृष्ट एक हजार योजन
32.	बन्ध	120		
33.	उदय	104 (गुणस्थानों)		
34.	सत्त्व	148 सभी		

सात प्राण

क्र.	स्थान	भेद	विवरण	विशेष
1.	गति	4	नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव	
2.	इन्द्रिय	2	त्री. पंचेन्द्रिय	
3.	काय	1	त्रस	
4.	योग	6	1 वचन 5 काय	अनुभय वचन योग होता है।
5.	वेद	3	स्त्री. पुरुष. नपुंसक.	
6.	कषाय	25	16 कषाय 9 कषाय	
7.	ज्ञान	5	2 कुज्ञान 3 ज्ञान	विभंगावधिज्ञान नहीं है।
8.	संयम	3	सा. छे. असं.	
9.	दर्शन	3	चक्षु. अचक्षु. अवधि.	
10.	लेश्या	6	कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, शुक्ल	
11.	भव्य	2	भव्य, अभव्य	
12.	सम्यक्त्व	5	क्षा. क्षायो. उप. सा. मि.	मिश्र सम्यक्त्व नहीं होता है।
13.	संज्ञी	2	सैनी असैनी	
14.	आहार	2	आहारक अनाहारक	
15.	गुणस्थान	4	पहला दूसरा चौथा छठा	
16.	जीव समास	3	त्रीन्द्रिय, सैनी, पंचेन्द्रिय, असैनी	
17.	पर्याप्ति	5	आ. श. इ. श्वा. भा.	त्रीन्द्रिय की अपेक्षा 5 पर्याप्त है।
18.	प्राण	7	5 इन्द्रिय, 1 बल, आयु	काय बल होता है।
19.	संज्ञा	4		
20.	उपयोग	8		
21.	ध्यान	12		
22.	आस्रव	48		
23.	जाति	28 ला.		
24.	कुल कोटि	116½ ला.क.		
25.	संख्या	असंख्यात जगतप्रतर का असंख्यातवा भाग असंख्यात जगत् श्रेणी प्रमाण		
26.	क्षेत्र	लोक का असंख्यातवा भाग		
27.	स्पर्शन	लोक का असंख्यातवा भाग		
28.	काल	नाना-जीवापेक्षा सर्वकाल, एक जीवापेक्षा जघन्य अन्तर्मुहूर्त		
29.	अन्तर	नाना-जीवापेक्षा निरन्तर एक जीवापेक्षा क्षुद्रभव उत्कृष्ट असंख्यात पुद्गल परावर्तन		
30.	भाव	पर्याप्त 53 अपर्याप्त 24		
31.	अवगाहना	जघन्य घनांगुंल का असंख्यातवाँ भाग		
32.	बन्ध	109		
33.	उदय	81		
34.	सत्त्व	148, 145		

चार प्राण

क्र.	स्थान	भेद	विवरण	विशेष
1.	गति	1	तिर्यंच	
2.	इन्द्रिय	1	एके.	
3.	काय	5	पृथ्वी	
4.	योग	1	1 काययोग	मन एवं वचन योग तेरहवें गुणस्थान की अपेक्षा है।
5.	वेद	1	नपुंसक.	वेदातीत भी है।
6.	कषाय	23	16 कषाय 7 नोकषाय	स्त्री. पु. वेद नहीं है।
7.	ज्ञान	2	कुमति कुश्रुत	
8.	संयम	1	असं.	
9.	दर्शन	1	अचक्षु.	
10.	लेश्या	3	कृष्ण, नील, कापोत	शुक्ल लेश्या तेरहवें गुणस्थान की अपेक्षा है।
11.	भव्य	2	भव्य, अभव्य	
12.	सम्यक्त्व	3	मिथ्यात्व	
13.	संज्ञी	1	असैनी	
14.	आहार	1	अहारक	अनाहारक द्वीन्द्रिय जीव के विग्रह गति की अपेक्षा।
15.	गुणस्थान	3	पहला	
16.	जीव समास	14	14 एके.	
17.	पर्याप्ति	4	आ. श. इ. श्वा.	
18.	प्राण	4	-	
19.	संज्ञा	4	आ. भ. मै. परि.	संज्ञातीत जीव भी होते हैं।
20.	उपयोग	3	2 ज्ञानोपयोग, 1 दर्शनोपयोग	
21.	ध्यान	8	4 आर्त्त, 4 रौद्र	
22.	आस्रव	36	5 मि. 7 अवि. 23 क. 7 योग	2
23.	जाति	52 ला.	एके. सम्बन्धी	
24.	कुल कोटि	67 ला.क.	एके. सम्बन्धी	
25.	संख्या	अनन्तानंत		
26.	क्षेत्र	सर्वलोक एकेन्द्रिय की अपेक्षा		
27.	स्पर्शन	सर्वलोक		
28.	काल	नाना जीवापेक्षा सर्वकाल, एक जीवापेक्षा जघन्य क्षुद्रभव		
29.	अन्तर	नाना जीवापेक्षा-निरंतर, एक जीवापेक्षा-अन्तर्मुहूर्त		
30.	भाव	25 अपू. 22 पर्या.		
31.	अवगाहना	जघन्य घनांगुल का असंख्यातवाँ भाग -		
32.	बन्ध	109		
33.	उदय	80		
34.	सत्त्व	145		

संयम ग्रहण व पतन के कारणों की विवेचना

ब्र. विनोद जैन सर्वदर्शनाचार्य छतरपुर (म.प्र.)

जीवन जड़ नहीं गतिमान है। अत: आवश्यक है कि उस गति को उचित ढंग से इस भाँति नियमित और नियंत्रित किया जाय कि जीवन का अन्तिम लक्ष्य प्राप्त हो सकें। जीवन का उद्देश्य केवल जीना नहीं है, बल्कि इस रूप में जीवन यापन करना है कि इस जीवन के पश्चात् जन्म और मरण चक्र से छुटकारा मिल सकें।

जो मोक्ष का मार्ग है, वह धर्म है और मोक्ष का मार्ग रत्नत्रय-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक चारित्र रूप है।[1] इस धर्म का मूल स्तम्भ सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन के अभाव में न तो ज्ञान ही सम्यक् होता है और न चारित्र ही। सम्यग्दर्शन आत्म सत्ता की आस्था है स्वरूप विषयक दृढ़ निश्चय। मैं कौन हूँ, क्या हूँ, कैसा हूँ इसका निर्णय सम्यग्दर्शन द्वारा ही होता है।

जड़ चेतन की भेद प्रतीति भी सम्यग्दर्शन से ही होती है। स्व और पर, आत्मा और अनात्मा, चैतन्य एवं जड़ की स्व-स्व स्वरूपोपलब्धि का साधन भी सम्यग्दर्शन है सम्यग्दर्शन की निम्नलिखित परिभाषाएँ उपलब्ध होती हैं-

हिंसारहिए धम्मे अट्ठा रह दोस वज्जिए देवे।
णिग्गंथे पव्वयणे सद्धहणं होइ सम्मत्तं।।

अर्थ – हिंसादि रहित धर्म, अठारह दोष रहित देव, निर्ग्रन्थ प्रवचन अर्थात् मोक्षमार्ग व गुरु इनमें श्रद्धा होना सम्यग्दर्शन है। (मोक्ष पाहुड.मू/90)[2]

छप्पंचणवविहाणं अत्थाणं जिणवरोवइट्ठाणं।
आणाए अहिगमेण य सद्धहणं होइ सम्मत्तं।।

अर्थ – जिनवरों के द्वारा उपदिष्ट छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय और नो पदार्थों का आज्ञा या अधिगम से श्रद्धान करना सम्यक्त्व है। (ध. 1/151)[3]

तच्चरुई सम्मत्तं।

जिस प्रकार रोगी मनुष्य को रोग, उसके कारण, रोगमुक्ति और उसके कारण इन चारों का ज्ञान आवश्यक है। उसी प्रकार जीव को संसार-संसार के कारण, मुक्ति और मुक्ति के कारण इन चारों का परिज्ञान अपेक्षित है।

सम्यग्दर्शन के भेद-

सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन की प्राप्ति किस विधि से होती है। यह दिखलाते हुए निमित्त भेद से उसके तीन भेद किये गये हैं यथा.....औपशमिक सम्यग्दर्शन, क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन और क्षायिक सम्यग्दर्शन तात्पर्य यह है कि दर्शन मोहनीय के अन्तरकरण उपशम और अनन्तानुबंधी चतुष्क के अनुदय रूप उपशमपूर्वक मिथ्यात्व रूप पर्याय का अभाव होकर जो आत्मविशुद्धि प्राप्त होती है वह औपशमिक सम्यग्दर्शन है। उक्त सात प्रकृतियों में से छह प्रकृतियों के क्षयोपशम और सम्यक् प्रकृति के उदयपूर्वक जो आत्मविशुद्धि प्राप्त होती वह क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन है तथा उक्त सातों प्रकृतियों के क्षयपूर्वक जो आत्मविशुद्धि प्राप्त होती है वह क्षायिक सम्यग्दर्शन है।[5] करणानुयोग के अनुसार इन तीनों सम्यग्दर्शनों की उत्पत्ति के प्रकार हैं। इन तीनों सम्यग्दर्शनों में आत्मविशुद्धि मुख्य है। जाति और स्वाद की अपेक्षा उनमें भेद नहीं है। भेद केवल कर्मों के सद्भाव और असद्भाव को मुख्य कर किया गया है।

प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन-

''प्रथम प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन है। यह मुख्य और भूमि स्वरूप है।[6] मुख्य इसलिए है क्योंकि सर्वप्रथम मोक्षमार्ग का दरवाजा इसके द्वारा ही उद्घाटित होता है। और भूमि स्वरूप इसलिए है, क्योंकि मोक्षमार्ग पर आरूढ़ होने के लिए सर्वप्रथम यह जमीन का काम देता है।

प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन का पात्र–

''प्रथमोपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए कतिपय योग्यताओं की आवश्यकता है। पहली योग्यता तो उस जीव का भव्य होना है। भव्य को ही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है, अभव्य को नहीं, यह योग्यता स्वाभाविक है, प्रयत्न साध्य नहीं, इस योग्यता के साथ संज्ञी पर्याप्तक तथा पाँच लब्धियों से युक्त होना अपेक्षित है।''[7] सारांश यह है कि सम्यग्दर्शन संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक भव्य जीव को होता है अन्य को नहीं। भव्यों में भी यह उन्हीं को प्राप्त होगा जिनका संसार परिभ्रमण का काल अर्द्ध पुद्गल परावर्तन के काल से अधिक अवशिष्ट नहीं है। लेश्याओं के विषय में यह कथन है कि मनुष्य और तिर्यंचों के तीन शुभ लेश्याओं में से कोई भी लेश्या रह सकती है। देव और नारकियों में जहाँ जो लेश्या है उसी में औपशमिक सम्यग्दर्शन होता है। कर्म स्थिति के विषय में कहा है कि जिसके बध्यमान कर्मों की स्थिति अन्त: कोड़ाकोड़ी प्रमाण हो तथा सत्ता में स्थित कर्मों की स्थिति संख्यात हजार सागर कम अन्त: कोड़ाकोड़ी प्रमाण रह गई हो वही प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकता है। इससे अधिक स्थिति बंध पड़ने पर सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं हो सकता है।

''सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की योग्यता चारों गति वाले भव्य जीवों को होती है। क्षायोपशमिक, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण ये पाँच लब्धियाँ भव्य को प्राप्त होती है। इनमें चार लब्धियाँ तो सामान्य हैं क्योंकि भव्य और अभव्य दोनों को प्राप्त होती है। पर करण लब्धि विशेष है। यह भव्य को ही प्राप्त होती है''[8] और इसके प्राप्त होने पर नियमत: सम्यग्दर्शन होता है। उपर्युक्त लब्धियों का स्वरूप इस प्रकार है–

क्षायोपशमिक लब्धि–

''पूर्व संचित कर्मों के मल रूप पटल के अनुभाग स्पर्धक जिस समय विशुद्धि के द्वारा प्रतिसमय अनंत गुणहीन होते हुए उदीरणा को प्राप्त होना क्षायोपशमिक लब्धि है। इस लब्धि के द्वारा जीव के परिणाम उत्तरोत्तर निर्मल होते जाते हैं।''[9] क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी जी ने इसका वर्णन इस प्रकार किया है– ''समझने और समझाने की शक्ति प्राप्त हो जाना क्षायोपशमिक लब्धि है– गुरुजनों के द्वारा दिये गये उपदेश को अथवा शास्त्रोलिखित अर्थ को बुद्धि के द्वारा अवधारण कर लेना ही क्षायोपशम लब्धि कही जाती है– प्राय: सभी सामान्य जीव इस उपलब्धि को लौकिक विषयों को समझने–समझाने में नष्ट कर देते हैं।''[10]

पूर्वोपार्जित किसी पुण्य के उदय से जिन्हें कदाचित् इसका सदुपयोग करने की बुद्धि जाग्रत हो जाती है। वे अपनी इस उपलब्धि से लाभान्वित होने के लिए शास्त्राध्ययन में पठन पाठन मनन–चिंतन अथवा उपदेश श्रवण में प्रवृत्त होते हैं और बुद्धि के द्वारा तत्त्वों का निर्णय करने में सफल हो सकते हैं।

विशुद्धि लब्धि–

सातावेदनीय आदि प्रशस्त प्रकृतियों के बन्ध के कारण भूत परिणामों की प्राप्ति को विशुद्धि लब्धि कहते हैं।[11]

इसका भावात्मक निरूपण इस प्रकार उपलब्ध होता है– ''पूर्वोपार्जित किसी पुण्य के उदय से अथवा पूर्वभव में की गयी साधना के संस्कारवश यदि कोई दूसरों को उपदेश देने की बजाय क्षयोपशम लब्धि का प्रयोग अपने को उपदेश देने में करें जिसके कारण वह बराबर आत्मनिन्दन, गर्हण, पश्चाताप और प्रायश्चित आदि के द्वारा आत्मशोधन करता रहता है– उसके परिणाम अधिक अधिक विशुद्ध होने लगते वह अपनी सकल प्रवृत्तियों को लोकोपकार में लगाने लगता है। नि:स्वार्थ सेवा या लोकोपकार उसका जीवन बन जाता है।''[12] वह स्व दु:ख सहिष्णु और पर दु:ख कातर बन जाता है। इस प्रकार परिणामों में प्रतिक्षण असंख्यातगुणी विशुद्धि होते जाना ही विशुद्धि लब्धि का लक्षण है।

देशना लब्धि–

''छहों द्रव्य और नौ पदार्थों के उपदेश को देशना कहते हैं। उक्त देशना से परिणत आचार्य आदि की उपलब्धि को और उपदिष्ट अर्थ के ग्रहण तथा विचार की शक्ति की प्राप्ति को देशना लब्धि कहते हैं।''[13]

''इसका भावात्मक निरूपण इस प्रकार से है पूर्व पुण्योदय के फलस्वरूप तथा लौकिक जगत् में अनेक विसंगतियों के दर्शन से कषाय की मंदता के कारण पारमार्थिक जगत् के चिंतवन में चित्त की सहज ही प्रकृति होने लगती है तथा ऐसे लोगों का सान्निध्य प्राप्त करने को उत्सुक रहता है जो अलौकिक शांति के प्रेम में रत है उसे गुरु चरणों में आत्मसमर्पण करने का भाव जाग्रत हो जाता है। इसमें प्राय: तत्त्वोन्मुखी अभिलाषा जाग्रत हो जाती है।''[14]

प्रायोग्य लब्धि–

''आयुकर्म को छोड़कर शेष कर्मों की स्थिति को अन्त: कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण कर देना और अशुभ कर्मों में से घातिया कर्मों के अनुभाग को लता और दारू इन दो स्थानगत तथा अघातिया कर्मों के अनुभाग को नीम और कॉजी इन दो स्थानगत कर देना एवं प्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग प्रतिसमय अनन्त गुणा बढ़ता हुआ बँधना प्रायोग्य लब्धि है।''[15]

इस लब्धि में एक क्षण में कर्मों की स्थिति का 70 कोड़ाकोड़ी से घटकर एक कोड़ाकोड़ी सागर से भी कम रह जाना प्रायोग्य लब्धि का स्वरूप है। सम्यग्दर्शन के अभाव में भी स्थिति की इस प्रकार क्षति हो जाना किसी साधारण हेतु से नहीं हो सकता। हृदय में प्रविष्ट हुई देशना से यह विश्वास जाग्रत हो जाता है कि जिनेन्द्र शासन के द्वारा ही मेरा कल्याण होगा और शीघ्र होगा। इसी प्रकार का आत्मविश्वास हो जाना ही कर्मों की स्थिति का घट जाना है। यही प्रायोग्य लब्धि है। इसके बिना तात्त्विक क्षेत्र में प्रवेश पाना सम्भव नहीं है।

जो भव्य जीव हैं वे ही इन लब्धियों के होने पर यथासंभव करण लब्धि को प्राप्त करते हैं।

करण लब्धि–

''करण'' शब्द का अर्थ परिणाम है इसलिए उत्तरोत्तर वृद्धिंगत परिणाम विशुद्धि ही इस लब्धि का कारण है। अत: सम्यग्दर्शनादि प्राप्त कराने वाले परिणामों की प्राप्ति को करण लब्धि कहते हैं। ''ज्यों ज्यों परिणाम विशुद्ध होते जाते हैं त्यों त्यों संस्कारों का आवरण हटता जाता है। यहाँ तक कि इस लब्धि की पूर्णता हो जाने पर व्यक्ति तत्त्व का साक्षात् करने में सफल हो जाता है।''[16]

तत्त्वोन्मुखी अन्तरंग पुरुषार्थ ही इस लब्धि का स्वरूप है इसलिए यह तत्त्वोपलब्धि का साक्षात् हेतु है जबकि अन्य चार लब्धियाँ इसकी साक्षात् हेतु न होकर परम्परा हेतु है। प्रधान पुरुषार्थ होने के कारण पाँचों लब्धियों में यह सर्वप्रधान है। क्षयोपशम लब्धि के द्वारा केवल तत्त्वों का बौद्धिक निर्णय किया गया था। विशुद्धि लब्धि के द्वारा उसे आत्म दोष और पर गुण दर्शन होने लगते हैं। जिसके कारण वह पश्चाताप प्रायश्चित आदि के द्वारा आत्मशोधन करने लगता है देशना लब्धि में आकर उसे गुरु की अन्त:प्रेरणा प्राप्त हो जाती है जिसके कारण उसके मन बुद्धि आदि का आमूलचूल परिवर्तन हो जाता है। तत्फलस्वरूप उसे आत्मोत्कर्ष की अनुभूति होती है।

इतनी कुछ भूमिका बन जाने के पश्चात् जब वह करण लब्धि में प्रवेश पाता है तो अपने चित्त की वृत्तियों को बाहर से समेटकर उसी प्रकार भीतर की ओर खींच लेता है ''जिस प्रकार कि कछुआ अपने सब अंगों को बाहर से समेट कर भीतर खींच लेता है ऐसा करने से उसकी वे सकल शक्तियाँ जो कि चित्त के माध्यम से बाहर जगत् में यत्र–तत्र बिखर कर व्यर्थ नष्ट हो रही थी अब आत्मानुसंधान के प्रति नियोजित हो जाती हैं।''[17]

बाह्य जगत् के इन्द्रिय विषयों के प्रति यद्यपि उसे अभी पूरा वैराग्य नहीं आया है तदपि गुरु कृपा से देशना लब्धि के द्वारा इतना वैराग्य अवश्य प्राप्त हो गया है कि वह बाहर विषयों को नि:सार देखते हुए इनकी कुछ देर के लिए उपेक्षा कर सके फलस्वरूप परिणामों की विशुद्धि उत्तरोत्तर वृद्धिंगत होने लगती है–

परिणाम विशुद्धि के इस विकास को लक्ष्य में रखकर हम करण लब्धि के स्वरूप को दो दृष्टियों से अध्ययन कर सकते हैं। एक जीव की अपेक्षा और अनेक जीवों की अपेक्षा एक जीव अपेक्षा अध्ययन करने पर हम देखते हैं कि प्रति क्षण उसके परिणाम अधिक अधिक विशुद्ध होते जाते हैं साथ ज्यों–ज्यों ऊपर जाता है विशुद्धि वृद्धि की गति भी बढ़ती जाती है। अनेक जीवों की

अपेक्षा अध्ययन करने पर हम देखते हैं कि करण लब्धि में युगपत् प्रवेश करने वाले अनेक जीवों के परिणामों में तारतम्यता पाई जाती है। कुछ के परिणाम कम विशुद्ध होते हैं कुछ के अधिक और कुछ के परस्पर समान परन्तु ज्यों-ज्यों ऊपर जाते हैं त्यों-त्यों यह तारतम्यता घटती जाती है। यहाँ तक कि अन्त में जाकर सबके परिणामों की विशुद्धि समान हो जाती है-

इस विषय को अधिक स्पष्ट करने के लिए आचार्यों ने इस लब्धि के स्वरूप को उत्तरोत्तर उन्नत तीन सोपानों में विभक्त करके दर्शाया है अध:करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण।

(1) अध: प्रवृत्तकरण – ''जो परिणाम पूर्व में प्राप्त न हुए हों उन्हें अध:प्रवृत्तकरण कहते हैं। इसका दूसरा नाम अध:करण भी है जिसमें आगामी समय में रहने वाले जीवों के परिणाम पिछले समयवर्ती जीवों के परिणामों के सदृश होते हैं। वह अध:प्रवृत्तकरण है। इसमें एक समयवर्ती और भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणाम समान और असमान दोनों प्रकार के होते हैं। इस करण का काल अन्तर्मुहूर्त है और उसमें उत्तरोत्तर समान वृद्धि को लिए हुए असंख्यात लोक प्रमाण परिणाम होते हैं।''[18]

(2) अपूर्वकरण – ''जिसमें प्रत्येक समय अपूर्व अपूर्व नये नये परिणाम होते हैं उसे अपूर्वकरण कहते हैं। जैसे पहले समय में रहने वाले जीवों के यदि एक से लेकर दस नम्बर तक के परिणाम हैं तो दूसरे समय में रहने वाले जीव के ग्यारह से बीस नम्बर तक के परिणाम होते हैं। अपूर्वकरण में एक समयवर्ती जीवों के परिणाम समान और असमान दोनों प्रकार के होते हैं, परन्तु भिन्न समवर्ती जीवों के परिणाम असमान ही होते हैं। जैसे- पहले समय में रहने वाले और दूसरे समय में रहने वाले जीवों के परिणाम कभी समान नहीं होते परन्तु एक समय में रहने वाले जीव के परिणाम समान भी हो सकते हैं और असमान भी हो सकते हैं।''[19]

यह कथन नाना जीवों की अपेक्षा है। इसका काल भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है परन्तु यह अन्तर्मुहूर्त अध:प्रवृत्तकरण के अन्तर्मुहूर्त से छोटा है। इस अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल में भी उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होते हुए असंख्यात लोक प्रमाण परिणाम होते हैं।

(3) अनिवृत्तिकरण – ''जहाँ एक समय में एक ही परिणाम होता है उसे अनिवृत्तिकरण कहते हैं। इस करण में समसमयवर्ती जीवों के परिणाम समान ही होते हैं और विषम समयवर्ती जीवों के परिणाम परस्पर समान ही होते हैं। इसका कारण है कि यहाँ एक समय में एक ही परिणाम होता है। इसलिए एक समय में जितने जीव होंगे उन सबके परिणाम समान ही होंगे और भिन्न समयों में जो जीव होंगे उनके परिणाम भिन्न ही होंगे। इसका काल भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।''[20] अपूर्वकरण की अपेक्षा छोटा अन्तर्मुहूर्त है। तीनों करणों में परिणामों की विशुद्धता उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है।

उपर्युक्त तीन करणों में से प्रथम अध:करण में गुणश्रेणी निर्जरा, गुण संक्रमण, स्थितिकाण्डक घात और अनुभागकाण्डक घात ये चार कार्य नहीं होते किन्तु प्रत्येक समय में उत्तरोत्तर अनन्तगुणी विशुद्धि होने से अप्रशस्त कर्मों के अनुभाग में अनन्त गुणी हानि, प्रशस्त कर्मों के अनुभाग में अनन्त गुणी वृद्धि होती रहती है। प्रत्येक समय में कर्मों का स्थितिबन्ध होता है, उसके अन्तिम समय में वह घटकर संख्यात गुणाहीन हो जाता है। यदि वही जीव प्रथम सम्यक्त्व के साथ देशसंयम और सकलसंयम को प्राप्त करता है तो उक्त स्थितिबंध असंयत के जितना होता है उससे और भी संख्यातगुणा हीन हो जाता है।

अपूर्वकरण में निम्नलिखित आवश्यक होते हैं- (1) सत्ता में स्थित पूर्व कर्मों की स्थिति प्रत्येक समय उत्तरोत्तर घटती जाती है अत: स्थितिकाण्डक घात होता है। (2) प्रत्येक समय उत्तरोत्तर पूर्व कर्म का अनुभाग घटता जाता है, इसलिए अनुभागकाण्डक घात होता है और (3) प्रत्येक समय गुणश्रेणी निर्जरा होती है। इस अपूर्वकरण में गुण संक्रमण का होना आवश्यक नहीं होता किन्तु चारित्र मोह का उपशम करने के लिए जो अपूर्वकरण होता है उसमें होता है

अनिवृत्तिकरण में गुणश्रेणी निर्जरा, गुण संक्रमण, स्थितिकाण्डक घात और अनुभागकाण्डक घात ये चारों आवश्यक होने के पश्चात् अनिवृत्तिकरण के संख्यातवें भाग काल शेष रहने पर दर्शनमोहनीय का अन्तरकरण प्रारम्भ होता है। विवक्षित कर्मों की अधस्तन और उपरिम स्थितियों को छोड़कर मध्यवर्ती अन्तर्मुहूर्त मात्र स्थितियों के निषेकों का परिणाम विशेष के द्वारा अभाव करने को अन्तरकरण कहते हैं। अन्तरकरण के माध्यम से अनिवृत्तिकरण के पश्चात् उदय आने योग्य मिथ्यात्व कर्म के निषेकों का अन्तर्मुहूर्त के लिए अभाव रूप किये हुए निषेकों के ऊपर जो मिथ्यात्व के निषेक उदय में आने वाले थे उन्हें उदय अयोग्य

किया जाता है। साथ ही अनन्तानुबन्धी चतुष्क को भी उदय के अयोग्य किया जाता है। इस प्रकार उदय योग्य प्रकृतियों का अभाव होने से प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है। पश्चात् प्रथमोपशम सम्यक्त्व के प्रथम समय में मिथ्यात्व प्रकृति के तीन खण्ड करता है ऐसा कहा गया है। तदनन्तर सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व इन तीन प्रकृतियों तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार प्रकृतियों का इस प्रकार सात प्रकृतियों के उदय का अभाव होने पर प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है। यही भाव षट्खण्डागम (धवला पुस्तक 6) में से भी प्रगट होता है।

द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन – क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन को धारण करने वाला कोई जीव जब सातवें गुणस्थान के सातिशय अप्रमत्त भेद में उपशम श्रेणी मांढ़ने के सम्मुख होता है तब उसके द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। इस सम्यग्दर्शन में अनन्तानुबन्धी चतुष्क की विसंयोजना में दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियों का उपशम होता है। इस सम्यग्दर्शन को धारण करने वाला जीव उपशम श्रेणी चढ़कर ग्यारहवें गुणस्थान तक जाता है और वहाँ से पतन कर नीचे आता है। पतन की अपेक्षा चतुर्थ, पंचम और षष्ठम गुणस्थान में भी इसका सद्भाव रहता है।

संयम मार्गणा

संयम और संयम मार्गणा–

सम् उपसर्ग पूर्वक यम् धातु से अप् प्रत्यय करने पर संयम शब्द निष्पन्न होता है। जिसका अर्थ प्रतिबंध, रोकथाम, नियंत्रण, धार्मिक व्रत इत्यादि है। इन समस्त अर्थों को छोड़कर जैन परम्परा में संयम का अर्थ इस प्रकार से उपलब्ध होता है। ''पाँच महाव्रतों का धारण करना, पाँच समितियों का पालन करना, चार कषायों का निग्रह करना, मन–वचन–काय रूप तीन दण्डों का त्याग करना और पाँच इन्द्रियों का जीतना संयम कहलाता है।''

इस लाक्षणिक विवेचना का स्पष्टीकरण इस प्रकार है। जैन परम्परा में मोक्ष का मार्ग रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र स्वीकार किया गया है। सम्यग्दर्शन श्रद्धा का वाचक है। सम्यक्ज्ञान तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप का जानना है। सम्यक्चारित्र मोक्ष मार्ग के साधकभूत निर्दोष आचरण का प्रतिपादक है। इसी सम्यक्चारित्र का पर्याय नाम संयम है। संयम मोक्ष मार्ग का अविनाभावी है। संयम के अभाव से अपवर्ग की सिद्धि किसी भी प्रकार से संभव नहीं है। यह संयम पंच महाव्रत–अहिंसा महाव्रत, सत्य महाव्रत, अचौर्य महाव्रत, ब्रह्मचर्य महाव्रत एवं अपरिग्रह महाव्रत के धारण, पंच समिति–ईर्या समिति, भाषा समिति, एषणा समिति, आदान–निक्षेपण समिति, प्रतिष्ठान समिति के पालन, चार कषाय– क्रोध कषाय, मानकषाय, माया कषाय और लोककषायों के निग्रह– मन, वचन, काय इन तीनों की अयोग्य प्रवृत्ति का अभाव और स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु एवं श्रोत्र इन पाँच इन्द्रिय विषयों के जितने रूप हैं।

इस संयम को सकल चारित्र अथवा सकल संयम भी कहा जाता है। ''यह सकल संयम पंच विध रूप है। 1. सामायिक संयम 2. छेदोपस्थापना संयम 3. परिहार विशुद्धि 4. सूक्ष्मसांपराय संयम 5. यथाख्यात संयम।''

इन सभी पंच विध रूप संयमों में पूर्ण रूप तथा सदा के लिए हिंसादि पंच पापों का त्याग रहता है जो देशरूप अथवा आंशिक रूप से हिंसादि पंच पापों का त्याग करते हैं उसे देशसंयम या देश चारित्र कहते हैं तथा जो किसी भी प्रकार संयम धारण नहीं करते हैं वे असंयमी कहलाते हैं।

संयम मार्गणा में सप्त भेद रूप–सामायिक संयम, छेदोपस्थापना संयम, परिहार विशुद्धि संयम, सूक्ष्मसाम्पराय संयम, यथाख्यात संयम, देशसंयम एवं असंयम युक्त जीवों का अन्वेषण किया जाता है। कौन मुमुक्षु इस संयम का धारक है। उसकी जीवन पद्धति क्रियात्मक है? राग–द्वेष आदि का कितना सद्भाव कितना अभाव है? इत्यादि के विषय में पूर्ण विवेचना प्राप्त हो जाती है।

सकल संयम – मुनियों के व्रतों को सकल चारित्र कहते हैं। आध्यात्मिक जीवन का प्रासाद चारित्र या संयम के आधार पर

खड़ा होता है। यदि संयम का अभाव हो जाता है तो मुमुक्षु स्वच्छंद आचरण रूप में प्रवृत्ति करता है, जो मानसिक विक्षिप्तता का कारण बन जाता है। जैसे किसी प्रासाद में प्रविष्ट होने के लिए मार्ग की अनिवार्यता होती है उसी प्रकार मोक्ष मार्ग में प्रयास के लिए कुछ अनिवार्य आचरण या प्रवृत्ति की आवश्यकता होती है। जैन दर्शन में श्रमणों के लिए अनिवार्य आचरण के रूप में 28 मूलगुणों का निर्देश होता है। ये 28 मूलगुण श्रमण की बहिरंग प्रवृत्ति का स्पष्ट निर्देश करते हैं। ये 28 मूलगुण आचार्य कुन्दकुन्द ने इस प्रकार निर्दिष्ट किये हैं–

(1) पाँच महाव्रत–

(1) अहिंसा महाव्रत (2) सत्य महाव्रत (3) अचौर्य महाव्रत
(4) ब्रह्मचर्य महाव्रत (5) परिग्रह त्याग महाव्रत।

(2) पाँच समिति–

(6) ईर्या समिति (7) भाषा समिति (8) एषणा समिति
(9) आदान–निक्षेपण समिति (10) प्रतिष्ठापना समिति।

(3) पाँच इन्द्रिय निरोध–

(11) स्पर्शन इन्द्रिय निरोध (12) रसनेन्द्रिय निरोध
(13) घ्राणेन्द्रिय निरोध (14) चक्षु इन्द्रिय निरोध
(15) कर्णेन्द्रिय निरोध।

(4) षट् आवश्यक–

(16) समता (17) स्तुति (18) वंदना
(19) प्रतिक्रमण (20) प्रत्याख्यान (21) व्युत्सर्ग तथा शेष 7 गुण
(22) केशलोंच (23) आचेलक्य (24) अस्नाव्रत
(25) भूमिशयन (26) अदंतधावन (27) खड़े–खड़े भोजन
(28) एक भुक्ताहार।

यह सकल संयम भी पंचविध रूप होता है।

1. सामायिक 2. छेदोपस्थापना 3. परिहार विशुद्ध
4. सूक्ष्मसाम्पराय 5. यथाख्यात चारित्र।

इन सभी का विवेचन निम्न है–

पंचविध चारित्र का स्वरूप

1. सामायिक चारित्र – सम्यक्त्व, ज्ञान, संयम और तप इनके साथ ऐक्य स्थापित करना और राग एवं द्वेष का निरोध करके आवश्यक कर्त्तव्यों में समता भाव बनाये रखना सामायिक चारित्र है। व्यावहारिक दृष्टि से हिंसादि बाह्य पापों से विरति भी सामायिक चारित्र है। इसके दो भेद हैं–

1. नियत काल और 2. अनियत काल

जिनका समय निश्चित है ऐसे स्वाध्याय आदि नियत काल सामायिक है और जिनका समय निश्चित नहीं है ऐसे ईर्यापथ आदि अनियत काल है। संक्षेपत: समस्त सावद्ययोग का त्याग करना सामायिक चारित्र है।

2. छेदोपस्थापना चारित्र – सावद्य पर्याय रूप पुरानी पर्याय को छेदकर अहिंसादि पंच महाव्रत रूप धर्म में अपनी आत्मा को स्थापित करना छेदोपस्थापना है अर्थात् सामायिक चारित्र से युक्त कोई जीव उससे हटकर सावद्य व्यापार युक्त हो जाता है अत: प्रायश्चित द्वारा उन दोषों को छेदकर आत्मा को संयम में स्थिर करता है तो छेदोपस्थापना चारित्र कहते हैं।

3. **परिहार विशुद्धि –** जिस चारित्र में प्राणी हिंसा की पूर्ण निवृत्ति होने से विशिष्ट विशुद्धि पाई जाती है उसे परिहार विशुद्धि कहते हैं। ''जिस व्यक्ति ने अपने जन्म से तीस वर्ष तक सुखी रहकर फिर दीक्षा ग्रहण करके और तीर्थंकर के पादमूल में आठ वर्ष तक प्रत्याख्यान नामक नवमें पूर्व का अध्ययन करे, उसके यह संयम होता है। जो जीवों की उत्पत्ति–मरण के स्थान, काल की मर्यादा, जन्म–योनि के भेद, द्रव्य क्षेत्र का स्वभाव, विधान तथा विधि इन सभी को जानने वाला हो और प्रमाद रहित महावीर्यवान हो उसके शुद्धता के बल से कर्म की बहुत निर्जरा होती है। अत्यन्त कठिन आचरण करने वाले मुनियों के यह संयम होता है। जिनके यह संयम होता है उनके शरीर से जीवों की विराधना नहीं होती। इस संयम वाला जीव तीन संध्या कालों को छोड़कर प्रतिदिन दो कोश पर्यन्त गमन करता है, रात्रि को गमन नहीं करता। और इसके वर्षाकाल में गमन करने या न करने का कोई नियम नहीं है। यह चारित्र छठवें गुणस्थान से सातवें गुणस्थान में होता है।

4. **सूक्ष्म साम्पराय चारित्र –** जिस अवस्था में कषाय वृत्तियाँ क्षीण होकर किंचित् रूप में ही अवशिष्ट रही हों, वह सूक्ष्म सम्पराय चारित्र है। यह दशवें गुणस्थान में होता है।

5. **यथाख्यात चारित्र –** कषाय आदि सभी प्रकार के दोषों से रहित निर्मल एवं विशुद्ध चारित्र यथाख्यात चारित्र है। यह ग्यारहवें से चौदहवें गुणस्थान तक होता है।

संयमासंयम – इसे विरताविरत अथवा देशसंयम भी कहते हैं। इसमें व्यक्ति की आत्मिक शक्ति कुछ और विकसित हो जाती है। इसमें सम्यक्दृष्टि व्यक्ति गुणों के साथ–साथ कुछ अंशों में संयम का भी पालन करने लगता है। वह पूर्ण रूप से तो संयम अंगीकार नहीं कर पाता किन्तु आंशिक रूप से संयम का पालन अवश्य करता है। इस अवस्था में स्थित साधक को जैन शास्त्रों में उपासक अथवा श्रावक भी कहा गया है। आंशिक रूप से व्रतों का पालन करने के कारण ही इसको देशसंयम कहते हैं। चूँकि ''इस अवस्था के जीव स्थूल पापों से विरक्त रहते हैं। अत: संयत अथवा विरत है तथा सूक्ष्म पापों का त्याग न कर पाने के कारण वे असंयत अथवा अविरत कहलाते हैं। इसी अपेक्षा से इसमें संयतासंयत अथवा विरताविरत रूप परिणाम युगपत् पाये जाते हैं।''

असंयत – संयम मार्गणा से षट्विध संयमों का उल्लेख करने के उपरांत असंयम मार्गणा का कथन प्राप्त होता है। असंयम शब्द का शाब्दिक अर्थ है संयम रहित अर्थात् मोक्ष के साध्य भूत, व्रत, नियम इत्यादि नियमों का अभाव असंयम है। इस मार्गणा के अन्तर्गत प्रथम गुणस्थान मिथ्यात्व द्वितीय गुणस्थान सासादन तृतीय गुणस्थान मिश्र एवं चतुर्थ गुणस्थान अविरत सम्यग्दृष्टि इन चार गुणस्थानवर्ती जीवों का ग्रहण किया जाता है। असंयत की लाक्षणिक विवेचना इस प्रकार प्राप्त होती है– ''जीव समास चौदह प्रकार के हैं और इन्द्रियों के विषय अट्ठाईस प्रकार के होते हैं। जो जीव इनसे विरत नहीं है, उनको असंयत जानना चाहिए।'' इस कथन से यह विदित होता है, कि असंयमी जीव प्राणी हिंसा और इन्द्रिय के विषयों से विरत नहीं होता है। उसका जीवन प्रमाद बाहुल्यता से व्याप्त रहता है। इसी कारण जीवन स्वच्छन्द प्रवृत्ति युक्त रहता है। कभी कदाचित् संयम के विषय में विचार भी करता है अथवा कभी कदाचित् तद्रूप आचरण भी करता है। किन्तु यह आचरण स्थायी नहीं होने के कारण कोई फलदायक नहीं होता है। इसके आचरण की तुलना गज स्नान से की जाती है। जिस प्रकार हाथी सरोवर में स्नान कर चुकने के उपरांत पुन: अपनी सूँड से रज कणों को देह पर फेंकता है, उसी प्रकार जो प्राणी व्रत, नियम इत्यादि का नियमपूर्वक निर्वाह नहीं करते हैं, उनके द्वारा कृत तप इत्यादि कर्म निष्फल ही हो जाते हैं। इस प्रकार जागृति के अभाव में जो जीव अपना जीवन यापन कर रहे हैं उन्हें असंयमी कहा जा सकता है।

संयम मार्गणा में 20 प्ररूपणाओं का अन्वेषण – ''संयम मार्गणा में प्रमत्त संयत गुणस्थान से लेकर अयोग केवली गुणस्थान तक नौ गुणस्थान, संज्ञी पर्याप्तक अपर्याप्तक के भेद से दो जीव समास, पर्याप्तियों में पर्याप्त अपर्याप्तक के भेद से आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन ये छहों पर्याप्तियाँ, छहों अपर्याप्तियाँ, दस प्राण सात प्राण चार प्राण दो प्राण और एक प्राण, चारों संज्ञाएँ, क्षीण संज्ञास्थान, गतिमार्गणा की अपेक्षा मनुष्य गति, पंचेन्द्रिय, त्रसकाय, वैक्रियिकद्विक बिना 13 योग,

वेद मार्गणा की अपेक्षा तीनों वेद तथा अपगत वेद, चारों कषायें तथा अकषाय, ज्ञान मार्गणा की अपेक्षा तीन कुज्ञान को छोड़कर मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय और केवलज्ञान ये पाँच ज्ञान, संयम मार्गणा की अपेक्षा सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्म साम्पराय और यथाख्यात संयम, दर्शनमार्गणा की अपेक्षा चक्षु, अचक्षु अवधि और केवलदर्शन, लेश्या मार्गणा में द्रव्य लेश्या की अपेक्षा छह एवं भाव लेश्या की अपेक्षा पीत, पद्म और शुक्ल तीन शुभ लेश्याएँ तथा अलेश्या, भव्य मार्गणा की अपेक्षा भव्य सिद्धिक, सम्यक्त्व मार्गणा की अपेक्षा औपशमिक, क्षायिक, क्षयोपशमिक तीन सम्यक्त्व, संज्ञी मार्गणा की अपेक्षा संज्ञिक तथा असंज्ञिक से रहित स्थान, आहार मार्गणा की अपेक्षा आहारक, अनाहारक और उपयोग की अपेक्षा साकार और आकार उपयोगों से सहित होते हैं। इस प्रकार संयमित जीवों में 20 प्ररूपणाओं का सामान्य से सद्भाव जानना चाहिए।''

संयम मार्गणा में बंध, उदय, सत्त्व

सामायिक छेदोपस्थापना और परिहार विशुद्धि संयम में बन्ध योग्य प्रकृतियाँ–

''इन तीनों संयमों में 65 प्रकृतियाँ बन्ध योग्य हैं वे हैं– ज्ञानावरण 5, चक्षुरादि 4, दर्शनावरण, निद्रा, प्रचला, वेदनीय 2, संज्वलन कषाय 4 हास्यादि 6 नोकषाय, पुरुषवेद, देवायु, स्पर्शादि 4, आहारकद्विक, पंचेन्द्रिय जाति, वैक्रियकद्विक, तेजस शरीर, कार्मण शरीर, समचतुरस्र संस्थान, प्रशस्त विहायोगति, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक शरीर, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुभग।

मनुष्य गति के किस गुणस्थान में उत्कृष्ट से कितने जीव हो सकते हैं।

1. प्रथम गुणस्थान में	–	असंख्यात
2. द्वितीय गुणस्थान में	–	52 करोड़
3. तृतीय गुणस्थान में	–	104 करोड़
4. चतुर्थ गुणस्थान में	–	700 करोड़
5. पञ्चम गुणस्थान में	–	13 करोड़
6. छठवें गुणस्थान में	–	5,93,98,206
7. सातवें गुणस्थान में	–	2,96,99,103
8. उपशम श्रेणी के अष्टम गुणस्थान में	–	299
नवमें गुणस्थान में	–	299
दसवें गुणस्थान में	–	299
ग्यारहवें गुणस्थान में	–	299
9. क्षपक श्रेणी के अष्टम गुणस्थान में	–	598
नवमें गुणस्थान में	–	598
दसवें गुणस्थान में	–	598
बारहवें गुणस्थान में	–	598
10. तेरहवें गुणस्थान में	–	8,98502
11. चौदहवें गुणस्थान में	–	598
छठवें गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान तक के जीवों की कुल संख्या	–	8,99,99,997

संदर्भ

1. आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थ सिद्धि अध्याय 1 सूत्र 1
2. आचार्य वीरसेन, धवला पुस्तक 1 पृ. 443
3. णाणाणुवादेण अत्थि मढिअण्णाणी सुढअण्णाणी विभंगणाणी आभिणीबोहियणाणी सुढणाणी मणपज्जवणाणी केवलणाणी चेदि।
सुमति बाई षटखण्डागम सत्प्ररूपणा सूत्र 115 पृ. 38
4. पंच संग्रह प्राकृत अधिकार 1 गाथा 118
5. रतनचन्द्र मुख्त्यार गोम्मटसार जीवकाण्ड पृ. 380
6. रतनचन्द्र मुख्त्यार, गोम्मटसार जीवकाण्ड पृ. 380
7. पंच संग्रह प्राकृत अधिकार 1, गाथा 20
8. आचार्य वीरसेन, धवला पुस्तक 1, पृ. 354
9. ईहा ऊहा अपोहा मग्गणा गवेसणा मीमांसा..... आचार्य वीरसेन, धवला पुस्तक 13, पृ. 242
10. अवायो ववसायो बुद्धि विण्णाणी आउंडी पच्चाउंडी..... आचार्य वीरसेन, धवला पुस्तक 13, पृ. 243
11. धरणी धारणा ट्ठवणा कोटठा पदिट्ठा आचार्य वीरसेन, धवला पुस्तक 13, पृ. 243
12. पंच संग्रह प्राकृत अधिकार 1, गाथा 122
13. आचार्य अकलंक देव, राजवार्तिक अध्याय 1, सूत्र 20 टीका
14. आचार्य वीरसेन, धवला पुस्तक 13, पृ. 249
15. तैंतीस वंजणाइं सत्तावीसं हवंति सव्वसरा ।
चत्तारि अजोगवहा एवं चउसट्ठि वण्णाओ ।।
आचार्य वीरसेन, धवला पुस्तक 13, पृ. 248
16. रतनचन्द्र मुख्त्यार, गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा 317-318
17. जिनेन्द्र वर्णी, जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष भाग 1, पृ. 192
18. आचार्य वीरसेन, धवला पुस्तक 13, पृ. 323
19. आचार्य अकलंक देव, राजवार्तिक अध्याय 1, सूत्र 22 टीका
20. आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थ सिद्धि अध्याय 1, सूत्र 9 टीका
21. ज्ञो ज्ञेये कथमज्ञः स्यादसति प्रतिबन्धके ।
दाह्येग्निर्दाहको न स्यादसति प्रतिबन्धके ।।
आर्यिका ज्ञानमति, अष्ट सहस्री प्रथम परिच्छेद कारिका 3, पृ. 278

5-10 गुणस्थान तक संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल-अन्तर, भाव, आश्रव व गमनागमन का निरूपण

डॉ. हरिश्चन्द्र जैन शास्त्री, पू. प्राचार्य
वर्धमान कॉलोनी, सागर (म.प्र.)
(मो.) 9425123167

इस संसार सागर में अनन्तानन्त जीव हैं जो अनंत सुख को चाहते हैं एवं दु:ख से डरते हैं। उनमें जो संसार समुद्र को पार करने वाले हैं और शुद्ध अवस्था को प्राप्त कर चुके हैं, ऐसे अनन्तानन्त जीव हैं। उनमें अनंतगुणे जीव संसार में मिथ्यात्व रूपी अन्धकार से ग्रसित होकर अशुद्ध अवस्था को प्राप्त हो रहे हैं। जो जीव शुद्ध अवस्था को प्राप्त हुये हैं वे भी कभी अशुद्ध थे किन्तु पुरुषार्थ के बल पर उन्होंने शुद्धता को प्राप्त किया, संसार में रहकर जो पुरुषार्थ करेंगे वह भी एक दिन शुद्धता को प्राप्त कर लेंगे। कुछ जीव ऐसे भी हैं जो तीन काल में भी शुद्ध अवस्था को प्राप्त नहीं हो पायेंगे इन्हें ही 'अभव्य' जीव कहा जाता है।

परम पूज्य प्रात: स्मरणीय सूरिगच्छाचार्य 108 आचार्य श्री विरागसागर जी महामुनिराज के अनन्य शिष्य परम पूज्य उच्चारणाचार्य 108 श्री विनम्रसागर जी महामुनिराज जो 'भक्तामर महोदधि' के नाम से भी प्रख्यात हैं। सिद्धान्त प्रबोध गन्थ (चौंतीस स्थान दर्शन) का प्रणयन किया।

ऐसे परम पूज्य गुरुओं के संबंध में आचार्य श्री वादीभसिंह सूरि ने क्षत्र चूड़ामणि ग्रंथ में गुरु की परिभाषा करते हुये लिखा है-

''रत्नत्रय विशुद्धः सन्, पात्र स्नेही परार्थकृत।
परिपालित धर्मोहि, भवाब्धेस्तारको गुरुः।।''

अर्थात् ऐसे गुरु ही शिष्यों या जीवों को संसार समुद्र से पार करने वाले होते हैं।

मेरा विषय 'सिद्धान्त प्रबोधिनी टीका' के सन्दर्भ में 5-10 गुणस्थान तक संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव, आस्रव व गमनागमन का निरूपण है। जिसको मैं आचार्य श्री की टीका के आधार पर यहाँ संक्षिप्त रूप से विवेचित करने का प्रयास करूँगा।

आचार्यों ने गुणस्थान की परिभाषा करते हुये लिखा है- ''मोह और योग के निमित्त से होने वाले आत्मा के गुणों (भावों की तारतम्य रूप अवस्था विशेष) को गुणस्थान[1] कहते हैं।'' परिणाम अनन्त होते हैं, फिर भी उत्कृष्ट मलिन परिणामों से लेकर उत्कृष्ट विशुद्ध परिणामों तक या उससे ऊपर जघन्य वीतराग परिणामों से लेकर उत्कृष्ट वीतराग परिणाम तक की अनन्तों की वृद्धियों के क्रम को वक्तव्य बनाने के लिए उन्हें 14 भागों में विभाजित किया जाता है। वे 14 गुणस्थान कहलाते हैं।

'गुणानां स्थानं गुणस्थानमिति' (गो. वृ. 2) में ऐसी भी गुणस्थान की परिभाषा की है। अन्य-अन्य आचार्यों ने गुणस्थान की परिभाषा दी है। परन्तु सभी का भाव एक ही है। यह गुणस्थान आत्म विकास के परिचायक हैं। गुणस्थानों के नाम और क्रम इस प्रकार हैं[2]

''मिच्छो सासण मिस्सो, अविरद सम्मो य देसविरदोय।
विरदा पमत्त इदरो, अपुव्व अणियट्टि सुहुमो य।।

1. ''संखेओ ओघो त्ति य गुणसण्णा स च मोह जोग भवा'' - गोम्मटसार जीवकाण्ड - 3/22
2. गोम्मटसार जीवकाण्ड - मू. 9-10/30
उवसंत-खीण मोहो, सजोग केवलि जिणो अजोगि य ।

चोद्दस-जीव समासा, कमेण सिद्धा य णादव्वा ।। (मूला.) 1195-1196

अर्थात् गुणस्थानों के क्रमानुसार नाम निम्न हैं- (गाथा)

1. मिथ्यात्व (मिथ्यादृष्टि)
2. सासादन
3. मिश्र
4. अविरत सम्यग्दृष्टि
5. देशविरत
6. प्रमत्तविरत
7. अप्रमत्तविरत
8. अपूर्वकरण (संयत)
9. अनिवृत्तिकरण (संयत)
10. सूक्ष्मसाम्पराय (संयत)
11. उपशान्त मोह
12. क्षीण मोह (संयत)
13. सयोग केवली (जिन)
14. अयोग केवली (जिन)

इसी तारतम्य में आचार्य अकलंक देव ने कहा है कि 'संवर के स्वरूप को विशेष परिज्ञान करने के लिए चौदह गुणस्थानों को समझना आवश्यक है।[3] इन गुणस्थानों में चतुर्थ गुणस्थान तक दर्शन मोह की इसके ऊपर चारित्र मोह की अपेक्षा प्रधानता है। संयत और असंयत गुणस्थानों का श्रेणी और अश्रेणी रूप विभाजन है।[4]

34 प्ररूपणा स्थान दर्शन के नाम – निम्न प्रकार हैं-

(1) गुणस्थान (2) जीवसमास (3) पर्याप्ति (4) प्राण (5) संज्ञा (6) गति (7) इन्द्रिय (8) काय (9) योग (10) वेद (11) कषाय (12) ज्ञान (13) संयम (14) दर्शन (15) लेश्या (16) भव्य (17) सम्यक्त्व (18) संज्ञी (19) आहार (20) उपयोग (21) ध्यान (22) आस्रव (23) जाति (24) कुलकोटि (25) संख्या (26) क्षेत्र (27) स्पर्शन (28) काल (29) अन्तर (30) भाव (31) अवगाहना (32) बन्ध (33) उदय और (34) सत्त्व। **34 प्ररूपणाएँ कुल-34 स्थान दर्शन हैं।**

उपरोक्त 34 स्थान दर्शनों में यहाँ मात्र आस्रव, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव व गमनागमन का निरूपण अपेक्षित है। जो 5-10 गुणस्थानों कीअपेक्षा से किया जायेगा।

चौंतीस प्ररूपणा रूप स्थान दर्शन सामान्य गुणस्थान की अपेक्षा से वर्णन-

परम पूज्य आचार्य श्री विनम्रसागर जी महामुनि महाराज ने इसका वर्णन करते हुये प्राकृत भाषा में लिखा है-[5]

1. गुणट्ठाणं सामण्णं – अह तेसिं बीस परूवपणाओं सहिंद चउतीस ठाणेसु गुणट्ठाणं भण्णमाणे अत्थि-चोद्दस गुणट्ठाणा अपज्जत्तेसु पंच गुणट्ठाणा, सत्त पज्जत्त, सत्त अपज्जत्त, चौद्दस जीव समासा आदि। अर्थात् उसी का हिन्दी रूपान्तर निम्न प्रकार दिया गया है- 1. **गुणस्थान सामान्य-** अब उन बीस प्ररूपणा सहित 34 स्थानों में सर्वप्रथम गुणस्थानों का कथन करने पर 14 गुणस्थान, अपर्याप्तक में एक-दो-चार-छह-तेरह पाँच गुणस्थान, सात पर्याप्तक, सात अपर्याप्तक, चौदह जीव

3. ''तस्य संवरस्य विभावनार्थ गुणस्थान विभाग वचनं क्रियते''- (जैनेन्द्र सि. कोष भाग-2 पृ.-247)
4. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष-भाग-6/246-247
5. सिद्धान्त प्रबोधिनी टीका-चौंतीस स्थान दर्शन, भाग-1 पृ. 53

समास, चार-पाँच-छह पर्याप्तक व अपर्याप्तियाँ, तीन से दस प्राण, चारों संज्ञा व संज्ञातीत, चारों गति, एक से पंचेन्द्रिय, छहों काय, पन्द्रह योग पर्याप्त में ग्यारह अपर्याप्त में, चार योग, तीनों वेद व अवेद, 25 कषाय व अकषाय, आठ ज्ञान अपर्याप्त, छह ज्ञान, सात संयम, अपर्याप्त में चार संयम, चारों दर्शन, छहों लेश्याएँ, भव्य सिद्धिक, अभव्य सिद्धिक दोनों, छहों सम्यक्त्व अपर्याप्त में मिश्र बिना पाँच सम्यक्त्व, संज्ञी असंज्ञी दोनों, नो संज्ञी नो असंज्ञी, आहारक अनाहारक दोनों, पर्याप्तक में आहारक, अपर्याप्तक में दोनों, 12 उपयोग अपर्याप्त में 10 उपयोग, 16 ध्यान अपर्याप्त में 12 ध्यान, 57 आस्रव पर्याप्त में 53 अपर्याप्त में 46 आस्रव, 84 लाख जाति, **एक सौ साढ़े निन्यानवे लाख करोड़ कुल कोटि,** संख्यापेक्षा अनन्तानन्त, क्षेत्रापेक्षा-लोक का असंख्यातवाँ भाग व सर्वलोक, स्पर्शन-स्वस्थान लोक का असंख्यातवा भाग व सर्वलोक, काल-नाना जीवापेक्षा सर्वकाल, एक जीवापेक्षा जघन्य अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट कुछ कम अर्द्ध पुद्गल-परावर्तन स्वरूप अनन्त काल अन्तर-नाना जीवापेक्षा निरन्तर एक जीवापेक्षा जघन्य अन्तर्मुहूर्त उत्कृष्ट कुछ कम अर्द्ध पुद्गल परावर्तन, भावापेक्षा 53 भाव, अपर्याप्त में 49 भाव, जघन्यावागाहना घनांगुल का असंख्यातवाँ भाग उत्कृष्ट 1000 योजन, बन्धापेक्षा-120 प्रकृतियों का बन्ध, 122 प्रकृतियों का उदय एवं 148 प्रकृतियों का सत्त्व होता है।

इस प्रकार चौंतीस प्ररूपणा में गुणस्थान सामान्य आलाप का निरूपण है।

अब 5-10 गुणस्थान तक संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव, आस्रव व गमनागमन का निरूपण सिद्धान्त प्रबोधिनी टीका के सन्दर्भ में प्रस्तुत है-

(1) पंचम (गुणस्थान) संयतासंयत गुणस्थान – इस संबंध में परम पूज्य आचार्य श्री विनम्रसागर जी महाराज ने चौंतीस स्थान दर्शन- सिद्धान्त प्रबोधिनी टीका अन्तर्गत निम्न वर्णन किया है- 'संजदा संजद जीवाणं ओघालाव- भण्णमाणे अत्थि- आदि।[6] अर्थात् हिन्दी भाषा में टीका

(1) संख्यापेक्षा- पल्योपम के असंख्यातवें भाग,

(2) क्षेत्रापेक्षा – लोक का असंख्यातवा भाग,

(3) स्पर्शनापेक्षा – (1) स्वस्थान = लोक का असंख्यातवा भाग, (2) मारणान्तिक-अपेक्षा-कुछ कम 6/14 राजू- (घ.पु. 4, सूत्र 9, पृ. 67)

(4) कालापेक्षा – नाना जीवों की अपेक्षा सर्वकाल, एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट कुछ कम एक कोटि पूर्व।

(5) अन्तरापेक्षा – नाना जीवापेक्षा-निरन्तर, एक जीव अपेक्षा जघन्य अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट-कुछ कम अर्द्ध पुद्गल परावर्तन।

(6) भावापेक्षा – 31 भाव (औप. 1, क्षा. 1, क्षायो. 13, औद. 14, पारि. 2)

(7) अवगाहनापेक्षा – जघन्य घनांगुल का संख्यातवाँ भाग, उत्कृष्ट की अपेक्षा एक हजार योजन।

(8) बन्ध – 67 प्रकृतियों का बन्ध (4 अप्रत्याख्यान, कषाय+वज्रवृषभनाराच+औदारिक द्विक + मनुष्य द्विक + मनुष्यायु इन 10 पूर्वोक्त 43 प्रकति)

(9) उदय – 87 प्रकृति (35 प्रकृति बिना - चतुर्थ गुण की व्युच्छन्न 17 व 18 अनुदय प्रकृति)

(10) सत्त्व – 147 (नरकायु छोड़कर)

(11) आस्रव अपेक्षा – 37 आस्रव (9 योग + 17 कषाय + 11 अवरति)

(2) प्रमत्तसंयत (छटवाँ गुणस्थान)

6. सिद्धान्त प्रबोधिनी टीका - चौंतीस स्थान दर्शन, पृ. 63, भाग-1

इस गुणस्थान के अन्तर्गत परम पूज्य आचार्य विनम्रसागर जी महाराज ने सिद्धान्त प्रबोधिनी टीका में निम्न प्रकार उल्लिखित किया है- प्रमत्त संजदाणा मोघालाव भण्णमाणे अत्थि इति - अर्थात् हिन्दी भाषा टीका में-

(1) संख्यापेक्षा – पाँच करोड़, तेरानवे लाख अट्ठानवे हजार, दो सौ छह अपर्याप्तक में मात्र 27।

(2) क्षेत्र अपेक्षा – लोक का असंख्यातवाँ भाग।

(3) स्पर्शन अपेक्षा – लोक का असंख्यातवाँ भाग।

(4) कालापेक्षा – नाना जीव अपेक्षा सर्वकाल, एक जीव अपेक्षा जघन्य एक समय उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त है।

(5) अन्तर अपेक्षा – नाना जीवापेक्षा निरन्तर, एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट कुछ कम अर्द्ध पुद्गल परावर्तन।

(6) भाव अपेक्षा – 31 भाव (क्षायिक 1, औप. 1, क्षायो. 14, औद. 13, पारणामिक 2), अपर्याप्त में 28।

(7) अवगाहना – 3½ हाथ जघन्य तथा उत्कृष्ट पाँच सौ पच्चीस धनुष आहारक अपेक्षा एक हाथ अवगाहना है।

(8) आस्रव – 24 (11 योग + 13 कषाय) अपर्याप्त - 12 आस्रव।

(9) बन्ध – 63 प्रकृतियों का।

(10) उदय – 81 प्रकृतियों का।

(11) सत्त्व – 146 प्रकृतियों का होता है। (नरक तिर्यंच आयु बिना) - यह सभी सिद्धान्त प्रबोधिनी टीका पृ. 65 भाग-1 में दृष्टव्य है।

(3) अप्रमत्त गुणस्थान (7वाँ गुणस्थान)

अप्रमत्त नामक 7वें गुणस्थान के अन्तर्गत संख्या आदि का निरूपण करते हुये आचार्य श्री विनम्रसागर जी महाराज ने सिद्धान्त प्रबोधिनी टीका में निम्न प्रकार वर्णन किया है- 'अप्रमत्त संजदाणा-मोघालाव भण्णमाणे अत्थि इति।[8] अर्थात् हिन्दी भाषा टीका में उद्धत-

(1) संख्यापेक्षा – 29699103 (दो करोड़, छयानवे लाख निन्यानवे हजार एक सौ-तीन)।

(2) क्षेत्र अपेक्षा – लोक का असंख्यातवाँ भाग।

(3) स्पर्शन अपेक्षा – लोक का असंख्यातवाँ भाग।

(4) काल अपेक्षा – नाना जीवों की अपेक्षा सर्वकाल, एक जीव की अपेक्षा जघन्य- एक समय, उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त है।

(5) अन्तर अपेक्षा – नाना जीवों की अपेक्षा निरन्तर, एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट कुछ कम अर्द्ध पुद्गल परावर्तन है।

(6) भाव अपेक्षा – 31 (औ. 1, क्षा. 1, क्षयो. 14, औ. 13, पा. 2)।

(7) अवगाहना अपेक्षा – जघन्य 3½ हाथ, उत्कृष्ट-525 धनुष।

(8) आस्रव अपेक्षा – 22 (9 योग, + 13 कषाय)

(9) बन्ध अपेक्षा – 59 प्रकृतियों का,

(10) उदय – 76 प्रकृतियों का।

(11) सत्त्व – 146 (नरक आयु, तिर्यंच आयु बिना होता है। 145, 142, 141, 139, 138)

(4) अपूर्वकरण गुणस्थान (8वाँ गुणस्थान) – इस अपूर्वकरण 8वें गुणस्थान की अपेक्षा से संख्या आदि का निरूपण परम पूज्य आचार्य श्री विनम्रसागर जी महाराज ने सिद्धान्त प्रबोधिनी टीका में निम्नानुसार उद्धत किया है- 'अपुव्वयरण ओघालाव भण्णमाणे अत्थि[9] इति- (टीका) अर्थात् हिन्दी टीका में निम्नानुसार है-

8. सिद्धान्त प्रबोधिनी टीका - चौंतीस स्थान दर्शन, भाग-1, पृ. 67 9. सिद्धान्त प्रबोधिनी टीका - भाग-1, पृ. 69।

(1) संख्यापेक्षा – 897 (उपशम में 299, क्षपक में 598)।

(2) क्षेत्र अपेक्षा – लोक का असंख्यातवाँ भाग।

(3) स्पर्शन अपेक्षा – लोक का असंख्यातवाँ भाग प्रमाण।

(4) काल अपेक्षा – नाना जीवापेक्षा - उपशम श्रेणी में-

जघन्य-एक समय, उत्कृष्ट-अन्तर्मुहूर्त, क्षपक श्रेणी में अन्तर्मुहूर्त, (एक जीव की अपेक्षा उपशम श्रेणी में जघन्य एक समय, उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त।)

क्षपक श्रेणी में जघन्योत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त है।

(5) अन्तर अपेक्षा – नाना जीवों की अपेक्षा - उपशम श्रेणी में जघन्य एक समय, उत्कृष्ट वर्ष पृथक्त्व, क्षपक श्रेणी में जघन्य एक समय, उत्कृष्ट छह माह। **एक जीव की अपेक्षा** उपशम श्रेणी में जघन्य-अन्तर्मुहूर्त उत्कृष्ट कुछ कम अर्द्ध पुद्गल परावर्तन एवं क्षपक श्रेणी में निरन्तर रहता है।

(6) भाव अपेक्षा – 29 भाव (औ. 2, क्षा. 2, क्षयो. 12, औद. 11, पा. 2) उपशमक 28, क्षपक में 27।

(7) आस्रव अपेक्षा – 22 आस्रव।

(8) अवगाहना – जघन्य 3½ हाथ, उत्कृष्ट - 525 धनुष।

(9) बन्ध – 58 प्रकृतियों का (62 प्रकृति बिना)

(10) उदय – 72 (62 प्रकृति बिना)

(11) सत्त्व – उपशमक - 146, 145, 142, 141, 138, 139 क्षपक - 138 हैं।

(5) अनिवृत्तिकरण गुणस्थान (9वाँ गुणस्थान) – इस अनिवृत्तिकरण गुणस्थान की अपेक्षा से संख्या आदि का निरूपण परम पूज्य उच्चारणाचार्य श्री विनम्रसागर जी महाराज ने अपनी टीका सिद्धान्त प्रबोधिनी टीका में निम्न रूप से निरूपण करते हुये लिखा है- 'अणियट्टियरण मोघालाव-भण्ण माणे अत्थि' इति प्राकृत टीका[10]।। हिन्दी भाषा में निरूपण निम्न हैं-

(1) संख्या अपेक्षा – 897 (उपशमक-299, क्षपक-598)।

(2) क्षेत्र अपेक्षा – लोक का असंख्यातवाँ भाग प्रमाण।

(3) स्पर्शन अपेक्षा – लोक का असंख्यातवाँ भाग प्रमाण।

(4) काल अपेक्षा – उपशम श्रेणी में नाना जीव व एक जीव जघन्य एक समय, उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त। क्षपक श्रेणी में नाना व एक जीव अन्तर्मुहूर्त।

(5) अन्तर अपेक्षा – उपशामकों में नाना जीव जघन्य- एक समय, उत्कृष्ट- उपार्ध पुद्गल परावर्तन, क्षपक नाना जीव जघन्य एक समय, उत्कृष्ट छह माह, एक जीव निरन्तर।

(6) भावापेक्षा – 29 (उपशामकों में 28, क्षपकों में 27 भाव)।

(7) अवगाहना – जघन्य से 3½ हाथ, उत्कृष्ट से 525 धनुष।

(8) आस्रव अपेक्षा – 16 आस्रव।

(9) बन्ध अपेक्षा – 22 प्रकृति (98 प्रकृति बिना 8वें गु. की अबन्ध 62 + व्युत्छिन्न 36 प्रकृति)

(10) उदय अपेक्षा – 66 प्रकृति (56 प्रकृति बिना, 8वें गु. की अनु. 50 + 6 व्युत्पन्न प्रकृति)

(11) सत्त्व अपेक्षा – उपशम श्रेणी वाले जीव की अपेक्षा = 146, 145, 142, 141, 139, 138 प्रकृति की सत्ता। क्षपक श्रेणी में प्रत्येक भाग में क्रमशः 138, 122, 113, 112, 111, 105, 104, 103, 102 प्रकृति की सत्ता होती है।

इस प्रकार अनिवृत्तिकरण गुणस्थान का विवरण समाप्त हुआ।

10. सिद्धान्त प्रबोधिनी टीका - चौंतीस स्थान दर्शन - भाग-1, पृ. 71

इस प्रकार अनिवृत्तिकरण गुणस्थान का विवरण समाप्त हुआ।

(6) सूक्ष्म साम्पराय नामक (10वाँ गुणस्थान) – इस दशवें गुणस्थान सूक्ष्म साम्पराय का विवरण परम पूज्य आचार्य विनम्रसागर जी महा मुनिराज ने संख्यादि संबंधित विवरण अपनी कृति 'सिद्धान्त प्रबोधिनी टीका' चौंतीस स्थान दर्शन में निम्न प्रकार उद्धत की है– 'सुहुम–संपराइय मोघालाव–भण्ण माणे अत्थि' इति[11]

प्राकृत टीका – 1 हिन्दी भाषा टीका में निम्न वर्णन प्रस्तुत हैं–

(1) संख्या अपेक्षा – 897 (उपशामक में 299, क्षपकों में 598)।

(2) क्षेत्र अपेक्षा – लोक का असंख्यातवा भाग।

(3) स्पर्शन अपेक्षा – लोक का असंख्यातवा भाग।

(4) कालापेक्षा – उपशामकों में नाना जीव अपेक्षा जघन्य – एक समय, उत्कृष्ट–अन्तर्मुहूर्त। क्षपकों में अन्तर्मुहूर्त, एक जीव अपेक्षा। उपशम श्रेणी में जघन्य एक समय, उत्कृष्ट–अन्तर्मुहूर्त, क्षपक श्रेणी में जघन्योत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त ही है।

(5) अन्तर अपेक्षा – उपशामकों में नाना जीव अपेक्षा जघन्य–एक समय, उत्कृष्ट–वर्ष पृथक्त्व, क्षपकों में जघन्य–एक समय, उत्कृष्ट–छह माह, एक जीव अपेक्षा उपशम श्रेणी में जघन्य – अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट कुछ कम अर्द्ध पुद्गल–परावर्तन, क्षपक श्रेणी में जघन्योत्कृष्ट निरंतर।

(6) भाव अपेक्षा – 23 (उपशामकों में 22, क्षपकों में 21 भाव)। (औ. 5, क्षयो. 12, क्षा. 2, औ. 2, पा. 2)

(7) आस्रव अपेक्षा – 10 आस्रव।

(8) अवगाहना अपेक्षा – जघन्य 3½ हाथ, उत्कृष्ट – 525 धनुष।

(9) बन्ध – 17 प्रकृतियों का (103 प्रकृति बिना, 9वें गुण. की अबन्ध 98 + 5 व्युच्छिन्न।)

(10) उदय – 60 प्रकृतियों का (62 प्रकृति बिना, अबंध – 56 + 6 व्युच्छिन्न।)

(11) सत्त्व – (1) क्षपक श्रेणी वाले जीव – 102 प्रकृति की सत्ता (पूर्वोक्त 45 + संज्वलन कषाय बिना)

(2) उपशम श्रेणी वाले जीव – 146, 145, 142, 141, 138, 139 प्रकृति की सत्ता होती है।

इस प्रकार गुणस्थानों में सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान की अपेक्षा से संख्यादि का विवरण पूर्ण हुआ।

5–10 गुणस्थानों की अपेक्षा से संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव, आस्रव व गमनागमन का निरूपण किया गया है। यहाँ उन संख्यादि प्ररूपणाओं को क्रमश: परिभाषित किया जा रहा है–

(1) संख्या – 'संखा–गणना वा गणणंति गणणा, कस्सिं गुणट्ठाणे मग्गणाए वा कुतो जीवा संति सव्वं णाणं इमं कज्जं अत्थि– सो चदुहा–दव्वं खेत्तं कालं भावं पमाणं–ति।''[12] अर्थात् किस गुणस्थान में अथवा मार्गणा में कितने जीव हैं यह सब जानना इसका कार्य है। यह गणना चार प्रकार की होती है– (1) द्रव्य प्रमाण (2) क्षेत्र प्रमाण (3) काल प्रमाण (4) भाव प्रमाण।

(2) क्षेत्र – 'जीवाणं वट्टमाण निवासां खेत्तं' अर्थात् जीवों के वर्तमान निवास को **क्षेत्र** कहते हैं।[13]

(3) स्पर्शन – 'खेत्त परूपणाए जीवस्स वट्टमाण सगठाण खेत्तं फासणे अतीदाणागत–वट्टमाण काले कत्थ–कत्थ वट्टंति इयं इमेसिं वियारोत्थि।

अर्थात् क्षेत्र प्ररूपणा में जीव का वर्तमान स्वस्थान क्षेत्र लिया है जबकि स्पर्शन भूत, भविष्य, वर्तमान काल में जीव कहाँ–कहाँ रहते हैं इन सबका विचार **स्पर्शन** में किया जाता है।

11. सिद्धान्त प्रबोधिनी टीका – भाग–1, पृ. 73
12. वही टीका, भाग–1, पृ. 45
13. वही टीका, भाग–1, पृ. 47
14. वही टीका, भाग–1, पृ. 47

(4) काल – मगणा-गुणट्ठाणे वा जीवस्स ठादुं ठिदिं कालं भण्णदे अर्थात् जीवों के मार्गणा अथवा गुणस्थान में रहने के समय को काल कहते हैं।[15]

(5) अन्तर – जीव जिस गुणस्थान में या मार्गणा में विद्यमान है, विवक्षित समय के बाद दूसरी मार्गणा या गुणस्थान को प्राप्त हुआ उसके बाद पुन: गुणस्थान या मार्गणा को प्राप्त होता है तो बीच का समय ही अन्तर कहलाता है।

(6) भाव – 'तत्परिणामो भावो'। जीवस्स तज्जण्ण परिणदिं भावो। अर्थात् 'तद्भाव: परिणाम:। जीव की तज्जन्य परिणति को भाव कहते हैं।[17]

(7) आस्रव – 'काय वाङ्मन: कर्म योग:। स आस्रव:।[18] अर्थात् काय, वचन और मन की क्रिया योग है और वही आस्रव है या कर्मों के आने के द्वार को आस्रव कहते हैं।

(8) अवगाहना – 'सरीरस्स विक्खंभो अवगहाणं होदि।'[19] अर्थात् शरीर की लम्बाई-चौड़ाई अवगाहना कहलाती है।

(9) बन्ध – ''स कषायत्वाज्जीव: कर्मणोयोग्यान्पुदगलानादत्ते स बन्ध:'' अर्थात् कषाय सहित होने से जीव कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है वह बन्ध है।[20]

(10) उदय – कर्म की स्थिति को विताकर स्वमुख रूप से फल देने को उदय कहते हैं।[21]

(11) सत्त्व – कर्म सत्ता में रहने को सत्त्व कहते हैं। अर्थात् 'कम्म सत्ताए सत्तं'।[22] ।।इति।।

उच्चारणाचार्य परम पूज्य 108 आचार्य श्री विनम्रसागर जी महाराज ने इस ग्रन्थ 'चौंतीस ग्रन्थ दर्शन' पर 'सिद्धान्त प्रबोधिनी टीका' लिखकर हम सभी पर एक अमूल्य उपकार किया है। इस वृहद् टीका को हम सभी के सामने लाने का प्रत्युपकार जो किया है वह परम पूज्य 108 मुनि श्री विज्ञसागर जी महाराज हैं जो करणानुयोग ग्रन्थों के अच्छे ज्ञाता हैं। हमारे गोपाल दिगम्बर जैन सीनियर संस्कृत महाविद्यालय मुरैना के पूर्व स्नातक रहे हैं। हमारे विद्यालय की शान है, गौरव है। इसके साथ ही परम पूज्या आर्यिका 105 श्री विमल श्री माताजी एवं परम पूज्या आर्यिका 105 श्री विपुल श्री माताजी का भी इस ग्रन्थ को सामने लाने में अहम योगदान रहा है। परम पूज्य आचार्य श्री के चरणों कोटि-कोटि नमन करता हूँ एवं पूज्य मुनिश्री विज्ञसागर जी के चरणों में सविनय नमोऽस्तु एवं पूज्या आर्यिका द्वय के चरणों सविनय वन्दामि निवेदित करता हूँ तथा समस्त संघ के चरणों सविनय विनम्र यथायोग्य नमन करता हुआ भावना भाता हूँ कि पूज्य आचार्य श्री शतायु हों, स्वस्थ रहें एवं हम सभी पर आशीर्वाद बनाये रखें। इत्यलं।।

।।कोटि-कोटि नमन।।

15. वही टीका, भाग-1, पृ. 47
16. सिद्धान्त प्रबोधिनी टीका, भाग-1, पृ. 49
17. वही टीका, भाग-1, पृ. 50
18. तत्त्वार्थ सूत्र, षष्ठम अध्याय, 1-2 सूत्र
19. वही टीका, भाग-1, पृ. 50
20. तत्त्वार्थ सूत्र, 8 अ./सूत्र 2
21. वही टीका, भाग-1, पृ. 51
22. वही टीका, भाग-1, पृ. 5

एकान्त मत के 363 भेद : एक विश्लेषण

कर्मयोगी (डॉ.) सुरेन्द्र कुमार जैन 'भारती'
उपाध्यक्ष – अखिल भारत वर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद्
अध्यक्ष – हिन्दी विभाग एवं हिन्दी शोध केन्द्र,
सेवा सदन महाविद्यालय, बुरहानपुर (म.प्र.)
मो. 9826565737

परम पूज्य उच्चारणाचार्य श्री विनम्रसागर जी महाराज के द्वारा चउतीसठाण दंसण (चौंतीस स्थान दर्शन) दो भागों में तैयार कर उस पर सिद्धान्त प्रबोध ग्रन्थ प्राकृत में लिखा है तथा हिन्दी में उसका अनुवाद किया है। इसका सम्पादन श्रमण मुनि श्री विज्ञसागर जी महाराज एवं श्रमणी आर्यिका 105 विमलश्री माता जी, श्रमणी आर्यिका 105 विपुलश्री माता जी, श्रमणी आर्यिका 105 विमुदश्री माता जी ने किया है। इस ग्रन्थ के परिशिष्ट–19 (पृ. 1021–1022) में आपने एकांत मत के तीन सौ त्रेसठ मतों का निरूपण किया है। इसका मूल आधार आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती कृत गोम्मटसार कर्मकाण्ड है। आचार्य श्री की विश्लेषण क्षमता अद्भुत है। हम उन्हें नमोस्तु निवेदित करते हैं।

एकान्त मत

सर्वथा एक नय का ही ग्रहण जिनमें पाया जाता है; वह एकांत मत है। जैन लक्षणावली, पृ. 297 के अनुसार पदार्थ अस्ति रूप ही है अथवा नास्ति रूप ही है, एक ही है अथवा अनेक ही है, सावयव ही है अथवा निरवयव ही है, तथा नित्य ही है अथवा अनित्य ही है; इत्यादि प्रकार के एक ही धर्म के अभिनिवेश या आग्रह को एकान्त मिथ्यात्व कहते हैं।

एकान्त मिथ्यात्व को ग्रहणीय नहीं माना गया है क्योंकि वस्तु अनेकान्तात्मक है। ऐसी मान्यता या किंवदंती है कि तीर्थंकर श्री ऋषभदेव भगवान् के पौत्र एवं चक्रवर्ती भरत के पुत्र मारीचि ने विभिन्न भवों में 363 मत चलाये और संसार का परिभ्रमण किया। बाद में दो मुनिराजों के द्वारा संबोधन पाकर सिंह की पर्याय में उन्होंने अहिंसाणुव्रत धारण किया और वही जीव दसवें भव में तीर्थंकर भगवान् महावीर बना। इससे सिद्ध है कि एकान्त मोह के पोषण में संसार की भटकन है और अनेकान्तात्मक वस्तु स्वरूप को मानकर आत्मविजय पाने पर संसार से मुक्ति है। अत: हमें अनेकान्तात्मक वस्तु व्यवस्था को ही स्वीकार करना चाहिये। आचार्य श्री अमृतचन्द ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (श्लोक–2) में लिखा है–

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम्।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम्।।

एकान्त मत के 363 भेद

एकान्त मत के 363 भेद के संबंध में आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने गोम्मटसार (कर्मकाण्ड, भाग–2) में कहा है कि–

असिदिसदं किरियाणं अक्किरियाणं च आहु चुलसीदी।
सत्तट्ठण्णाणीणं वेणयियाणं तु बत्तीसं।।876।।

अर्थात् 1. क्रियावादियों के 180, 2. अक्रियावादियों के 84, 3. अज्ञानवादियों 67, 4. वैनयिकवादियों के 32 भेद हैं। इस प्रकार सब मिलकर 363 भेद हैं।

क्रियावादियों के 180 भेद

जैन लक्षणवाली भाग–2 में क्रियावादियों के विषय में इस प्रकार वर्णन मिलता है।

क्रिया

क्रिया को परिभाषित करते हुये सर्वार्थसिद्धि, अध्याय-5, सूत्र-7 की टीका में कहा है कि-

उभयनिमित्तवशादुत्पद्यमानः पर्यायो द्रव्यस्य देशान्तरप्राप्तिहेतुः क्रिया।

अर्थात् अंतरंग और बहिरंग निमित्त से उत्पन्न होने वाली जो पर्याय द्रव्य के एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में प्राप्त कराने का कारण है; वह क्रिया कहलाती है।

अनुयोग चूर्ण (पृ. 86) के अनुसार-

जीवादितत्त्वे नयभेदविकल्पितस्वरूपे या प्रतिपत्तिः सा क्रिया।

अर्थात् नय भेद से भेद को प्राप्त होने वाले स्वरूप से युक्त जीवादि तत्त्वों के विषय में जो प्रतिपत्ति होती है वह क्रिया कहलाती है।

क्रिया के भेद

तत्त्वार्थाधिगमभाष्य (5-22) में उमास्वाति ने लिखा है कि- क्रिया गतिः, सा त्रिविधा-प्रयोग गति;, विस्रसागतिः, मिश्रिकेति।

अर्थात् क्रिया नाम गति का है उसके तीन प्रकार हैं- प्रयोग गति, विस्रसा गति और मिश्रिका गति।

क्रियावादी

ते एवमक्खति अबुज्झमाणा विरूवरूवाणि अकिरियवाई।
जे मायइत्ता बहवे मणूसा भमन्ति संसारमणोवदग्गं।।
णाइच्चो उएइ ण अत्थमेति च चंदिमा वड्ढति हायती वा।
सलिला न संदति ण वंति वाया वंझो णियतो कसिणे हु लोए।।

जहाहि अन्धे सह जोतिणावि रूवाइ णो पस्सइ हीणणेत्ते। संते पि ते एवमकिरियवाई किरियं ण पस्संति निरुद्धपन्ना।। (सूत्र कृ. सू. 1,12, 6-8, पृ. 219)

2. **अत्यित्ति किरियावादी वयंति** ××× । (सूत्रकृ. सू. 12, 118)।

3. **तत्र न कर्तारं विना क्रिया सम्भव इति तामात्मसमवायिनीं वदन्ति, तच्छीलाश्च ये ते क्रियावादिनः। ते पुनरातमाद्यस्तित्वप्रतिपत्तिलक्षणाः अमुनोपायेनाशीत्यधिकशतसंख्या विज्ञेयाः। जीवाजीवाश्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा, पुण्य-पाप-मोक्षख्यान् नव पदार्थान् विरचय्य परिपाट्या जीवपदार्थस्याघः स्व-परभेदावुपन्यसनीयौ, तयोरघो नित्यानित्यभेदौ, तयोरप्यधः कालेश्वरात्मनियतिस्वभावभेदाः पञ्च नयसनीया। पुनश्चैव विकल्पाः कर्तव्याः अस्ति जीवः स्वतो नित्यः कालतः इत्येको विकल्पः। विकल्पार्थश्चायम् विद्यते खलु आत्मा स्वेन रूपेण नित्यश्च नित्यश्च कालवादिनः। उक्तेनैवाभिलापेन द्वितीयो विकल्प ईश्वरकारणिनः तृतीयों विकल्प आत्मवादिनः 'पुरुष एवेदं सर्वम्' इत्यादि, नियतिवादिनः चतुर्थविकल्पः, पञ्चमविकल्पः स्वभाववादिनः। एवं स्वत इत्यजहीता लब्धाः पञ्च विकल्पाः। (एवं परतोऽपि पञ्चविकल्पा लब्धव्याः एवं नित्यत्वेन दश विकविकल्पाः।) एवमनित्यत्वेनापि दशैव, एते विंशतिजीवपदार्थेन लब्धा। अजीवादिष्वप्यण्टस्वेवमेव प्रतिपदं विंशतिर्विकल्पानाम्। अतो विंशतिर्नवगुणा शतमशीत्युत्तरं क्रियावादिनामिति। (नन्दी. हरि. वृ. पृ. 100)।**

4. **क्रियां जीवादिपदार्थोऽस्तीत्यादिकां वदितुं शीलं येषां ते क्रियावादिनः।** (सूत्रकृ. नि.शी.वृ. 117, पृ. 212) **क्रियाम् अस्तीत्यादिकां वदितुं शीलं येषां ते क्रियावादिनः।** (सूत्रकृ. सू.शी.वृ. 1, 12-1, पृ. 215)।

3. कर्त्ता के बिना क्रिया संभव नहीं है, इसलिए उसका समवाय आत्म में है; ऐसा कहने वाले क्रियावादी कहे जाते हैं। इसी उपाय से वे आत्मा आदि के अस्तित्व को जानते हैं।

क्रियावादियों के मूल भंग

गोम्मटसार (कर्मकाण्ड, भाग-2) में आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती कहते हैं कि-

अत्थि सदो परदोवि य णिच्चाणिच्चत्तणेण य णवत्था।
कालीसरप्पणियदिसहावेहि य तेहि भंगा हु।।877।।

प्रथम तो 'अस्ति' पद लिखो। उसके ऊपर स्वत:, परत:, नित्य रूप से, अनित्य रूप से, ये चार पद लिखो। उसके ऊपर जीव-अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष ये नौ पद लिखो। उनके ऊपर काल, ईश्वर, आत्मा, नियति, स्वभाव ये पाँच पद लिखो। उनको लेकर अक्षसंचार क्रम के द्वारा जैसे जीवकाण्ड के गुणस्थान अधिकार में प्रमादों के भंगों का कथन किया था उसी प्रकार भंग कहते हैं-

स्वत: होते हुये जीव काल के द्वारा अस्ति किया जाता है। परत: जीव काल के द्वारा अस्ति किया जाता है। नित्य होते हुये जीव काल के द्वारा अस्ति किया जाता है तथा जीव के स्थान पर अजीव आदि पदार्थों को लेकर प्रत्येक के चार-चार भंग होने से काल के साथ छत्तीस भंग होते हैं। इसी प्रकार ईश्वर आदि पदों को लेकर भी छत्तीस-छत्तीस भंग होते हैं। ऐसे पाँच पदों के एक सौ अस्सी भंग क्रियावाद के होते हैं।

अस्ति स्वत:, परत:, नित्य रूप से, अनित्य रूप से और नौ पदार्थ इन चौदह का अर्थ तो सुगम है। आगे काल आदि का अर्थ क्रम से कहते हैं।

अत्थि सदो परदो वि य णिच्चाणिच्चत्तणेण य णवत्था।
एसिं अत्था सुगमा कालादीणं तु वोच्छामि।।878।।

'अस्ति' का अर्थ 'है'। क्रियावादी वस्तु को अस्ति रूप से अस्ति रूप मानकर क्रिया का विस्तार करता है। वह वस्तु को स्वरूप से अस्ति मानता है। पर रूप से भी अस्ति मानता है। नित्य होते हुये अस्ति मानता है। अनित्य अर्थात् क्षणिक मानकर अस्ति रूप मानता है। इस प्रकार जीव आदि नौ पदार्थों को मानता है और मानकर क्रियावाद की स्थापना करता है कि क्रिया से ही मोक्ष होता है।

पहले 'अस्ति' × 4 (आपसे, पर से, नित्यपने से, अनित्यपने से) = 4 × 9 (जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष) = 36 × 5 (काल, ईश्वर, आत्मा, नियति, स्वभाव) = 180 अर्थात् 1 × 4 × 9 × 5 = 180

कालवाद

गोम्मटसार (कर्मकाण्ड, भाग-2) में आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती कहते हैं कि-

कालो सव्वं जणयदि कालो सव्वं विणस्सदे भूदं।
जागत्ति हि सुत्तेसु वि ण सक्कदे वं चिदुं कालो।।879।।

काल ही सबको उत्पन्न करता है और काल ही सबका नाश करता है। प्राणियों के सोने पर भी काल जाग्रत रहता है। काल को कोई नहीं ठग सकता, उसे धोखा देना सम्भव नहीं है। यह कालवाद का अर्थ है।

इसी भाव को अंगपण्णत्ती (2-19, पृ. 277) में इस प्रकार कहा है कि-

सव्वं कालो जणयदि भूदं सव्वं विणासदे कालो।
जागत्ति हि सुत्तेसु वि ण सक्कदे वंचिदु कालो।।

ईश्वरवाद

गोम्मटसार (कर्मकाण्ड, भाग-2) में आचार्य श्री नेमिचन्द्र जी सिद्धान्त चक्रवर्ती कहते हैं कि-

अण्णाणी हु अणीसो अप्पा तस्स य सुहं च दुक्खं च।
सग्गं णिरणं गमणं सव्वं इसरकयं होदि।।880।।

अर्थात् आत्मा अज्ञानी है, असमर्थ है कुछ करने में समर्थ नहीं है। उसका सुख, दु:ख, स्वर्ग या नरक में जाना सब ईश्वर के अधीन है। ऐसा ईश्वरवाद का अर्थ है।

आत्मवाद

गोम्मटसार (कर्मकाण्ड, भाग-2) में आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती कहते हैं कि-

एक्को चेव महप्पा पुरिसो देवो य सव्ववावी य।
सव्वंगणिगूठोवि य सचेयणो णिग्गुणो परमो।।881।।

अर्थात् संसार में एक ही महान् आत्मा है वही पुरुष है, वही देव है और वह सब में व्यापक है। सर्वांगपने से अगम्य (छुपा हुआ) है, चेतना सहित है, निर्गुण है और उत्कृष्ट है। इस तरह आत्मस्वरूप से ही सबको मानना आत्मवाद का अर्थ है।

नियतिवाद

गोम्मटसार (कर्मकाण्ड, भाग-2) में आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती कहते हैं कि-

जत्तु जदा जेण जहा जस्स य णियमेण होदि तत्तु तदा।
तेण तहा तस्स हवे इदि वादो णियदिवादो।।882।।

अर्थात् जो जिस समय जिसमें जैसे जिसके नियम से होता है वह उस समय उस गति से तैसे उसके ही होता है। ऐसा नियम से ही सब वस्तु को मानना उसे नियतिवाद कहते हैं।

स्वभाव वाद

गोम्मटसार (कर्मकाण्ड, भाग-2) में आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती कहते हैं कि-

को करइ कंटयाणं तिक्खततं मियविहंगमादीणं।
विविहत्तं तु सहाओ इदि सव्वपिं य सहाओ त्ति।।883।।

अर्थात् काँटे को आदि लेकर जो तीक्ष्ण (चुभने वाली) वस्तु है उनके तीक्ष्णपना कौन करता है और मृग तथा पक्षी आदि के अनेकपना जो पाया जाता है उसे कौन करता है? ऐसा प्रश्न करने पर यही उत्तर मिलता है कि सब में स्वभाव ही है। ऐसे सबको कारण के बिना स्वभाव से ही मानना स्वभाववाद का अर्थ है।

ऊपर जो (गाथा-876 देखे) एकांत मत के 36 भेद दिखलाये हैं उनकी काल, ईश्वर, आत्मा, नियति और स्वभाव इन पाँचों को लगाकर गणना करने से क्रियावाद के $36 \times 5 = 180$ भेद होते हैं।

अक्रियावाद के 84 भेद

गोम्मटसार (कर्मकाण्ड, भाग-2) में आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती कहते हैं कि-

णत्थि सदो परदोवि स सत्तपयत्था य पुण्णपाऊणा।
कालादियादिभंगा सत्तरि चदुपंतिसंजादा।।884।।

अर्थात् पहले नास्ति पद लिखो। उसके ऊपर स्वत: और परत: लिखो। उसके ऊपर पुण्य और पाप को छोड़ शेष सात पदार्थ लिखो। उसके ऊपर काल आदि पाँच लिखो। इस प्रकार चार पंक्ति करके पूर्ववत् अक्ष संचार द्वारा भंग होते हैं। जैसे जीव स्वत: काल से नहीं किया जाता। परत: जीव काल से नहीं किया जाता है। इसी प्रकार जीव के स्थान में अजीवादि कहने से चौदह भंग काल से होते हैं। इसी तरह ईश्वर आदि पाँचों की अपेक्षा चौदह भेद होने से सत्तर भंग होते हैं।

पहले नास्ति पद लिखो। उसके ऊपर सात पदार्थ लिखो। उसके ऊपर नियति, काल ये दो लिखो। जीव नियति से नहीं है, जीव काल से नहीं है। जीव की जगह अजीवादि रखने से चौदह भेद होते हैं। इस तरह सब चौरासी भेद होते हैं।

णत्थि य सत्त पदत्था णियदीदो कालदो तिपंतिभवा।
चोद्दस इदि णत्थित्ते अक्किरियाणं च चुलसीदी।।

– गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, भाग–2, गा. 885

अर्थात् अक्रियावादियों में दो मत जान पड़ते हैं। एक जो काल आदि पाँचों से जीवादि को नास्ति रूप कहते हैं। और दूसरे जो केवल काल और नियति से नास्ति रूप कहते हैं।

निम्न प्रकार जानना 1 नास्ति × 2 (आपसे, परसे) = 2 × 7 (जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष) = 14 × 5 (स्वभाव काल, ईश्वर, आत्मा, नियति) = 70 आपसे (स्वत: जीव काल से नहीं)।

परसे जीव काल से नहीं। इस प्रकार जीव–अजीव–आदिक 7 पदार्थ आपसे, परसे काल की अपेक्षा से नहीं है–

इसलिए – 1 नास्ति × 2 आपसे, परसे = 2 × 7 पदार्थ = 14 काल की अपेक्षा नहीं है।

इसलिए – 1 नास्ति × 2 आपसे, परसे = 2 × 7 पदार्थ = 14 काल की अपेक्षा नहीं है।

इसलिए – 1 नास्ति × 2 आपसे, परसे = 2 × 7 पदार्थ = 14 आत्मा की अपेक्षा से नहीं है।

इसलिए – 1 नास्ति × 2 आपसे, परसे = 2 × 7 पदार्थ = 14 नियति की अपेक्षा से नहीं है।

इसलिए – 1 नास्ति × 2 आपसे, परसे = 2 × 7 पदार्थ = 14 स्वभाव में नहीं। इस प्रकार 14 × 5 = 70 भेद हुये।

1 नास्ति × 7, जीव अजीव, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष = 7 × 2 नियति, काल = 14 ये भेद नास्तिकपने में जानना। पहले के 70 और ये 14 सब मिलकर अक्रियावादियों के 84 भेद होते हैं।

अज्ञानवाद के 67 भेद

गोम्मटसार (कर्मकाण्ड, भाग–2) में आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती अज्ञानवाद के विषय में कहते हैं कि–

को जाणइ णवभावे सत्तमसत्तं दयं अवच्चमिदि।
अवयणजुदसत्ततयं इदि भंगा होंति तेसट्ठी ।।886।।

जीव और नौ पदार्थों में से एक–एक अस्ति आदि सात भंगों में से एक–एक से जीव है, ऐसा कौन जानता है? अर्थात् जीव है ऐसा जानता है? जीव नहीं है ऐसा कौन जानता है? जीव है भी और नहीं भी है ऐसा कौन जानता है? जीव अवक्तव्य है ऐसा कौन जानता है? जीव अस्ति अवक्तव्य है ऐसा कौन जानता है? जीव नास्ति अवक्तव्य है, ऐसा कौन जानता है? जीव अस्ति नास्ति अवक्तव्य है ऐसा कौन जानता है? इसी प्रकार जीव की जगह अजीवादि रखने से तिरेसठ भेद होते हैं।

आचार्य श्री विनम्रसागर जी महाराज चौंतीस स्थान दर्शन के परिशिष्ट में इसको समझाते हुये कहते हैं कि– जीवादि नव पदार्थों में से एक–एक का सप्त भंग से न जानना। जैसे कि 'जीव' अस्ति रूप है ऐसा कौन जानता है तथा नास्ति अथवा दोनों व बाकी तीन भंग मिली हुई = इस तरह 7 भंगों से कौन जीव को जानता है। इस प्रकार नव पदार्थों का 7 भंग से (अस्ति, नास्ति, अस्ति–नास्ति, अवक्तव्य, अस्ति अवक्तव्य, नास्ति अवक्तव्य, आस्ति नास्ति अवक्तव्य ये 7 नयों से गुणा अस्ति रूप है)।

1. जीवादि पदार्थ अस्ति रूप है।	ऐसा कौन जानता है? = 9
2. जीवादि नव पदार्थ नास्ति रूप है।	ऐसा कौन जानता है? = 9
3. जीवादि नव पदार्थ अस्ति नास्ति रूप है।	ऐसा कौन जानता है? = 9
4. जीवादि नव पदार्थ अवक्तव्य रूप है।	ऐसा कौन जानता है? = 9
5. जीवादि नव पदार्थ अस्ति अवक्तव्य है।	ऐसा कौन जानता है? = 9
6. जीवादि नव पदार्थ नास्ति अवक्तव्य है।	ऐसा कौन जानता है? = 9
7. जीवादि नव पदार्थ अस्ति नास्ति अवक्तव्य है।	ऐसा कौन जानता है? = 9

शुद्ध पदार्थ × 4 (अस्ति, नास्ति, अस्ति नास्ति, अवक्तव्य) = 4

गोम्मटसार (कर्मकाण्ड, भाग-2) में आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती कहते हैं कि-

को जाणइ सत्त चऊ भावं सुद्धं खु दोण्णिपंतिभवा।
चत्तारि होंति एवां अण्णाणीणं तु सत्तट्ठी।।887।।

अर्थात् पहले शुद्ध पदार्थ लिखो। उसके ऊपर अस्ति, नास्ति, आस्ति-नास्ति, अवक्तव्य चार लिखो। इन दोनों पंक्तियों के मेल से चार भंग होते हैं। यथा शुद्ध पदार्थ है ऐसा कौन जानता है आदि। ये मिलकर अज्ञानवाद के सड़सठ भंग होते हैं।

विशेषार्थ – अज्ञानवादी अज्ञान को ही पुरस्कृत करते हैं। ज्ञान के विषयभूत नौ पदार्थ हैं और उपायभूत सात तत्त्व हैं। उनके निषेध रूप तिरेसठ भंग होते हैं तथा ज्ञान का विषय शुद्ध पदार्थ है और मौलिक भंग चार होने से उनके निषेध रूप चार भंग होते हैं। शेष तीन भंग अवक्तव्य के साथ तीन भंगों के मेल से बनते हैं। इसलिए उन्हें छोड़ दिया है। शुद्ध द्रव्य में उनका उपयोग सम्भव नहीं होता। इस तरह सड़सठ भंग होते हैं।

शुद्ध पदार्थ × 4 (अस्ति, नास्ति, अस्ति नास्ति, अवक्तव्य) = 4

1. शुद्ध पदार्थ अस्ति रूप है ऐसे कौन जानता है? = 1
2. शुद्ध पदार्थ नास्ति रूप है ऐसे कौन जानता है? = 1
3. शुद्ध पदार्थ अस्ति नास्ति रूप है ऐसे कौन जानता है? = 1
4. शुद्ध पदार्थ अवक्तव्य रूप है ऐसे कौन जानता है? = 1

इस प्रकार पूर्वोक्त 63 और ये 4 सब मिलकर अज्ञानवाद के 67 भेद जानना।

वैनयिकवाद एवं उसके 32 भेद

गोम्मटसार (कर्मकाण्ड, भाग-2) में आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती कहते हैं कि-

मणवयणकायदाणगविणवो सुरणिबइणाणिजदिबुड्ढे।
वाले मादुपिदुम्मि य कायव्वो चेदि अट्ठचऊ।।888।।

अर्थात् देव, राजा, ज्ञानी, यति, वृद्ध, बालक, माता, पिता; इन आठों का मन, वचन, काय और दान-सम्मान से विनय करना चाहिए। इस तरह आठ प्रकार के व्यक्तियों की चार प्रकार से विनय करने से $(8 \times 4 = 32)$ बत्तीस भेद होते हैं।

विशेषार्थ – सब देवों और सब धर्मों को समान मानकर सबकी समान विनय करना वैनयिकवाद है। उक्त आठ व्यक्तियों में प्राय: सभी गर्भित हो जाते हैं। विनयवाद में विवेक को स्थान नहीं है।

ये विनयवादी गुण, अवगुण की परीक्षा किये बिना विनय से ही सिद्धि मानते हैं।

वैनयिक मिथ्यात्व के विषय में जैन लक्षणावली, पृ. 1029-1031 में विशेष वर्णन इस प्रकार मिलता है-

वैनयिक मिथ्यात्व – 1. सर्वदेवतानां सर्वसमायानां च समदर्शनं वैनयिकम्। (स.सि. 8-1; त.वा. 8, 1, 28)। 2. विनयेन चरन्ति विनयो वा प्रयोजनं येषामिति वैनयिका:। एते चानबधृतलिङ्गाऽऽचारशास्त्रा विनयप्रतिपत्तिलक्षणा: ××××। (नन्दी. हरि. व.पृ. 101)। 3. विनयेन चरन्तीति वैनयिका: वसिष्ठ-परासर-वाल्मीकि-व्यासेलापुत्रसत्यदत्तप्रभृतय:। एते चानवधृतलिङ्गाऽऽचारशास्त्रा विनयप्रतिपत्तिलक्षणा वेदितव्या:। (षड्व. सं. 1, पृ. 19)। 4. अदहियपारत्तियसुहाइं सव्वाइं पि विणयादो चेव, ण णाणदसंण तवोववासकिलेसेहिंतोत्ति अहिणिवेसो वेणइयमिच्छत्त। (धव. पु. 8, पृ. 2)। 5. विनयादेव मोक्ष इत्येवपं गोशालकमतानुसारिणो विनयेन चरन्तीति वैनायिका व्यवस्थिता:। (सूत्र कृ.शी.वृ. 1,6,27, पृ. 151,52)। 6. सर्वेषामपि देवानां समयानां तथैव च। यत्र स्यात्समदर्शित्वं ज्ञेयं वैनयिकं हि तत्।। (त.सा. 5-8)। 7. वेणइयमिच्छदिट्ठी हवइ फुडं तावसो हु अण्णाणी। णिग्गुणजणम्मि विणओ पउंजमाणो हु गयविवेओ।। विणयादो इह मोक्खं किज्जइ पुणु तेण गद्दहाईणं। अमुणियगुणागुणेण य विणयं मिच्छत्तणडियेण।। जक्खयणायाईणं दुग्गाखंधाइअण्णदेवाणं। जो णवइ धम्महेउं जो वि य हेउं च सो मिच्छो।। (भाव सं.

दे. 73-75)। 8. सर्वेषु देवधर्मेषु साम्यं वैनयिकं मतम्।। (पंचसं. अमित. 4-25, पृ. 84)। 9. सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रनिरपेक्षगुरुपादपूजादिलक्षणविनयेनैव भवत्येव स्वर्गापवर्गप्राप्तिरिति श्रद्धानं विनयमिथ्यात्वं। (गो.जी.म.प्र. 15)। 10. सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रनिरपेक्षतया-गुरुपादपूजादिरूपविंनयेनैव मुक्तिरेतच्छ्रद्धानं वैनयिकमिथ्यात्वम्। (गो.जी.प्र. 15)। 11. सर्वेदेवाः सर्वसमयाश्च समानतया दृष्टव्या वन्दनीया एव, न च निन्दनीया इत्येवं सर्वविनयप्रकाशकं वैनयिकमिथ्यादर्शनम्। (त. वृत्ति श्रुत. 8-1)।

1. समस्त देवों और सब शास्त्रों को समान रूप में देखना-उनकी यथार्थता और अयथार्थता का विवेक न रखना, यह वैनयिक मिथ्यात्व का लक्षण है।

2. लिंग और आचार शास्त्र के अवधारण से रहित जो विनय के आशय से आचरण करते हैं अथवा जिनका प्रयोजन एकमात्र विनय ही होता है वे वैनयिक मिथ्यादृष्टि माने गये हैं।

3. इहलोक और परलोक संबंधी सभी सुख विनय से ही प्राप्त होते हैं; न कि ज्ञान, दर्शन, तप और उपवास के क्लेश से इस प्रकार के अभिप्राय को वैनियिक मिथ्यात्व कहा जाता है।

4. विनय से ही मोक्ष होता है, इस प्रकार गोशालक के मत का अनुसरण करने वाले जो विनय से आचरण करते हैं वे वैनयिक समझे जाते हैं।

वैनयिकवाद - 1. एते चानवधृतलिङ्गाचारशास्त्रा विनयप्रतिपत्तिलक्षणा अमुनोपायेन द्वात्रिंशदवगन्तव्याः - सुरनृपतिज्ञातियतिस्थविराधममातृपितृणां प्रत्येकं कायेन वाचा मनसा दानेन च देशकालोपपन्नेन विनयः कार्यः इत्येते चत्वारी भेदः। सुरादिष्वष्टसु स्थानेषु एकत्र मेलिता द्वात्रिंशदिति। (नन्दी. हरि. वृ.प. 102)। **2. देवनृपतिज्ञानियतिवृद्धबालमातृपितृष्टष्टसु मनोवचन-काय-दान-विनयश्चत्वारः कर्तव्याश्चेति द्वात्रिंशद्वैनयिकवादाः स्युः।** (गो.क.जी.प्र. 888)।

1. विनय को स्वीकार करने वाले वैनयिक मिथ्यादृष्टि बत्तीस हैं, जो इस प्रकार से जाने जा सकते हैं- सुर, राजा, ज्ञानी, यति, स्थविर (वृद्ध), अधम, माता और पिता; इनमें से प्रत्येक का देश व काल की उपपत्ति के साथ काय, वचन, मन और दान इन चार के द्वारा विनय करना चाहिए। इन चार भेदों को उपर्युक्त सुरादि आठ भेदों में मिलाने पर सब बत्तीस $(8 \times 4 = 32)$ होते हैं।

2. देव, राजा, ज्ञानी, यति, वृद्ध, बालक, माता और पिता इन आठ के विषय में मन, वचन, काय और दान इन चार से विनय करना चाहिए।

इस प्रकार इन चार प्रकार के विनय का सम्बन्ध उक्त देवादि में से प्रत्येक के साथ होने से वैनयिकवादी बत्तीस हो जाते हैं।

वैनयिकवादी - 1. विणइत्ता वेणइयवादी। (सूत्र, कृ.नि. 118)। 2. विनयेन चरन्ति तत्प्रयोजना वा वैनयिकाः। × × × वैनयिकाः विनयादेव केवलात् स्वर्ग मोक्षावाप्तिमभिलषन्तो मिथ्यादृष्टयः, यतो न ज्ञानक्रियाभ्यान्तरे मोक्षवाप्तिरिति। (सूत्रकृ. नि.शी.वृ. 118 पृ. 212)। 3. विनयेन चरन्ति स वा प्रयोजनं एषामिमि वैनयिकाः। ते च ते वादिनश्चेति वैनयिकवादिनः। विनय एव वा वैनयिकम् तदेव ये स्वर्गादिहेतुतया वदन्त्येवं शीलाश्च ते वैनयिकवादिनः, विघृतलिङ्गाचारशास्त्रा विनयप्रतिपत्तिलक्षणाः (भगवती, अभय पृ. 30-31; स्थानां अभय पृ. 345)। 4. येऽपि च विनयवादिनो विनयप्रतिपत्तिलक्षणास्तेऽपि मोहान्मुक्तिपथपरिभ्रष्टाः वेदितव्याः। तथाहि-विनयो नाममुक्त्यङ्ग यो मुक्तिपथानुकूलो न शेषाः। (नन्दी सू. मलय. पृ. 46, पृ. 227)।

1. जो विनयशीलता को ही स्वर्ग मोक्ष का कारण मानते हैं वे वैनयिकवादी कहलाते हैं।

2. विनय से जो आचरण करते हैं अथवा विनय को ही प्रयोजनी भूत मानते हैं वे वैनयिकवादी कहलाते हैं।

ये वैनियकवादी केवल विनय से ही स्वर्ग मोक्ष की प्राप्ति की इच्छा करते हैं परन्तु ज्ञान और आचरण के बिना वह सम्भव नहीं है। इसी से वे मिथ्यादृष्टि माने गये हैं।

इस प्रकार स्वच्छंद दृष्टि वालों के द्वारा कल्पित 363 मतों के वचन जीवों में व्याकुलता पैदा करने में कारण हैं। मिथ्यात्व से ग्रस्त अज्ञानीजन उन वचनों को सुनकर मुग्ध हो जाते हैं। वास्तव में यह 363 मत सर्वथा त्यागने योग्य हैं।

सिद्धान्त चक्रवर्ती आचार्य श्री नेमिचन्द्र जी गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) में कहते हैं कि–

जावदिया वयणबहा तावदिया चैव होंति णयवादा।
जावदिया णयवादा तावदिया चेव होंति परसमया।।894।।
परसमयाणं वयणं मिच्छं खलु होइ सव्वहा वयणा।
जइणाणं पुण वयणं सम्मं खु कहंवियणादो।।895।।

अर्थात् जितने वचन के मार्ग हैं उतने ही नयवाद हैं और जितने नयवाद हैं उतने पर समय हैं। पर समय अर्थात् अन्य दर्शनों का वचन मिथ्या है क्योंकि वे वस्तु को सर्वथा एक रूप ही मानते हैं किन्तु जैनों का वचन सत्य है; क्योंकि वे वस्तु को कथंचित् उस रूप कहते हैं।

विशेषार्थ – जैन मत के अनुसार वस्तु अनेकान्तात्मक है। उसमें परस्पर में विरुद्ध प्रतीत होने वाले अनेक धर्म रहते हैं। एक ही वस्तु नित्य भी है और अनित्य भी है। एक भी है अनेक भी है। भाव रूप भी है और अभाव रूप भी है। स्वरूप से भाव रूप है और पर रूप से अभाव रूप है। जैसे घट घट रूप से सत् है और पट रूप से असत् है। यदि ऐसा न माना जाये और घट को केवल सत् ही माना जाये तो जैसे घट–घट रूप से सत् है वैसे ही पट रूप से भी सत् हो जायेगा, क्योंकि आप उसे सर्वथा सत् मानते हैं। सर्वथा का मतलब है सब रूप से या सब प्रकार से। अत: जो वस्तु को सर्वथा सत् कहते हैं उनका कथन मिथ्या है। प्रत्येक वस्तु का वस्तुत्व दो बातों पर निर्भर है– स्वरूप का ग्रहण और पर रूप का त्याग। स्वरूप का ग्रहणा भाव रूप है और पर रूप का त्याग अभाव रूप है अत: वस्तु भावाभावात्मक है। इसलिए जैन दर्शन वस्तु को कथंचित् सत् और कथंचित् असत् कहता है। कथंचित् का मतलब है किसी अपेक्षा से, सर्वथा नहीं। इसी प्रकार वस्तु नित्य भी है और अनित्य भी है। द्रव्य रूप से नित्य है और पर्याय रूप से अनित्य है। अत: किसी को सर्वथा नित्य और किसी को सर्वथा अनित्य कहना भी मिथ्या है। वस्तु के इन अनेक धर्मों में से एक धर्म को ग्रहण करने का नाम नय है। नय सम्यक् भी होते हैं और मिथ्या भी। यदि एक धर्म को ग्रहण करके वस्तु को उस एक धर्म रूप ही सर्वथा कहा जाता है तो वह मिथ्या है। और यदि एक दृष्टि से ही उसे उस रूप कहा जाता है तो वह सम्यक् है। इसलिए वस्तु को कथन करने के जितने मार्ग हैं वे सब नयवाद हैं। और एक–एक नय को ही यथार्थ मानकर उसी का आग्रह करना एकान्तवाद है। प्रत्येक एकान्तवाद पर समय है–मिथ्या मत है। और सब एकान्तों को सापेक्ष रूप से स्वीकार करना अनेकान्तवाद है। वही जैन मत है। अत: जैन दर्शन समस्त एकान्तवादी दर्शनों का सापेक्ष समन्वय रूप है।

संदर्भ ग्रन्थ–

1. आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती रचित, गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) भाग–2
2. आचार्य श्री उमास्वामी विरचित तत्त्वार्थ सूत्र
3. आचार्य श्री पूज्यपाद विरचित सर्वार्थसिद्धि
4. आचार्य श्री अमृतचन्द विरचित पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय
5. पं. बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री द्वारा सम्पादित जैन लक्षणावली
6. उच्चारणाचार्य श्री विनम्रसागर कृत टीका–चउतीसठाण दंसण–सिद्धांत पबोहिणी टीका

''गुणस्थान का स्वरूप एवं विश्लेषण उत्पत्ति, नाम तथा प्रयोजन''

डॉ. नीलम जैन, ललितपुर

संसार का प्रत्येक प्राणी या जीव सुख चाहता है और सुख की प्राप्ति हेतु ही प्रयास करता है। उस सुख की प्राप्ति के लिए वह उन भाव व परिणामों को भी करता है, जो उसे भले ही इष्ट लगते हो परन्तु अनिष्टता का फल देने वाले हैं, वह जीव भूल जाता है कि इन परिणामों का फल क्या होगा। निरंतर चल रहे शुभ-अशुभ व शुद्ध परिणाम ही निर्धारित करते हैं, कि जीव किस सोपान पर है। चूँकि प्रत्येक धर्म साधना का मूल उद्देश्य व्यक्ति का आध्यात्मिक विकास ही है। विभिन्न धर्म-दर्शनों में इस आध्यात्मिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं का चित्रण विविध रूपों में मिलता है। इसी क्रम में जैन धर्म-दर्शन में व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं का चित्रण गुणस्थान सिद्धान्त के रूप में हुआ है। गुणस्थान सिद्धान्त सुस्पष्ट रूप से यह प्रतिपादित करता है कि व्यक्ति अपनी वासनाओं एवं कषायों को क्रमश: क्षीण करता हुआ परमात्म पद को प्राप्त कर सकता है। गुणस्थान सिद्धान्त का प्रतिपादन जैन आचार्यों ने अपने अनेक ग्रंथों में किया है। मात्र यही नहीं, इस सिद्धान्त को लेकर कुछ स्वतंत्र ग्रंथ भी परवर्ती काल में लिखे गये हैं।

चूँकि जैन दर्शन के अपने मौलिक सिद्धान्त हैं और उन सभी के संबंध में इस दर्शन ने गंभीर चिंतन किया है। आत्मा से परमात्मा बनने में जो आत्मा का क्रमिक विकास होता है उसे जैन दर्शन में गुणस्थान नाम से अभिहित किया गया है। आत्मा के क्रमिक विकास का वर्णन वैदिक और बौद्ध धर्मों में भी उपलब्ध है। वैदिक दर्शन में योग वशिष्ठ और पातञ्जलि योग में भूमिकाओं तथा बौद्ध दर्शन में अवस्थाओं के नाम से इसका अत्यन्त स्थूल वर्णन मिलता है किन्तु जैसा जैन दर्शन में गुणस्थान का विस्तार सूक्ष्म, स्पष्ट व विस्तृत रूप से किया गया है वैसा अन्य दर्शनों में नहीं है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जिस प्रकार शरीर का तापमान थर्मामीटर के द्वारा मापा जाता है उसी प्रकार आत्मा का आध्यात्मिक विकास या पतन गुणस्थान रूपी थर्मामीटर के द्वारा मापा जाता है। पर यह तो हुई सामान्य भाषा रूप, परंतु शास्त्र या अध्यात्म की भाषा में कहें, तो ''मोह और मन, वचन, काय की प्रवृत्ति के कारण जीव के अन्तरंग परिणामों में प्रतिक्षण होने वाले उतार-चढ़ाव का नाम गुणस्थान है।''[1]

गुणस्थान का स्वरूप – कर्मों की उदयादि अवस्थाओं में होने वाले जिनभावों से जीव देखे जाते हैं। वे गुणस्थान कहलाते हैं।

''जेहिं दु लक्खिज्जते उदयादिसु संभवेहिं भावेहि।
जीवा ते गुण सण्णा णिद्दिट्ठा सव्वदरसीहिं।।''[2]

गुण+स्थान: गुण का अर्थ है विकास और स्थान का अर्थ है सोपान। गुणस्थान अर्थात् विकास के सोपान।

आत्मा के स्वाभाविक गुणों की वृद्धि और आत्मा से संयुक्त कर्म पुद्गलों की हानि का दिग्दर्शन गुणस्थान से होता है।

''दर्शन, मोहनीय आदि कर्मों के उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षय के निमित्त से होने वाले जीव के आंतरिक भावों को गुणस्थान कहते हैं।''[3]

शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। समवायांग में गुणस्थान के स्थान पर जीवस्थान शब्द आता है। सर्वप्रथम गुणस्थान शब्द का प्रयोग आचार्य कुन्दकुन्द के ''समयसार'' तथा 'प्राकृत पंच संग्रह' व 'कर्मबन्ध 4' में मिलता है। आचार्य नेमिचन्द्र ने गोम्मटसार

1. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष, भाग-2
2. गोम्मटसार जीवकाण्ड - 8, जैन लक्षणावली 2/434
3. पंचसंग्रह, गाथा नं. 3

में जीवों को गुण कहा है। उनके अभिमतानुसार चौदह जीवस्थान कर्मों के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदि की भावाभाव जनित अवस्थाओं से निष्पन्न होते हैं। कर्म के उदय से जो गुण उत्पन्न होते हैं वे औपशमिक हैं, कर्म के क्षयोपशम से जो गुण उत्पन्न होते हैं वे क्षायोपशमिक है। कर्म के क्षय से जो गुण उत्पन्न होते हैं वे क्षायिक है। कर्म के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम के बिना जो गुण स्वभावत: पाया जाता है वह पारिणामिक है। इन गुणों के कारण जीव को भी गुण कहा जाता है। जीवस्थान को पाश्चात्वर्ती साहित्य में इसी दृष्टि से गुणस्थान कहा जाता है।

नेमिचन्द्र स्वामी ने संक्षेप में और ओघ ये दो गुणस्थान के पर्यायवाची माने हैं। कर्म ग्रन्थ में जिन्हें चौदह गुणस्थान बताया है। उन्हें ही समवायांग में जीवस्थान कहा है। इस प्रकार कर्म बंध और समवायांग में संज्ञा भेद है।

जैन दर्शन का मंतव्य है कि आत्मा का सही स्वरूप शुद्ध ज्ञानमय और परिपूर्ण सुखमय है। आत्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य युक्त है। कर्मों ने उसके स्वरूप को विकृत या आवृत कर दिया है। जब कर्मावरण की घनघोर घटाएँ गहरी छा जाती हैं तब आत्मज्योति मन्द और मन्दतम हो जाती है। पर ज्यों-ज्यों कर्मों का आवरण छँटता है अथवा उसका बन्धन शिथिल होता है त्यों-त्यों उसकी शक्ति प्रकट होने लगती है। प्रथम अवस्था में आत्मशक्ति का प्रकाश अत्यन्त मन्द होता है। अगले गुणस्थानों में वह प्रकाश अभिवृद्धि को प्राप्त होता है और अन्त में चौदहवें गुणस्थान में आत्मा विशुद्ध अवस्था में पहुँच जाता है।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये आत्म-शक्ति को आच्छादित करने वाले आवरण हैं। इन चार प्रकार के आवरणों में मोहनीय रूप आवरण मुख्य है। मोह की तीव्रता और मन्दता पर अधिक ध्यान दिया गया है।

मोहनीय कर्म के दो मुख्य भेद हैं- दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीय के उदय से आत्मा यथार्थ श्रद्धान नहीं कर पाता। उसका विचार, चिन्तन और दृष्टि उसके कारण सम्यक् नहीं हो पाती चारित्र मोहनीय के कारण विवेक युक्त आचरण में प्रवृत्ति नहीं होती। इस प्रकार मोहनीय कर्म के कारण न सम्यग्दर्शन होता है और न सम्यक्चारित्र ही। सम्यग्दर्शन के अभाव में सम्यग्ज्ञान भी नहीं होता।

गुणस्थानों की उत्पत्ति – ''संखेओ ओघोत्ति य गुणसण्णा सा च मोहजोगभवा।''[1]

''संतोष, ओघ तथा गुण संज्ञा अनादि निधन है, संज्ञा दर्शन चारित्र मोह और योग के कारण से होती है।''

भावों से गुणस्थान बनते हैं और भावों से कर्मबन्ध भी होते हैं। कर्मानुसार भाव और भावानुसार कर्म, भावानुसार गुणस्थान और गुणस्थानानुसार भाव होते हैं। 1. गोम्मटसार जीवकाण्ड 3/22

प्रश्न यह उठता है कि, ''जितने परिणाम होते हैं उतने ही गुणस्थान क्यों नहीं होते? तब इसका समाधान करते हैं कि, नहीं, क्योंकि जितने परिणाम होते हैं उतने ही गुणस्थान यदि माने जाये तो समझने, समझाने या कहने को व्यवहार ही नहीं चल सकता है। इसलिए द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा नियत संख्या वाले ही गुणस्थान कहे गये हैं।

''यावन्त: परिणामास्तावन्त: एव गुणा: किन्न भवन्तीति चेत्र, तथा व्यवहारानुपपत्तौ द्रव्यार्थिकनयसमाश्रयणात्।।''[1]

''साधक अपने प्रबल पुरुषार्थ से अपने परिणामों को बढ़ाता है, जिसके कारण कर्मों व संस्कारों का उपशम, क्षय एवं क्षयोपशम होता है या अन्त में जाकर सम्पूर्ण कर्मों का क्षय हो जाता है, वही उसका मोक्ष है।''[2]

जीव के समस्त परिणामों को आचार्यों ने 14 गुणस्थान रूप निबद्ध किया है-

''मिच्छो सासण-मिस्सो, अविरद सम्मो य देसविरदो य।
विरदा पमत्त-इदरो, अपुव्व-अणियट्टि-सुहुमो य।।
उवसंत-खीणमोहो, सजोग केवलि जिणो अजोगि य।
चोद्दस-जीव समासा, क्रमेण सिद्धा य णादव्वा।।''[3]

कौन सा गुणस्थान कौन से कर्म के उदय से होता है।

* मिथ्यात्व और सासादन – मोहनीय कर्म के उदय से।
* मिश्र–दर्शन मोहनीय के क्षयोपशम से।
* अविरत सम्यग्दृष्टि–दर्शन मोह और अनंतानुबंधी चतुष्क के उपशम, क्षयोपशम या क्षय से।
* देशविरत–अप्रत्याख्यानावरण के उदयाभाव से।
* प्रमत्त विरत, अप्रमत्त विरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण–प्रत्याख्यान के उदयाभाव से।
* सूक्ष्म साम्पराय – सूक्ष्म संज्वलन लोभ के उदय से।
* उपशान्त मोह–चारित्र मोहनीय के उपशम से।
* क्षीण मोह–चारित्र मोहनीय के क्षय से।
* सयोग केवली – 4 घातिया कर्मों के क्षय से
* अयोग केवली – 4 अघातिया कर्मों के क्षय से।

13वें गुणस्थान में शरीर (नाम कर्मोदय) के कारण योग है और 14वें गुणस्थान में शरीर (नाम कर्मोदय) के अभाव के कारण योग भी नहीं है। 4 घातिया और 4 अघातिया रूप कर्म की आठों प्रकृति के सम्पूर्ण रूप से क्षय हो जाने पर मुक्तावस्था (सिद्ध दशा) प्राप्त होती है। यह गुणस्थानातीत है, क्योंकि कर्मों का सत्त्व नहीं रहा।

गुणस्थानों का प्रयोजन – ''तस्य संवरस्य विभावनार्थ गुणस्थान–विभागवचनं क्रियते।''[1]

संवर के स्वरूप का विशेष परिज्ञान करने के लिए चौदह गुणस्थानों को समझना आवश्यक है। अर्थात् आत्मा के विशुद्ध परिणामों के द्वारा जीव किस प्रकार कर्मों को रोकता जाता है और मोक्ष महल की ओर बढ़ता जाता है, इसका ज्ञान हमें गुणस्थानों के द्वारा ही होता है। अत: गुणस्थान के ज्ञान से हम किस प्रकार मोक्ष पद की प्राप्ति में अग्रसर हो, कैसे सम्यक्दर्शन को प्राप्त कर व्रत, महाव्रत को धारण कर विशुद्धि की पराकाष्ठा को प्राप्त किया जाये यह ज्ञान गुणस्थान के माध्यम से ही संभव है।

गुणस्थानों का विवेचन – गुणस्थानों के यथार्थ स्वरूप समझने के लिए प्रत्येक गुणस्थान के स्वरूप को समझना होगा।

(1) मिथ्यात्व गुणस्थान – आचार्य वीरसेन स्वामी धवला टीका भाग–1 में मिथ्यादृष्टि की व्युत्पत्ति करते हुये कहते हैं **''मिथ्या वितथा तत्त्व दृष्टि: रुचि: श्रद्धा प्रत्ययो येषां ते मिथ्या दृष्टय:।** अर्थात् मिथ्या शब्द का अर्थ है विकथा, असत्य और दृष्टि का अर्थ[2] है रुचि, श्रद्धा या विश्वास। मिथ्यात्व कर्म के उदय से जिन जीवों को मिथ्या श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है, ऐसे जीवों को मिथ्यादृष्टि कहा जाता है रयणसार गाथा 106 में आचार्य कुंदकुंद स्वामी कहते हैं–

देहादिसु अणुरत्ता विसयासत्ता कसाय संजुत्ता।
आप सहावे सुत्ता ते साहु सम्मपरिचत्ता।।[3]

बाह्य पदार्थों में अनुरक्त होने के कारण मिथ्या श्रद्धा से युक्त जीवों को बहिरात्मा कहा जाता है। मिथ्यादृष्टि जीव अनेक प्रकार के कर्मों से बँधा हुआ संसार में परिभ्रमण करता रहता है।

''बंधई बहुविध कर्माणि येन संसार भ्रमति''[4]

राजवार्तिकार लिखते हैं कि मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती जीव दर्शन मोहनीय के प्रगाढ़ बंधन के कारण तत्त्वार्थ से विमुख होता है।

1. धवला,
2. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश 2/246
3. मूलाचार 1195–1196
4. राजवार्तिक 9/1/10/588/6

विश्व की अधिकांश आत्माएँ मिथ्यात्व गुणस्थान में है। इस गुणस्थान में मिथ्या श्रद्धान के कारण मोक्षोपयोगी संवर का अभाव होता है।

मिथ्यादृष्टि जीव एकान्त, विनय, विपरीत, संशय और अज्ञान इन पाँच मिथ्या परिणामों से कलुषित होता है।

मिथ्यात्व के 363 भेद इस प्रकार होते हैं–

(1) क्रियावादियों – 180

(2) अक्रियावादियों – 84

(3) अज्ञान वादियों – 67

(4) विनय वादियों – 32

(1) मिथ्यात्व गुणस्थान– एकेन्द्रिय से असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक तथा लब्ध्यपर्याप्तक जीव नियम से मिथ्यात्व गुणस्थान में ही होते हैं। इस गुणस्थान में मुख्यता से औदयिक भाव पाया जाता है। इस गुणस्थान में सम्यक्त्व, सम्यग्मिथ्यात्व, आहारक शरीर, आहारक आंगोपांग और तीर्थंकर प्रकृति का उदय संभव नहीं है।

(2) सासादन गुणस्थान – इसे सासादन सम्यक्त्व भी कहते हैं, औपशमिक सम्यक्त्वी जीव जिस समय अपने काल में जघन्य से एक समय उत्कृष्ट से 6 आवली काल शेष रहने पर अनंतानुबंधी कषाय के उदय होने पर सम्यक्त्व से पतित होता है। उस समय सासादन सम्यक्त्व होता है। इस अवस्था में जीव को सम्यक्त्व का आभास होने लगता है। इस गुणस्थान का जघन्य काल एक समय उत्कृष्ट काल 6 आवली मात्र है। इससे पतित जीव सम्यग्दर्शन रूपी गिरि के शिखर से गिरकर मिथ्यात्व गुणस्थान में पहुँच जाता है। इस गुणस्थान में मुख्यता पारिणामिक भाव पाया जाता है। सासादन गुणस्थानावर्ती मरण करके नरक गति को छोड़कर शेष तीन गतियों में जा सकता है। इसमें मोहनीय कर्म की 28 प्रकृतियों का सत्त्व पाया जाता है तथा इस गुणस्थान में जीवों की संख्या असंख्यात (पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग) होती है परन्तु मनुष्य अधिक से अधिक 52 करोड़ हो सकते हैं।

(3) मिश्र गुणस्थान – इस गुणस्थान में जीव को सम्यक्त्व और मिथ्यात्व का मिला–जुला आस्वादन होता है। दही–गुड़ की तरह। जिसे पृथक् करना सम्भव नहीं है। इसमें जीव संयम को ग्रहण नहीं करता, न आयु का बन्ध करता है और न ही मारणान्तिक समुद्घात को प्राप्त होता है। इसका जघन्य व उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। इस गुणस्थान में 147 प्रकृतियों का सत्त्व पाया जाता है।

(4) अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान – इस गुणस्थानवर्ती जीव में सच्चे देव, शास्त्र व गुरु पर पूर्ण श्रद्धा होती है। देशघाति सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से वेदक सम्यक्त्व होता है। इसमें चल, मल व अगाढ दोषों की रूपता होती है। इसकी उत्कृष्ट स्थिति 66 सागर तक की होती है। क्षायिक सम्यक्त्व नित्य होता है। यह दर्शन मोहनीय कर्म के क्षय से होता है। उपशम सम्यक्त्व यह दर्शन मोहनीय प्रकृति के उपशम से होता है तथा अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति वाला निर्मल होता है। तीर्थंकर प्रकृति का बंध चतुर्थ गुणस्थान से प्रारम्भ होता है। इस गुणस्थान में मुख्यता से औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक भाव पाये जाते हैं। इस गुणस्थान में अधिक से अधिक 700 करीब मनुष्य हो सकते हैं।

(5) देश विरत गुणस्थान – यह देशव्रत अर्थात् अणुव्रत या देश संयम रूप पंचम गुणस्थान है। इस गुणस्थान वाला श्रावक व्रतों का पालन करता है। उसकी विरति आंशिक होती है। इस गुणस्थान वाला जीव त्रस हिंसा से विरत और स्थावर जीवों की हिंसा से अविरत होता है। इस गुणस्थान का जघन्य काल – अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट–अन्तर्मुहूर्त क्रम से 1 पूर्व कोटि होता है।

2. आचार्य वीरसेन स्वामी, धवला टीका, भाग–1

3. रयणसार – आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी, गाथा नं. 106

4. परमात्म प्रकाश, आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी, गाथा नं. 77

(6) प्रमत्त विरत गुणस्थान – यह संज्वलन और नो कषाय के उदय से संयत होता है। इस गुणस्थान का धारक मनुष्य पूर्ण रूप से पाप क्रियाओं का त्याग कर देता है। पाँचों पापों एवं पाँच इन्द्रिय विषयों से विरत संयमी होता है, यह सकल संयमी महाव्रती होता है। वह व्यक्त और अव्यक्त प्रमाद में वास करता है इसलिए प्रमत्त विरत गुणस्थान कहलाता है। इस गुणस्थान के जीव अढ़ाई द्वीप में निवास करते हैं।

(7) अप्रमत्त विरत गुणस्थान – संज्वलन कषाय और नो कषाय जब मंद होती है तब वह अप्रमत्त विरत गुणस्थान होता है। इस गुणस्थान में ज्ञान आदि गुणों की विशुद्धि होती जाती है। इसके दो भेद हैं- (1) स्वस्थान अप्रमत्त संयत (2) सातिशय अप्रमत्त संयत।

किसी कारणवश संक्लेश परिणाम हो जाने से 6वें गुणस्थान में आना स्वस्थान अप्रमत्त संयत कहलाता है।

जहाँ जीव 8वें गुणस्थान की ओर अर्थात् श्रेणी चढ़ने के उन्मुख हो अथवा अगले ही समय में वो 8वाँ गुणस्थान प्राप्त कर ही लेगा उसे सातिशय अप्रमत्त संयत कहते हैं।

इस गुणस्थान में मुख्यता से क्षयोपशम भाव पाया जाता है।

(8) अपूर्वकरण गुणस्थान – इस गुणस्थान में समान समयवर्ती जीवों के परिणाम सदृश भी होते हैं और विसदृश भी होते हैं किन्तु उत्तरोत्तर समयों में स्थित जीवों के परिणाम विसदृश ही होते हैं। इसमें प्रतिपल अपूर्व-अपूर्व परिणाम होते हैं। इस गुणस्थान में मुख्यता से औपशमिक, क्षायिक भाव होते हैं। इस गुणस्थान में उपशम श्रेणी में 299 तथा क्षपक श्रेणी में 598 कुल = 897 जीव हो सकते हैं।

इस गुणस्थान में 4 विशेष कार्य होने लग जाते हैं।

(1) गुण श्रेणी निर्जरा (2) गुण संक्रमण (3) स्थिति कांडक घात (4) अनुभाग कांडक घात।

(9) अनिवृत्तिकरण गुणस्थान – इस गुणस्थान में समान समयवर्ती जीवों के परिणाम समान ही होते हैं। किन्तु असमान-समयवर्ती जीवों के परिणामों में प्रतिसमय उत्तरोत्तर अनंतगुणी विशुद्धि होती जाती है। इस अवस्था में जीव परिणामों की अपेक्षा परस्पर निवृत्ति (भेद) को नहीं प्राप्त होते हैं, इसलिए यह अनिवृत्तिकरण गुणस्थान है। भेद रहित वृत्ति, अनिवृत्ति है। क्षपक श्रेणी में प्रकृतियों के क्षय की अपेक्षा से इस गुणस्थान को 9 भागों में बाँटा गया है। वह इस प्रकार है-

(1) पहले भाग में - निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानगृद्धि तथा नरक गत्यादि 13 प्रकृतियों का इस प्रकार 16 प्रकृतियों का क्षय होता है।

(2) दूसरे भाग में - अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान की कुल 8 प्रकृतियों का क्षय होता है।

(3) तीसरे भाग में - नपुंसक वेद का।

(4) चौथे भाग में - स्त्री वेद का।

(5) पाँचवें भाग में - हास्यादि 6 नो कषाय का।

(6) छटवें भाग में - पुरुष वेद का।

(7) सातवें भाग में - संज्वलन क्रोध का।

(8) आठवें भाग में - संज्वलन मान का।

(9) नवमें भाग में - संज्वलन माया का।

इस गुणस्थान में उपशम श्रेणी में - 299 क्षपक श्रेणी में 598 कुल - 897 जीव हो सकते हैं।

(10) सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान – इस गुणस्थान में संज्वलन लोभ का सूक्ष्म उदय ही रहता है। इस अवस्था में बादर-कषाय का अभाव हो जाता है और सूक्ष्म कषाय युक्त सूक्ष्म सराग रह जाता है। जो उपशमक या क्षपक सूक्ष्म लोभ का वेदन करता है

वह सूक्ष्म साम्परायिक चारित्र वाला है। क्षपक श्रेणी वाला जीव इस गुणस्थान से सीधे 12वें गुणस्थान में जाता है। उपशम श्रेणी वाला जीव इस गुणस्थान से 11वें गुणस्थान में जाता है।

(11) उपशान्त मोह गुणस्थान – सम्पूर्ण मोहनीय कर्म के उपशम से उत्पन्न होने वाले निर्मल परिणामी उपशांत कषाय वाला होता है। यह वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान है। इस गुणस्थानवर्ती जीव का काल समाप्त होते ही वह नीचे 10,9,8,7,6वें गुणस्थान में क्रमश: नियम से गिरता ही है। इस गुणस्थान में यथाख्यात चारित्र पाया जाता है तथा शुक्ल लेश्या के साथ मुख्य रूप से औपशमिक भाव पाया जाता है। इस गुणस्थान में 299 जीव हो सकते हैं।

(12) क्षीण मोह गुणस्थान – क्षीण यानी क्षय और मोह–मोहनीय कर्म अर्थात् जहाँ मोहनीय कर्म पूर्ण रूप से क्षय हो गया है। इस गुणस्थान का काल जघन्य व उत्कृष्ट से अन्तर्मुहूर्त ही है। इसमें जीवों की संख्या 598 हो सकती है।

(13) सयोग केवली गुणस्थान – यह चार घातिया कर्मों के क्षय से प्राप्त अवस्था है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय के समाप्त होने पर अर्हत्, सर्वज्ञ व केवलज्ञानी बन जाते हैं। अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत सुख और अनंत वीर्य इन चार चतुष्टय की प्राप्ति वाले सयोग केवली होते हैं। इनके ज्ञान में लोक–अलोक के सभी पदार्थ दर्पण की तरह प्रतिबिम्बित होते रहते हैं।

(14) अयोग केवली गुणस्थान – इस गुणस्थान में केवली भगवन् योगों से रहित सिद्ध, मुक्त हो जाते हैं। वे सिद्धालय में स्थित होकर शाश्वत् आनंद में निमग्न हो जाते हैं।

गुणस्थानातीत सिद्ध आठ कर्मों से रहित शान्त, निरंजन, नित्य, कृतकृत्य, लोक के अग्र भाग में स्थित एवं आठ गुणों से युक्त होते हैं। सिद्ध अशरीरी होते हैं, वे ज्ञान शरीरी सिद्ध सर्वोत्तम सुख भोगते हैं।

कर्म की अपेक्षा गुणस्थान

* मोहनीय कर्म के उदय से मिथ्यात्व एवं सासादन गुणस्थान।
* दर्शन मोह के क्षयोपशम से मिश्र गुणस्थान।
* दर्शन मोह के उपशम, क्षय या क्षयोपशम से चतुर्थ अविरत संयत गुणस्थान।
* अप्रत्याख्यान कषाय के उदयाभाव से देशविरत गुणस्थान।
* प्रत्याख्यान कषाय के उदयाभाव से प्रमत्त विरत, अप्रमत्त विरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण और सूक्ष्म साम्प्रदाय संयत गुणस्थान।
* चारित्र मोहनीय कर्म के उपशम से उपशान्त मोह और क्षय से क्षीण मोह।
* चार घातिया कर्मों के साथ से सयोग और अयोग केवली अवस्था चार घातिया व चार अघातिया कर्मों के समाप्त होने पर सिद्ध अवस्था होती है।

चौंतीस स्थान दर्शन – इस सिद्धान्त प्रबोधिनी टीका में गुणस्थान से प्रारम्भ कर अन्य स्थानों का विस्तृत वर्णन कर इसे सम्पूर्णता का रूप दिया गया है। इसमें प्रत्येक गुणस्थान के आलाप दिये गये हैं। जिसे प्राकृत के साथ हिन्दी अर्थ के रूप में प्रतिपादित किया गया है। प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान में मिथ्यादृष्टि जीवों के विषय प्रतिपादन के क्या–क्या केन्द्र बिन्दु हो सकते हैं उसका निम्न प्रकार से विवेचन प्राकृत एवं हिन्दी में दिया गया है। चौदह जीव समास, पर्याप्तियाँ, अपर्याप्तियाँ, प्राण, संज्ञा, गति, इंद्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, असंयम, दर्शन, लेश्या, भव्य, सम्यक्त्व, संज्ञी–असंज्ञी, आहारक–अनाहारक, उपयोग, ध्यान, आस्रव, जाति, कुल–कोटि, संख्या, क्षेत्र, काल, पुद्गल परावर्तन, सागरोपम स्थिति, अन्तर, भाव, अवगाहना आदि का उल्लेख किया गया है। अर्थात् गुणस्थान से लेकर बंध, उदय, सत्त्व तक के चौंतीस (34) स्थान निरूपण को देते हुये उनकी सारणी भी दी है, जो विषय की विवेचना को स्पष्ट कर देती है।

''गम्यतेऽसाविति गतिनारकाधुत्पत्ति स्थानम्'' (तत्त्वार्थ भाष्य 8/12) इस विवेचन में नरक, तिर्यंच, देव और मनुष्य गति इन चार गतियों का निरूपण गुणस्थान आदि की दृष्टि से ही किया गया।

द्वितीय पृथ्वी में सासादन गुणस्थान में छियानवें प्रकृतियों का बंध बहत्तर प्रकृतियों का उदय एवं तीर्थंकर, आहारक-द्विक तथा देवायु बिना एक सौ चवालीस (144) प्रकृतियों का सत्त्व होता है। इसके विशेष टिप्पण में समझाया गया है।

देवगति में चार गुणस्थान से लेकर सत्त्व पर्यंत चौंतीस स्थानों का उल्लेख किया गया है।

करणानुयोग के विषय को समझाने वाला यह ग्रन्थ भाषा की सरलता की दृष्टि से भी बहुत उपयोगी है। सर्वत्र शौरसेनी प्राकृत को आधार बनाया गया है। षट्खंडागम और उसकी धवला, जयधवला आदि टीका शौरसेनी प्राकृत में है। विषय की सरलता के लिए संस्कृत में भी व्याख्या दी गई है। इसके विशेषार्थ में वस्तु विवेचन की प्रस्तुति है, इसमें भी संदर्भ ग्रंथों को आधार बनाया गया है। विषयगत विवेचन संक्षिप्त सारिणी रूप में है।

चूँकि विषय सारिणी रूप है अत: विस्तृत विषय होने पर उसे संक्षिप्त रूप प्रस्तुति आचार्य महाराज की अपनी विशेषता है, लेखन से अधिक दुरूह व श्रम साध्य कार्य संपादन है जिसे मुनिश्री विज्ञसागर जी महाराज ने अपने ज्ञान की पैनी छैनी से सँवारा है। ग्रंथ के एक-एक विषय पर विस्तृत लेखन कार्य किया जा सकता है, और उसे अधिक सुगम बनाया जा सकता है।

जैन गुणस्थान और वैदिक भूमिकाएँ – जैन दर्शन की भाँति वैदिक परम्परा में भी आत्मविकास के संबंध में विचार किया गया है। योग वाशिष्ठ व पांतजल योगसूत्र प्रभूति ग्रंथों में आत्मविकास की भूमिकाओं का विस्तार से विवेचन है। योग वाशिष्ठ में चौदह भूमिकाओं का वर्णन है उनमें सात भूमिकाएँ अज्ञान की है और सात भूमिकाएँ ज्ञान की हैं।

जैन गुणस्थान और गीता की त्रिगुणात्मकता – श्रीमद्भगवद्गीता वैदिक परम्परा का एक प्रतिनिधि ग्रंथ है। उसमें त्रिगुणात्मक धारणा के रूप में वर्णन प्राप्त होता है। डॉ. राधाकृष्णन् ने लिखा है कि- ''आत्मा का विकास तीन सोपानों में होता है। यह निष्क्रिय, जड़ता और अज्ञान से (तमोगुण प्रधान अवस्था) भौतिक सुखों के लिए संघर्ष कर, रजोगुणात्मक प्रवृत्ति के द्वारा ऊपर उठती हुई ज्ञान और आनंद की ओर बढ़ती है।'' सारांश यह है कि आत्मा तमोगुण से रजोगुण और सत्त्व गुण की ओर बढ़ता हुआ अन्त में गुणातीत अवस्था को प्राप्त होता है। यह त्रिगुणातीत अवस्था ही गीता में आध्यात्मिक पूर्णता की अवस्था है।

जैन गुणस्थान और बौद्ध अवस्थाएँ – बौद्ध दर्शन में भी आत्मा के विकास के संबंध में चिन्तन किया है। उसने आत्मा की, संसार और मोक्ष आदि अवस्थाओं को माना है। त्रिपिटक साहित्य में आध्यात्मिक विकास का वर्णन उपलब्ध है। हीनयान और महायान दोनों में आध्यात्मिक विकास की भूमिकाओं को लेकर मतभेद हैं। हीनयान का लक्ष्य वैयक्तिक निर्वाण या अर्हत् पद प्राप्ति है। वह आध्यात्मिक विकास की चार भूमिकाएँ मानता है। महायान संप्रदाय का लक्ष्य बुद्धत्व की प्राप्ति के साथ लोक मंगल की साधना भी है। वह आध्यात्मिक विकास की दस भूमियाँ मानता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गुणस्थानों का विवेचन न केवल जैन दर्शन में वरन् सभी दर्शन में किसी न किसी रूप में है, अर्थात् गुणस्थानों में आध्यात्मिक विकास का क्रम मुख्य है और प्रत्येक दर्शन आत्मा के विकास की बात करता है, यद्यपि अन्य दर्शनों का प्रतिपाद्य विषय पृथक्-पृथक् है, या उन्हें अन्य दर्शनकार आत्मा की पूर्ण शुद्धि तक नहीं पहुँच पाते हैं, पर जैन दर्शन आत्मा के क्रमिक विकास को लेकर 14 गुणस्थानों के माध्यम से आत्मा के शुद्ध स्वरूप से साक्षात्कार करता है। गुणस्थानों को जानने का लाभ यह है कि, किन-किन गुणस्थानों तक किस कर्म बंध की व्युच्छित्ति होती है। जिससे हम मिथ्यात्व को छोड़कर अपने भावों को पवित्र बना सकें।

उपर्युक्त आलेख में बहुत ही संक्षेप में हमने गुणस्थानों के संबंध में चिंतन किया है। प्रत्येक गुणस्थान के विस्तार तथा अन्य दर्शनों के साथ उनके प्रत्येक पहलुओं पर विचार कर इसे और भी अधिक विस्तृत रूप दिया जा सकता है। जिससे गुणस्थानों के महत्त्व को समझ सके। गुणस्थान आध्यात्मिक विकास के सोपान हैं। आत्मा मिथ्यात्व से किस प्रकार निकलकर अपनी सर्वज्ञ सर्वदर्शी अवस्था को प्राप्त करता है, उसका वैज्ञानिक विश्लेषण गुणस्थान में है।

''वह गुणस्थानातीत सिद्ध अवस्था हमें भी प्राप्त हो ऐसी भावना है।''

संज्ञा की परिभाषा, प्रकार, कार्य एवं उत्पत्ति में कारणभूत प्रत्ययों की गवेषणा

डॉ. शैलेष कुमार जैन
उपमंत्री
अ.भा.दि. जैन विद्वत्परिषद्
jain.shailesh1983@gmail.com
7014029330

संसारी प्राणियों में कुछ इच्छाएँ एक निश्चित दशा तक स्वाभाविक रूप से पाई जाती हैं। उन इच्छाओं का हम सबको अनादिकालीन संस्कार है इसलिए उनके लिए पृथक् से किसी शिक्षण-प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं होती है। उन्हें जैन दर्शन में संज्ञा कहा गया है। संस्कृत साहित्य में भी उनका कथन करने वाला अति प्रसिद्ध श्लोक है-

आहार-निद्रा-भय-मैथुनं च, सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेष:, धर्मेण हीना: पशुभि: समाना:।।[1]

अर्थात् आहार, निद्रा, भय और मैथुन ये तो मनुष्य और पशु में समान है। मनुष्य में विशेष केवल धर्म है और धर्म के बिना मनुष्य पशु के समान है।

संज्ञा की परिभाषा – संज्ञा शब्द का प्रयोग ज्ञान, नाम, अभिलाषा/इच्छा आदि अनेक अर्थों में हुआ है। प्रकृत प्रसंग में संज्ञा इच्छा की द्योतक है। आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने नाम अर्थ में भी संज्ञा कही है- '**संज्ञा नामेत्युच्यते**' तथा इच्छा अर्थ में '**आहारादिविषयाभिलाष: संज्ञेति**' भी कहा है।[2] आहारादि चार संज्ञाएँ एकेन्द्रिय, विकलत्रय, पशु, राजा-महाराजा, देवादिक सभी के पाई जाती हैं। संसार की संतति इन संज्ञाओं के बिना संभव नहीं है। संसारी जीवन संज्ञा के बिना संभव ही नहीं है। यदि संसार में ये संज्ञाएँ न हों तो सभी साधु बन जायें और संसार से पार हो जायें।

जैन दर्शन में आहारादि विषयों की अभिलाषा को संज्ञा कहा गया है। क्षुद्र प्राणी से लेकर मनुष्य व देव तक सभी संसारी जीवों में आहार, भय, मैथुन और परिग्रह के प्रति अभिलाषा पाई जाती है, यही संज्ञा है। पूज्य आचार्य श्री विनम्रसागर जी महाराज संज्ञा की परिभाषा में लिखते हैं- **कंखा, वांछा अहिलासा वा जेणं कारणेण संसारे जीव संकिलेसिदं होदूण घोरं दुक्खं पत्तेदि सो सण्णा। भोयणादि वांछा कंखा सण्णा भणादि।**[3] अर्थात् इच्छा, वांछा, अभिलाषा अथवा जिनके कारण संसार में जीव संक्लेषित होकर दारुण घोर दु:खों को प्राप्त करता है, उसे संज्ञा कहते हैं। अथवा भोजन आदि की अभिलाषा को संज्ञा कहते हैं।

उक्त परिभाषा पूर्वाचार्यों का अनुकरण करने वाली है। श्री नेमिचन्द सिद्धान्तचक्रवर्ती संज्ञा को परिभाषित करते हुए लिखते हैं-

इह जाहि बाहिया वि य जीवा पावंति दारुणं दुक्खं।
सेवंता वि य उभए ताओ चत्तारि सण्णाओ।।

अर्थात् जिनसे बाधित होकर जीव इस लोक में दारुण दु:ख प्राप्त करते हैं और जिनका सेवन करने पर भी जीव दोनों भवों में दारुण दु:ख को प्राप्त होते हैं, वे चार संज्ञाएँ हैं।[4]

'इह' एवं 'उभए' इन दोनों पदों का समाहार हो जाता है।

---

1. द्रव्य संग्रह/04,05, त.सू./02/08/,09
2. जीवकाण्ड/301
3. स.सि./01/31/234
4. त.सू./01/32

संज्ञा के प्रकार – संज्ञाओं के प्रकार वर्णित करते हुए श्री धवलाकार लिखते हैं– **सण्णा चउव्विहा आहार–भय–मेहुणपरिग्गसण्णा चेदि। खीण सण्णा वि अत्थि** संज्ञा चार प्रकार की होती है– आहार, भय, मैथुन और परिग्रह। क्षीण संज्ञा वाले भी होते हैं।[5] **एदासिं चउण्हं सण्णाणं अभावो खीणसण्णा णाम** अर्थात् इन चारों संज्ञाओं के अभाव को क्षीणसंज्ञा कहते हैं।

संज्ञा के भेद वर्णित करते हुए लिखते हैं– **सो चदुधा– आहार–भय–मेहुण–परिग्गहो सण्णा।**[7] अर्थात् संज्ञा के 4 भेद होते हैं।– 1. आहार 2. भय 3. मैथुन और 4. परिग्रह।

संज्ञा के भेदों के विषय में कोई विप्रतिपत्ति अथवा मतभेद नहीं है। सर्वत्र चार भेद ही वर्णित हैं। इतना अवश्य है कि क्षीण संज्ञा वाले भी जीव होते हैं लेकिन वह संज्ञा का भेद नहीं है।

1. आहार संज्ञा – आहार संज्ञा को परिभाषित करते हुए ग्रन्थकार आ. श्री लिखते हैं– **अंते असादा वेयणीयस्स उदीरणा बहिरो आहारादिदंसणेण आहारस्स भोयणस्स कंखा होदि सो आहार सण्णा होदि। सो एयत्तो छण्णं पमत्तगुणट्ठाणे होदि।**[8] अर्थात् अंतरंग में असाता वेदनीय की उदीरणा से बाह्य में आहार आदि के दर्शन से जो आहार की इच्छा होती है, उसे आहार संज्ञा कहते हैं। ये आहार संज्ञा पहले से छठे गुणस्थान तक होती है।

जन्म लेते ही बिना किसी शिक्षा के शिशु आहार चाहता है, इसलिए माँ का दूध पीता है। इसी प्रकार जब हम सम्पूर्ण संसार को देखते हैं तो ज्ञात होता है कि सारा संसार इस आहार संज्ञा से पीड़ित है। चारों गति के जीव इससे पीड़ित हैं। आगम में आहार के छह भेद कहे गये हैं– कर्माहार, नोकर्माहार, कवलाहार, लेप्याहार, ओजाहार और मानसाहार।

संसारी जीव की दशा और दिशा बहुत हद तक आहार पर निर्भर होती है। प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव के साथ दीक्षित चार हजार राजाओं के मार्गच्युत होने का मूल कारण आहार की बाधा था। जैन धर्म के दिगम्बर और श्वेताम्बर इन दो भागों में विभक्त होने का कारण भी यही आहार संज्ञा थी। 18 दोषों में पहला दोष आहार है। 22 परीषहों में पहला परीषह क्षुधा है। आहार संज्ञा की प्रबलता इतनी है कि अचानक वृत्तिमान दिगम्बर साधु भी सिर झुकाकर इसकी पूर्ति के लिए श्रावक के घर आ जाते हैं। हमारे परिवारों को यदि देखा जाये तो यदि आहार सही मिल जाये तो अनेक झगड़े स्वत: ही समाप्त हो जाते हैं।

यदि इसका दूसरा पक्ष देखा जाये तो हम कह सकते हैं कि किसी को भूख नहीं लगती होती तो हम आहार दान कैसे देते? श्रावक की वृत्ति कितनी अद्भुत है कि पूजन में क्षुधा रोग विनाशनाय कहकर स्वयं के क्षुधा के विनाश की कामना करता है तथा मुनिराज के निरंतराय आहार की भावना भाता है, क्योंकि दान की महिमा में कहा गया है–

गृहकर्मणापि निचितं कर्मविमार्ष्टि खलु गृहविमुक्तानाम्।
अतिथीनां प्रतिपूजा रुधिरमलं धावते वारि।।[9]

जैसे पानी खून के दाग को धो देता है उसी प्रकार दान गृहस्थ के पापकर्म को धो देता है। इतना ही नहीं तीर्थंकर को प्रथम आहार दान देने वाला श्रावक उसी भव से मोक्ष तक को प्राप्त कर लेता है।

इस आहार दान की महिमा इतनी है कि तीर्थंकर को प्रथम आहार देने के फलस्वरूप उसी भव से मोक्ष प्राप्ति भी हो जाती है।

कर्म सिद्धान्त की विचित्रता है कि आहार की इच्छा तो असाता वेदनीय रूप पाप कर्म के तीव्र उदय से होती है लेकिन आहार की प्राप्ति के लिए साता वेदनीय रूप पुण्य कर्म की आवश्यकता होती है। असाता वेदनीय का उदय तो 13–14वें गुणस्थान तक रहता है लेकिन असाता की उदीरणा 6वें गुणस्थान तक ही होती है।

आहार संज्ञा की उत्पत्ति में कारणभूत प्रत्यय – अंतरंग में असाता वेदनीय कर्म की उदीरणा तथा बाह्य में आहारादि का दर्शन

5. त.सू./01/09
6. त.सू./01/09
7. त.सू./02/09
8. जीवकाण्ड/300
9. त.सू./01/10-12

आहार संज्ञा के कारणभूत प्रमुख प्रत्यय है।[10] आचार्य श्री नेमिचन्द महाराज ने इसके अतिरिक्त दो कारण और लिखे हैं– **तस्सुबजोगेण ओमकोठाए**[11] 1. उसके उपयोग होने से 2. पेट खाली होने से। श्रीमद भयचन्द्रसूरि कृत टीका में उपयोग का खुलासा करते हुए कहा गया है कि पूर्व में भुक्त सुन्दर–सुस्वादु आहार आदि की स्मृति रूप उपयोग होने से आहार संज्ञा उत्पन्न होती है। इस प्रकार आहार संज्ञा की उत्पत्ति में कारणभूत प्रत्यय निम्न हैं–

1. असाता वेदनीय कर्म की उदीरणा
2. आहारादि का दर्शन
3. आहार में उपयोग
4. पेट का खाली होना

2. भय संज्ञा – संसार में भय सर्वत्र व्याप्त है। लोग अपने बेटा–बेटी को पढ़ाने भेजते हैं लेकिन भय बना रहता है कि वह क्या करेगा? किसी गलत संगति का शिकार न हो जाये? कुछ गलत न कर बैठे। आज आपसी रिश्तों में भी भय व्याप्त है। कल क्या होगा? इस चिंता से कौन भयभीत नहीं है? छोटे–छोटे व्यापारी बड़े–बड़े मॉल एवं ऑनलाइन शॉपिंग की बढ़ती संस्कृति से भयभीत हैं। बेटी घर से बाहर गई है और अभी तक नहीं आई है, इस बात से कितने लोग भयभीत नहीं हैं? भय की स्थिति तो ऐसी है कि आचार्य मानतुंग स्वामी ने भक्तामर स्तोत्र में भयों की चर्चा की है। कल्याण मंदिर स्तोत्र में भी भयों का वर्णन है।

भय संज्ञा को परिभाषित करते हुए आचार्य श्री लिखते हैं– **अंते भय णो कसायस्स उदीरणा य बाह्यं भयुप्पादगो वत्थु दंसणेण भय उप्पज्जई सो भय सण्णा। अहवा भयेण भयभीद होइऊण करवां भय सण्णा भणंति। सो एयत्तो अट्ठ अपुव्वयरणं गुणट्ठाणं होदि।।**[12] अर्थात् अंतरंग में भय नो कषाय की उदीरणा तथा बाह्य में भयोत्पादक वस्तु देखने से जो भय उत्पन्न होता है, उसे भय संज्ञा कहते हैं। अथवा भय से भयभीत होकर भागने, छिपने की इच्छा को भय संज्ञा कहते हैं। (1–8 गुणस्थान तक)

भय संज्ञा की उत्पत्ति में कारणभूत प्रत्यय– आचार्य श्री के अनुसार भय संज्ञा में अंतरंग कारण तो नो कषाय की उदीरणा है तथा बहिरंग कारणों में भयोत्पादक वस्तु का दर्शन है। आचार्य नेमिचन्द महाराज ने "**तस्सुवजोगेण ओमसत्तीण**"[13] अर्थात् भयंकर डाकू, व्याघ्र, सिंह, सर्पादि की स्मृति से तथा मनोबल की हीनता से ये दो बहिरंग कारण और बताये हैं। इस प्रकार भय संज्ञा के प्रमुख चार प्रत्यय निम्न हैं–

1. भय नो कषाय की उदीरणा
2. भयोत्पादक वस्तु–दर्शन
3. भयोत्पादक वस्तुओं के प्रति उपयोग
4. शक्ति की हीनता

3. मैथुन संज्ञा – अब्रह्म को आगम में मैथुन कहा गया है। यही मैथुन जब परस्त्री के संबंधित हो जाता है तो परस्त्री गमन व्यसन कहा जाता है और जब वेश्या संसर्ग से जुड़ जाता है तो वेश्यागमन व्यसन कहा जाता है। यद्यपि मैथुन संज्ञा नौवें गुणस्थान तक होती है क्योंकि वहाँ तक वेद कर्म का उदय होता है लेकिन सातवें से नौवें गुणस्थान तक यह अव्यक्त रूप में ही होती है। ग्रैवेयक में जो द्रव्यलिंगी साधु भी जाते हैं, वे भी अपने जीवन में स्वप्न मात्र में भी अब्रह्म का सेवन नहीं करते हैं।

ग्रन्थकार आचार्य श्री मैथुन संज्ञा को परिभाषित करते हुए लिखते हैं– **अंते वेद णोकसायाणं उदीरणा य बाह्यो कामुद्दीपग भोयणेण, काम णाटग कोकसत्थ, चित्तादि पस्सेण, सुणेण जीवस्स हिदये जं काम वासणा उप्पज्जदि सो मेहुण सण्णा भणदि। सो एयत्तो णवम् अणियट्टियरण गुणट्ठाणे।**[14] अर्थात् अंतरंग में वेद नो कषाय की उदीरणा से और बाह्य में कामोत्तेजक भोजन करने से काम कथा, नाटक, कोक शास्त्र, चित्र आदि देखने, सुनने से जीव के हृदय में जो कामवासना उत्पन्न होती है, उसे मैथुन संज्ञा कहते हैं। (1–9 गुणस्थान, उदय, सत्ता)

मैथुन संज्ञा की उत्पत्ति में कारणभूत प्रत्यय – मैथुन संज्ञा के उत्पत्ति के कारणों में ग्रन्थकार ने अंतरंग कारण वेद नो कषाय

10. जीवकाण्ड/299
11. स.सि./01/09/164
12. त.सू./01/14
13. स.सि./01/14/185
14. त.सू./01/15/19 जीवकाण्ड/310

की उदीरणा कही है और बहिरंग कारणों में कामोत्तेजक भोजन करने से काम कथा, नाटक, कोक शास्त्र, चित्र आदि देखने, सुनने से जीव के हृदय में उत्पन्न वासना को कहा है। आचार्य श्री नेमिचन्द महाराज ने मैथुन के भी निम्न चार कारण बताये हैं।[15]–

1. वेद कर्म की उदीरणा
2. गरिष्ठ रस युक्त भोजन
3. पूर्वभुक्त विषयों का ध्यान
4. कुशील का सेवन

वर्तमान में कामवर्धक संगीत, सिनेमा, गूगल, फेसबुक आदि पर प्रसारित वीडियो आदि भी मैथुन संज्ञा की उत्पत्ति में बाह्य कारण जानने चाहिए।

4. परिग्रह संज्ञा – परिग्रह संज्ञा को परिभाषित करते हुए आचार्य श्री लिखते हैं– **अंते लोह कसायस्स उदीरणा य बाह्ये भोगोवभोगस्स साहण भूदो अत्थाणं दंसणेण जीवाणं हिये जं परिग्गह रक्खणो संगहो बुद्धि हवदि सो परिग्गह सण्णा भणइ। सो एयत्तो दसम सुहुम संपराय गुणट्ठाणे होदि।**[16] अर्थात् अंतरंग में लोभ कषाय की उदीरणा होने से और बाह्य में भोगोपभोग के साधनभूत पदार्थों को देखने से जीवों के हृदय में जो परिग्रह रक्षण व संग्रह की बुद्धि होती है, उसे परिग्रह संज्ञा कहते हैं। (1–10 गुणस्थान)

पत्नी, बेटा, दास, दासी, हाथी, घोड़े, शिष्य आदि ये सब सचित्त परिग्रह हैं। मकान, दुकान, खेत, सोना–चाँदी, गहने आदि अचित्त परिग्रह हैं। यहाँ विशेष बात यह है कि जो हमारे पास हैं, हम उसके तो स्वामी हैं ही लेकिन नहीं होने पर भी इच्छा मात्र भी हमें परिग्रही बनाती है, परिग्रह संज्ञा की द्योतक हैं। वस्तु होने पर यदि कोई यह कहे कि ये मेरा परिग्रह नहीं है तो वह अपनी आत्मा के साथ छल कर रहा है। आचार्य श्री उमास्वामी महाराज के 'बह्वारम्भपरिग्रहत्वं नारकस्यायुष:[17] सूत्र को ध्यान में रखते हुए हमें आवश्यक परिग्रह रखते हुए उसमें भी अनासक्त भाव रखना चाहिए।

परिग्रह संज्ञा में उत्पत्ति में कारणभूत प्रत्यय – ग्रन्थकार ने परिग्रह संज्ञा का अंतरंग कारण लोभ कषाय की उदीरणा बताया है तथा बाह्य कारण भोगोपभोग के साधनभूत पदार्थों को देखने से जीवों के हृदय में होने वाली परिग्रह रक्षण व संग्रह बुद्धि को बताया है। आचार्य नेमिचन्द महाराज ने निम्न कारण बताये हैं[18]–

1. लोभ कषाय कर्म की उदीरणा
2. उपकरण दर्शन
3. उपकरणों के प्रति उपयोग
4. उपकरणों में मूर्च्छा भाव

विशेषताएँ – आचार्य श्री विनम्रसागर जी ने संज्ञाओं के संबंध में कुछ विशेषताओं का वर्णन किया है, जो अत्यंत उपयोगी हैं। वे लिखते हैं कि– **चत्तारि सण्णाणं सगसग कम्माणं उदीरणा होइऊण सो सो सण्णा उप्पज्जदि अण्णं कम्मोदयेण णत्थि। जहा परिग्गह सण्णा लोह कसायोदयेण य आहार सण्णा असादा वेयणीयस्स उदीरणाओ। पढम गुणट्ठाणे पमत्ता चत्तारि सण्णा होंति। अपमत्ते आहार सण्णा णट्ठई। अपुव्वयरणे भय सण्णा णट्ठइ, अणियट्टियरणे मेहुण य सुहुमसांपराये परिग्गह सण्णा णट्ठ।**[19] अर्थात् चारों संज्ञाओं के स्व–स्व कर्म की उदीरणा होने पर वह संज्ञा उत्पन्न होती है, इन अन्य कर्मों के उदय से नहीं। जैसे– परिग्रह संज्ञा लोभ कर्म के उदय से, आहार संज्ञा असाता वेदनीय की उदीरणा से। 1–6 गुणस्थान तक चारों संज्ञाएँ होती हैं। 6वें गुणस्थान तक आहार संज्ञा होती है, 7वें में खत्म हो जाती है। 7वें व 8वें गुणस्थान तक भय संज्ञा रहती है। 9वें गुणस्थान तक मैथुन संज्ञा रहती है। 10वें गुणस्थान तक परिग्रह संज्ञा रहती है। 10वें गुणस्थान से ऊपर जीव संज्ञा रहित हो जाता है। वेद का उदय व संज्ञा की उदीरणा होती है। उदीरणा का फल संज्ञा होती है।

15. स.सि./01/14/182
16. आ. श्री विनम्रसागर कृत सिद्धान्त प्रबोधिनी टीका– चौंतीस स्थान दर्शन।
17. तत्त्वार्थ सूत्र/6
18. गोम्मटसार, जीवकाण्ड/138
19. स.सि./01/20/210–211

संज्ञाओं के कार्य – सामान्यत: आहार संज्ञा भूख उत्पन्न करती है। भय संज्ञा के कारण जीव भयभीत होता है। मैथुन संज्ञा के कारण जीव अब्रह्म का सेवन करता है। और परिग्रह संज्ञा के कारण जीव धन–धान्यादि परिग्रह एकत्रित करता है तथा उसमें आसक्त होता है। विशेष रूप से देखा जाये तो इन संज्ञाओं के कारण स्वयं के जीवन में अथवा पर से संबंधित अनेक दुर्घटनाएँ भी देखी जाती हैं। जैसे– आहार न मिलने पर जीव का अकाल मरण तक हो सकता है। दूसरी ओर आहार संज्ञा के साथ अविवेक के कारण क्रूर जीव दूसरे को मारकर खा जाते हैं। यहाँ तक कि चौराहों पर छोटे–छोटे बच्चे जो अनेक तरह के विचित्र कर्त्तव्य दिखाते हैं, अथवा अन्य भी कर्म करते हुए लोग यह कहते हुए सुने जाते हैं कि हम ये पापी पेट के लिए कर रहे हैं।

एक और दृष्टि से विचार करें तो इस आहार से शरीर की स्थिति होती है और शरीर से धर्म की साधना। इस प्रकार अनेक पहलुओं पर विचार कर हम पाते हैं कि भले असाता वेदनीय के उदय से आहार संज्ञा होती है लेकिन उस आहार से सम्यग्दृष्टि जीव पुरुषार्थ पूर्वक असाता का नाश भी करता है और आत्म कल्याण परक साधना भी कर लेता है।

भय संज्ञा के कारण जीव भयभीत होता है। अत्यंत भय के कारण जीव का अकाल मरण भी संभव है। मैथुन संज्ञा अब्रह्म के रूप में परिणत होती है। इसके दुष्परिणाम स्वरूप बलात्कार जैसे दुष्कृत्य भी होते हैं। लेकिन यहाँ ध्यान देने योग्य यह भी है कि इस संज्ञा के कारणों का निवारण करके इन दुष्कृत्यों को बहुत हद तक रोका भी जा सकता है। परिग्रह संज्ञा जीव को धन, धान्यादि, स्त्री–पुत्रादि में आसक्त करती है, उनकी वृद्धि में लगाती है। जर, जोरू और जमीन के कारण महाभारत से लेकर आज तक कितने छोटे–बड़े युद्ध नहीं हुये हैं और हो रहे हैं। चोरी, कालाबाजारी, लूटमार आदि इसी परिग्रह संज्ञा के कार्य हैं। इसलिए जिनशासन में अपरिग्रह/परिग्रह परिमाण का सिद्धान्त दिया गया।

आहारादि संज्ञाएँ और हमारा पुरुषार्थ – आचार्य समंतभद्र स्वामी ने उपादान और निमित्त के संयोग से कार्योत्पत्ति होना कहा है। यही जैन दर्शन का कारण–कार्य सिद्धान्त भी है। वे सुपार्श्वनाथ भगवान की स्तुति करते हुए कहते हैं कि–

अलङ्घ्यशक्तिर्भवितव्यतेयं, हेतुद्वयाविष्कृतकार्यलिङ्गा।
अनीश्वरो जन्तुरहंक्रियार्तः, संहत्य कार्येष्विति साध्यवादीः।।

अर्थात् हे सुपार्श्व जिन! आपने यह ठीक ही कहा है कि उपादान और निमित्त इन दोनों कारणों द्वारा उत्पन्न होने वाले कार्य से जिसका ज्ञान होता है, ऐसी यह भवितव्यता दुर्निवार है।

अत: अंतरंग कारण के साथ–साथ बाह्य कारण भी हमारे परिणामों की विकृति में निमित्त कारण बनते हैं। हम कह सकते हैं कि भले ही ये संज्ञाएँ कर्म की उदीरणा से होती हों लेकिन इनके उदय में आवश्यक नहीं है कि जीव तद्रूप हो ही जाये। यदि जीव सम्यग्दृष्टि है, तत्त्वदृष्टा है तो वह इनके उदय में भी गाफिल नहीं होता है। तभी तो उसे इन संज्ञाओं पर विजय प्राप्त होती है।

समस्त ज्ञानों की परिभाषा एवं गुणस्थानोक्त प्राप्ति पर विचार एवं कारणभूत प्रत्ययों का अन्वेषण

पं. आलोक जैन मोदी
ललितपुर

प्रस्तावना–

जैनागम के अनुसार जीवादि षड्द्रव्यों के मेल से इस सम्पूर्ण सृष्टि की रचना हुई है। अर्थात् जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छहों द्रव्य अपनी–अपनी विशेषता को लिये हुये इस सम्पूर्ण जगत् या सृष्टि की रचना करते हैं। सभी द्रव्यों के अनन्त गुण व अनन्त पर्यायें होती हैं। इन अनन्त गुणों में कुछ गुण ऐसे होते हैं जो अन्य द्रव्यों में भी पाये जाते हैं जिन्हें साधारण या सामान्य गुण कहते हैं। जैसे– अस्तित्व, वस्तुत्व आदि। एवं कुछ गुण ऐसे भी होते हैं जो सभी द्रव्यों में न होकर किसी एक ही द्रव्य में पाये जाते हैं और उस द्रव्य को अन्य द्रव्यों से पृथक् करते हैं। ऐसे गुणों को असाधारण या विशेष गुण कहा जाता है। जैसे पुद्गल द्रव्य में स्पर्श, रस, गंध व वर्ण। इसी प्रकार जीव द्रव्य भी एक असाधारण या विशेष गुण है जो उसे अन्य सभी द्रव्यों से पृथक् करता है। वह असाधारण विशेषता या विशेष गुण है '**ज्ञान**'। यह ज्ञानगुण केवल जीव द्रव्य में ही पाया जाता है अन्य द्रव्य में नहीं। इसी ज्ञानगुण के सद्भाव और अभाव के कारण ही जीव द्रव्य को चेतन तथा अन्य द्रव्यों को अचेतन द्रव्य कहा जाता है। इसी ज्ञानगुण के कारण ही यह जीव अन्य सभी द्रव्यों का ज्ञान करता है उनके स्वरूप को जानता और समझता है। यही ज्ञानगुण सभी द्रव्यों में जीव द्रव्य को सर्वोत्कृष्ट द्रव्य बनाता है। द्रव्य संग्रहकार आचार्य नेमिचन्द्र स्वामी जी ने जीव द्रव्य की अनेक असाधारण विशेषताओं को नौ अधिकारों में वर्णित किया है। इन नवाधिकारों में उपयोगाधिकार के अन्तर्गत जीव के दर्शनगुण व ज्ञानगुण का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है।

उवओगो दुवियप्पो, दंसण णाणं च दंसणं चदुधा।
चक्खु अचक्खु ओही दंसणमधकेवलं णेयं।।
णाणं अट्ठवियप्पं मदिसुदओही अणाणणाणाणि।
मणपज्जयकेवलमवि पच्चक्ख परोक्ख भेयं च।। द्रव्य संग्रह/04–05

वहाँ उपयोग के दो भेद किये गये हैं दर्शनोपयोग व ज्ञानोपयोग। दर्शनोपयोग के चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन व केवलदर्शन के भेद से चार भेद हैं एवं ज्ञानोपयोग के अन्तर्गत तीन मिथ्याज्ञान, कुमतिज्ञान या मत्यज्ञान, कुश्रुतज्ञान या श्रुताज्ञान, कुअवधिज्ञान या विभंगावधिज्ञान एवं पाँच सम्यग्ज्ञान के रूप में मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान व केवलज्ञान इन आठ प्रकार के ज्ञानों का वर्णन किया गया है।[1] इन सभी

ज्ञानों के प्रयोग के समय में मोहनीय कर्म के अन्तर्गत दर्शनमोह की प्रकृति **मिथ्यात्व प्रकृति** की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है क्योंकि इस प्रकृति के उदय से जीव का ज्ञान मिथ्याज्ञान और इस मिथ्यात्व प्रकृति के अनुदय में जीव का ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाने लगता है। **अण्णाणंतियं होदि हु सण्णाणंतियं खु मिच्छअणउदये।**[2] जिस प्रकार रज सहित कड़वी तुंबड़ी में रखा हुआ दूध कड़वा हो जाता है उसी प्रकार मिथ्यादर्शन के निमित्त से ये ज्ञान भी विपर्यय हो जाते हैं। जिस प्रकार कड़वी तूंबड़ी में आधार दोष मात्र से ही दूध का रस मीठे से कड़वा हो जाता है उसी प्रकार मिथ्यात्व के आधार दोष मात्र से ही ये ज्ञान मिथ्याज्ञान कहलाने लगता है। इनके द्वारा विषयग्रहण में कोई विपरीतता मालूम नहीं होती।[3] जैसा सम्यग्दृष्टि जीव सम्यग्ज्ञान के माध्यम से रूपादिक पदार्थों

1. द्रव्य संग्रह/04,05, त.सू./02/08/,09
2. जीवकाण्ड/301
3. स.सि./01/31/234

का ग्रहण करता है मिथ्यादृष्टि भी उसी प्रकार ही जानता है अन्तर केवल इतना है कि मिथ्यादृष्टि का ज्ञान पागलपुरुष की तरह सत् व असत् की विशेषता को न करके अपनी इच्छानुसार होता है।[4] इसलिए मिथ्या कहलाता है। इस मिथ्यात्व प्रकृति के प्रभाव से प्रारम्भ के मात्र तीन ज्ञान अर्थात् मतिज्ञान, श्रुतज्ञान व अवधिज्ञान ही प्रभावित होते हैं अत: मिथ्यादृष्टि के इन ज्ञानों को मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और विभंगावधिज्ञान कहते हैं। मन:पर्ययज्ञान व केवलज्ञान ये दो ज्ञान तो नियम से सम्यग्दृष्टि जीव व संयमी जीवों के ही होते हैं अत: इन दो ज्ञानों में विपरीतपना नहीं पाया जाता है ये सम्यक् ही होते हैं। इसलिए जहाँ-जहाँ मोक्षमार्ग का प्रसंग आता है वहाँ-वहाँ ज्ञान के पाँच भेद किये गये हैं[5] एवं जहाँ जीव के स्वरूप या लक्षण मात्र की विवक्षा या मुख्यता होती है वहाँ ज्ञान के उपरोक्त आठ भेद किये जाते हैं। जैसे तत्त्वार्थ सूत्रकार आचार्य उमा स्वामी जी ने प्रथम अध्याय में **''मतिश्रुतावधिमन:पर्ययकेवलानि ज्ञानम्''**[6] इस सूत्र में ज्ञान के पाँच भेद व दूसरे अध्याय में **''स द्विविधोऽष्टचतुर्भेद:''**[7] सूत्र के अन्तर्गत ज्ञान के आठ भेद बताये हैं।

''खउवसमिया चउरो केवलणाणं हवे खइयं''[8] उक्त पाँचों ज्ञानों में प्रारम्भ के चार ज्ञान अर्थात् मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान व मन:पर्ययज्ञान ये चारों ज्ञान ज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम से होते हैं अत: क्षायोपशमिक ज्ञान कहलाते हैं एवं अंतिम केवलज्ञान सम्पूर्ण ज्ञानावरण कर्म के क्षय से उत्पन्न होता है अत: केवलज्ञान को क्षायिक ज्ञान कहते हैं।

''तत्प्रमाणे'' ''आद्येपरोक्षम्'' ''प्रत्यक्षमन्यत्''[9] इन सूत्रों के अनुसार पाँचों प्रकार का ज्ञान दो प्रकार से प्रमाण कहा गया है। प्रारम्भ के दो ज्ञान अर्थात् मतिज्ञान व श्रुतज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं एवं अंत के तीनों ज्ञान अर्थात् अवधिज्ञान मन:पर्ययज्ञान व केवलज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाते हैं। इनमें भी अवधिज्ञान व मन:पर्ययज्ञान द्रव्य क्षेत्रादि की मर्यादा के साथ पदार्थ का ज्ञान करते हैं अत: एकदेशप्रत्यक्ष कहलाते हैं जबकि केवलज्ञान असीमित बिना किसी मर्यादा के सभी द्रव्यों की अनन्त पर्यायों को एक साथ युगपत् जानता है अत: उसे सकल प्रत्यक्ष कहते हैं।

ज्ञान का लक्षण व स्वरूप

जाणइ तिकालविसए दव्वगुणे पज्जए य बहुभेदे ।
पच्चक्खं च परोक्खं अणेण णाणेत्ति णं बेंति ।।[10]

1. मतिज्ञान का लक्षण, भेद व अन्य विशेषताएँ

इन्द्रियैर्मनसा च यथास्वमर्थो मन्यते मनुते मननमात्रं वा मति:।[11]

इन्द्रिय और मन के द्वारा यथायोग्य पदार्थ जिसके द्वारा मनन किये जाते हैं, जो मनन करता है या मनन करना मात्र मति कहलाता है। यह मतिज्ञान मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम रूप अंतरंग निमित्त के होने पर **''तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्''**[12] पाँचों इन्द्रियों और मन के निमित्त से होता है। यहाँ इन्द्रिय का लक्षण बताते हुये कहा है कि **''इन्दतीति इन्द्र:'' ''इन्द्रस्य लिंगमिन्द्रियमित्युच्यते''**[13] जो आज्ञा व ऐश्वर्य वाला है उसे इन्द्र या आत्मा कहते हैं ऐसे उस आत्मा को ज्ञान करने में सहायक जो चिन्ह निमित्त होते हैं उसे इन्द्रिय कहते हैं। ऐसी इन्द्रियाँ स्पर्शादि के भेद से पाँच प्रकार की होती हैं। **''अनिन्द्रियं मन: अन्त:करणमित्यनर्थान्तरम्''** अनीन्द्रिय मन और अन्त:करण ये एकार्थवाची नाम है। इस प्रकार पाँचों इन्द्रियों व मन के निमित्त से पदार्थों का जो ज्ञान होता है वह मतिज्ञान कहलाता है। ऐसा मतिज्ञान के अवग्रह, ईहा, अवाय व धारणा के भेद से मुख्य रूप से चार प्रकार का होता है एवं बहु, बहुविध आदि पदार्थों के ज्ञान की अपेक्षा एवं स्पर्शनादि पाँचों इन्द्रियों व मन की अपेक्षा भेद-

4. त.सू./01/32
5. त.सू./01/09
6. त.सू./01/09
7. त.सू./02/09
8. जीवकाण्ड/300
9. त.सू./01/10-12
10. जीवकाण्ड/299
11. स.सि./01/09/164
12. त.सू./01/14
13. स.सि./01/14/185

प्रभेद करने पर 336 भेद वाला होता है।[14] इस मतिज्ञान को स्मृतिज्ञान, संज्ञा, चिन्ता या अभिनिबोध ज्ञान भी कहते हैं अर्थात् इन सभी के द्वारा जो भी ज्ञान किया जाता है उसे मतिज्ञान ही कहते हैं क्योंकि इन सभी में एक ही अंतरंग कारण मतिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम पाया जाता है।[15]

श्रुत ज्ञान

तदावरणकर्मक्षयोपशमे सति निरूप्यमाणं श्रूयते अनेन तत् शृणोति श्रवणमात्रं वा श्रुतम्। [16]

अत्थादो अत्थंतरमुवलंभंतं भणंति सुदणाणं ।
आभिणिबोहियपुव्वं णियमेणिह सद्दजं पमुंहं ।।[17]

मतिज्ञान से जाने हुये पदार्थ के अवलम्बन से तत्सम्बन्धी दूसरे पदार्थ का ज्ञान श्रुतज्ञान कहलाता है। यह ज्ञान नियम से आभिनिबोध या मतिज्ञान पूर्वक होता है। ''**श्रुतंमतिपूर्व द्वयनेकद्वादशभेदम्**''[18] इस श्रुतज्ञान के दो भेद हैं, अनेक भेद हैं और बारह भेद होते हैं। श्रुतज्ञान के दो भेद हैं अंगबाह्य और अंग प्रविष्ट। अंगबाह्य के दशवैकालिक और उत्तराध्ययन आदि अनेक भेद हैं जबकि अंगप्रविष्ट के आचारांग आदि 12 भेद होते हैं जिन्हें द्वादशांग कहा जाता है। इन बारह अंगों में बारहवें दृष्टिवाद अंग के पुन: परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका ये पाँच भेद होते हैं जिसमें पूर्वगत के पुन: उत्पादन पूर्व अग्रायणी पूर्व आदि 14 भेद होते हैं। यह सम्पूर्ण श्रुतज्ञान सर्वज्ञ देव द्वारा कथित है एवं अतिशय बुद्धि ऋद्धि से युक्त गणधरों एवं आचार्यों द्वारा निबद्ध है इसलिये समुद्र के जल को कलश में रखने के समान ही प्रमाण स्वरूप है।[19]

इस श्रुतज्ञान के जीवकाण्ड जी में श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम के आधार पर पर्याय, पर्यायसमास आदि 20 भेद भी किये गये हैं। जिसमें सर्वजघन्य श्रुतज्ञान श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम रूप पर्याय श्रुतज्ञान कहलाता है जो सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्य पर्याप्तक उस जीव के प्राप्त होता है जिसने अपने लब्ध्य पर्याप्तकों के अधिकतम 6012 भवों में से 6011 भव पूर्ण कर लिये हैं एवं अंतिम 6012वें भव के लिए तीन मोड़े लेकर उत्पन्न होने जा रहा है। उसके उत्पाद के प्रथम समय अर्थात् प्रथम मोड़े के समय यह सर्वजघन्य श्रुतज्ञान पाया जाता है। इसका दूसरा नाम लब्ध्यसर श्रुतज्ञान भी है। यह नित्य उद्घाटित रहता है अर्थात् इतना क्षयोपशम तो प्रत्येक जीव के पाया ही जाता है क्योंकि इससे कम होने पर जीव ज्ञानरहित जड़ हो जायेगा।[20]

उपरोक्त दोनों ज्ञानों में कुमति व कुश्रुत ये दोनों ज्ञान प्रथम व द्वितीय इन दो गुणस्थानों में एवं मतिज्ञान व श्रुतज्ञान ये दोनों सम्यग्ज्ञान चतुर्थ गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक के जीवों के पाया जाता है।

अवधिज्ञान

अवाग्धानादवच्छिन्नविषयाद्वा अवधि:।[21]

अधिकतर नीचे के विषय को जानने वाला होने से अथवा परिमित विषय वाला होने से अवधि कहलाता है।

द्विविधोऽवधिर्भवप्रत्यय: क्षयोपशमनिमित्तश्चेति।[22]

इस अवधिज्ञान के दो भेद हैं भवप्रत्यय अवधिज्ञान और क्षयोपशम निमित्तक अवधिज्ञान। क्षयोपशम निमित्तक अवधिज्ञान को जीवकाण्ड जी में गुणप्रत्यय भी कहा है।

अवहीयदि त्ति ओही सीमाणाणेत्ति वण्णियं समये ।
भव–गुणपच्चयविहियं जमोहिणाणेत्ति णं बेंति ।।[23]

---

16. स.सि./01/09/164
15. स.सि./01/14/182
17. जीवकाण्ड/315
18. त.सू./01/20
19. स.सि./01/20/210–211
20. जीवकाण्ड/317–322
21. स.सि./01/09/164
22. स.सि./01/20/212
23. जीवकाण्ड/370

विषय की अपेक्षा सीमित ज्ञान को अवधिज्ञान कहते हैं। इसीलिए आगम में इसे सीमाज्ञान कहते हैं। यह भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय के द्वारा उत्पन्न होता है ऐसा ज्ञानीजन कहते हैं।

प्रत्यय का अर्थ निमित्त या कारण होता है अर्थात् भव की मुख्यता से ही जहाँ जन्म के साथ ही अवधिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम प्राप्त होता है उसे भवप्रत्यय अवधिज्ञान कहते हैं एवं अवधिज्ञानावरण कर्म में देशघाति स्पर्धकों के उदय में तथा सर्वघाति स्पर्धकों के अनुदय या उदयाभावीक्षय में एवं अनुदय प्राप्त उन्हीं स्पर्धकों के सद्वस्था रूप उपशम इस क्षयोपशम रूप निमित्त से जो अवधिज्ञान उत्पन्न होता है उसे क्षयोपशमनिमित्तक या गुणप्रत्यय अवधिज्ञान कहते हैं।

ये दोनों अवधिज्ञान किन जीवों के होते हैं इस संबंध में श्री तत्त्वार्थसूत्र जी में दो सूत्र प्राप्त होते हैं– **''भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम्'' एवं ''क्षयोपशमनिमित्त: षड् विकल्प: शेषाणाम्''**[24] उपरोक्त सूत्रों के अनुसार दोनों प्रकार के अवधिज्ञानों में से भवप्रत्यय अवधिज्ञान देव व नारकियों के होता है एवं गुणप्रत्यय या क्षयोपशम निमित्तक अवधिज्ञान मनुष्य व तिर्यंचों के होता है एवं यह गुणप्रत्यय अवधिज्ञान अनुगामी–अननुगामी इत्यादि छह भेद वाला होता है। जिनका स्वरूप संक्षेप में निम्न प्रकार से है–[25]

1. **अनुगामी –** कोई अवधिज्ञानी जैसे सूर्य का प्रकाश उसके साथ जाता है वैसे ही अपने स्वामी का अनुसरण करता है उसे अनुगामी अवधिज्ञान कहते हैं।

2. **अननुगामी –** कोई अवधिज्ञान अपने स्वामी का अनुसरण नहीं करता है। किन्तु जैसे विमुख हुये पुरुष के प्रश्न के उत्तर स्वरूप दूसरा पुरुष जो वचन कहता है वह वहीं छूट जाता है विमुख पुरुष उसे ग्रहण नहीं करता है वैसे ही यह अवधिज्ञान भी वहीं पर छूट जाता है। इसलिए अननुगामी कहलाता है।

3. **वर्धमान –** कोई अवधिज्ञान जंगल के निर्मन्थन से उत्पन्न हुई और सूखे पत्तों से उपचीयमान ईंधन के समुदाय से वृद्धि को प्राप्त हुई अग्नि के समान सम्यग्दर्शनादि गुणों की विशुद्धि रूप परिणामों के सन्निधानवश जितने परिमाण में उत्पन्न होता है उससे असंख्यात लोक जानने की योग्यता होने तक बढ़ता जाता है। ऐसे अवधिज्ञान को वर्धमान अवधिज्ञान कहते हैं।

4. **हीयमान –** कोई अवधिज्ञान परिमित उपादान सन्तति वाली अग्निशिखा के समान सम्यग्दर्शनादि गुणों की हानि से हुये संक्लेश परिणामों के बढ़ने से जितने परिणाम में उत्पन्न होता है उससे मात्र अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण जानने की योग्यता होने तक घटता चला जाता है ऐसा अवधिज्ञान हीयमान अवधिज्ञान कहलाता है।

5. **अवस्थित –** जो अवधिज्ञान सम्यग्दर्शनादि गुणों के समान रूप से स्थिर रहने के कारण जितने परिमाण में उत्पन्न होता है उतना ही बना रहता है। पर्याय के नाश होने तक या केवलज्ञान के उत्पन्न होने तक शरीर में स्थित मसा आदि चिन्ह के समान न तो घटता है न ही बढ़ता है बल्कि एक समान ही बना रहता है उसे अवस्थित नामक अवधिज्ञान कहते हैं।

6. **अनवस्थित –** जो अवधिज्ञान वायु के वेग से प्रेरित जल की तरंगों के समान सम्यग्दर्शनादि गुणों की कभी वृद्धि और कभी हानि होने से जितने परिमाण में उत्पन्न होता है उससे बढ़ता है जहाँ तक उसे बढ़ना चाहिये और घटता है जहाँ तक उसे घटना चाहिये इस प्रकार के अवधिज्ञान को अनवस्थित अवधिज्ञान कहते हैं।

अवधिज्ञान के अन्य तीन भेद

''देसोही परमोही सव्वोहित्ति य तिधा ओही'' देशावधि, परमावधि व सर्वावधि के भेद से अवधिज्ञान के अन्य प्रकार से भी तीन भेद किये जाते हैं–

इनमें देशावधि ज्ञान असंयमियों के होता है एवं सर्वावधि व परमावधि अवधिज्ञान नियम से संयमी जीवों के ही होता है।

24. त.सू./01/21-22 25. स.सि./01/22/215

अवधिज्ञान की विशेषताएँ[26]

1. ''**भवपच्चइगो ओही देसोही होदि**'' भवप्रत्यय अवधिज्ञान देशावधि ज्ञान रूप ही होता है जबकि ''**परमसव्वोही गुणपच्चइगो णियमा देसोही वि यगुणे होदि**'' गुणप्रत्यय अवधिज्ञान देशावधि, परमावधि व सर्वावधि तीनों भेद वाला होता है।

2. जो अनुगामी आदि छह भेद गुणप्रत्यय अवधिज्ञान के होते हैं वो देशावधि ज्ञान के अन्तर्गत ही आते हैं। परमावधि या सर्वावधि ज्ञान में इस प्रकार के भेद नहीं पाये जाते हैं।

3. ''**देसोहिस्स य अवरं णरतिरिये**'' जघन्य देशावधि ज्ञान सामान्य मनुष्यों व तिर्यंचों के होता है परन्तु ''**होदि संजदम्हि वरं**'' उत्कृष्ट देशावधि ज्ञान संयमी मुनियों के ही होता है।

4. ''**पडिवादी देसोही**'' देशावधिज्ञान प्रतिपाती होता है अर्थात् एक बार होकर छूट सकता है।

5. ''**अप्पडिवादी हवंति सेसा ओ**'' परन्तु परमावधि व सर्वावधि ये दोनों अवधिज्ञान अप्रतिपाती होते हैं अर्थात् ''**मिच्छत्तं अविरमणं ण य पडिवज्जंति चरिमदुगे**'' इन दोनों ज्ञान के धारी मुनिराज सम्पूर्ण जीवनकाल में मिथ्यात्व या असंयम भाव को प्राप्त नहीं होते हैं।

6. ''**परमोही सव्वोही चरमसरीरस्य विरदस्स**'' परमावधि व सर्वावधि ये दोनों ज्ञान के धारी मुनिराज नियम से चरमशरीर या तद्भवमोक्षगामी होते हैं।

7. उक्त तीनों अवधिज्ञानों में देशावधि व परमावधि ज्ञान तो द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव की मर्यादा सहित होते हुये जघन्य व उत्कृष्ट विषय वाले होते हैं परन्तु सर्वावधि में उत्कृष्ट व जघन्य का भेद नहीं होता है।

उक्त सभी कथनों से यह स्पष्ट होता है कि मिथ्यादृष्टि जीवों की अपेक्षा देशावधि ज्ञान प्रथम एवं द्वितीय इन दो गुणस्थानों में तथा सम्यग्दृष्टि जीवों की अपेक्षा चौथे से बारहवें गुणस्थान पर्यन्त होता है एवं परमावधि व सर्वावधि ये दोनों ज्ञान छठवें गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान पर्यन्त होता है।

मन:पर्ययज्ञान

चिंतियमचिंतियं वा अद्धंचिंतियमणेय–भेयगयं ।
मणपज्जवं ति उच्चइ जं जाणइ तं खु णरलोए ।।[27]

चिन्तित, अचिन्तित अर्द्ध चिन्तित इत्यादि अनेक भेद युक्त द्रव्य को मनुष्य लोक में जो जानता है वह मन:पर्ययज्ञान कहा गया है। अर्थात् जिसका भूतकाल में चिंतन किया हो, भविष्य में जिसका चिंतन किया जायेगा, वर्तमान में चिंतन चल रहा है इत्यादि अनेक प्रकार से दूसरे के मन में स्थित पदार्थ को जो ज्ञान प्रत्यक्ष जानता है उसको मन:पर्ययज्ञान कहते हैं। यह मनुष्य क्षेत्र में ही उत्पन्न होता है बाहर नहीं।

परकीयमनोगतोऽर्थो मन इत्युच्यते । साहचर्यात्तस्य पर्ययणं परिगमनं मन:पर्यय:।[28]

दूसरे के मनोगत अर्थ को मन कहते हैं। उस मन के सम्बन्ध से पर्ययण अर्थात् परिगमन करने वाला ज्ञान मन:पर्ययज्ञान कहलाता है।

वीर्यान्तरायमन: पर्ययज्ञानावरणक्षयोपशम–अंगोपांगनामलाभावष्टम्भात् आत्मन: परकीयमन: संबधेन लब्धवृत्तिरुपयोगोमन:पर्यय:।[29]

वीर्यान्तराय और मन:पर्यय ज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम और अंगोपांग नामकर्म के आलम्बन से आत्मा में जो दूसरे के मन के संबंध से उपयोग जन्म लेता है उसे मन:पर्ययज्ञान कहते हैं।

---

26. जीवकाण्ड/376
27. जीवकाण्ड/438
28. स.सि./01/09/164
29. स.सि./01/23/218

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि यदि मन:पर्ययज्ञान का इस प्रकार लक्षण किया जायेगा तो फिर मतिज्ञान का प्रसंग प्राप्त होता है? नहीं। क्योंकि मन:पर्ययज्ञान में मन की अपेक्षा मात्र है। यद्यपि मन:पर्ययज्ञान केवल अपनी बढ़ी हुई क्षयोपशम शक्ति से ही काम करता है तथापि केवल स्व और पर के मन की अपेक्षा उसका व्यवहार किया जाता है जैसे 'आकाश में चन्द्रमा देखो' यहाँ आकाश की अपेक्षा मात्र होने से ऐसा व्यवहार किया गया है। अत: मन की अपेक्षा मात्र होने से मतिज्ञान का प्रसंग प्राप्त नहीं होता है।

यह मन:पर्ययज्ञान प्रकृष्टचारित्रेषु वर्तते.....ऋद्धिप्रज्ञप्तेषुकेषुचिन्न सर्वेषु।[30]

मन:पर्ययज्ञान प्रमत्त संयत गुणस्थान से लेकर क्षीण कषाय गुणस्थान तक के उत्कृष्ट चारित्र गुण से युक्त जीवों के ही पाया जाता है। वहाँ उत्पन्न होता हुआ भी वह वर्द्धमान चारित्र वाले जीवों के ही उत्पन्न होता है घटते हुये चारित्र वाले जीवों के नहीं। वर्धमान चारित्र वाले जीवों में उत्पन्न होता हुआ भी सात प्रकार की ऋद्धियों में से किसी एक ऋद्धि को प्राप्त हुये जीवों के ही उत्पन्न होता है, अन्य के नहीं। ऋद्धि प्राप्त जीवों में भी किन्हीं के ही उत्पन्न होता है सबके नहीं।

मन:पर्ययज्ञान के भेद

''ऋजुविपुलमती मन:पर्यय:''[31] मन:पर्ययज्ञान के दो भेद होते हैं ऋजुमति मन:पर्ययज्ञान और विपुलमति मन:पर्ययज्ञान।

ऋजुमति व विपुलमति मन:पर्ययज्ञान में अंतर

1. जो ज्ञान मन में स्थित सरल बात या विचारों को अपना विषय बनाता है उसे ऋजुमति मन:पर्ययज्ञान कहते हैं एवं जो ज्ञान दूसरे के मन में स्थित कुटिल विचारों को अपना विषय बनाता है उसे विपुलमति मन:पर्ययज्ञान कहते हैं।[32]

2. ऋजुमति मन:पर्ययज्ञान त्रिकालवर्ती उस पदार्थ को अपना विषय बनाता है जिसको कोई जीव वर्तमान में अपना विषय बना रहा हो परन्तु विपुलमति मन:पर्ययज्ञान त्रिकालवर्ती उन सभी पदार्थों को अपना विषय बना सकता है जो भूतकाल में किसी जीव द्वारा विचार किया गया था या भविष्यकाल में विचार किया जावेगा।[33]

3. ऋजुमतिमन:पर्ययज्ञान अपने तथा पर के स्पर्शनादि इन्द्रियों और मन तथा मनोयोग वचनयोग व काययोग की अपेक्षा लेकर होता है जबकि विपुलमति मन:पर्ययज्ञान में इन सब की कोई अपेक्षा नहीं होती है। यह विपुलमति ज्ञान अवधिज्ञान की तरह अपेक्षा से रहित होता है।[34]

4. ऋजुमति ज्ञान प्रतिपाती होता है जबकि विपुलमति मन:पर्ययज्ञान अप्रतिपाती होता है अर्थात् ऋजुमति मन:पर्ययज्ञान वाला जीव उसी भव से मोक्ष जा भी सकता है और नहीं भी परन्तु विपुलमति मन:पर्ययज्ञान वाला जीव नियम से उसी भव से मुक्ति को प्राप्त करता है। एवं ऋजुमति ज्ञान की विशुद्धि कम होती है जबकि विपुलमति मन:पर्ययज्ञान ऋजुमति ज्ञान से अधिक विशुद्धतर होता है।[35]

5. क्षेत्र की अपेक्षा ऋजुमति मन:पर्ययज्ञान का क्षेत्र जघन्य से कोस पृथक्त्व और उत्कृष्ट से योजन पृथक्त्व है जबकि विपुलमति ज्ञान का जघन्य क्षेत्र योजनपृथक्त्व और उत्कृष्ट मनुष्य लोक प्रमाण है। इस मनुष्य लोक क्षेत्र के संबंध में जीवकाण्डकार आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती कहते हैंकि

णरलोएत्ति य वयणं विक्खंभ–णियामयं ण वट्टस्य।
जम्हा तग्घणपदरं मणपज्जवखेत्तमुद्दिट्ठं।।[36]

यह वृत्ताकार परिधि रूप न होकर समचतुरस्र घनप्रतर पैंतालीस लाख योजन है भाव यह है कि मन:पर्ययज्ञान ढाई द्वीप की

30. स.सि./01/25/222 जीवकाण्ड/445
31. त.सू./01/23
32. जीवकाण्ड/440
33. जीवकाण्ड/441
34. जीवकाण्ड/446
35. जीवकाण्ड/447 त.सू./01/24
36. जीवकाण्ड/456

बात जानता है किन्तु उस क्षेत्र का माप चौकोर है गोल नहीं। इससे मानुषोत्तर पर्वत के बाहर चार कोण चौकोर क्षेत्र में आने से वहाँ के जीव के मनोगत पदार्थ को भी विपुलमति मन:पर्ययज्ञानी जान लेता है। जबकि सर्वार्थसिद्धिकार आचार्य पूज्यपाद स्वामी जी स्पष्ट कहते हैं कि **''उत्कर्षेण मानुषोत्तरशैलस्याभ्यंतरं न बहि:''**।[37] अर्थात् मानुषोत्तर पर्वत के अंदर स्थित जीव के मनोगत पदार्थ को ही अपना विषय बनाता है उसके बाहर स्थित जीव के नहीं।

ऋजुमति व विपुलमति मन:पर्ययज्ञान के गुणस्थान–मन:पर्ययज्ञान चूँकि ऋद्धिधारी मुनियों के ही होता है अत: यह ज्ञान छठवें प्रमत्त संयत गुणस्थान से लेकर क्षीण मोह नामक बारहवें गुणस्थान पर्यन्त जीवों के ही होता है। इसमें चूँकि ऋजुमति मन:पर्ययज्ञान प्रतिपाती होता है अत: 06 से 12 तक के सभी गुणस्थानों में संभव है परन्तु चूँकि विपुलमति मन:पर्ययज्ञान अप्रतिपाती होता है अत: यह ज्ञान 6 से 12वें गुणस्थान में से 11वें गुणस्थान को छोड़कर शेष सभी गुणस्थानों में पाया जाता है क्योंकि 11वें गुणस्थान से जीव नियम से नीचे के गुणस्थानों को प्राप्त होता है।

केवलज्ञान

बाह्योनाभ्यन्तरेण च तपसा यदर्थमर्थिनो मार्गं केवन्ते सेवन्ते तत्केवलम्। असहायमिति वा। तदन्ते प्राप्यते इति अन्ते क्रियते।[38]

अर्थीजन जिसके लिए बाह्य और अभ्यन्तर तप के द्वारा मार्ग का केवन या सेवन करते हैं उसे केवलज्ञान कहते हैं। अथवा केवल शब्द असहायवाची है अत: इसे **असहाय ज्ञान** भी कहते हैं। इस ज्ञान की प्राप्ति सबसे अन्त में होती है इसीलिए इसे सबसे अन्तिम क्रम पर रखा गया है।

''ज्ञानावरणस्यात्यन्तक्षयात् केवलज्ञानं क्षायिकं''[39] ज्ञानावरणकर्म सम्पूर्ण रूप से क्षय हो जाने पर क्षायिक केवलज्ञान उत्पन्न होता है।

मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्।[40]

प्रागेवमोहं क्षयमुपनीयान्तर्मुहूर्त क्षीणकषायव्यपदेशमवाप्य ततो युगपज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायाणां क्षयं कृत्वा केवलमवाप्नोति इति।[41]

पहले ही मोहनीय कर्म का क्षय करके अन्तर्मुहूर्त काल तक क्षीणकषाय संज्ञा को प्राप्त होकर अनन्तर ज्ञानावरण दर्शनावरण और अंतराय कर्म का एक साथ क्षय करके केवलज्ञान को प्राप्त होता है। अत: **यह केवलज्ञान 13वें व 14वें गुणस्थानवर्ती जीवों के एवं सभी सिद्धों के पाया जाता है।**

सपुण्णं तु समग्गं केवलमसवत्तसव्वभावगयं।
लोयालोयवितिमिरं केवलणाणं मुणेदव्वं।।[42]

जो ज्ञान संपूर्ण है, समग्र है, केवल है, प्रतिपक्ष रहित है, सर्व पदार्थगत है और लोकालोक में अन्धकार रहित होता है अर्थात् ज्ञान शक्ति के जितने अंश होते हैं वे संपूर्णतया प्रकट हुये हैं अत: संपूर्ण है। आवरण शक्ति मोहनीय व वीर्यान्तराय के सर्वथा क्षय हो जाने से अप्रतिहत शक्ति वाला यह ज्ञान है अत: समग्र विशेषण दिया है। यह ज्ञान इन्द्रिय आदि की सहायता के बिना स्वयमेव ही अकेले ज्ञान करने में समर्थ है अत: केवल है। यह ज्ञान घातिया कर्म रूपी प्रतिपक्ष से रहित है एवं सभी पदार्थों को विषय करने वाला है तथा लोकालोक प्रकाशक है इसीलिए गाथा में इसके अन्य तीन विशेषण भी दिये गये हैं।

''सालोकानां त्रिलोकानां यद्विद्या दर्पणायते।''[43] इस केवलज्ञान में अलोकाकाश के साथ लोकाकाश में स्थित सभी द्रव्यों

37. स.सि./01/23/218
38. स.सि./01/09/164
39. स.सि./02/04/261
40. त.सू./10/01
41. स.सि./10/01/921
42. जीवकाण्ड/460
43. र.श्रा./0

की जो अनन्त पर्यायें हैं वो सभी एक ही समय में एक साथ युगपत् रूप से दर्पण में प्रतिबिम्बित होते हुये पदार्थों की भाँति झलकती है।

आचार्य पूज्यपाद स्वामी जी कहते हैं कि

अविद्याभिदुरं ज्योतिः परं ज्ञानमयं महत्।
तत्प्रष्टव्यं तदेष्टव्यं तद्दृष्टव्यं मुमुक्षुभिः।।[44]

अर्थात् अज्ञानरूपी अन्धकार को नष्ट करने के लिए यह केवलज्ञान उत्कृष्ट ज्योति के समान है अतः मोक्षाभिलाषी जीवों को इसी केवलज्ञान के बारे में हमेशा पूछना चाहिए, हमेशा नित्य प्रति इसी को अपना इष्ट बनाना चाहिए एवं सदैव इसी का दर्शन करना चाहिए।

एक साथ होने वाले ज्ञान – ''एकादीनिभाज्यानियुगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः''

एक होगा तो केवलज्ञान। दो होंगे तो मतिश्रुत। तीन होंगे मति श्रुत, अवधि अथवा मतिश्रुत मनःपर्यय। चार होंगे तो मति श्रुत अवधि मनःपर्यय ये चार ज्ञान होंगे। पाँचों ज्ञान एक साथ किसी भी जीव के संभव नहीं है।

मोक्ष प्राप्ति योग्य जघन्य व उत्कृष्ट ज्ञान – जघन्यश्रुतज्ञान अष्टप्रवचनमातृका अर्थात् पाँच समिति व तीन गुप्ति रूप सम्यक् आचरण का ज्ञान होना। मुक्ति के लिए अवधि व मनःपर्ययज्ञान का होना आवश्यक नहीं है। उत्कृष्ट रूप से सम्पूर्ण श्रुत का उत्कृष्ट क्षयोपशम भी हो सकता है।

ज्ञान के प्रत्यय – प्रारम्भ के 4 ज्ञान तो कर्म के क्षयोपशम से होते हैं अतः अपने अपने ज्ञानावरण का क्षयोपशम रूप अंतरंग कारण ही प्रमुख कारण है। अंतिम ज्ञान केवलज्ञान सम्पूर्ण ज्ञानावरण कर्म के क्षय से उत्पन्न होता है। बहिरंग कारण के रूप में निरन्तर ग्रन्थों के स्वाध्याय में निरत रहने से श्रुतज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम वृद्धिगत होता है। कहा भी है–

''तातै जिनवर कथित तत्त्व अभ्यास करीजे''
संशय विभ्रम मोह त्याग आपो लख लीजे।

1. जिस प्रकार ये विद्वत् संगोष्ठी आयोजित की गयी है इस प्रकार के विद्वत् सम्मेलन भी ज्ञान के क्षयोपशम बढ़ाने में कारण हैं।
2. ग्रन्थ लेखन – चौतीस स्थान दर्शन जैसे ग्रन्थों के लेखन, पठन–पाठन से भी क्षयोपशम में वृद्धि होती है।
3. शिविर आयोजन
4. ज्ञान के साधनों में सहयोगी बनना
5. ज्ञानावरण कर्म के बन्ध के कारण – प्रदोष निहनव, मात्सर्य, आसादन उपघात आदि से दूर रहना।
6. ज्ञानियों की विनय, जिनवाणी का संरक्षण उसकी विनय बहुमान करना।
7. स्वाध्याय समय कालाचार, शब्दाचार, अर्थाचार, उभयाचार, विनयाचार, बहुमानाचार, उपधानाचार आदि का पालन करना।
8. शास्त्रों ग्रन्थों के प्रकाशन में सहयोग करना।
9. समझ में नहीं आने पर भी ग्रन्थ वाचन करना, पश्चात् पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और उपदेश से भी निरन्तर ज्ञान के क्षयोपशम में वृद्धि होती है।
10. केवलज्ञान के लिए संयम के साथ धर्मध्यान व शुक्लध्यान के माध्यम से ज्ञानावरण का क्षय ही केवलज्ञान उत्पत्ति का प्रमुख कारण है।

44. इष्टोपदेश/50

मन:पर्ययज्ञान

1. **गुणस्थान –** मन:पर्ययज्ञान 6वें गुणस्थान से 12 गुणस्थान तक होता है जिसमें विपुलमति 11वें गुणस्थान में नहीं होता है।

2. **जीव समास –** यह ज्ञान नियम से संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तकों के ही होता है।

3. **पर्याप्तियाँ –** छहों होती हैं।

4. **प्राण –** 10 दसों होते हैं।

5. **संज्ञा –** 4 संज्ञाएँ 10वें गुणस्थान तक होती हैं और यह ज्ञान 12वें तक अत: चारों संज्ञाओं के साथ भी होता है और संज्ञा के अभाव में भी।

6. **गति –** यह ज्ञान केवल मनुष्य गति में ही होती है।

7. **इन्द्रिय –** मात्र पंचेन्द्रिय जीवों के ही होता है।

8. **काय –** मात्र त्रस जीवों के ही संभव है।

9. **भोग –** यह ज्ञान 4 मनोयोग, 4 वचनयोग व 1 औदारिक काययोग में ही संभव है।

10. **वेद –** वेद का उदय 9वें गुणस्थान तक होता है जिसमें तीन वेदों में मात्र पुरुषवेद में ही संभव है और अवेदियों के भी 10,11,12वें गुणस्थान की अपेक्षा संभव है।

11. **कषाय –** 25 कषायों में 11 कषायों के साथ ही संभव है। अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान, स्त्री वेद व नपुंसक वेद इन 14 कषायों में कदापि संभव नहीं है। 6वें 7वें व 8वें में 11 ही कषाय। 8वें गुणस्थान नोकषाय में से हास्यादि 06 का अनुदय हो जाने से 9वें में 05 कषायों के साथ। 10वें गुणस्थान में मात्र 01 सूक्ष्म लोभ के साथ एवं 11वें 12वें गुणस्थान में कषाय रहित परिणामों में होता है।

12. **ज्ञान –** मन:पर्ययज्ञान ही है।

13. **संयम –** असंयमी जीवों के व परिहार विशुद्धि संयम के साथ कदापि नहीं होता है। 6वें गुणस्थान तक सामा व छेदोपस्थापना संयम के साथ, 10वें में सूक्ष्म साम्पराय संयम के साथ तथा 11वें व 12वें में यथाख्यात संयम के साथ ही होता है।

14. **दर्शन –** क्षयोपशम शक्ति की अपेक्षा चक्षु, अचक्षु व केवल इन 03 दर्शनों के साथ संभव है।

15. **लेश्या –** भाव लेश्या की अपेक्षा 6वें, 7वें गुणस्थान में तीन शुभ लेश्याओं में एवं 08 से 12वें तक शुक्ल लेश्या।

16. **भव्य –** भव्य जीवों के ही होता है।

17. **सम्यक्त्व –** यह ज्ञान क्षायिक, क्षायोपशमिक व द्वितीयोशम की अपेक्षा उपशम इस प्रकार तीनों के साथ संभव है। 6वें व 7वें गुणस्थान में तीनों सम्यक्त्व के साथ 8वें से 12 तक क्षायोपशमिक को छोड़कर शेष दो के साथ। उपशम श्रेणी में द्वितीयोपशम के व क्षायिक दोनों हो सकते हैं तथा क्षपक श्रेणी में मात्र क्षायिक ही होगा। 11वें में द्वितीयोपशम व 12वें में क्षायिक ही होता है।

18. **संज्ञी –** संज्ञी जीवों के ही होता है असंज्ञियों के नहीं।

19. **आहारक –** आहारकों के ही होता है अनाहारकों के नहीं।

20. **उपयोग –** ज्ञानोपयोग में 01 मन:पर्ययज्ञान ही होता है एवं क्षयोपशमिक अपेक्षा 03 दर्शनोपयोग।

21. **ध्यान –** यह ज्ञान रौद्रध्यान व एक निदान आर्त ध्यान तथा अंतिम दो शुक्लध्यान के विना 04 धर्मध्यान 03 आर्तध्यान व प्रारम्भ के 02 शुक्लध्यानों में ही संभव है। इसमें भी गुणस्थानापेक्षा 06वें गुणस्थान में उपरोक्त 09 ध्यानों के साथ, 07वें

गुणस्थान में आर्तध्यान व शुक्लध्यान नहीं होता है केवल 04 धर्मध्यान ही संभव है। 08वें, 09वें व 10वें में 04 धर्मध्यान अथवा पहला शुक्लध्यान। 11वें में 01 शुक्लध्यान व 12वें में 02 शुक्लध्यान।

22. आस्रव – आस्रव के 57 भेदों में से 05 मिथ्यात्व व 12 अविरति ऐसे 17 कारण कदापि नहीं होते हैं। 25 कषाय और 15 योग इन 40 कारणों में 11 कषाय और 09 योग ऐसे 20 कारण सामान्य से होते हैं। उनमें भी गुणस्थान अपेक्षा 6वें, 07वें व 08वें गुणस्थान में उक्त 20 कारण संभव है। 09वें में हास्यादि 06 कषाय कम हो जाने से 14 कारण, 10वें में 01 लोभ कषाय व 09 योग ये 10 कारण, 11वें व 12वें गुणस्थान में 09 योग मात्र से ही आस्रव संभव है।

23. जाति – 14 लाख सभी गुणस्थान में संभव है।

24. कुल – 14 लाख करोड़ सभी गुणस्थान में संभव है।

25. संख्या – संख्यात होती है। विशेष यह है कि उपशम व क्षपक श्रेणी में मन:पर्ययज्ञानियों की संख्या क्रमश: 10 और 20 प्रत्येक गुणस्थान में पृथक्-पृथक् होती है। अत: 6 व 7 में संख्यात, 8,9,10 उपशम श्रेणी में 10 और क्षपक श्रेणी में 20। 11वें में 10 और 12वें में 20 होती है।

26. क्षेत्र – लोक का असंख्यातवाँ भाग।

27. स्पर्शन – लोक का असंख्यातवाँ भाग।

28. काल – सामान्य से नानाजीवा अपेक्षा सर्वकाल है एवं एक जीव अपेक्षा जघन्य-अन्तर्मुहूर्त एवं उत्कृष्ट कुछ कम एक पूर्वकोटि है। गुणस्थानापेक्षया 6वें 7वें में नानाजीव-सर्वकाल। एक जीव जघन्य एक समय उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त। 8वें, 9वें, 10वें गुणस्थान में नाना व एक जीव उपशामक का जघन्य 01 समय व उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त है। क्षपक में यही काल अन्तर्मुहूर्त है। 11वें गुणस्थान में एक समय व उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त। 12वें गुणस्थान में अन्तर्मुहूर्त है।

29. अन्तर – नानाजीवापेक्षा अन्तर नहीं है। एकजीवापेक्षा जघन्य अन्तर्मुहूर्त उत्कृष्ट कुछ कर्म अर्द्ध पुद्गल परा. गुणस्थाना अपेक्षा-6वें 7वें गुणस्थान में जघन्य व उत्कृष्ट-अन्तर्मुहूर्त। 08वें, 09वें, 10वें गुणस्थान में उपशम श्रेणी अपेक्षा-जघन्य 01 समय उत्कृष्ट-वर्ष पृथक्त्व। एकजीवापेक्षा-जघन्य अन्तर्मुहूर्त उत्कृष्ट एक पूर्वकोटि कुछ कम। क्षपक की अपेक्षज्ञ-नानाजीवा-जघन्य-01 समय उत्कृष्ट-वर्ष पृथक्त्व। एक जीव अपेक्षा अन्तर नहीं है। 11वें में नानाजीव-जघन्य 01 समय उत्कृष्ट वर्ष पृथक्त्व। एकजीवापेक्षया-जघन्य अन्तर्मुहूर्त उत्कृष्ट कुछ कम 01 पूर्वकोटि। 12वें में नानाजीव-जघन्य 01 समय उत्कृष्ट वर्ष पृथक्त्व। एकजीवापेक्षा अन्तर नहीं है।

30. भाव – जीव के 53 भावों में मन:पर्ययज्ञान के साथ 28 भावों का कथन चउतीसठाना में किया गया है। जिसमें औदायिक भाव-11, क्षायोपशमिक-11, पा.-02, औ.-02, क्षा.-02।

गुणस्थानापेक्षा-6वें 7वें में-26 ही होना चाहिए जबकि औ. चारित्र व क्षायिक चा. को ग्रहण किया है जो संभव नहीं है। 8वें-9वें में-औ. 09 मि.-09 क्षा.-02, औ.-02, औ.-02, पा.-02 इस तरह 24 भाव हो सकते हैं। (02 लेश्या व क्षा. सम्यक्त्व चारित्र कम हो गये)। 10 वे गुणस्थान में औद.-05 (मनुष्य गति, स. लोभ, ज्ञान, असिद्ध, शुक्ल लेश्या) मिश्र के-09, क्षा.-02, पा.-02, औ.-02)। 12वें गुणस्थान में 17 भाव होंगे- औ.-04 मि.-09, पा.-02 और क्षा.-02)

31. अवगाहना – जघन्य 3½ हाथ उत्कृष्ट 525 धनुष।

32. बंध – सामान्य से 65 प्रकृतियों का। 6वें गुणस्थान में 63 (आहा. द्विक को छोड़कर) 7वें-59 (06 की व्यु. होगी पर आह. द्विक का बंध होने लगेगा) 8वें-58 (देवायु विना), 9वें में-22 (36 की व्युच्छित्ति होने से), 10वें-17 (05 की व्युच्छित्ति होने से) 11वें में-01 (16 प्र. की व्युच्छित्ति होने से, 12वें में 01।

33. **उदय –** सामान्य से 77 का। 6वें में 77। 7वें में–74 (सम्यक् प्रकृति व आहा. द्विक कम होगी)। 8वें में–70 9वें में–64 (हास्यादि–06 की व्युच्छित्ति)। 10वें में 60 (तीन संज्वलन कषाय व पुरुषवेद)। 11वें में 59 (लोक का अभाव)। 12वें में 57 02 संहनन का अभाव होने से।

34. **सत्त्व –** सामान्य से तिर्यंच व नरकायु बिना 146 का सत्त्व होता है।

केवलज्ञान 34 स्थान

1. **गुणस्थान –** यह ज्ञान 13वें व 14वें इन दो गुणस्थानों में ही पाया जाता है।

2. **जीव समास –** यह ज्ञान संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तकों के ही होता है परन्तु केवली समुद्घात की अपेक्षा संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्तकों में भी संभव है।

3. **पर्याप्ति –** छहों पर्याप्तियाँ होती हैं। समुद्घात अपेक्षा छहों अपर्याप्तियाँ भी हैं।

4. **प्राण –** सामान्य से पर्याप्त अवस्था में 04 प्राण (आयु, कायबल, वचनबल व श्वासोच्छवास) होते हैं।

5. **संज्ञा –** यह ज्ञान चारों प्रकार की संज्ञा रहित जीवों में पाया जाता है।

6. **गति –** मात्र मनुष्य गति में ही संभव है।

7. **इन्द्रिय –** पंचेन्द्रिय जीवों के ही होता है।

8. **काय –** त्रसकाय जीवों के ही होता है।

9. **योग –** 13वें गुणस्थानवर्ती केवलज्ञानियों 02 मनोयोग, 02 वचनयोग व 03 काययोग संभव है। समुद्घात के समय कपाट अवस्था में औदारिक मिश्र व प्रतरलोकपूरण में कार्मण काययोग होता है। 14वें गुणस्थान में योगों का अभाव है।

10. **वेद –** अवेदियों के ही होता है क्योंकि वेद का उदय 9वें गुणस्थान तक ही संभव है।

11. **कषाय –** कषाय रहित जीवों के होता है क्योंकि कषाय का उदय 10वें गुणस्थान तक ही होता है।

12. **ज्ञान –** केवलज्ञान ही होगा।

13. **संयम –** यथाख्यात संयम ही होता है क्योंकि 11,12,13 व 14 गुणस्थान में 01 ही संयम होता है।

14. **दर्शन –** केवलदर्शन मात्र।

15. **लेश्या –** शुक्ल लेश्या मात्र ही होती है।

16. **भव्य –** भव्य जीव को ही उत्पन्न होता है।

17. **सम्यक्त्व –** इस ज्ञान के साथ क्षायिक सम्यक्त्व ही पाया जाता है।

18. **संज्ञित्व –** 13वें 14वें गुणस्थान में जीव न तो संज्ञी है न असंज्ञी।

19. **आहार –** सामान्य से 13वें गुणस्थान में आहारक ही होता है परन्तु समुद्घात के समय प्रतर व लोकपूरण अवस्था में एवं सम्पूर्ण 14वें गुणस्थान में अनाहारक होता है।

20. **उपयोग –** दो होते हैं– केवलज्ञान व केवलदर्शन।

21. **ध्यान –** दो अंतिम शुक्लध्यान होते हैं। 13वें गुणस्थान में सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती एवं 14वें में अंतिम व्युपरत क्रिया निवर्तीमि।

22. **आस्रव –** 13वें गुणस्थान में 07 योग संभव है। 02 मनोयोग 02 वचन व 03 काययोग। समुद्घात समय कपाट अवस्था में औदारिक मिश्र एवं प्रतर व लोकपूरण में कार्माण काययोग से आस्रव होता है। 14वें गुण में आस्रव का अभाव है।

23. **जाति –** 14 लाख प्रमाण।

24. **कुलकोटि –** 14 लाख करोड़।

25. **संख्या –** 13वें गुणस्थान में जीवों की संख्या 8,98,502 है एवं 14वें गुणस्थान में 598 होती है।

26. क्षेत्र व अन्तर – 13वें गुणस्थान में सामान्य से लोक के असंख्यातवें भाग में जीव रहता है। कपाट प्रतर अवस्था में असंख्यात बहुभाग में एवं लोकपूरण के समय सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हो जाता है। 14वें गुणस्थान में लोक का असंख्यातवाँ भाग क्षेत्र होता है।

28. काल – 13वें गुणस्थान में नानाजीवापेक्षया सर्वकाल है। एकजीवपेक्षया जघन्य अन्तर्मुहूर्त एवं उत्कृष्ट काल कुछ कम एक पूर्व कोटि है।

29. अन्तर – 13वें गुणस्थान में नानाजीव व एक जीव अपेक्षा कोई अंतर नहीं है। 14वें गुणस्थान में नानाजीवापेक्षा जघन्य अन्तर एक समय व उत्कृष्ट छह माह है। एक जीवापेक्षा अंतर नहीं है।

30. भाव – 13वें गुणस्थान में 14 भाव (09 क्षायिक 02 पारि. एवं 03 औ. मनुष्य गति, असिद्ध, शुक्ल लेश्या) होते हैं एवं 14वें गुणस्थान में 13 भाव होंगे शुक्ल लेश्या कम हो जायेगी।

31. अवगाहना – जघन्य 3½ हाथ व उत्कृष्ट 525 धनुष।

32. बन्ध – 13वें गुणस्थान में 01 सातावेदनीय का बंध है। 14वें में बंध का अभाव है।

33. उदय – 13वें में 42 प्रकृतियाँ उदय योग्य हैं एवं 14वें गुणस्थान में 12 प्रकृतियाँ उदय योग्य हैं। तीर्थंकरों के 14वें गुणस्थान में 13 प्रकृतियाँ उदय योग्य हैं।

34. सत्त्व – 13वें एवं 14वें गुणस्थान में 85 प्रकृतियाँ सत्त्व योग्य होती हैं। 14वें गुणस्थान के अंतिम समय 12 अथवा 13 प्रकृतियाँ ही सत्त्व योग्य होती हैं।

संयम मार्गणा की परिभाषा, भेद एवं परिहार विशुद्धि और यथाख्यात संयम में विशेष बिन्दुओं पर प्रकाश

डॉ. पंकज जैन शास्त्री, भोपाल
प्राध्यापक, संस्कृत
शिक्षा विभाग, म.प्र. शासन
इन्दौर, म.प्र.
मो. 9584201103

उच्चारणाचार्य परमपूज्य आचार्य श्री 108 विनम्रसागर जी महाराज का वर्तमान में दिगम्बर जैनाचार्यों में महत्त्वपूर्ण स्थान है। आप समत्व की साधना में सतत् निरत रहते हुए अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग की धारा में निरन्तर तल्लीन रहते हैं। जिनवाणी के चारों अनुयोगों के आप अधिकारी विद्वान् हैं। करणानुयोग के अति क्लिष्ट विषयों को आपने हृदयंगम कर लिया है। स्वाध्यायी भव्यात्मा जीवों के कल्याणार्थ आपने श्रीधवला टीका, गोम्मटसार जीवकाण्ड एवं कर्मकाण्ड आदि क्लिष्ट ग्रन्थों का सार सिद्धान्त प्रबोध (चौंतीस स्थान दर्शन) कृति में प्रस्तुत किया है। इस कृति पर आपने प्राकृत भाषा में ''सिद्धान्त प्रबोध ग्रन्थ'' की रचना करके सभी स्वाध्यायी जीवों पर अनन्य उपकार किया है। इस ग्रन्थ के द्वारा कर्म सिद्धान्त सम्बन्धी क्लिष्ट विषय भी मतिगम्य हो जाते हैं।

प्रस्तुत आलेख में ''चौंतीस स्थान दर्शन'' कृति के आलोक में संयम मार्गणा और इस मार्गणा के अन्तर्गत परिहार विशुद्धि एवं यथाख्यात संयम आदि विषयों पर विशेष प्रकाश डाला गया है।

मार्गणा – सामान्यत: ऊहा, ईहा, अपोहा, मार्गणा, गवेषणा और मीमांसा ये एकार्थवाचक नाम हैं।

प्राकृत पंच संग्रह ग्रन्थ में लिखा है कि–

जाहि व जासु व जीवा मग्गिज्जंते जहा तहा दिट्ठा।
ताओ चोद्दस जाणे सुदणाणेण मग्गणाओ त्ति।।1/56।।

अर्थात् जिन प्रवचन दृष्ट जीव जिन भावों के द्वारा अथवा जिन पर्यायों में अनुमार्गण किये जाते हैं अर्थात् खोजे जाते हैं, उन्हें मार्गणा कहते हैं। जीवों का अन्वेषण करने वाली मार्गणाएँ श्रुतज्ञान में चौदह कही गयी हैं।

श्री षट्खण्डागम ग्रन्थ की धवला टीका में आचार्य वीरसेन स्वामी ने लिखा है कि– चतुर्दशानां जीवस्थानानां चतुर्दश गुणस्थानामित्यर्थ:। तेषां मार्गणा गवेषणमन्वेषणमित्यर्थ: ।.....चतुर्दशजीव समासा: सदादिविशिष्टा: मार्ग्यंतेऽस्मिन् अनेन वेति मार्गणा ।'' (धवला 7/2, 13/7/8)

अर्थात् चौदह जीव समासों से यहाँ पर चौदह गुणस्थान विवक्षित हैं। मार्गणा, गवेषणा और अन्वेषण ये तीनों शब्द एकार्थवाची हैं। सत् संख्या आदि अनुयोग द्वारों से युक्त चौदह जीव समास जिसमें या जिसके द्वारा खोजे जाते हैं, उसे मार्गणा कहते हैं।

आगम ग्रन्थों में ''मार्गणा'' के लिए आदेश या विस्तार शब्दों का भी प्रयोग किया गया है।

चौदह मार्गणा स्थान – श्री षट्खण्डागम ग्रन्थराज में चौदह मार्गणा स्थानों का नामोल्लेख प्राप्त होता है।

''गइ इंदिए च काए जोगे वेदे कसाय णाणे संजमे दंसणे लेस्साए भविय सम्मत्त सण्णि आहारए चेदि।'' (षट्खंडागम/1/1,/1/सूत्र 4/132

अर्थात् गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्य, सम्यक्त्व, संज्ञी और आहारक, ये चौदह मार्गणा स्थान हैं।

सांतर मार्गणाएँ – एक मार्गणा को छोड़ने के पश्चात् पुन: उसी मार्गणा में लौटने के लिए कुछ काल का अंतर पड़ता हो तब वह मार्गणा सांतर कहलाती है। वे आठ हैं–

मणुया य अपज्जता वेउव्वियमिस्सऽहारया दोण्णि।
सुहुमो सासणमिस्सो उवसमसम्मो य संतरा अट्ठ।। (पंचसंग्रह, प्राकृत, 1/58)

अर्थात् अपर्याप्त मनुष्य, वैक्रियक मिश्र काययोग दोनों आहारक योग, सूक्ष्म साम्पराय संयम, सासादन, सम्यग्मिथ्यात्व और उपशम सम्यक्त्व ये आठ सांतर मार्गणा होती हैं।

मार्गणा प्रकरण के चार अधिकार – आचार्य वीरसेन स्वामी ने धवला टीका में मार्गणा प्रकरण के चार अधिकारों का वर्णन किया है– मृगयिता, मृग्य, मार्गण और मार्गणोपाय ।। (धवला 1/1,1,4/133/4)

जीवादि पदार्थों का श्रद्धान करने वाला भव्य पुंडरिक मृगयिता है। चौदह गुणस्थानों से युक्त जीव मृग्य हैं, जो इस मृग्य के आधारभूत हैं अर्थात् मृगयिता को अन्वेषण करने में अत्यंत सहायक है ऐसी गति आदि मार्गणा है तथा शिष्य और उपाध्याय आदि मार्गणा के उपाय हैं।

संयम मार्गणा – संयम के द्वारा आत्मा या जीवों का अन्वेषण संयम मार्गणा है–

संयम मार्गणा के सात भेद हैं– (1) असंयम (2) संयमासंयम (3) सामायिक (4) छेदोपस्थापना (5) परिहार विशुद्धि (6) सूक्ष्म साम्पराय और (7) यथाख्यात चारित्र।

1. **असंयम –** पाँच इन्द्रियों और मन को वश में नहीं करना और षट्कायिक जीवों की रक्षा नहीं करना असंयम है।

2. **संयमासंयम –** स्थावर हिंसा का त्यागी नहीं, त्रस हिंसा का त्याग करके जो संयम का भाव होता है वह देशसंयम अथवा संयमासंयम कहलाता है। यह पाँचवें गुणस्थान में होता है।

संयमासंयम में अप्रत्याख्यानावरण कषाय के सर्वघाती स्पर्धकों का उदयाभावी क्षय और प्रत्याख्यानावरण कषाय के सर्वघाती स्पर्धकों का उदय तथा संज्वलन कषाय के देशघाती स्पर्धकों का उदय होता है उसे संयमासंयम कहते हैं।

3. **सामायिक संयम –** सभी प्रकार के सावद्य (पाप क्रिया) योग को त्याग कर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में समता का होना सामायिक संयम है। यह छठवें से नौवें गुणस्थान तक होता है।

4. **छेदोपस्थापना संयम –** प्रमाद के वश में दोष लगाना, छेद लगाना छेद कहलाता है। उपस्थापना का अर्थ है लगे हुए दोषों में प्रायश्चित आदि करके फिर से व्रतों की स्थापना करना। यह छठवें से नौवें गुणस्थान तक होता है।

5. **परिहार विशुद्धि चारित्र का लक्षण –** सर्वार्थसिद्धिकार आचार्य श्री पूज्यपाद ने परिहार विशुद्धि चारित्र का लक्षण स्पष्ट करते हुए लिखा है कि– ''परिहरणं परिहार: प्राणिवधान्निवृत्ति: । तेन विशिष्टा शुद्धि: यस्मिन् तत्परिहार विशुद्धि चारित्रम्।'' (स.सि./9/18/436/7) अर्थात् प्राणिवध से निवृत्ति को परिहार कहते हैं। इस युक्त शुद्धि जिस चारित्र में होती है वह परिहार विशुद्धि चारित्र है।

प्राकृत पंच संग्रह ग्रन्थ में लिखा है कि–

पंचसमिदो तिगुत्तो परिहरइ सया वि जोहु सावज्जं।
पंचजमेयजमो वा परिहारयसंजदो साहू।।131।।

अर्थात् पाँच समिति और तीन गुप्तियों से युक्त होकर सदा ही सर्व सावद्य योग का परिहार करना तथा पाँच यमरूप भेद संयम (छेदोपस्थापना) को अथवा एक यमरूप अभेद संयम (सामायिक) को धारण करना परिहार विशुद्धि संयम है और उसका धारक साधु परिहार विशुद्धि संयत कहलाता है।

परिहार विशुद्धि संयम की पात्रता पर प्रकाश डालते हुए धवलाकार आचार्य भगवन् वीरसेन स्वामी ने धवला (7/2,2149) टीका में लिखा है कि– तीस वर्षों को बिताकर (संयम ग्रहण किया) पश्चात् वर्ष पृथक्त्व से तीर्थंकर के पादमूल में प्रत्याख्यान

नामक पूर्व को पढ़कर पुन: परिहार विशुद्धि संयम को प्राप्त कर और कुछ कम पूर्वकोटि वर्ष तक रहकर देवों में उत्पन्न हुए जीव के उपर्युक्त काल प्रमाण कहना चाहिए। इस प्रकार अड़तीस वर्षों से कम पूर्वकोटि वर्ष प्रमाण परिहार विशुद्धि संयत का काल कहा गया है। कोई आचार्य सोलह वर्षों से और कोई बाईस वर्षों से कम पूर्वकोटि वर्ष प्रमाण कहते हैं।

परिहार-शुद्धि संयत प्रमत्त (छठवें) और अप्रमत्त (सातवें) इन दो गुणस्थानों में ही होते हैं।

मन:पर्यय ज्ञान, परिहार विशुद्धि संयम, प्रथमोपशम सम्यक्त्व और दोनों आहारक अर्थात् आहारक शरीर और आहारक अंगोपांग इन चारों में से किसी एक के होने पर शेष तीन मार्गणाएँ नहीं होतीं, ऐसा जानना चाहिए।

परिहार विशुद्धि संयत के तैजस समुद्घात और आहारकसमुद्घात ये दो पद नहीं होते। परिहार शुद्धि संयत जीव के विक्रिया ऋद्धि और आहारक ऋद्धि के साथ इस संयम के होने का विरोध है।

परिहार विशुद्धि संयम को नहीं छोड़ने वाले जीव के उपशम श्रेणी पर चढ़ने के लिए दर्शन मोहनीय कर्म का उपशम होना भी संभव नहीं है। अर्थात् परिहार विशुद्धि संयम के उपशम सम्यक्त्व व उपशम श्रेणी होना संभव नहीं है।

परिहार विशुद्धि संयम वाले मुनिराज जमीन से चार अंगुल ऊपर चलते हैं। संधिकाल को छोड़कर नित्य दो कोस तक गमन करते हैं, रात्रि में गमन नहीं करते, वर्षाकाल में गमन का नियम नहीं है।

तीर्थंकर भगवान् में परिहार विशुद्धि संयम आहारक शरीर नहीं होता है, क्योंकि दीक्षा के उपरान्त तत्काल मन:पर्यय ज्ञान हो जाता है।

सूक्ष्म साम्पराय संयम – जहाँ पर केवल सूक्ष्म लोभ रह जाता है अन्य कषायों का क्षय अथवा उपशम हो जाता है उसे सूक्ष्म साम्पराय कहते हैं, अथवा जहाँ पर सूक्ष्म लोभ का अनुभव किया जाता है उसे सूक्ष्म साम्पराय संयम कहते हैं। यह दसवें गुणस्थान में रहता है।

यथाख्यात संयम – जिस गुणस्थान में सम्पूर्ण कषायों का अभाव हो जाता है तथा आत्मा का जैसा स्वरूप है, वैसा ही अनुभव होता है उसे यथाख्यात संयम कहते हैं। यह संयम ग्यारहवें से चौदहवें गुणस्थान में पाया जाता है।

वेद की अपेक्षा संयम – भाव स्त्री वेद में चार संयम होते हैं- (1) असंयम (2) संयमासंयम (3) सामायिक संयम (4) छेदोपस्थापना। वेद नौवें गुणस्थान तक रहता है। दसवें गुणस्थान से अवेदी हो जाता है।

भाव पुरुष वेद में यथाख्यात, सूक्ष्म साम्पराय के बिना सभी संयम पाये जाते हैं। द्रव्य पुरुष वेद में सभी संयम पाये जाते हैं।

धवला टीका में आचार्य वीरसेन स्वामी ने एक जिज्ञासा उपस्थपित करते हुए उसका समाधान भी किया है। वे कहते हैं कि- संयम मार्गणा में संयम, संयमासंयम और असंयम इन तीनों का ग्रहण होता है तो इस मार्गणा को संयमानुवाद का नाम देना युक्त नहीं है? इसका समाधान करते हुए आचार्य वीरसेन स्वामी ने लिखा है कि- नहीं, क्योंकि 'आम्रवन' वा 'निंबवन' इन नामों के समान प्राधान्यपद का आश्रय लेकर 'संयमानुवाद से' यह व्यपदेश करना युक्तियुक्त है।

इस प्रकार संयम मार्गणा के अन्तर्गत असंयम और सभी प्रकार के संयम की विशद् विवेचना प्राप्त होती है। इस विवेचन को हृदयंगम करने से जीव को असंयम से हटकर संयम ग्रहण करने का प्रबल भाव प्रकट होता है। संयम को ग्रहण करने से ही सम्यक् चारित्र का प्रादुर्भाव होता है। संयम की परिपूर्णता से ही सम्यक् चारित्र की पूर्णता होती है और जीव को मोक्ष की प्राप्ति होती है।

'चौंतीस स्थान दर्शन' कृति और उसकी सिद्धान्त प्रबोधिनी टीका में आचार्य श्री विनम्रसागर महाराज ने गुणस्थान एवं मार्गणा के अन्तर्गत जीव के सभी भावों और उसकी स्थिति की स्पष्ट विवेचना की है। इस ग्रन्थ के पठन-पाठन और मनन में स्वाध्यायी जीव करणानुयोग के कठिन विषयों का सरलता से अवबोध कर सकता है।

दशकरण का स्वरूप व गुणस्थानों में करण की परिगणना

डॉ. आशीष कुमार जैन, बम्हौरी
असिस्टेंट प्रोफेसर
जैन और प्राकृत अध्ययन विभाग,
एकलव्य विश्वविद्यालय, दमोह (म.प्र.)

जैन कर्म सिद्धान्त में कर्म की विविध अवस्थाओं का अति सूक्ष्म वर्णन किया गया है। सैद्धान्तिक भाषा में इन अवस्थाओं को 'करण' कहा जाता है। जैन सिद्धान्त कोश में करण की परिभाषा करते हुये कहा गया है कि 'जीव के शुभ अशुभ आदि परिणामों की करण संज्ञा है।[1] गुणों की अवस्था को 'परिणाम' कहा जाता है।[2] यह प्रतिक्षण परिणमनशील रहता है। आत्मा के परिणामों को संज्ञा देने का कारण बतलाते हुये धवलाकार ने कहा है कि 'जीव के शुभ–अशुभ परिणाम ही कर्मों की विविध अवस्थाओं का मूल कारण है'[3] इसलिए साधकतम भाव की विवक्षा में भी परिणामों को 'करण' कहा जाता है।

नाथमल टॉटिया ने स्टडीजज इन जैन फिलॉसफी में कहा है कि क्रियाओं की विभिन्नता का कारण, जीव की वीर्य अर्थात् ऊर्जा शक्ति की हीनाधिकता है। इस विभिन्नता के कारण ही कर्म पुद्गलों की विभिन्न अवस्थाएँ हो जाती हैं, जिन्हें जैन परिभाषिक शब्दावली में 'करण' कहा जाता है।[4]

करण शब्द का अर्थ – 'कृ' धातु से ल्युट् प्रत्यय लगकर करण शब्द बनता है। जिसका अर्थ सामान्य क्रिया है। करण शब्द इन्द्रिय का भी वाचक है। किसी कार्य सिद्धि में साधकतम कारण भी 'करण' कहा जाता है। साधकतमं करणम्[5] यह करण भी दो प्रकार का कहा गया है– बाह्य और अभ्यन्तर। ज्ञान–विज्ञान के अनेक क्षेत्रों में इस शब्द का अनेक अर्थों में प्रयोग हुआ है।

जैन दर्शन के आलोक में करण शब्द का अर्थ – चार अनुयोगों में विभक्त जिनागम में एक अनुयोग करणानुयोग है, वहाँ 'करण' शब्द का अर्थ 'गणित' किया गया है। आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने **'एवमिदं स्पर्शनादिकरणं.....'**[6] यहाँ करण का अर्थ स्पर्शनादि **'इन्द्रिय'** किया है। श्री समयसार की आत्म ख्याति 47 शक्तियों के प्रकरण में आत्मा की एक शक्ति विशेष 'करण शक्ति' कही है। वहाँ लिखा है– **''भवद्भावभवनसाधकतमत्वमयी करण शक्तिः''** अर्थात् होते हुए भाव के होने में अतिशय साधकतमपनेमयी आत्मा की करण शक्ति है।[7] अन्यत्र भी **'करणाः परिणामाः'** कहकर करण शब्द का अर्थ 'जीव का परिणाम'[8] लिया है। इसी तरह 'करण' से जीव के त्रिकरणरूप **(अधः करण, अपूर्वकरण व अनिवृत्तिकरण)** परिणाम[9] भी आगम से जानना चाहिए।

करण का लक्षण – परिणाम व इंद्रिय –

करणं चक्षुरादि।[10]

चक्षु आदि इंद्रियों को करण कहते हैं।

करणाः परिणामाः।[11]

करण शब्द का अर्थ परिणाम है।

इंद्रियों व परिणामों को करण संज्ञा देने में हेतु

कधं परिणामाणं करणं सण्णा। ण एस दोसो, असि–वासीणं व सहायतमभावविवक्खाए परिणामाणं करणत्तुवलंभादो।[12]

प्रश्न – परिणामों की 'करण' यह संज्ञा कैसे हुई?

उत्तर – यह कोई दोष नहीं है; क्योंकि, असि (तलवार) और वासि (वसूला) के समान साधकतम भाव की विवक्षा में परिणामों के करणपना पाया जाता है।

क्रियंते रूपादिगोचरा विज्ञप्तय एभिरिति करणानि इंद्रियाण्युच्यंतेक्वचित्करण–शब्देन।[13]

क्योंकि इनके द्वारा रूपादि पदार्थों को ग्रहण करने वाले ज्ञान किये जाते हैं इसलिए इंद्रियों को करण कहते हैं।

गोम्मटसार में करण शब्द कर्म पुद्गलों की विभिन्न अवस्थाओं का द्योतन कराने वाला कहा गया है।

इस तरह लौकिक और आगमिक उपर्युक्त अनेक अर्थों से प्रस्तुत आलेख में प्रयुक्त करण शब्द का अर्थ भिन्न ही है। यहाँ पर 'करण' शब्द का अर्थ **'कर्म प्रकृतियों की नियत विभिन्न अवस्था लेना उपयुक्त है।'**

जीव के परिणाम विशेष से कर्म तो बंध गया; किन्तु उसका विविध अवस्थाओं में विभाजन कैसे होता है? इसे समझने के लिए एक सामान्य से उदाहरण को लेकर विचार कर सकते हैं।

जिस प्रकार भोजन ग्रहण करने के पश्चात् उस भोजन की तथा ग्रहण करने वाले व्यक्ति के शरीर की पाचन क्षमता – दोनों के परस्पर निमित्त से वह भोजन रक्त, हड्डी, माँस आदि रूप में सहज ही परिणमित हो जाता है, उसी प्रकार जब जीव अपने मोहादि भावों के निमित्त से कर्मों को बाँधता है, तब उन कर्मों (कार्मण वर्गणाओं) की स्वयं की योग्यता तथा जीव के स्वयं के विविध जाति के विशिष्ट परिणामों के निमित्तवशात् उन कर्मों की जाति में भी विविधता तथा उनकी फलदान शक्ति आदि में भी विशेषता आती ही है।

तात्पर्य यह है कि उन कर्म वर्गणाओं में स्वयं में ही ऐसी योग्यता होती है, जिससे उनकी अवस्थाओं में अन्तर हो सके तथा उनमें जीव के विविध प्रकार के भावों का निमित्त भी कारण बन जाता है। इस तरह इन दोनों कारणों के परस्पर निमित्त से कर्मों की विविध प्रकार की अवस्थाएँ स्वत: ही निर्मित्त हो जाती हैं, जिन्हें आगम में 'करण' संज्ञा भी दी गई है।

करण संज्ञा से युक्त कर्मों की उन अवस्थाओं को आगम में सामान्य से 10 भेदों में बाँटा गया है। वे निम्नानुसार हैं–

बंधुक्कड्ढणकरणं, संकममोकड्ढुदीरणा सत्तं।
उदयुवसामणिधत्ती, णिकाचणा होंति पडिपयडी।।[14]

अर्थात् बन्ध, उत्कर्षण, संक्रमण, अपकर्षण, उदीरणा, सत्त्व, उदय, उपशम, निधत्ति और निकाचना ये दस करण हैं, दशकरण प्रत्येक प्रकृति में होते हैं।

'करण' अर्थात् अवस्था। तात्पर्य यह है कि कर्म पुद्गलों की ये विशिष्ट दश अवस्थाएँ जानना चाहिए। इन दश अवस्थाओं का यह क्रम गोम्मटसार कर्मकाण्ड के अनुसार है।

अर्थात् कर्म प्रकृतियों की ये दस विभिन्न अवस्थाएँ होती हैं। प्रस्तुत आलेख में कर्म पुद्गलों की नियत अवस्थाओं में व्यावृत्त होने वाला शब्द गृहीत है। उक्त दसकरण में बन्ध, उदय और सत्त्व की विवेचन विस्तार से प्राप्त है। शेष सात करणों की विवेचना संक्षेप में प्राप्त है। इसी तरह पूज्य आचार्य श्री विनम्रसागर जी महाराज द्वारा लिखित सिद्धांत प्रबोधिनी टीका– चौंतीस स्थान दर्शन के दोनों भागों में दशकरण में से बन्ध, उदय और सत्त्व की विवेचना विस्तार से प्राप्त होती है। और परिशिष्ट क्रमांक 15, भाग–2 में दशकरण का संक्षेप में वर्णन किया है।

विचारणीय है कि आचार्यों ने बन्ध, उदय और सत्त्व की विवेचना अत्याधिक विस्तार से की है उसका कारण प्रतीत होता है कि दसकरणों में से जीव को फल तो उदयागत कर्म ही देता है अत: उदय ही बलवान है तथा कर्मों का उदय ही तीनों लोकों में बहुचर्चित है अत: उदय का कारण षट्खण्डागम आदि ग्रंथों में विस्तार से उपलब्ध है। इसी प्रकार बन्ध के विषय में भी विस्तार से वर्णन मिलता है। 'महाबन्ध ग्रन्थ' पूरा का पूरा बन्ध प्ररूपक स्वतन्त्र ग्रन्थ है। वस्तुत: बन्ध ही तो अन्य नौ करण रूप कार्यों का कारण है। यदि कर्म बन्ध रूप कारण नहीं हो तो अन्य सत्त्वादि करण कैसे सम्भव होंगे अत: उदय की तरह बन्ध का विवेचन भी विस्तार से किया गया है।

इसी प्रकार सत्त्व की विवेचना भी विस्तार से उपलब्ध है, क्योंकि एक तो सत्त्व बंध का कार्य है और उदय का कारण भी है अत: सत्त्व कारण और कार्य दोनों हैं। कर्मकाण्ड की 972 गाथाओं में सर्वाधिक वर्णन बंध, उदय और सत्त्व का ही प्राप्त है।

सिद्धान्त प्रबोध ग्रन्थ– चौंतीस स्थान दर्शन, परिशिष्ट 15 भाग में दशकरणों का विवेचन इस प्रकार है[15]– आचार्य श्री विनम्रसागर जी महाराज ने यहाँ जो दशकरणों का वर्णन किया है वह गोम्मटसार कर्मकाण्ड के अनुसार है।[16]

दशकरणों के नाम – बंध, उत्कर्षण, संक्रमण, अपकर्षण, उदीरणा, सत्त्व, उदय, उपशम, निधत्ति, निकाचित (निकाचना), ये दशकरण (अवस्था) हर एक कर्म प्रकृति के होते हैं।

(1) बंधकरण – बंध शब्द 'बंध्' धातु से 'घञ्' प्रत्यय लगकर बना है। संस्कृत, हिन्दी कोश, पृ. 705 जिसका अर्थ है बाँधना, कसना अथवा जकड़ना। आत्मप्रदेशों से कर्मों का बँधना बंध कहलाता है। कर्म की यह अवस्था बंधकरण कही है। तत्त्वार्थ सूत्र में आचार्य उमास्वामी कहते हैं **''सकषायत्वाज्जीव: कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते स बन्ध:''**[17] अर्थात् कषाय सहित होने से जीव कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है, वह बंध है। अथवा जीव और कर्म की एकरूपता अर्थात् एकीभाव बंध कहलाता है।[18] अथवा मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योगों से (जीव और कर्म का) जो एकत्व रूप परिणाम होता है, वह बंध है।[19]

कर्मों का आत्मा से सम्बन्ध होना, अर्थात् मिथ्यात्वादि परिणामों से जो पुद्गल द्रव्य ज्ञानावरणादि रूप परिणमता है और ज्ञानादि को ढाँकता है, उसका सम्बन्ध होना बंध है।[20]

यहाँ जो बंध का लक्षण कहा जा रहा है, वह न तो परस्पर में लकड़ियों को बाँधने जैसा संयोग रूप है, न पुद्गलों का परस्पर में स्निग्ध–रुक्ष से होने वाला बंध जैसा है और न ही ज्ञान व आत्मा जैसा तादात्मय रूप है; बल्कि यह तो मिथ्यात्वादि के निमित्त से होने वाला जीव से पुद्गलों का बंधन एकमेक बंध सहित संयोग रूप है।[21]

बंध सामान्य अपेक्षा एक प्रकार का है। शुभ बंध व अशुभ बंध की अपेक्षा दो प्रकार का है। द्रव्य, भाव व उभय की अपेक्षा तीन प्रकार का है। प्रकृति, स्थिति, अनुभाग व प्रदेश की अपेक्षा चार प्रकार का है। मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय व योग– इन पाँच कारणों के भेद से कार्यरूप बंध 5 प्रकार का है।

(2) उत्कर्षकरण – 'उत्कर्षण' शब्द 'उद्' उपसर्गपूर्वक 'कृष्' धातु में 'ल्युट्' प्रत्यय लगकर निष्पन्न होता है।[22] जिसका सामान्य अर्थ है– ऊपर खींचना, ऊपर लेना, ऊपर करना। यहाँ कर्मों की स्थिति (काल अवधि) व अनुभाग (फलदान शक्ति) को ऊपर ले जाना, बढ़ा देना, अधिक कर देना– ऐसा जानना चाहिए। कर्म की यह अवस्था उत्कर्षणकरण है।

गोम्मटसार में कहा है– कर्मों की जो स्थिति अनुभाग पूर्व में था उसमें वृद्धि होना उत्कर्षण है।[23]

जयधवला में कहा है– जिन कर्म परमाणुओं की स्थिति कम है, उनकी स्थिति तत्काल बँधने वाले कर्म के संबंध से बढ़ाना, उत्कर्षण है।[24]

(3) संक्रमणकरण – संक्रमण शब्द 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'क्रम्' धातु से 'ल्युट्' प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है।[25] जिसका सामान्य अर्थ है– भ्रमण, मिलन, अवस्थांतर अथवा परिवर्तन।

जयधवला के अनुसार– **''अवत्थादो अवत्थंतरं संकंति संकमोत्ति''** अर्थात् एक अवस्था से दूसरी अवस्था रूप संक्रान्त होना, संक्रमण है। जैसे साता वेदनीय का असाता में तथा असाता वेदनीय का साता वेदनीय में परिवर्तन (बदल) हो जाना।[26]

गोम्मटसार में कहा है कि– जो प्रकृति पूर्व में बँधी थी उस प्रकृति के परमाणुओं का अन्य प्रकृति रूप होना संक्रमण है।[27]

(4) अपकर्षणकरण – 'अपकर्षण' शब्द 'अप' उपसर्ग पूर्वक 'कृष्' धातु में 'ल्युट्' प्रत्यय लगने से बनता है,[28] जिसका सामान्य अर्थ है– खींचकर नीचे ले आना, हटाना, कम कर देना। यहाँ कर्मों की स्थिति व अनुभाग को खींचकर नीचे ले आना, कम कर देना विवक्षित है और कर्म की ऐसी अवस्था अपकर्षणकरण है।

गोम्मटसार में कहा है– जो स्थिति अनुभाग पूर्व में था उसमें हानि होना अपकर्षण है।[29] इस अपकर्षण द्वारा कर्मों की स्थिति व अनुभाग क्षमता क्षीण हो जाती है।

धवला में कहा है कि- **''कम्म पदेसाणं ट्ठिदीणमोवट्टणा ओक्कड्डणा णाम''** अर्थात् कर्म प्रदेशों की स्थितियों के अपवर्तन का नाम अपकर्षण है।[30]

(5) उदीरणाकरण – 'उदीरणा' के लिए धवला पुस्तक- 12 में 'उदीर्ण'[31] शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसका निर्माण व्याकरण में 'उद्' उपसर्ग पूर्वक 'ईर्' धातु में 'क्त' प्रत्यय लगने से होता है। अथवा उसी में 'टाप्' प्रत्यय लगाने से 'उदीरणा' शब्द निष्पन्न होता है, जिसका सामान्य अर्थ है- बढ़ा हुआ, उन्नत। उसका अर्थ 'उदय' में बढ़ा हुआ, उदय में वृद्धि अर्थात् शीघ्र उदय, समय से पूर्व उदय, उसका नाम उदीर्ण अथवा उदीरणा है। और कर्म की यह अवस्था उदीरणाकरण है।

जयधवला पुस्तक में लिखा है- जिन कर्मों के उदय का काल प्राप्त नहीं हुआ, उनका उपाय विशेष से पचाना (पकाना) उदीरणा है।[32] अथवा 'अपक्व-पाचन' को उदीरणा कहते हैं।

उदयावली के बाहर स्थित द्रव्य को अपकर्षण के द्वारा उदयावली में लाना उदीरणा है। अर्थात् जिन प्रकृतियों के निषेकों का उदयकाल नहीं है, उनकी स्थिति को घटाकर, जो निषेक आवली मात्र काल में उदय में आते हैं उनमें उनके परमाणुओं को मिलना, जिससे उनके साथ ही उनका भी उदय ही वह उदीरणा है।[33]

तात्पर्य यह है कि जिन कर्मों का अभी उदयकाल नहीं आया है, उनका समय के पूर्व उदय में ले आना, उदीरणाकरण कहलाता है।

(6) सत्त्वकरण – 'सतो भाव: ''सत्त्वम्'' अर्थात् होने का भाव सत्त्व है। सत्त्व में मूल शब्द ''सत्'' है, इसमें 'त्व' प्रत्यय लगाने से 'सत्त्व' शब्द बनता है।[34] यहाँ 'सत्त्व' से जीव के साथ कर्मों की सत्ता ग्रहण करना है तथा कर्म की यह अवस्था सत्त्वकरण कहलाती है।

जयधवला में कहा है कि- कर्म बंधते ही जीव के अस्तित्व में आ जाता है, तभी बंध के अगले समय से उदय के एक समय पूर्व तक[35] अथवा उदय के अंतिम समय तक (उदयकाल तक) सत्ता कही जाती है।

गोम्मटसार में कहा है- अस्तित्व को अर्थात् पुद्गलों का कर्मरूप से रहना सत्त्व है।[36]

तात्पर्य यह है कि बंध 1 समय का, उदय 1 समय का और दोनों (बंध व उदय) के बीच दो समय कम सत्ता कही जाती है तथा किसी अपेक्षा से आचार्य ने उस उदय को भी सत्ता के अन्तर्गत ही शामिल कर लिया है; किन्तु मुख्यता से फलदान के समय उदयकरणता जाननी चाहिए।

(7) उदयकरण – 'उदय' शब्द 'उद्' उपसर्ग पूर्वक 'इ' धातु में 'अच्' प्रत्यय लगाने से बनता है, जिसका सामान्य अर्थ निकलना, उगना आदि है।[37] यहाँ जीव की सत्ता में स्थित कर्म का निकलना अर्थात् फल देना, उदय कहलाता है। कर्म की यह अवस्था उदयकरण है।

गोम्मटसार में कहा है कि- कर्म का अपनी स्थिति को प्राप्त होना अर्थात् फल देने (के सम्मुख होना) का समय प्राप्त हो जाना वह उदय है।[38] कर्मफल का वेदन उदय कहलाता है।

कर्म का बंध होते ही वह जीव की सत्ता में स्थित रहता है, जब उसकी स्थिति पूरी होती है अर्थात् सत्त्व स्थित कर्म का समय जब पूर्ण हो जाता है, तब कर्म; फल देने को तैयार हो जाता है, उसे ही उदयकरण कहते हैं।

(8) उपशमकरण – 'उपशम' शब्द 'उप' उपसर्ग पूर्वक 'शम्' धातु से 'घञ्' प्रत्यय लगकर बनता है, जिसका सामान्य अर्थ- शांत होना, विश्राम, अवसान, विराम आदि है।

जो कर्म उदय में नहीं दिया जा सके, वह उपशांत कहलाता है। अथवा बद्धमान (बंध समय) तथा उदीर्ण (उदीरणा) से भिन्न कर्मों की उपशांत संज्ञा है।[39] इस परिभाषा से यह बात स्पष्ट होती है कि कर्म जिस समय बँधा, वह बंध समय है, उसके अगले समय से लेकर जब तक उस कर्म की उदीरणा नहीं होती, तब तक उस कर्म की उपशांत संज्ञा है।

गोम्मटसार में कहा है कि- कर्म उदयावली में प्राप्त न किया जाय अर्थात् उदीरणा अवस्था को प्राप्त न हो सके वह उपशांत-उपशम करण है।[40]

(9) निधत्ति – जो कर्म उदीरणा अर्थात् उदयावली में भी प्राप्त न हो सके और संक्रमण अवस्था को भी प्राप्त न हो सके उसे निधत्तिकरण कहते हैं।[41]

तात्पर्य यह है कि जीव कितना भी पुरुषार्थ क्यों न करे; किन्तु विशिष्ट समय व विशिष्ट जाति के परिणामों के बिना निधत्ति अवस्था रूप बाँधे गये कर्मों को न तो शीघ्रता से उदीरणा द्वारा उदय में लाकर नष्ट किया जा सकता है और न ही उस अवस्था में कोई परिवर्तन (संक्रमण) किया जा सकता है। हाँ, इतना अवश्य है कि इस अवस्था को प्राप्त कर्म की मात्र स्थिति व अनुभाग में वृद्धि (उत्कर्षण) तथा हानि (अपकर्षण) जरूर किया जा सकता है।

(10) निकाचना – निकाचित करण कर्म की वह विशिष्ट अवस्था है, जिसकी विशिष्ट समय तक तथा विशिष्ट परिणामों के बिना न तो उदीरणा संभव है, न संक्रमण और न ही उत्कर्षण व अपकर्षण। कर्म इस अवस्था को प्राप्त होने पर उसमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन संभव नहीं।

गोम्मटसार में लिखा है कि- जिस कर्म की उदीरणा, संक्रमण, उत्कर्षण और अपकर्षण ये चारों ही अवस्थाएँ न हो सके उसे निकाचना करण कहते हैं। इसको निकाचित, निष्काचना ऐसे भी कहते हैं।[43]

गुणस्थानों में करण की परिगणना – गुणस्थानों में कर्म प्रकृतियों के इन करणों के संभव दिखते हैं।[44]

(1) पहले मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान पर्यंत 'दसकरण' होते हैं। नरकादि चारों आयु कर्म प्रकृतियों के 'संक्रमणकरण' के बिना 9 करण होते हैं और शेष सब प्रकृतियों के 'दशकरण' होते हैं।

(2) नौवें अनिवृत्तिकरण और दसवें सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान में अंत के उपशम-निघत्ति-निकाचना इन तीनों करणों को छोड़कर शेष आदि के 7 ही करण होते हैं।

(3) ग्यारहवें उपशांत मोह, बारहवें क्षीण मोह, तेरहवें सयोग केवली इन तीन गुणस्थानों में 'संक्रमण करण' के बिना 6 ही करण बंध, उत्कर्षण, अपकर्षण, उदीरणा, सत्त्व, उदय ये 6 होते हैं।

(4) ग्यारहवें उपशांत मोह गुणस्थान में कुछ विशेष बात यह है कि इस गुणस्थान में मिथ्यात्व और मिश्र मोहनीय ('सम्यङ् मिथ्यात्व) इन दोनों का 'संक्रमणकरण' भी होता है, अर्थात् इन दोनों के कर्म परमाणु सम्यक्त्व मोहनीय (सम्यक्त्व प्रकृति) रूप परिणम जाते हैं, किन्तु शेष प्रकृतियों का 'संक्रमणकरण' नहीं होता, 6 ही करण होते हैं।

(5) चौदहवें अयोग केवली गुणस्थान में सत्त्व और उदय ये दो ही करण पाये जाते हैं।

(6) जिस गुणस्थान में जिन प्रकृतियों की जहाँ तक बंध व्युच्छित्ति होती है वहाँ तक उन प्रकृतियों का बंधकरण और उत्कर्षण करण होते हैं और प्रकृतियों को अपनी अपनी जाति की जहाँ बंध से व्युच्छित्ति है वहाँ तक संक्रमणकरण होता है, जैसे कि ज्ञानावरण की पाँचों ही प्रकृतियाँ परस्पर में स्वजाति हैं उनकी बंध व्युच्छित्ति दसवें गुणस्थान में होती है। इसलिए उनका संक्रमणकरण भी दसवें गुणस्थान तक होगा।

(7) चौदहवें अयोग केवली गुणस्थान में जो 85 प्रकृतियों का सत्त्व रहता है उसका अपकर्षण करण सयोग केवली गुणस्थान के अंत समय तक होता है। (कोष्ठक नं. 116 और 125, गाथा 441 से 445 देखो)

(8) क्षीण कषाय जो बारहवें गुणस्थान में सत्त्व से व्युच्छिन्न हुई 16 प्रकृति तथा दसवाँ सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान में सत्त्व से व्युच्छित्ति रूप हुआ जो सूक्ष्म लोभ इन 17 प्रकृतियों का क्षय देश पर्यंत (क्षय होने के स्थान तक) अपकर्षणकरण जानना उस क्षय देश का काल यहाँ पर एक समय अधिक आवली मात्र है, क्योंकि ये 17 प्रकृतियाँ स्वमुखोदयी हैं, सारांश यह है कि ये प्रकृतियाँ दो प्रकार की हैं। एक स्वमुखोदयी दूसरी परमुखोदयी।

स्वमुखोदयी – जो अपने ही रूप उदयफल देकर नष्ट हो जाय वे स्वमुखोदयी है, उनका काल एक समय अधिक आवली प्रमाण है, वही क्षयदेश (क्षय होने का स्थान) है।

परमुखोदयी – जो प्रकृति अन्य प्रकृति रूप उदयफल देकर विनष्ट हो जाती है वे परमुखोदयी है, उनका क्षयदेश अंत:कांडक की अन्तिम फालि है ऐसा जानना।

(9) देवायु का अपकर्षणकरण 11वें (अवलंबनाकरण) 'उपशांत मोह गुणस्थान पर्यंत है और मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व प्रकृति ये 3 प्रकृतियाँ और 'नियतिरिक्खे' इत्यादि सूत्र से कथित नौवें अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में क्षय हुई 16 प्रकृतियाँ इन 19 प्रकृतियों का क्षयदेश पर्यंत अपकर्षणकरण होता है, अर्थात् अंतकांडक के अंतफालि पर्यंत है और क्षपक अवस्था में अनिवृत्तिकरण गुणस्थान के दूसरे भाग से नौवें भाग तक क्षय हुई जो आठ कषाय को लेकर 20 प्रकृतियाँ हैं उनका भी अपने-अपने क्षयदेश पर्यंत अपकर्षणकरण है, जिस स्थान में क्षय हुआ हो उसको 'क्षयदेश' कहते हैं। (देखा गो. क. में गा. नं. 446-47)

प्रश्न – अवलंबना करण किसे कहते हैं?

उत्तर – परभव संबंधी आयु की उपरिम स्थिति में स्थित द्रव्य का अपकर्षण के द्वारा नीचे पतन करना अवलंबना करण कहलाता है।

(10) उपशम श्रेणी में मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व प्रकृति ये तीन दर्शन मोहनीय प्रकृतियाँ और नौवें गुणस्थान के पहले भाग में क्षय हुई जो नरकादिक 16 प्रकृतियाँ हैं, इन 19 प्रकृतियों का अपकर्षण करण ग्यारहवें उपशांत मोह गुणस्थान पर्यंत होता है, परन्तु शेष आठ कषायादि नीचे गुणस्थान में नष्ट होने वाली 20 प्रकृतियों का अपने उपशम करने के स्थान तक अपकर्षण करण है। (देखो गा. क. गा. 447)

(11) अनंतानुबंधी चार कषाय का अपकर्षण करण चौथा असंयत गुणस्थान से लेकर सातवाँ अप्रमत्त गुणस्थान तक यथासंभव जहाँ विसंयोजन (अन्य रूप परिणमन) हो वहाँ तक ही होता है तथा नरकायु का चौथे असंयत गुणस्थान तक और तिर्यंचायु का पाँचवें देशसंयत गुणस्थान तक उदीरणा, सत्त्व, उदयकरण – ये तीन करण प्रसिद्ध ही हैं, क्योंकि पूर्व में इनका कथन हो चुका है। गो. क. गा. नं. 448

(12) उपशम सम्यक्त्व के सन्मुख हुए जीव के मिथ्यात्व गुणस्थान के अंत में एक समय अधिक एक आवली पर्यंत मिथ्यात्व प्रकृति का उदीरणाकरण होता है, क्योंकि उसका उदय उतने ही काल तक है और सूक्ष्म लोभ का उदीरणाकरण दसवें सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान में ही होता है क्योंकि इससे आगे अथवा अन्यत्र उसका उदय ही नहीं है। गो. क. का. गा. 449

(13) जो कर्म उदयावली में प्राप्त नहीं किया जा सके अर्थात् जिसकी उदीरणा न हो सके ऐसा उपशांत (उपशम) करण, जो उदीरणा रूप भी न हो सके और संक्रमण रूप भी न हो सके ऐसा निधत्तिकरण तथा जो उदयावली में भी न आ सके, जिसका संक्रमण भी न हो सके और जिसका उत्कर्षण और अपकर्षण भी न हो सके अर्थात् जिसकी ये चारों क्रिया नहीं हो सकती हों ऐसा निकाचितकरण, ये तीन करण आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान तक ही होते हैं। गो. क. का. गा. न. 450

भावार्थ – इसके ऊपर यथासंभव उदयावली आदि में प्राप्त होने की सामर्थ्य वाले ही कर्म परमाणु पाये जाते हैं। (देखो गो. क. गा. 441 से 50)

दस करणों के उपयुक्त गुणस्थान संबंधी विवेचन से यह ज्ञात होता है कि निधत्ति और निकाचना नामक कर्म की अवस्थाएँ, यद्यपि प्रगाढ़ होती हैं, परन्तु मिथ्यात्व अथवा अविद्या के नाश हो जाने पर और कषायों के तीव्रतम वेगों के समाप्त हो जाने पर इन कर्मों की ये अवस्थाएँ विध्वंस हो जाती हैं। कर्मों की प्रगाढ़ता मन्द होने पर कुछ समय के लिए जीव शांति का अनुभव करता है। जैसे-जैसे विकास के मार्ग पर अग्रसर होता जाता है, वैसे-वैसे ही कर्मों का अपकर्षण, उत्कर्षण और संक्रमण भी नहीं होता।

जीव यथारूप ही कर्मों को भोगता है। सिद्ध अवस्था से कुछ समय पूर्व तक जीव की आयु सत्ता में होती है और शरीरादि नामकर्म का उदय पाया जाता है।

उपरोक्त दस करणों के विवेचन से स्पष्ट है कि जैन दर्शन के अनुसार जीव, जिस रूप में कर्मों का बन्ध करता है, वे कर्म उसी रूप में फलदायी नहीं होते। बन्ध से उदय तक के मध्यवर्ती काल में, वर्तमान कर्मों के अनुसार, पूर्वकृत कर्मों में संक्रमण, अपकर्षण, उत्कर्षण आदि अनेकविध परिवर्तन प्रत्येक समय में होता रहता है।

सन्दर्भ सूची –

1. जैन सिद्धान्त कोश, भाग–2, पृ. 4
2. परिणामोऽवस्था, पंचाध्यायी, पूर्वार्ध, श्लोक 117
3. षट्खण्डागम, धवला टीका, 6/1 पृ. 217
4. स्टडीजज इन जैन फिलॉसफी, 6/1 पृ. 217
5. पाणिनीय व्याकरण – 1/4/42
6. सर्वार्थसिद्धि 1/14
7. समयसार, परिशिष्ट पृ. 591
8. धवला पुस्तक भाग–1, 181
9. लब्धिसार गाथा – 33 की टीका
10. राजवार्तिक/6/13/1/523/26
11. धवला 1/1,1,16/180/1
12. धवला 6/19–8/4/217/5
13. भगवती आराधना/विजयोदया टीका/20/71/4
14. गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, भाग–2, गा. 437
15. दशकरण अवस्था चूलिका –
सिद्धान्त प्रबोधिनी टीका – चौंतीस स्थान दर्शन, परिशिष्ट 15, भाग–2, पृ. 999–998
16. गोम्मटसार कर्मकाण्ड गा. 437 से 440
17. तत्त्वार्थ सूत्र 8/2
18. धवला पुस्तक 13/पृ. 348
19. धवला पुस्तक 8/पृ. 2
20. गोम्मटसार, कर्मकाण्ड गाथा – 438
21. धवला पुस्तक 8/पृ. 3
22. संस्कृत हिन्दी कोश, पृ. 185 वामन शिवराम आप्टे
23. गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, भाग–2, गा. 438
24. जयधवला पुस्तक 7/पृ. 243
25. संस्कृत हिन्दी कोश, पृ. 285–286, वामन शिवराम आप्टे
26. जयधवला पुस्तक, 9, पृ. 3
27. गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, भाग–2, गा. 438

28. संस्कृत हिन्दी कोश, पृ. 54, वामन शिवराम आप्टे
29. गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, भाग-2, गा. 438
30. धवला पुस्तक, 10/पृ. 53
31. धवला पुस्तक, 12, पृ. 306
32. जयधवला पुस्तक 10, पृ. 2
33. गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, भाग-2, गा. 439
34. संस्कृत हिन्दी कोश, पृ. 1063, वामन शिवराम आप्टे
35. जयधवला पुस्तक, 1/265
36. गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, भाग-2, गा. 439
37. संस्कृत हिन्दी कोश, पृ. 193, वामन शिवराम आप्टे
38. गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, भाग-2, गा. 439
39. धवला पुस्तक 12, पृ. 306
40. गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, भाग-2, गा. 440
41. गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, भाग-2, गा. 440
42. जयधवला पुस्तक, 13, पृ. 231
43. गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, भाग-2, गा. 440
44. सिद्धान्त प्रबोधिनी टीका - चौंतीस स्थान दर्शन, परिशिष्ट 15, भाग-2, पृ. 998

सिद्धान्त प्रबोध ग्रन्थ (34 स्थान दर्शन) के परिप्रेक्ष्य में गुणस्थान व मार्गणाओं में जीवों की गणना

प्रतिष्ठाचार्य पं. पवन कुमार जैन दीवान, सागर (म.प्र.)

श्री जिनमुखोद्भूत द्रव्यश्रुत चतुर्नुयोग रूप विभक्त है उसमें करणानुयोग अन्तर्गत जीव द्रव्य की विभिन्न अपेक्षाओं से विशद् विवेचना है। जीव द्रव्य में ही 14 गुणस्थान, 14 मार्गणाएँ एवं 14 जीव समासों का सद्भाव है। यहाँ आलेख विषयानुरूप गुणस्थानों व मार्गणाओं में जीवों की गणना/संख्या, मिथ्यात्व-सासादनादि 14 गुणस्थान तथा 4 संज्ञा, 2 उपयोग एवं 14 मार्गणाएँ इन 34 स्थान दर्शनों से अन्वेषणीय है। इन ''34 स्थान दर्शन'' शीर्षक पर बहुभाषाविद् अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी, कवि हृदय उच्चारणाचार्य पूज्य आचार्य श्री विनम्रसागर जी एवं श्रेष्ठ प्रज्ञा के धनी सुयोग्य शिष्य श्रमण श्री विज्ञसागर जी महाराज ने ससंघ स्वाध्याय के 5 भेदानुसार श्रुतोदधि में आलोकन-विलोकन कर जैन सिद्धान्त प्रबोध ग्रन्थ के द्वारा श्री जिनदेशामृत का गहन कुण्ड स्थापित किया है। आइये सर्वप्रथम गुणस्थानों का स्वरूप एवं भेद श्री जिनागम से जानना अभीष्ट है- यथोक्तं- आचार्य श्री नेमिचन्द्र जी सिद्धान्त चक्रवर्ती-

''जेहिं दु लक्खिज्जंते उदयादिसु संभवेहिं भावेहिं।
जीवा ते गुणसण्णा, णिद्दिट्ठा सव्वदरसीहिं।।''[1]

अर्थात् दर्शनमोहनीयादि कर्मों की उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशमादि अवस्था के होने पर जिन परिणामों से युक्त जो जीव देखे जाते हैं उन जीवों को सर्वज्ञदेव ने उसी गुणस्थान वाला और उन परिणामों को गुणस्थान कहा है। अथवा मोह एवं योगत्रय प्रवृत्ति वशात जीव के अन्तरंग परिणामों में प्रतिक्षण होने वाले उतार-चढ़ाव का नाम गुणस्थान है। यद्यपि परिणाम अनंत होते हैं फिर भी उत्कृष्ट मलिन परिणामों से लेकर उत्कृष्ट विशुद्ध परिणामों तक या उससे ऊपर जघन्य वीतराग परिणामों से लेकर उत्कृष्ट वीतराग परिणामों की वृद्धियों के क्रम वक्तव्य बनाने के लिए 14 भागों में विभाजित किया जाता है। पुनः

''संखेओ ओधोत्ति य, गुणसण्णा सा च मोह जोगभवा।
वित्थारादेसो त्ति य, मग्गणसण्णा सकम्मभवा।।''[2]

अर्थ- संक्षेप और ओघ यह गुणस्थान की संज्ञा है और वह मोह तथा योग के निमित्त से उत्पन्न होती है। इसी तरह विस्तार तथा आदेश यह मार्गणा की संज्ञा है और वह भी अपने 2 योग्य कर्मों के उदयादि से उत्पन्न होती है यहाँ पर चकार का ग्रहण किया है इससे गुणस्थान की सामान्य और मार्गणा की विशेष यह भी संज्ञा समझनी चाहिये।

चौदह गुणस्थानों के नाम-

मिच्छो सासण मिस्सो, अविरदसम्मो य देसविरदो य।
विरदा पमत्त इदरो, अपुव्व अणियट्टि सुहमो य।।
उवसंत खीणमोहो, सजोग केवलि जिणो अजोगी य।
चउदस जीव समासा, कमेण सिद्धा य णादव्वा।।[3]

अर्थ - मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरत सम्यग्दृष्टि, देश विरत, प्रमत्त विरत, अप्रमत्त विरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्म साम्पराय, उपशान्त मोह, क्षीण मोह, सयोग केवली जिन व अयोग केवली ये 14 जीव समास/गुणस्थान हैं और सिद्ध इन 14 जीव समास गुणस्थानों से रहित है।

उपयोग के 2 भेद -

''सागारो उवजोगो, णाणे मग्गम्हि दंसणे मग्गे।
अणगारो उवजोगो, लीणो त्ति जिणेहि णिदिट्ठं।।[4]

अर्थ – उपयोग दो प्रकार का है एक साकार दूसरा अनाकार, साकार उपयोग वह है जिसमें पदार्थ यह घर है पट है, इत्यादि विशेष रूप से प्रतिभासित हो, इसी को ज्ञान कहते हैं इसीलिये इसका ज्ञान मार्गणा में अन्तर्भाव होता है। जिसमें कोई भी विशेष पदार्थ प्रतिभासित न होकर केवल महा सामान्य रूप ही विषय प्रतिभासित हो उसको अनाकार उपयोग अथवा दर्शन कहते हैं इसका दर्शन मार्गणा में अन्तर्भाव होता है।

मार्गणा का स्वरूप व उसके भेद–

जाहि व जासु व जीवा, मग्गिज्जंते जहा तहा दिट्ठा।
ताओ चोदस जाणे सुयणाणे मग्गणा होंति।।
गइ इंदियेसु काये जोगे वेदे कसायणाणेय।
संजम दंसण लेस्सा भविया सम्यतसण्णि आहारे।।[5]

अर्थ – प्रवचन में जिस प्रकार से देखे हों उसी प्रकार से जीवादि पदार्थों का जिन भावों के द्वारा अथवा जिन पर्यायों में विचार अन्वेषणा किया जाये उनको मार्गणा कहते हैं अथवा जिन करण रूप परिणामों के द्वारा अथवा जिन अधिकरण रूप पर्यायों में जीव का अन्वेषण किया जा सके उनको मार्गणा कहते हैं। वे 14 हैं– गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञा व आहार है।

संज्ञा व उसके भेद –

इह जाहि वाहिया वि य, जीवा पावंति दारुणं दुक्खं।
सेवंता वि य उभये, ताओ चत्तारि सण्णाओ।।[6]

अर्थ – जिनसे संक्लेशित होकर जीव इस लोक में और जिनके विषय का सेवन करने से दोनों ही भावों में दारुण दुःख को प्राप्त होते हैं। उनको संज्ञा कहते हैं। वे 4 हैं– आहारभय, मैथुन, एवं परिग्रह। इन चारों ही विषयों की प्राप्ति और अप्राप्ति दोनों ही अवस्थाओं में यह जीव संक्लिष्ट और पीड़ित रहा करता है। इस भव में भी दुःखों को अनुभव करता है और उसके द्वारा अर्जित पाप कर्म के उदय से परभव में भी सांसारिक दुःखों को भोगता है।

जीवादि पदार्थों को जानने के उपायादि – नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव पृ. (3) से, प्रमाण व नयों से, निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान से तथा सत् संख्यादि से भी जीवादि पदार्थों का ज्ञान होता है। यथा– ''सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकासमानन्तर भावात्व बहुत्वैश्च।।''[7] अर्थात् सत् संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्प बहुत्व से भी सम्यग्दर्शनादि विषयों का ज्ञान होता है। सर्वार्थसिद्धि ग्रंथकार पूज्यपादाचार्य श्री ने गुणस्थानों में संख्या प्ररूपणा संक्षेपतया निम्न प्रकार की है– संख्याप्ररूपणोच्यते। सा द्विविधा सामान्येन विशेषेण च.....शतसहस्रपृथकत्व संख्याः।।[8] अर्थात् सामान्य एवं विशेष प्ररूपणपेक्षया गुणस्थानों में जीवों की संख्या/गणना उल्लेखनीय है। सामान्य की अपेक्षा मिथ्यादृष्टि जीव अनंतानंत है। सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयत सम्यग्दृष्टि और संयतासंयत इनमें से प्रत्येक गुणस्थान वाले जीव पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं। प्रमत्त संयतों की संख्या कोटि पृथक्त्व है पृथक्त्व यह है कि आगमिक संज्ञा है। इससे तीन से ऊपर और 9 के नीचे मध्य की किसी संख्या का बोध होता है। अप्रमत्त संयत जीव संख्यात है। चारों उपशमक गुणस्थान वाले जीव प्रवेश की अपेक्षा एक, दो या तीन हैं। उत्कृष्ट रूप से 54 हैं। और अपने काल के द्वारा संचित हुये उक्त जीव संख्यात हैं। चारों क्षपक और अयोग केवली प्रवेश की अपेक्षा एक, दो या तीन हैं। उत्कृष्ट रूप से 108 हैं। और अपने काल के द्वारा संचित हुये उक्त जीव संख्यात हैं। सयोग केवली जीव प्रदेश की अपेक्षा एक, दो या तीन हैं। उत्कृष्ट रूप से 108 हैं। और अपने काल के द्वारा संचित हुये उक्त जीव लाख पृथक्त्व हैं।

जैन सिद्धान्त प्रबोधिनी टीका में संख्या प्ररूपणा – जैन सिद्धान्त प्रबोध के टीकाकार आचार्य श्री विनम्रसागर जी व मुनिश्री विज्ञसागर जी ने संख्या प्ररूपणा निम्न प्रकार प्रस्तुति की है। यथोक्त– संखा गणना वा गणणंति गणणा.....भेदादो कुल णव भेदा

होंति।।[9] किस गुणस्थान मार्गणा में कितने जीव हैं यह संख्या प्ररूपणा का प्रयोजन है और वह द्रव्य, क्षेत्र, काल-भावापेक्षा चार प्रकार है। द्रव्य प्रमाण क्या? मूलभूत द्रव्य की गणना या संख्या को द्रव्य प्रमाण कहते हैं। उसके 3 भेद हैं संख्यात, असंख्यात और अनंत। इसमें इस प्रकार विचार किया जाता है कि पर्याप्त मनुष्य संख्यात एवं सामान्य मनुष्य, देव व नारकी असंख्यात और तिर्यंच अनंत होते हैं। **संख्यात –** एक-दो-तीनादि संख्या के द्वारा मतिज्ञान-श्रुतज्ञान से जिनकी गणना की जाती है वह जघन्य से लेकर उत्कृष्ट तक संख्यात विकल्प वाली है। इसके भी जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट से 3 भेद हैं।

असंख्यात – जिसे न शब्दों के द्वारा कहा जाता है न लिखा जा सकता है। जो मति-श्रुतज्ञान का विषय नहीं है उसे असंख्यात कहते हैं। उत्कृष्ट संख्यात से एक विकल्प ऊपर ये जघन्य असंख्यात है पश्चात् एक-एक विकल्प बढ़ते-बढ़ते असंख्यातासंख्यात विकल्प असंख्यात गणना है। इसके भी 3 भेद हैं। परीतासंख्यात, युक्तासंख्यात, असंख्यातासंख्यात। इनके भी क्रमश: जघन्य, मध्यम व उत्कृष्ट रूप 3-3 भेद हैं। इस प्रकार असंख्यात के 9 भेद हैं।

अनंत – जो संख्या उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात के अन्तिम विकल्प से एक विकल्प ऊपर चढ़ जाती है तथा मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय ज्ञान का विषय न होने के कारण अनंत संख्या कहलाती है। यह भी दो प्रकार की होती है सक्षय **अनंत –** जो संख्या क्रमश: घटते-घटते समाप्त हो जाती है जैसे परावर्तन का काला। **अक्षय अनंत –** जिस संख्या में आमद न हो किन्तु खर्च होता रहे फिर भी संख्या यथावत बनी रहे समाप्त न हो अर्थात् आदि मध्य और अन्त न हो। अनंत राशि भी मूल में 3 प्रकार की है- परितासंख्यात, युक्तानंत और अनंतानंत। इसके भी क्रमश: जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट के भेद से 3-3 होने से कुल 9 प्रकार की होती है।

25वीं संख्या प्ररूपणा मूल कथन – संख्या प्ररूपणा का मूल कथन धवला पुस्तक नं. तीन में किया गया है। गणना द्रव्य-क्षेत्र-काल भाव से 4 प्रकार से होती है-

(34 स्थान दर्शनों में संख्या प्ररूपणा – चार्ट)

क्रम	प्ररूपणा नाम	संख्या प्ररूपणा प्रमाण	पृष्ठांक मूल शब्द
1.	मिथ्यात्व गुणस्थान	अनंतानंत	54-55 अणंताणंत
2	सासादन गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग प्रमाण	56-57 पलिदोवमस्स असांवज्जेदि भागा
3.	सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग प्रमाण	58-59 पलिदोवमस्स असांवज्जेदि भागा
4.	असंयत गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग प्रमाण	60-61 पलिदोवमस्स असांवज्जेदि भागा
5.	संयमासंयम गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग प्रमाण	62-62 पलिदोवमस्स असांवज्जेदि भागा
6.	प्रमत्त संयत गुणस्थान	59398206 (पंचकोडि तिणउदी लक्ख अट्ठणउदी)	64-65 अपज्जत्तेसु सहस्स छ उत्तर वे सयं सत्ताबीस
7.	अप्रमत्त संयत गुणस्थान	29699103, वेकोडि छण्णवदि ति उत्तर सयं	66-67 लक्खणव णवदि सहस्स
8.	अपूर्वकरण गुणस्थान	उपशामक 299, क्षपक 598 कुल 897 सयं, उवसामगेसु णवणउदी उत्तर वे सयं	68-69 सत्तणउदी उत्तर अट्ठखवगेसु अट्ठणउदि उत्तर पंचसयं
9.	अनिवृत्तिकरण गुणस्थान	कुल 897, उपशामक 299, क्षपक 598	(70-71) अट्ठणउदि उत्तर पंचसयं
10.	सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान	कुल 897, उपशामक 299, क्षपक 598	(72-73) अट्ठणउदि उत्तर पंचसयं
11.	उपशान्त मोह गुणस्थान	299, (णवणउदी उत्तर वे सयं)	74-75
12.	क्षीण मोह गुणस्थान	598, (अट्ठणउदि उत्तर पंचसयं)	(76-77)
13.	सयोग केवली गुणस्थान	898502 (संख्यात) अट्ठ लक्ख	78-79, अट्ठणउदि सहस्स वे उत्तर पंचसयं
14.	अयोग केवली गुणस्थान	598, (अट्ठणउदि उत्तर पंचसयं)	80-81
	सिद्ध	अनंतानंत/अणंताणंत	82-83

मार्गणा प्ररूपणा में संख्या विवेचना

15. गति मार्गणा – नरक गति असंख्यात – क्षेत्र प्रमाण से कथन प्रमाण/जगत् प्रत्तर की असंख्यात जगत श्रेणी भाग जगत् श्रेणी × 2/2 घनांगुल असंख्यातवाँ या घनांगुल के द्वितीय वर्ग मूल से गुणित – पृष्ठ 904, भाग–2

क्रमांक	स्थान/प्ररूपणा नाम	गणना/संख्या	उल्लेखादि	पृष्ठ 5 भाग–2
15/क	प्रथम पृथ्वी	असंख्यात	क्षेत्र प्रमाण कुछ कम पूर्वोक्त प्रमाण	904
	द्वितीय पृथ्वी	असंख्यात	जगत् श्रेणी के असंख्यातवें भाग	904
	तृतीय पृथ्वी	असंख्यात	जगत् श्रेणी $12/_2$ जगत् श्रेणी	904
	चतुर्थ पृथ्वी	असंख्यात	जगत् श्रेणी $10/_2$	904
	पंचम पृथ्वी	असंख्यात	जगत् श्रेणी $8/_2$	904
	षष्ठम पृथ्वी	असंख्यात	जगत् श्रेणी $6/_2$	904
	सप्तम पृथ्वी	असंख्यात	जगत् श्रेणी $3/_2$	904
	तिर्यंच/पंचेन्द्रिय तिर्यंच	अनंत/असंखयात	अनंतानंत लोक प्रमाण/जगत प्रतर (256)2 सूच्यंगुल आवली का असंख्यातवाँ भाग	907

विशेष – देवों के अवहार काल को आवली के असंख्यातवें भाग से भाजित करने पर सामान्य पंचेन्द्रिय तिर्यंचों की संख्या प्राप्त होती है।

ख	पंचेन्द्रिय तिर्यंच पर्याप्त	असंख्यात	जगत् प्रतर/256 सूच्यंगुल^2/ संख्यात	904
	योनिनि	असंख्यात	जगत् प्रतर/256 सूच्यंगुल^2/ संख्यात	904
	पंचेन्द्रिय तिर्यंच अपर्याप्त	असंख्यात	जगत् प्रतर/256 सूच्यंगुल^2/ असंख्यात	904
	मनुष्य सामान्य	असंख्यात	जगत् श्रेणी–1 सूच्यंगुल × 3/2 सूच्यंगुल	904
ग	मनुष्य पर्याप्त मनुष्यनी	संख्यात	29 अंक प्रमाण 3/4 मनुष्यनी 1/4 मनुष्य	904
घ I	देवगति	असंख्यात	जगत् प्रतर/256 सू.^{2} से कुछ अधिक	904
	भवनवासी	असंख्यात	जगत् श्रेणी × घनांगुल	904
	व्यन्तर	असंख्यात	जगत् प्रतर/(300 योजन)^2	904
	ज्योतिषी	असंख्यात	जगत् प्रतर/(256 सू.)^2	904

विशेष – व्यन्तर देवों से ज्योतिषी देव 81 हजार करोड़ गुणे अथवा 8 खरब 01 अरब गुणे हैं।

वैमानिक–सौधर्म–ईशान	असंख्यात	जगत् श्रेणी × 3/2 घनांगुल	906
सानत–माहेन्द्र	असंख्यात	जगत् श्रेणी × 11/2 जगत् श्रेणी	906
ब्रह्म–ब्रह्मोत्तर	असंख्यात	जगत् श्रेणी × 9/2 जगत् श्रेणी	906
लान्तव–कापिष्ठ	असंख्यात	जगत् श्रेणी × 7/2 जगत् श्रेणी	906
शुक्र–महाशुक्र	असंख्यात	जगत् श्रेणी × 5/2 जगत् श्रेणी	906
शतार–सहस्रार	असंख्यात	जगत् श्रेणी × 4/2 जगत् श्रेणी	906
आनत–प्राणत	असंख्यात		906

	आरण-अच्युत	असंख्यात		906
	नव ग्रैवेयक प्रत्येक में	असंख्यात		906
	अनुदिश प्रत्येक में	असंख्यात		906
	विजय-वैजयन्त	असंख्यात		906
क्रमांक	**स्थान/प्ररूपणा नाम**	**गणना संख्या**	**क्षेत्र प्रमाणोल्लेख**	**पृ. 6**
15 घ II	जयन्त-अपराजित	असंख्यात	×	906
	सर्वार्थसिद्धि	संख्यात	मनु व्यनियो से 3 या 6 गुणे	906
16.	इन्द्रिय मार्गणा			
	एकेन्द्रिय सूक्ष्म-पर्याप्त-अपर्याप्त बादर पर्याप्त-अपर्याप्त	अनंत	अनंतानंत लोक प्रमाण	906
17.	काय मार्गणा			
	पृथ्वी, ज.ते. वाय. व. काायिक वा.पृ.वा.जे.वा., ते.वा.वा.व. प्रत्येक इन्हीं के पर्या-अपर्या	असंख्यात	असंख्यात लोक प्रमाण	
	या, प्र.वा. ज.का.वा. का प्रत्येक अग्नि का पर्याप्त	असंख्यात	जगत् प्रतर (सूच्यं. की असं)^2	906
	वादर वायु कायिक पर्याप्त	असंख्यात	लोक असंख्यातवाँ भाग = असंख्यात जगत् प्रतर	906
	पर्याप्त-अपर्याप्त	अनंत	अनंत लोक प्रमाण	
	त्रस कायिक पर्याप्त अपर्या.	असंख्यात	जगत् प्रतर/असंख्यात	906
18.	योग मार्गणा			
	5 मनोयोगी तथा 3 वचन योग	असंख्यात	जगत् प्रतर/256 सूच्यंगुल)^2 × संख्यात	908
	वचन योग-असंयत, मृ.व.यो.	असंख्यात	जगत् प्रतर/सूच्यंगुल का संख्यातवां भाग	
	काय योग, औदारिक काय, औ. मिथ्यादृष्टि काय योग	अनंतानंत	अनंतानंत लोक प्रमाण	
	वैक्रियक काय योगी	असंख्यात	जगत् प्रर (256)2 संख्यातवां भाग सूच्यं.	
	वै.मि. काय योगी	असंख्यात	देवराशि/संख्यात	
	आहारक काय योगी	संख्यात (54)		
	आहारक मिश्र काय योगी	संख्यात (27)		
19.	वेद मार्गणा			
	स्त्री वेदी	असंख्यात	देवियों से कुछ अधिक	908
	पुरुष वेदी	असंख्यात	देवों से कुछ अधिक	908
	नपुंसक वेदी	अनंतानंत	अनंतानंत लोक प्रमाण	908
	अपगत वेदी	अनंतानंत	अनंतानंत लोक प्रमाण	908

20.	कषाय मार्गणा			
	क्रोध, मान, माया, लोभ		अनंतानंत लोक प्रमाण	908
	अकषायी		अनंत	908
21.	ज्ञान मार्गणना			
	मति-श्रुत अज्ञान	अनंतानंत	अनंतानंत लोक प्रमाण	908
	विभंग ज्ञानी	असंख्यात	देवों से कुछ अधिक	
	मति श्रुत-अवधि ज्ञानी	असंख्यात	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	
	मन:पर्यय ज्ञानी	संख्यात		
	केवलज्ञानी	अनंत	अनंत लोक प्रमाण	
22.	संयम मार्गणा			
	सामायिक, छेदोपस्थापना संयम	संख्यात	89097309 (कोटि पृथक्त्व)	908
	परिहार विशुद्धि संयम	संख्यात	6997 शत् पृथक्त्व	
	सूक्ष्म साम्पराय संयम	संख्यात	897 शत् पृथक्त्व	
	यथाख्यात	संख्यात	898502 लक्ष पृथक्त्व	
	संयतासंयत	असंख्यात	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	
	असंयत	अनंतानंत	अनंतानंत लोक प्रमाण	
23.	दर्शन मार्गणा			
	चक्षुदर्शनी	असंख्यात	जगत् प्रतर/सूच्यंगुल2/संख्यात	
	अचक्षु दर्शनी	अनंतानंत	अनंत लोक प्रमाण	
	अवधि दर्शनी	असंख्यात	अवधि ज्ञानियों के समान	
	केवल दर्शनी	अनंतानंत	केवल ज्ञानियों के समान	
24.	लेश्या मार्गणा			
	कृष्ण, नील, कापोत, लेश्या	अनंतानंत	असंयमियों के समान जानना	910
	पीत, नील, कापोत लेश्या	असंख्यात	ज्योतिषी देवों से कुछ अधिक	
	पदम, नील, कापोत लेश्या	असंख्यात	जगत् प्रतर/संख्यात प्रतरांगुल	
	शुक्ल, नील, कापोत लेश्या	असंख्यात	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	
25.	भव्य मार्गणा			
	भव्य सिद्धिक	अनंतानंत	अनंतानंत लोक प्रमाण	910
	अभव्य सिद्धिक	जघन्य युक्तानंत	जघन्य युक्तानंत	
26.	सम्यक्त्व मार्गणा			
	सम्यग्दृष्टि, उपशम, क्षयोपशम		पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	910
	क्षायिक सम्यगदृष्टि, सासादन	असंख्यात	सम्यग्दृष्टि = पल्योपम/आवली का असंख्यातवाँ भाग	
	सम्यग्मिथ्यादृष्टि		वेदक सम्यग्दृष्टि	
	मिथ्यादृष्टि	अनंतानंत	असंयतों से कुछ कम	
27.	संज्ञी मार्गणा			
	संज्ञी	असंख्यात	देवों से कुछ अधिक	
	असंज्ञी	अनंतानंत	असंयतों के समान जानना	

28.	आहार मार्गणा			
	आहारक	अनंतानंत	अनंतानंत लोक प्रमाण	910
	अनाहारक	अनंतानंत	अनंतानंत लोक प्रमाण	910

संलग्न–सविस्तार प्रपत्र – पृष्ठ 1 से

इस प्रकार उपरोक्त विवेचना द्वारा चौंतीस स्थान दर्शनों के द्वारा जीवों की गणना/संख्या का उल्लेख धवलादि ग्रंथानुसार प्रस्तुत जैन सिद्धान्त प्रबोधिनी टीका ग्रंथ में किया गया है। चूँकि करणानुयोग संसारस्थ अशुद्ध आत्मा का कथन करके शुद्धता की ओर ले जाता है जब तक करणानुयोग का अध्ययन नहीं कियाजाता तब तक अन्य सारा अध्ययन योग्य फल का प्रदायक नहीं है। जो लोग करणानुयोग का निषेध करके द्रव्यानुयोग का ही अवलम्बन लेते हैं वे सम्यक्त्व से दूरसंचार का अन्त नहीं कर सकते। क्योंकि जैनागम में अध्ययन का एक क्रम है– ''प्रथमं करणं चरणं द्रव्यं नम:'' इस क्रम से अध्ययन होने पर तो सार प्राप्त होता है और यही अध्ययन यदि गुरु मुख से हो तो सार नहीं महासार प्राप्त होता है और यही महासार एक दिन कैवल्योपलब्धि करा देता है।

प्रस्तुत टीका ग्रंथकार गुरु का वंदन – तीर्थंकर जिनेन्द्र देव की केवली, श्रुत केवली, पूर्वधर, अंगधर, अगांश के ज्ञाता आचार्यों की अक्षुण्ण परम्परा में जन्मे आचार्य श्री आदिसागर, महावीर कीर्ति, विमलसागर, विरागसागर जी के परम सुयोग्य कवि हृदय, बहुभाषाविद्, अनेक विधाओं में पारंगत, श्रेष्ठ श्रुताराधक आचार्य श्री विनम्रसागर जी और उनके ही संघस्थ शिष्य श्रमण श्री विज्ञसागर जी महाराज ने ससंघ श्रुतोदधि में गहन डुबकियाँ लगाकर जिनेन्द्र देशना की श्रेष्ठ जिनवाणी अमृतपान कराया है। आचार्यों ने लिखा है कि–

''रत्नत्रय विशुद्धः सन्, पात्र स्नेही परार्थकृत ।
परिपालित धर्मोहि, भबाब्धे स्तारको गुरुः ।।''

पूज्य आचार्य श्री चरणानुयोग की चर्चा में लीन होने पर आचार्य समन्तभद्र, करणानुयोग के अध्ययन काल में वीरसेनाचार्य, द्रव्यानुयोग के अध्ययन काल में कलिकाल सर्वज्ञ कुन्दकुन्दाचार्य, प्रतीत होते हैं। आप सिद्धान्त विज्ञ होने के साथ–साथ तार्किक मनीषी, गहन श्रुत चिन्तक, श्रुत मंथनकर्त्ता, महाकवि एवं सिद्धान्त प्रबोधिनी टीका के श्रेष्ठ टीकाकार आचार्य श्री हैं। ऐसे प्रातः स्मरणीय पूज्य आचार्य श्री एवं समस्त संघ के श्री चरणों में सविनय यथायोग्य वंदन करता हुआ विराम लेता हूँ।

।। इत्यलम् ।। जैनं जयतु शासनम् ।।

''टिप्पणी पत्रक''

(1) जीवकाण्ड, गाथा – 8
(2) वही जीवकाण्ड, गाथा 3
(3) वही जीवकाण्ड, गाथा – 10
(4) वही जीवकाण्ड, गाथा – 7
(5) वही जीवकाण्ड, गाथा – 141–142
(6) वही जीवकाण्ड, गाथा – 134
(7) तत्त्वार्थ सूत्र/सर्वार्थसिद्धि, प्रथम अध्याय, सूत्र सं. 8
(8) सर्वार्थसिद्धि – सूत्र व्याख्या – वृत्ति क्रमांक 45
(9) जैन सिद्धान्त प्रबोधिनी, भाग – 1, पृष्ठ 45–56

पं. पवन दीवान सागर मूल आलेख का शेषांश

''गुणस्थान–मार्गणादि में संख्या/गणना प्रपत्र''

क्रम	स्थान	संख्या उल्लेख	पृष्ठांक
1.	गुणस्थान सामान्य	अनंत	भाग - 1/52-53
2.	मिथ्यादृष्टि गुणस्थान	अनंतानंत	1/54-55
3.	सासादन गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग प्रमाण	1/56-57
4.	सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग प्रमाण	1/58-59
5.	असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग प्रमाण	1/60-61
6.	संयतासंयत गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग प्रमाण	1/62-63
7.	प्रमत्त संयत गुणस्थान	59398206	1/64-65
8.	अप्रमत्त गुणस्थान	29699103	1/66-67
9.	अपूर्वकरण गुणस्थान	उपशामक 299, क्षपक 598 कुल 897	1/68-69
10.	अनिवृत्तिकरण गुणस्थान	उपशामक 299, क्षपक 598 कुल 897	1/70-71
11.	सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान	उपशामक 299, क्षपक 598 कुल 897	1/72-73
12.	उपशान्त मोह गुणस्थान	0299	1/74-75
13.	क्षीण मोह गुणस्थान	0598	1/76-77
14.	सयोग केवली गुणस्थान	898502	1/78-79
15.	अयोग केवली गुणस्थान	598	1/80-81
16.	सिद्ध भगवान (गुणस्थानातीत)	अनंतानंत	1/82-83
17.	नरक सामान्य	असंख्यात (जगत् श्रेणी × घनांगुल का II वर्गमूल)	1/84-85
18.	प्रथम नरक सामान्य	असंख्यात जगत् श्रेणी (जगत् श्रेणी × घनांगुल का II वर्गमूल)	1/86-87
19.	प्रथम नरक में मिथ्यादृष्टि गुणस्थान	असंख्यात जगत् श्रेणी	1/88-89
20.	प्रथम नरक में सासादन गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	1/90-91
21.	प्रथम नरक में सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	1/92-93
22.	प्रथम नरक में असंयत गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	1/94-95
23.	द्वितीय पृथ्वी सामान्यालाप	जगत् श्रेणी/जगत् श्रेणी का 12वाँ वर्गमूल	1/96-97
24.	द्वितीय पृथ्वी मिथ्यात्व गुणस्थान	जगत् श्रेणी का असंख्यातवाँ भाग	1/98-99
25.	द्वितीय पृथ्वी सासादन गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	1/100-101
26.	द्वितीय पृथ्वी मिश्र गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	1/102-103
27.	द्वितीय पृथ्वी अविरत गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	1/104-105
28.	तृतीय पृथ्वी सामान्य	जगत् श्रेणी का असंख्यातवाँ भाग जगत् श्रेणी/जगत् श्रेणी का 10वाँ वर्गमूल	1/106-107
29.	तृतीय पृथ्वी मिथ्यात्व गुणस्थान	जगत् श्रेणी का असंख्यातवाँ भाग	1/108-109
30.	तृतीय पृथ्वी सासादन गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	1/110-111
31.	तृतीय पृथ्वी सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	1/112-113
32.	तृतीय पृथ्वी अविरत गुणस्थान	पल्य का असंख्यातवाँ भाग	1/114-115
33.	चतुर्थ नरक सामान्य गुणस्थान	जगत् श्रेणी का असंख्यातवाँ भाग/ जगत् श्रेणी का 8वाँ वर्गमूल	1/116-117
34.	चतुर्थ पृथ्वी में मिथ्यात्व गुणस्थान	जगत् श्रेणी का असंख्यातवाँ भाग	1/118-119

35.	चतुर्थ पृथ्वी में सासादन गुणस्थान	पल्य का असंख्यातवाँ भाग	1/120-121
36.	चतुर्थ पृथ्वी में मिश्र सासादन	पल्योपम की असंख्यातवाँ भाग	1/122-123
37.	चतुर्थ पृथ्वी में असंयत गुणस्थान	पल्य का असंख्यातवाँ भाग	1/124-125
38.	पंचम पृथ्वी सामान्य गुणस्थान	जगत् श्रेणी/जगत् श्रेणी का 6वाँ वर्गमूल	1/126-127
39.	पंचम पृथ्वी मिथ्यात्व गुणस्थान	जगत् श्रेणी/जगत् श्रेणी का 6वाँ वर्गमूल	1/128-129
40.	पंचम पृथ्वी सासादन गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	1/130-131
41.	पंचम पृथ्वी मिश्र गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	1/132-133
42.	छठवीं पृथ्वी सामान्य आलाप	पल्य का असंख्यातवाँ भाग	1/134-135
43.	छठवीं पृथ्वी सामान्य आलाप	जगत् श्रेणी/जगत् श्रेणी का तृतीय वर्गमूल	1/136-137
44.	छठवीं पृथ्वी मिथ्यात्व गुणस्थान	जगत् श्रेणी का असंख्यातवाँ भाग	1/138-139
45.	छठवीं पृथ्वी सासादन गुणस्थान	पल्य का असंख्यातवाँ भाग	1/140-141
46.	छठवीं पृथ्वी मिश्र गुणस्थान	पल्य का असंख्यातवाँ भाग	1/142-143
47.	छठवीं पृथ्वी असंयत गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	1/144-145
48.	सप्तम पृथ्वी सामान्य आलाप	जगत् श्रेणी/जगत् श्रेणी का द्वितीय वर्गमूल	1/146-147
49.	सप्तम पृथ्वी प्रथम गुणस्थान	जगत् श्रेणी/जगत् श्रेणी का द्वितीय वर्गमूल	1/148-149
50.	सप्तम पृथ्वी सासादन गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	1/150-151
51.	सप्तम पृथ्वी तृतीय मिश्र गुणस्थान	पल्य का असंख्यातवाँ भाग	1/152-153
52.	सप्तम पृथ्वी असंयत गुणस्थान	पल्य का असंख्यातवाँ भाग	1/154-155
53.	तिर्यंच गति मार्गणा सामान्य	अनंतानंत	1/156-157
54.	तिर्यंच गति मिथ्यात्व गुणस्थान	अनंतानंत	1/158-159
55.	तिर्यंच गति सासादन गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	1/160-161
56.	तिर्यंच गति सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	1/162-163
57.	तिर्यंच गति असंयत गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	1/164-165
58.	तिर्यंच गति संयतासंयत गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	1/166-167
59.	पंचेन्द्रिय तिर्यंच सामान्य	जगत् प्रतर का असंख्यातवाँ भाग	1/168-169
60.	पंचेन्द्रिय तिर्यंच मिथ्यात्व गुणस्थान	जगत् प्रतर का असंख्यातवाँ भाग	1/170-171
61.	पंचेन्द्रिय तिर्यंच सासादन गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	1/172-173
62.	तिर्यंचनी सामान्य	जगत् प्रतर का असंख्यातवाँ भाग	1/174-175
63.	तिर्यंचनी मिथ्यात्व गुणस्थान	जगत् प्रतर का असंख्यातवाँ भाग	1/176-177
64.	तिर्यंचनी सासादन गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	1/178-179
65.	तिर्यंचनी मिश्र गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	1/180-181
66.	तिर्यंचनी असंयत गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	1/182-183
67.	तिर्यंचनी देश संयत गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	1/184-185
68.	लब्ध्य पर्याप्तक तिर्यंच पंचेन्द्रिय	जगत् प्रतर का असंख्यातवाँ भाग	1/186-187
69.	मनुष्य गति सामान्य (29 अंक प्रमाण)	जगत् श्रेणी का असंख्यातवाँ भाग	1/188-189
70.	मनुष्य गति मिथ्यात्व गुणस्थान	जगत् श्रेणी का असंख्यातवाँ भाग	1/190-191
71.	मनुष्य गति सासादन गुणस्थान	52 करोड़	1/192-193
72.	मनुष्य गति मिश्र गुणस्थान	104 करोड़	1/194-195
73.	मनुष्य गति असंयत गुणस्थान	700 करोड़	1/196-197
74.	मनुष्य गति संयतासंयत गुणस्थान	013 करोड़	1/198-199

75.	मनुष्यनी स्त्री वेद सामान्य	29 अंक प्रमाण संख्यात	1/200-201
76.	मनुष्यनी मिथ्यात्व गुणस्थान	29 अंक प्रमाण	1/202-203
77.	मनुष्यनी सासादन गुणस्थान	52 करोड़ (संख्यात) तीनों वेद में	1/204-205
78.	मनुष्यनी मिश्र गुणस्थान	104 करोड़ (संख्यात)	1/206-207
79.	मनुष्यनी असंयत गुणस्थान	700 करोड़	1/208-209
80.	मनुष्यनी संयतासंयत गुणस्थान	013 करोड़ संख्यात	1/210-211
81.	मनुष्यनी प्रमत्त संयत गुणस्थान	5,93,98,206 संख्यात	1/212-213
82.	मनुष्यनी अप्रमत्त गुणस्थान	296299103, संख्यात	1/214-215
83.	मनुष्यनी अपूर्वकरण गुणस्थान	897 (उपशम श्रेणी 299, क्षपक 598)	1/216-217
84.	मनुष्यनी अनिवृत्तिकरण गुणस्थान	897(उपशम श्रेणी 299, क्षपक 598)	1/218-219
85.	मनुष्यनी सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान	897 (उपशम श्रेणी 299, क्षपक 598)	1/220-221
86.	मनुष्यनी उपशान्त कषाय	299	1/222-223
87.	मनुष्यनी क्षीण मोह गुणस्थान	598 संख्यात	1/224-225
88.	मनुष्यनी सयोग केवली गुणस्थान	898502 संख्यात	1/226-227
89.	मनुष्यनी अयोग केवली गुणस्थान	598	1/228-229
90.	लब्ध्य पर्याप्त मनुष्य	जगत् श्रेणी का असंख्यातवाँ भाग	1/230-231
91.	देवगति मार्गणा सामान्य देव	असंख्यात जगत् श्रेणी प्रमाण	1/232-233
92.	देवगति मिथ्यात्व गुणस्थान	असंख्यात जगत् श्रेणी प्रमाण	1/234-235
93.	देवगति सासादन गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यात भाग	1/236-237
94.	देवगति सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यात भाग	1/238-239
95.	देवगति असंयत गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यात भाग	1/240-241
96.	भवनत्रिक देवों के सामान्यालाप	असंख्यात जगत् श्रेणी प्रमाण (जगत् प्रतर का असंख्यातवाँ भाग)	1/242-243
97.	भवनत्रिक मिथ्यात्व गुणस्थान	भवनवासी जगत् श्रेणी × घनांगुल का प्रथम वर्गमूल/व्यंतर जगत् श्रेणी × 300 वर्ग यो.	1/244-245
98.	भवनत्रिक सासादन गुणस्थान	ज्योतिषी जगत् श्रेणी × 256 वर्ग प्रमाणांगुल पल्य का असंख्यातवाँ भाग	1/246-247
99.	भवनत्रिक मिश्र गुणस्थान	ज्योतिषी जगत् श्रेणी × 256 वर्ग प्रमाणांगुल पल्य का असंख्यातवाँ भाग	1/248-249
100.	भवनत्रिक असंयत गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	1/250-251
101.	कल्पवासी सौधर्मेन्द्र-ईशानदेव	सामान्यालाप जगत् श्रेणी × घनांगुल का तृतीय वर्गमूल	1/252-253
102.	सौधर्मे-ईशान देवों में मिथ्यात्व गुणस्थान	जगत् श्रेणी×घनांगुल का वर्गमूल असंख्यात जगत् श्रेणी	1/254-255
103.	सौधर्मे-ईशान देवों में सासादन गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	1/256-257
104.	सौधर्मे-ईशान देवों में मिश्र गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	1/258-259
105.	सौधर्मे-ईशान असंयत गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	1/260-261
106.	सानत-माहेन्द्र देवों के सामान्यालाप	जगत् श्रेणी/जगत् श्रेणी का 11वाँ वर्गमूल	1/262-263
107.	सानत-माहेन्द्र मिथ्यात्व गुणस्थान	जगत् श्रेणी/जगत् श्रेणी का 11वाँ वर्गमूल	1/264-265
108.	सानत-माहेन्द्र देवों सासादन गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	1/266-267
109.	सानत-माहेन्द्र देवों मिश्र गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	1/268-269
110.	सानत-माहेन्द्र देवों असंयत गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	1/270-271

111.	ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर में सामान्यालाप	जगत् श्रेणी/जगत् श्रेणी का 9वाँ वर्गमूल	1/272-273
112.	ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर मिथ्यात्व गुणस्थान	जगत् श्रेणी/जगत् श्रेणी का 9वाँ वर्गमूल	1/274-275
113.	ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर सासादन गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	1/276-277
114.	ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर मिश्र गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	1/278-279
115.	ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर असंयत गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	1/280-281
116.	लान्तव कापिष्ठ देव-सामान्यलाप	असंख्यात (जगत् श्रेणी/जगत् श्रेणी का 7वाँ वर्गमूल)	1/282-283
117.	लान्तव कापिष्ठ देव मिथ्यात्व गुणस्थान	असंख्यात (जगत् श्रेणी/जगत् श्रेणी का 7वाँ वर्गमूल)	1/284-285
118.	लान्तव कापिष्ठ देव सासादन गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	1/286-287
119.	लान्तव कापिष्ठ देव मिश्र गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	1/288-289
120.	लान्तव कापिष्ठ देव असंयत गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	1/290-291
121.	शुक्र महाशुक्र शतार्र-सहस्रार में सामान्यालाप	जगत् श्रेणी/जगत् श्रेणी का 5वाँ वर्गमूल/4 वर्गमूल	1/292-293
122.	शुक्र महाशुक्र शतार्र-सहस्रार मिथ्यात्व गुणस्थान	जगत् श्रेणी/जगत् श्रेणी का 5वाँ वर्गमूल/4 वर्गमूल	1/294-295
123.	शुक्र महाशुक्र शतार्र-सहस्रार सासादन गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	1/296-297
124.	शुक्र महाशुक्र शतार्र-सहस्रार मिश्र गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	1/298-299
125.	शुक्र महाशुक्र शतार्र-सहस्रार असंयत गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	1/300-301
126.	आनत-प्राणत, आरण-अच्युत=सामायालाप	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	1/302-303
127.	आनत-प्राणत, आरण-अच्युत=मिथ्यात्व गुण.	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	1/304-305
128.	आनत-प्राणत, आरण-अच्युत=सासादन गुण.	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	1/306-307
129.	आनत-प्राणत, आरण-अच्युत=मिश्र गुण.	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	1/308-309
130.	आनत-प्राणत, आरण-अच्युत=असंयत गुण.	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	1/310-311
131.	नव ग्रैवेयक सामान्यालाप	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	1/312-313
132.	नव ग्रैवेयक मिथ्यात्व गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	1/314-315
133.	नव ग्रैवेयक सासादन गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	1/316-317
134.	नव ग्रैवेयक मिश्र गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	1/318-319
135.	नव ग्रैवेयक असंयत गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	1/320-321
136.	नव अनुदिश, पंचानुत्तर देवगत सामान्यालाप	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग (सर्वार्थसिद्धि में स्त्रियों से 3 गुना अथवा 7 गुना)	1/322-323
137.	देवियों के सामान्यालाप	असंख्यात (सम्पूर्ण देवों के 33 भाग करने पर 32 भाग देवी एवं 9 भाग देव हैं)	1/324-325
138.	इन्द्रिय मार्गणा में एकेन्द्रिय	अनंतानंत	1/326-327
139.	एकेन्द्रिय सूक्ष्म	अनंतानंत	1/328-329
140.	एकेन्द्रिय बादर	अनंतानंत	1/330-331
141.	दो इन्द्रिय	असंख्यात (जगत् प्रतर का असंख्यातवाँ भाग) अथवा असंख्यात जगत् श्रेणी)	1/332-333
142.	तीन इन्द्रिय	असंख्यात जगत् प्रतर का असंख्यातवाँ भाग	1/334-335
143.	चार इन्द्रिय	असंख्यात जगत् प्रतर का असंख्यातवाँ भाग	1/336-337
144.	पंचेन्द्रिय	असंख्यात जगत् प्रतर का असंख्यातवाँ भाग	1/338-339
145.	काय मार्गणा सामान्य	अनंतानंत (अनंतानंत उत्सर्पिणी अप. के समयों से अपहृत होते हैं)	1/340-341

146.	पृथ्वीकाय	असंख्यात लोक प्रमाण	1/342-343
147.	बादर पृथ्वी कायिक	असंख्यात लोक प्रमाण पर्याप्त में असंख्यात (असंख्यात जगत् श्रेणी प्रमाण)	1/344-345
148.	पृथ्वी कायिक सूक्ष्म एकेन्द्रिय	असंख्यात लोक प्रमाण (सूक्ष्म/संख्यात = अपर्याप्तक शेष बहुभाग पर्याप्तक	1/346-347
149.	सामान्य वनस्पति कायिक	अनंतानंत	1/348-349
150.	प्रत्येक वनस्पति कायिक	असंख्यात लोक प्रमाण पर्याप्त असंख्यात जगत् श्रेणी प्रमाण अपर्याप्त असंख्यात लोक प्रमाण	1/350-351
151.	साधारण वनस्पति कायिक सामान्यालाप	अनंतानंत	1/352-353
152.	बादर साधारण वनस्पति कायिक सामान्य	अनंतानंत	1/354-355
153.	त्रस कायिक सामान्य	असंख्यात जगत् श्रेणी प्रमाण	1/356-357
154.	त्रस कायिक मिथ्यात्व गुणस्थान	असंख्यात जगत् श्रेणी प्रमाण	1/358-359
155.	लब्ध्य पर्याप्तक त्रस कायिक	जगत् प्रतर का असंख्यातवाँ भाग (असंख्यात जगत् श्रेणी)	1/360-361
156.	अकाय सामान्य	अनंतानंत	1/362-363
157.	योग मार्गणा मनोयोग सामान्य	असंख्यात जगत् श्रेणी प्रमाण	1/364-365
158.	मनोयोगी मिथ्यात्व	असंख्यात जगत् श्रेणी प्रमाण (देवों के असंख्यात भाग)	1/366-367
159.	मनोयोगी सासादन गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	1/368-369
160.	मनोयोगी सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	1/370-371
161.	मनोयोगी असंयत गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	1/372-373
162.	मनोयोगी देश संयत गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	1/374-375
163.	मनोयोगी प्रमत्त संयत गुणस्थान	59398206 (संख्यात)	1/376-377
164.	वचन योगी सामान्य गुणस्थान	3 वचन योगी देवों के संख्यातवें भाग दो वचन योगी प्रतरांगुल के संख्यातवें भाग से अपहृत गे. प्रतर प्र.	1/378-379
165.	वचन योगी मिथ्यात्व गुणस्थान	असंख्यात 3 वचन योगी देवों के संख्यातवें भाग, अनुभय वे.पो. असं. व प्रतरांगुल के संख्यातवें भाग से जं.प्र. अपहृत भाग	1/380-381
166.	वचन योगी सासादन गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	1/382-383
167.	वचन योगी मिश्र सासादन गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	1/384-385
168.	वचन योगी असंयत गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	1/386-387
169.	वचन योगी संयतासंयत गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	1/388-389
170.	वचन योगी प्रमत्ताप्रमत्त संयत गुणस्थान	59398206 (संख्यात)	1/390-391
171.	काय योगी - सामान्य	अनंतानंत	1/392-393
172.	काय योगी मिथ्यादृष्टि गुणस्थान	अनंतानंत	1/394-395
173.	काय योगी सासादन गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	1/396-397
174.	काय योगी मिश्र गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	1/398-399
175.	काय योगी असंयत गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	1/400-401
176.	काय योगी संयतासंयत गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	1/402-403
177.	काय योगी अप्रमत्त संयत गुणस्थान	59398206 संख्यात	1/404-405
178.	काय योगी अप्रमत्त संयत गुणस्थान	29699103 संख्यात	1/406-407

179.	काय योगी सयोग केवली गुणस्थान	898502 संख्यात	1/408-409
180.	औदारिक काय योगी सामान्य	अनंतानंत	1/410-411
181.	औदारिक काय योगी मिथ्यादृष्टि गुणस्थान	अनंतानंत	1/412-413
182.	औदारिक काय योगी सासादन गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	1/414-415
183.	औदारिक काय योगी मिश्र गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	1/416-417
184.	औदारिक काय योगी असंयम गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	1/418-419
185.	औदारिक मिश्र काय योग सामान्य	अनंतानंत	1/420-421
186.	औदारिक मिश्र काय योग मिथ्यात्व गुणस्थान	अनंतानंत	1/422-423
187.	औदारिक मिश्र काय योग सासादन	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	1/424-425
188.	औदारिक मिश्र काय योग असंयत गुणस्थान	संख्यात	1/426-427
189.	औदारिक मिश्र काय योग सयोग केवली गुण.	संख्यात 50 (20 आरोहक 20 अवरोहक)	1/428-429
190.	वैक्रियक काय योगी-सामान्य	असंख्यात	1/430-431
191.	वैक्रियक काय योगी मिथ्यादृष्टि गुणस्थान	असंख्यात	1/432-433
192.	वैक्रियक काय योगी सासादन गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	1/434-435
193.	वैक्रियक काय योगी मिश्र गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	1/436-437
194.	वैक्रियक काय योगी असंयत गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	1/438-439
195.	वैक्रियक मिश्र काय योग सामान्य	असंख्यात	1/440-441
196.	वैक्रियक मिश्र काय योग मिथ्यादृष्टि	असंख्यात	1/442-443
197.	वैक्रियक मिश्र काय योग सासादन सामान्य	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	1/444-445
198.	वैक्रियक मिश्र काय योग असंयत सामान्य	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	1/446-447
199.	आहारक काय योगी सामान्य	संख्यात 54	1/448-449
200.	आहारक मिश्र काय योगी प्रमत्त संयत सामान्य	संख्यात 27	1/450-451
201.	कार्माण काय योगी-सामान्यालाप	अनंतानंत	1/452-453
202.	कार्माण काय योगी मिथ्यादृष्टि	अनंतानंत	1/454-455
203.	कार्माण काय योगी सासादन	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	1/456-457
204.	कार्माण काय योगी असंयत गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	1/458-459
205.	कार्माण काय योगी सयोगी गुणस्थान	संख्यात 60	1/460-461
206.	स्त्री वेदी सामान्य	असंख्यात (देवियों से कुछ अधिक)	2/462-463
207.	स्त्री वेदी मिथ्यादृष्टि गुणस्थान	असंख्यात (देवियों से कुछ अधिक)	2/464-465
208.	स्त्री वेदी सासादन गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	2/466-467
209.	स्त्री वेदी मिश्र गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	2/468-469
210.	स्त्री वेदी असंयत गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	2/470-471
211.	स्त्री वेदी संयतासंयत गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	2/472-473
212.	स्त्री वेदी प्रमत्त संयत गुणस्थान	संख्यात 59398206	2/474-475
213.	स्त्री वेदी अप्रमत्त संयत गुणस्थान	संख्यात 29699103	2/476-477
214.	स्त्री वेदी अपूर्वकरण गुणस्थान	संख्यात 30 (औप. 10 + क्ष. 20)	2/478-479
215.	स्त्री वेदी अनिवृत्तिकरण गुणस्थान	संख्यात 30 (घ.पु. 3/पृ. 416 सू. 126 की टीका)	2/480-481
216.	पुरुष वेदी सामान्यालाप	असंख्यात (देवों से कुछ अधिक)	2/482-483
217.	पुरुष वेदी मिथ्यात्व गुणस्थान	असंख्यात (देवों से कुछ अधिक)	2/484-485
218.	पुरुष वेदी सासादन गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	2/486-487

219. पुरुष वेदी मिश्र गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	2/488-489
220. पुरुष वेदी असंयत गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	2/490-491
221. पुरुष वेदी संयतासंयत गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	2/492-493
222. पुरुष वेदी प्रमत्त संयत गुणस्थान	संख्यात 59398206	2/494-495
223. पुरुष वेदी अप्रमत्त संयत गुणस्थान	सर्व संयत स्त्री + नपुं. वेदी संयतों की संख्या पुरुष वेदी संयत	2/496-497
224. पुरुष वेदी अपूर्वकरण गुणस्थान	सा. 897, उपशामक 299, क्षपक 598 विशेष क्षपक 568 उप. 284	2/498-499
225. पुरुष वेदी अनिवृत्तिकरण गुणस्थान	संख्यात 897, उपसंख्यात में 299 क्षपक 598	2/500-501
226. अपगत वेदी सूक्ष्म साम्पराय	897 (उपशामक 299, क्षपक 598)	2/502-503
227. नपुंसक वेदी सामान्यालाप	अनंतानंत	2/504-505
228. नपुंसक वेदी मिथ्यात्व गुणस्थान	अनंतानंत	2/506-507
229. नपुंसक वेदी सासादन गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	2/508-509
230. नपुंसक वेदी मिश्र गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	2/510-511
231. नपुंसक वेदी असंयत गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	2/512-513
232. नपुंसक वेदी संयतासंयत गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	2/514-515
233. नपुंसक वेदी प्रमत्त संयत गुणस्थान	संख्यात 59398206 सामान्य से विशेषता से स्वगुणस्थान की संख्या का संख्यातवाँ भाग	2/516-517
234. नपुंसक वेदी अप्रमत्त संयत गुणस्थान	संख्यात 29699103	2/518-519
235. नपुंसक वेदी अपूर्वकरण गुणस्थान	897 उपशामक 299 क्षपक में 598	2/520-521
236. नपुंसक वेदी अनिवृत्तिकरण गुणस्थान	उपशामक 5 क्षपक 10	2/522-523
237. कषाय मार्गणा	अनंतानंत (लोक प्रमाण) अनंतानंत उत्सर्पिणी से अवसर्पिणी से अपहृत नहीं होते	2/524-525
238. क्रोध कषाय सामान्य	अनंतानंत-लोक प्रमाण	2/526-527
239. क्रोध कषाय मिथ्यात्व गुणस्थान	अनंतानंत	2/528-529
240. क्रोध कषाय सासादन गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	530-531
241. क्रोध कषाय मिश्र गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	532-533
242. क्रोध कषाय असंयत गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	534-535
243. क्रोध कषाय संयतासंयत गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	536-537
244. क्रोध कषाय प्रमत्त संयम गुणस्थान	संख्यात 59398206	538-539
245. क्रोध कषाय अप्रमत्त गुणस्थान	संख्यात सामान्य विशेषता से प्रमत्त गुणस्थानवत्	540-541
246. क्रोध कषाय अपूर्वकरण गुणस्थान	897 (उपशामक 299, क्षपक 598)	542-543
247. क्रोध कषाय अनिवृत्तिकरण प्रथम	897 (उपशामक 299, क्षपक 598)	544-545
248. क्रोध कषाय अनिवृत्तिकरण द्वितीय भाग	897 (उपशामक 299, क्षपक 598)	546-547
249. अकषायी सामान्य	संख्यात (11-299) 12-598, 13-89502 14-598	548-549
249 क.		
249 ख.		
249 ग.		
249 घ.		
250. ज्ञान मार्गणा सामान्य	अनंतानंत	2/554-555

251.	मति श्रुत अज्ञानी सामान्य	अनंतानंत-लोक प्रमाण	2/556-557
252.	मति श्रुत अज्ञानी मिथ्यात्व गुणस्थान	अनंतानंत-लोक प्रमाण	558-559
253.	मति श्रुत अज्ञानी सासादन गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	560-561
254	विभंग ज्ञानी सामान्य	असंख्यात-असंख्यात जगत् जगत् श्रेणी प्रमाण	562-563
255.	विभंग ज्ञानी मिथ्यादृष्टि गुणस्थान	असंख्यात-असंख्यात जगत् जगत् श्रेणी प्रमाण	564-565
256.	विभंग ज्ञानी सासादन गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	566-567
257.	मति श्रुत अवधि ज्ञानी-सामायालाप	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	568-569
258.	मति श्रुत अवधि ज्ञानी-असंयत गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	570-571
259.	मति श्रुत अवधि ज्ञानी संयतासंयत गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	572-573
260.	मति श्रुत अवधि ज्ञानी प्रमत्त संयत गुणस्थान	संख्यात 59398206	574-575
261.	मति श्रुत अवधि ज्ञानी अप्रमत्त संयत गुणस्थान	संख्यात 2,96,99,103	576-577
262.	मति श्रुत अवधि ज्ञानी 8-9-10-11-12 गुण.	उपशामक क्षपम प्रत्येक गुण. 897, 897 299 598-897, 299, 598 = 3588	578-579
263.	मन:पर्यय ज्ञान सामान्य	संख्यात	580-581
264.	मन:पर्यय ज्ञान प्रमत्त-अप्रमत्त	संख्यात	582-583
265.	मन:पर्यय ज्ञान अपूर्वकरण अनिवृत्तिकरण	संख्यात (प्रत्येक गुण. में उपशम श्रेणी में 10 एवं क्षपक श्रेणी में बीस	584-585
266.	मन:पर्यय ज्ञान सूक्ष्म साम्पराय	संख्यात 897 (उपशामक 299, क्षपक 598	586-587
267.	मन:पर्यय ज्ञान उपशान्त कषाय	0/0 =	588-589
268.	मन:पर्यय ज्ञान क्षीण मोह गुणस्थान	20 (संख्यात)	590-591
269.	केवल ज्ञानी सामान्य	898502	592-593
270.	संयम मार्गणा असंयम	अनंतानंत	594-595
271.	असंयम मिथ्यात्व गुणस्थान	अनंतानंत	596-597
272.	असंयम सासादन गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	2/598-599
273.	संयमासंयम सासादन गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	600-601
274.	सकल संयमी सामान्य	संख्यात (89999997)	602-603
275.	सामायिक छेदोपस्थापना संयम सामान्य	89099103	604-605
276.	सामायिक छेदोपस्थापना प्रमत्त-अप्रमत्त गुण.	59398206	606-607
277.	सामायिक छेदोपस्थापना अपूर्व अनिवृत्तिकरण गुणस्थान	897 (उपशामक 299, क्षपक 598)	608-609
278.	परिहार विशुद्धि संयम प्रमत्ताप्रमत्त गुणस्थान	06997 =	610-611
279.	सूक्ष्म साम्पराय संयम	897	612-613
280.	यथाख्यात संयम सामान्य	संख्यात (899997)	614-615
281.	यथाख्यात संयम उपशान्त मोह गुणस्थान	0299 =	616-617
282.	दर्शन मार्गणा चक्षुदर्शन सामान्य	असंख्यात	618-619
283.	चक्षु दर्शन मिथ्यात्व गुणस्थान	असंख्यातासंख्यात (अं.ज.श्रे. प्रमाण)	620-621
284.	चक्षु दर्शन सासादन गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	622-623
285.	चक्षु दर्शन मिश्र गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	624-625
286.	चक्षु दर्शन असंयत गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	626-627
287.	चक्षु दर्शन देश संयम गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	628-629

288. चक्षु दर्शन प्रमत्त संयत गुणस्थान	059398206 =	630-631
289. चक्षु दर्शन अप्रमत्त संयत गुणस्थान	संख्यात (29699103)	632-633
290. चक्षु दर्शन अपूर्वकरण गुणस्थान	0897 = उपशामक 299, क्षपक 598	634-635
291. चक्षु दर्शन अनिवृत्तिकरण गुणस्थान	897 = उपशामक 299, क्षपक 598	636-637
292. चक्षु दर्शन सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान	897 = उपशामक 299, क्षपक 598	638-639
293. चक्षु दर्शन उपशान्त कषाय गुणस्थान	0299 =	640-641
294. चक्षु दर्शन क्षीण कषाय गुणस्थान	0598 =	642-643
295. अचक्षु दर्शन सामान्य	अनंतानंत	644-645
296. अचक्षु दर्शन मिथ्यात्व गुणस्थान	अनंतानंत	646-647
297. अचक्षु दर्शन सासादन गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	648-649
298. अचक्षु दर्शन मिश्र गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	650-651
299. अचक्षु दर्शन असंयत गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	652-653
300. अचक्षु दर्शन देश संयत गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	654-655
301. अचक्षु दर्शन प्रमत्त संयत गुणस्थान	059398206 =	656-657
302. अचक्षु दर्शन अप्रमत्त गुणस्थान	029699103 =	658-659
303. अचक्षु दर्शन अपूर्वकरण गुणस्थान	0897 (उपशामक 299, क्षपक 598)	660-661
304. अचक्षु दर्शन अनिवृत्तिकरण गुणस्थान	897 (उपशामक 299, क्षपक 598)	662-663
305. अचक्षु दर्शन सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान	897 (उपशामक 299, क्षपक 598)	664-665
306. अचक्षु दर्शन उपशान्त गुणस्थान	0299 =	666-667
307. अचक्षु दर्शन क्षीण कषाय	0598 =	668-669
308. अवधि दर्शन सामान्य	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	670-671
309. अवधि दर्शन असंयत गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	672-673
310. अवधि दर्शन संयतासंयत गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	674-675
311. अवधि दर्शन प्रमत्त संयत गुणस्थान	059398206 संख्यात	676-677
312. अवधि दर्शन अप्रमत्त संयत गुणस्थान	029699103 =	678-679
313. अवधि दर्शन अपूर्वकरण गुणस्थान	042 (उपशामक 14, क्षपक 23)	680-681
314. अवधि दर्शन अनिवृत्तिकरण गुणस्थान	042 (उपशामक 14, क्षपक 23)	682-683
315. अवधि दर्शन सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान	042 (उपशामक 14, क्षपक 23)	684-685
316. अवधि दर्शन उपशान्त मोह	014 =	686-687
317. अवधि दर्शन क्षीण मोह	028 =	688-689
318. केवल दर्शन सामान्य	0898502 =	690-691
319. केवल दर्शन सयोग केवली जिन	0898502 =	692-693
320. केवल दर्शन अयोग केवली जिन	0598 =	694-695
321. कृष्ण नील लेश्या सामान्य	अनंतानंत	696-697
322. कृष्ण नील मिथ्यात्व गुणस्थान	अनंतानंत	698-699
323. कृष्ण नील सासादन गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	700-701
324. कृष्ण नील मिश्र गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	702-703
325. कृष्ण नील असंयत गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	704-705
326. कापोत लेश्या सामान्य	अनंतानंत	706-707
327. कापोत लेश्या मिथ्यात्व गुणस्थान	अनंतानंत	708-709

328. कापोल लेश्या सासादन गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	710-711
329. कापोल लेश्या मिश्र गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	712-713
330. कापोत लेश्या असंयत गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	714-715
331. पीत पद्म लेश्या सामान्य	असंख्यात (देवों से कुछ अधिक)	716-717
332. पीत पद्म मिथ्यादृष्टि गुणस्थान	असंख्यात (ज्योतिषी देवों से कुछ)	718-719
333. पीत पद्म सासादन गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	720-721
334. पीत पद्म मिश्र गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	722-723
335. पीत पद्म असंयत गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	724-725
336. पीत लेश्या संयमासंयम गुणस्थान	पल्योम का असंख्यातवाँ भाग	726-727
337. पीत लेश्या प्रमत्त संयत गुणस्थान	संख्यात	728-729
338. पीत लेश्या अप्रमत्त संयत गुणस्थान	संख्यात (29699103)	730-731
339. पद्म लेश्या मिथ्यात्व गुणस्थान	असंख्यात	732-733
340. पद्म लेश्या सासादन गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	2/734-735
341. पद्म लेश्या मिश्र गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	736-737
342. पद्म लेश्या असंयत गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	738-739
343. पद्म लेश्या संयतासंयत गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	740-741
344. पद्म लेश्या प्रमत्त संयत गुणस्थान	संख्यात (59398206) पीत लेश्या के संख्यातवें भाग प्रमाण	742-743
345. पद्म लेश्या अप्रमत्त गुणस्थान	संख्यात (26699103)	744-745
346. शुक्ल लेश्या सामान्य	असंख्यात (पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग)	746-747
347. शुक्ल लेश्या मिथ्यादृष्टि गुणस्थान	असंख्यात (पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग)	748-749
348. शुक्ल लेश्या सासादन गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	750-751
349. शुक्ल लेश्या मिश्र गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	752-753
350. शुक्ल लेश्या असंयत गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	754-755
351. शुक्ल लेश्या संयमासंयम गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	756-757
352. शुक्ल लेश्या प्रमत्त संयत गुणस्थान	संख्यात 59398206 (सामान्य का संख्यातवाँ भाग (अप. 27)	758-759
353. शुक्ल लेश्या अप्रमत्त संयत गुणस्थान	संख्यात 29699103 (सामान्य का संख्यातवाँ भाग)	760-761
354. शुक्ल लेश्या अपूर्वकरण गुणस्थान	897 (उपशामक 299, क्षपक 598)	762-763
355. शुक्ल लेश्या अनिवृत्तिकरण गुणस्थान	897 (उपशामक 299, क्षपक 598)	764-765
356. शुक्ल लेश्या सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान	897 (उपशामक 299, क्षपक 598)	766-767
357. शुक्ल लेश्या उपशान्त मोह गुणस्थान	0299 =	768-769
358. शुक्ल लेश्या क्षीण मोह गुणस्थान	0598 =	770-771
359. शुक्ल लेश्या सयोग केवली गुणस्थान	898502 =	772-773
360. अलेश्या अयोग केवली गुणस्थान	0598 =	774-775
361. भव्य मार्गणा	भव्य अनंतानंत अभव्य (जघन्य युक्तानंत जी.का.गा. 560)	776-777
362. अभव्य सामान्य	अनंत जघन्य युक्तानंत जी.का. 560	778-779
363. सम्यक्त्व मार्गणा सामान्य	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग अथवा अनंतानंत	780-781
364. क्षायिक सम्यक्त्व सामान्य	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग अथवा अनंतानंत	782-783
365. क्षायिक सम्यक्त्व असंयत	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग अथवा अनंतानंत	784-785

366.	क्षायिक सम्यक्त्व संयमासंयम गुणस्थान	संख्यात 13 करोड़ सामान्य से (सम्पूर्ण संयतासंयत मनुष्यों का संख्यातवाँ भाग	786-787
367.	क्षायिक सम्यक्त्व प्रमत्त संयत	संख्यात (59393206)	788-789
368.	क्षायिक सम्यक्त्व अप्रमत्त संयत	संख्यात	790-791
369.	क्षायिक सम्यक्त्व अपूर्वकरण गुणस्थान	संख्यात 897 उपशामक 299, क्षपक 598	792-793
370.	क्षायिक सम्यक्त्व अनिवृत्तिकरण गुणस्थान	संख्यात 897 उपशामक 299, क्षपक 598	794-795
371.	क्षायिक सम्यक्त्व सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान	संख्यात 897 उपशामक 299, क्षपक 598	796-797
372.	क्षायिक सम्यक्त्व उपशान्त मोह गुणस्थान	0299 (सामान्य विशेषता से संख्यात)	798-799
373.	क्षायिक सम्यक्त्व क्षीण मोह गुणस्थान	0598 =	800-801
374.	क्षायिक सम्यक्त्व सयोगी गुणस्थान	89502 (संख्यात) अपर्याप्त अवस्था में 100 जीव होते हैं	2/802-803
375.	क्षायिक सम्यक्त्व अयोगी गुणस्थान	598	804-805
376.	क्षायिक सम्यक्त्व गुणस्थानातीत	अनंतानंत	806-807
377.	क्षयोपशम सम्यक्त्व सामान्य	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	808-809
378.	क्षयोपशम सम्यक्त्व असंयत गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	810-811
379.	क्षयोपशम सम्यक्त्व संयमासंयम गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	812-813
380.	क्षयोपशम सम्यक्त्व प्रमत्त संयत गुणस्थान	संख्यात	814-815
381.	क्षयोपशम सम्यक्त्व अप्रमत्त संयत गुणस्थान	संख्यात	816-817
382.	उपशम सम्यक्त्व सामान्य	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	818-819
383.	उपशम सम्यक्त्व असंयत गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	820-821
384.	उपशम सम्यक्त्व संयमासंयम गुणस्थान	असंख्यात (पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग)	822-823
385.	उपशम सम्यक्त्व प्रमत्त संयत गुणस्थान	संख्यात	824-825
386.	उपशम सम्यक्त्व अप्रमत्त संयत गुणस्थान	संख्यात	826-827
387.	उपशम सम्यक्त्व अपूर्वकरण गुणस्थान	0299 =	828-829
388.	उपशम सम्यक्त्व अनिवृत्तिकरण गुणस्थान	0299 =	830-831
389.	उपशम सम्यक्त्व सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान	0299 =	832-833
390.	उपशम सम्यक्त्व उपशान्त मोह गुणस्थान	0299 =	834-835
391.	संज्ञी मार्गणा सामान्य	असंख्यात ज.क्षे.प./देवों से कुछ अधिक	836-837
392.	संज्ञी मार्गणा मिथ्यात्व गुणस्थान	असंख्यात ज.क्षे.प./देवों से कुछ अधिक	838-839
393.	संज्ञी मार्गणा सासादन गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	840-841
394.	संज्ञी मार्गणा मिश्र गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	842-843
395.	संज्ञी मार्गणा असंयत गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	844-845
396.	संज्ञी मार्गणा संयमासंयम गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	846-847
397.	संज्ञी मार्गणा प्रमत्त संयत गुणस्थान	संख्यात (59398206)	848-849
398.	संज्ञी मार्गणा अप्रमत्त संयत गुणस्थान	संख्यात (29699103)	850-851
399.	संज्ञी मार्गणा अपूर्वकरण गुणस्थान	897 (उपशम 299, क्षपक श्रेणी 598)	852-853
400.	संज्ञी मार्गणा अनिवृत्तिकरण गुणस्थान	897 (उपशम 299, क्षपक श्रेणी 598)	854-855
401.	संज्ञी मार्गणा सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान	897 (उपशम 299, क्षपक श्रेणी 598)	856-857
402.	संज्ञी मार्गणा उपशान्त मोह गुणस्थान	0299 =	858-859
403.	संज्ञी मार्गणा क्षीण मोह गुणस्थान	0598 =	860-861
404.	आहार मार्गणा सामान्य	अनंतानंत	862-863

405.	आहार मार्गणा मिथ्यात्व गुणस्थान	अनंतानंत	864-865
406.	आहार मार्गणा सासादन गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	866-867
407.	आहार मार्गणा मिश्र गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	868-869
408.	आहारक मार्गणा असंयत गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	2/870-871
409	आहारक मार्गणा संयतासंयत गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	872-873
410.	आहारक मार्गणा प्रमत्त संयत गुणस्थान	59398206 =	874-875
411.	आहारक मार्गणा अप्रमत्त संयत गुणस्थान	29699103 =	876-877
412.	आहारक मार्गणा अपूर्वकरण गुणस्थान	897 (उपशम 299, क्षपक 598)	878-879
413.	आहारक मार्गणा अनिवृत्तिकरण गुणस्थान	897 (उपशम 299, क्षपक 598)	880-881
414.	आहारक मार्गणा सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान	897 (उपशम 299, क्षपक 598)	882-883
415.	आहारक मार्गणा उपशान्त मोह गुणस्थान	0299	884-885
416.	आहारक मार्गणा क्षीण मोह गुणस्थान	0598	886-887
417.	आहारक मार्गणा सयोग केवली गुणस्थान	898502	888-889
418.	अनाहारक सामान्य	अनंतानंत	890-891
419.	अनाहारक मिथ्यात्व गुणस्थान	अनंतानंत	892-893
420.	अनाहारक सासादन गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	894-895
421.	अनाहारक असंयत गुणस्थान	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	896-897
422.	अनाहारक सयोग केवली गुणस्थान	संख्यात (60)	898-899
423.	अनाहारक अयोग केवली गुणस्थान	संख्यात 598	900-901

प्रस्तुत प्रपत्र में क्रमांकानुसार गुणस्थानों/मार्गणाओं में गणना/संख्या का संक्षिप्तीकरण

क्रम	क्रमांक से क्रमांक तक	प्ररूपणा नाम	आलेख पृष्ठांक
01	01 से 16	गुणस्थानों में संख्या विवेचना	01 = 001
02	17 से 137	चतुर्गति स्थित जीव द्रव्य संख्या	01 = 05
03	138 से 144	इन्द्रिय मार्गणा में द्रव्य संख्या	05 =
04	145 से 156	काय मार्गणा में द्रव्य संख्या	05 =
05	157 से 205	योग मार्गणा में द्रव्य संख्या	05-6.7
06	206 से 236	वेद त्रय मार्गणा में द्रव्य संख्या	07-
07	237 से 249	कषाय मार्गणा में द्रव्य संख्या	07-8
08	250 से 269	ज्ञान मार्गणा में द्रव्य संख्या	08 =
09	270 से 281	संयम मार्गणा में द्रव्य संख्या	08-9
10	282 से 320	दर्शन मार्गणा में द्रव्य संख्या	9-10
11	321 से 360	लेश्या मार्गणा में द्रव्य संख्या	10-11
12	361 से 362	भव्य मार्गणा में द्रव्य संख्या	0// =
13	363 से 390	सम्यक्त्व मार्गणा में द्रव्य संख्या	0//-12
14	391 से 403	संज्ञी मार्गणा में द्रव्य संख्या	12 =
15.	404 से 423	आहार मार्गणा में द्रव्य संख्या	12-/3

इत्यलम् = प्रस्तुति - पं. पवन दीवान

गति मार्गणा में जीवों के आस्रव के कारण, योग, लेश्या व गमनागमन के समय सम्यक्त्वादि का विचार : चौंतीस स्थान दर्शन के आधार पर

डॉ. ऋषभ कुमार जैन
18, पुरानी बजरिया, ललितपुर (उ.प्र.)
सम्पर्क सूत्र - 8318385231, 9406519502

करणानुयोग के ग्रंथों में जीव समास एवं मार्गणा की चर्चा विस्तार से की गई है। धवला आदि में इसका विस्तृत विवेचन किया गया है। जिसमें निम्नांकित बिन्दुओं पर उच्चारणाचार्य मुनि श्री विनम्रसागर जी द्वारा रचित सिद्धान्त प्रबोध (चौंतीस स्थान दर्शन) ग्रन्थ के आधार पर अपने विचार व्यक्त कर रहा हूँ।

गति – गमन करने को गति कहते हैं[1] अथवा भव से भवान्तर को गति कहते हैं। गति नाम कर्म के उदय से होने वाली अवस्था विशेष को गति कहते हैं। गतियाँ चार होती हैं। (1) नरक गति (2) तिर्यंच गति (3) मनुष्य गति और (4) देव गति।

इसके अलावा एक गति पंचम गति अथवा अगति सिद्ध गति है अर्थात् जहाँ जाया तो जाता है परन्तु वहाँ से आया नहीं जाता।

कोई शंका करे कि गतियाँ चार होती हैं, फिर पाँचवीं गति कहाँ से आई? क्योंकि पूर्व में कह चुके हैं कि गति नामकर्म के उदय से होने वाली अवस्था विशेष को गति कहते हैं परन्तु वहाँ तो नामकर्म समाप्त हो जाने पर कोई कर्म ही शेष नहीं फिर उसे गति नहीं कहना चाहिए। वहाँ भव से भवान्तर भी नहीं होता, गमन भी नहीं होता। वहाँ गति क्यों कहा?

उसका समाधान यह है कि यद्यपि वहाँ कर्म की अपेक्षा नहीं है फिर भी प्ररूपणा करने के लिए उसे अलग से गति संज्ञा दी गयी है तथा उसे चार गतियों में ग्रहण न करके अलग से पंचम गति अथवा अगति सिद्ध गति नाम दिया है।

विशेषार्थ रूप में कहें कि चार गतियों में जीव जाता भी है वहाँ से आता भी है इसलिए उन्हें गत्यागति कहा जाता है। किन्तु सिद्ध गति में जीव जाता है परन्तु वहाँ से आता नहीं है इसलिए उसे गति तो कहा है परन्तु आगति नहीं कहा है इसलिए उसे अलग से कहा है।

1. जीवकाण्ड गा. 146 से 150 धवला जी पु. 1 सूत्र 24 पृ. 202 गो. जीव काण्ड गा. 149, गो. जीवकाण्ड गा. 151

अब पृथक् पृथक् रूप से गतियों का स्वरूप समझते हैं–

नरक गति – नारत: अर्थात् जो आपस में रति (प्रेम) को प्राप्त नहीं होते उन्हें नारक या नारकी कहते हैं। उनकी होने वाली अवस्था को नरक गति कहते अथवा नरक गति नाम कर्म के उदय से होने वाली अवस्था विशेष को नरक गति कहते हैं जहाँ पर जीवों के कषाय रूप परिणाम पाये जायें उन्हें नारकी कहते हैं।

तिर्यंच गति – तिर्यंच गति नाम कर्म के उदय से होने वाली अवस्था विशेष को तिर्यंच गति कहते हैं। जिस गति में जीव षट् कर्त्तव्यों को न करते हुये चारों पुरुषार्थ नहीं कर सकता एवं हित अहित का विचार नहीं कर सकता वह तिर्यंच गति है।

मनुष्य गति – मनुष्य गति नाम कर्म के उदय से होने वाली अवस्था विशेष को मनुष्य गति कहते हैं। जिसमें जीव षट्कर्मों को करके तथा तीन पुरुषार्थ करके अंतिम पुरुषार्थ (मोक्ष पुरुषार्थ) को कर सकता है उसे मनुष्य गति कहते हैं।

देव गति – देव गति नाम कर्म के उदय से होने वाली अवस्था विशेष को देव गति कहते हैं। अणिमा, महिमा आदि ऋद्धि से संपन्न दिव्य सुखों को भोगने वाले इन्द्रिय विषय व भोगों से सम्पन्न अवस्था विशेष को देव गति कहते हैं।

गमनागमन एवं सम्यक्त्व की अपेक्षा से विचार – ग्रन्थ में विशेष रूप से स्पष्ट किया गया है कि मनुष्य से मनुष्य, तिर्यंच से तिर्यंच, तिर्यंच से मनुष्य, मनुष्य से तिर्यंच, देव से तिर्यंच, नारकी से तिर्यंच मिथ्यादृष्टि ही होते हैं।

मनुष्य से देव, देव से मनुष्य, तिर्यंच से देव, मनुष्य से तिर्यंच, नारकी से मनुष्य, मनुष्य से नारकी मिथ्यादृष्टि व सम्यग्दृष्टि हो सकता है।

गुणस्थान अपेक्षा विचार – देव गति व नरक गति में 1 से 4 गुणस्थानवर्ती जीव होते हैं। तिर्यंच गति में 1 से 5 गुणस्थानवर्ती जीव होते हैं। मनुष्य गति में 1 से 14 गुणस्थान तक जीव होते हैं।

आयु कर्म बंध के साथ विचार – आयु कर्म बंध के संबंध में बताया है कि जिसने मनुष्य व तिर्यंचायु का बंध कर लिया वह उस भव में तीर्थंकर प्रकृति नहीं बाँध सकता। इसी प्रकार जिसने आयु बंध कर लिया वह क्षपक श्रेणी नहीं चढ़ सकता, उपशम श्रेणी चढ़ सकता है। चारों गतियों में सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो सकता है। आयु बंध के बाद सम्यग्दर्शन हो तो जीव चारों गतियों में जा सकता है। पहले गति बंध होता है फिर आयु बंध होता है, गति बंध जीव का हमेशा चलता रहता है। सम्यग्दृष्टि मनुष्य व तिर्यंच गति बंध होने पर वह जीव देव गति ही प्राप्त कर सकता है।

सम्यग्दृष्टि देव केवल मनुष्य गति ही प्राप्त करेगा।

सम्यग्दृष्टि नारकी मनुष्य ही बनता है।

योग मार्गणा की अपेक्षा विचार

पुद्गल विपाकी शरीर नाम कर्म के उदय से मन, वचन, काय से युक्त जीव की जो कर्मों के ग्रहण करने में कारणभूत शक्ति है उसे योग कहते हैं।[2] वह द्रव्य और भाव दो भेद वाला है।

योग की परिभाषा – (1) आत्मा के अंदर मन, वचन और काय द्वारा जो हलन-चलन पाया जाता है उसे योग कहते हैं। (2) मन, वचन, काय के प्रति जो आत्मा का व्यापार होता है वह योग कहलाता है। संक्षेप में योग का अर्थ हलन, चलन अथवा परिस्पंदन। योग के दो भेद हैं 1. द्रव्य योग व भाव योग। द्रव्य योग पुन: तीन भेद हैं– 1. मनोयोग, 2. वचन योग, 3. काय योग।

मनोयोग के पुन: 4 भेद हैं– 1. सत्य मनोयोग, 2 असत्य मनोयोग, 3. उभय मनोयोग , 4. अनुभय मनोयोग।

वचन योग के भी 4 भेद हैं– 1. सत्य वचन योग, 2. असत्य वचन योग्य, 3. उभय वचन योग, 4. अनुभय वचन योग।

काय योग के भी 7 भेद बताये गये हैं– 1. औदारिक, 2. औदारिक मिश्र, 3. आहारक, 4. आहारक मिश्र, 5. वैक्रियिक, 6. वैक्रियिक मिश्र, 7. कार्माण काय योग।

इस प्रकार द्रव्य योग के कुल 15 भेद होते हैं।

परिभाषा के रूप में

मनोयोग – मन के द्वारा आत्म प्रदेशों में होने वाले हलन चलन को मनोयोग कहते हैं।

सही सही चिंतन करना सत्य मनोयोग है।

गलत चिंतन करना असत्य मनोयोग है।

सत्य भी है, असत्य भी है ऐसा चिंतन करना उभय मनोयोग है।

न सत्य है, न असत्य है ऐसा चिंतन करना अनुभव मनोयोग है।

वचन योग – वचन के द्वारा आत्म प्रदेशों में होने वाले हलन चलन को वचन योग कहते हैं।

सही सही बोलना सत्य वचन योग कहलाता है।

असत्य बोलना असत्य वचन योग कहलाता है।

सही भी है गलत भी है ऐसा बोलना उभय वचन योग कहलाता है।

सही भी नहीं है गलत भी नहीं है ऐसा बोलना अनुभय वचन योग है। जैसे अनक्षरी भाषा, तिर्यंचों की भाषा आदि। विशेष जानकारी हेतु जीव काण्ड व धवल जी पुस्तक नं. 1 में इस विषय का विस्तार से वर्णन किया गया है। जो दृष्टव्य है।

काय योग – शरीर के द्वारा आत्म प्रदेशों में होने वाले हलन-चलन को काय योग कहते हैं।[3] औदारिक, औदारिक मिश्र, वैक्रियिक, वैक्रियिक मिश्र, आहारक, आहारक मिश्र और कार्माण काय योग के भेद से सात प्रकार के हैं।

(1) औदारिक काय योग – औदारिक कर्म वर्गणा के स्कन्धों का औदारिक काय रूप परिणमन में कारण जो आत्म प्रदेशों का परिस्पंदन है वह औदारिक काय योग है।

(2) औदारिक शरीर वर्गणाओं के द्वारा रचित शरीर को औदारिक शरीर कहते हैं।

(3) जो किसी को रोके अथवा किसी के द्वारा रुके वह औदारिक शरीर है (सामान्य से)।

(4) जो सप्त धातुमय होता है उसे औदारिक कहते हैं। स्थावर काय भी औदारिक शरीर है किन्तु उसमें सप्त धातु नहीं पायी जाती है। सप्त धातु - रस, रक्त हड्डी, माँस, मज्जा, मेद, वीर्य।

औदारिक मिश्र काय योग – औदारिक और कार्माण दोनों की मिश्र वर्गणाओं से जो आत्म प्रदेशों में परिस्पंदन होता है उसे औदारिक मिश्र काय योग कहते हैं।

औदारिक शरीर जब तक पूर्ण नहीं होता तब तक मिश्र कहा जाता है और उसके द्वारा होने वाले योग को औदारिक मिश्र काय योग कहते हैं।

वैक्रियक काय योग – वैक्रियक शरीर वर्गणाओं से निर्मित अनेक गुण व ऋद्धियों से युक्त देव व नारकियों के शरीर को वैक्रियक शरीर कहते हैं और उससे होने वाले आत्म प्रदेशों में हलन-चलन को वैक्रियक काय योग कहते हैं।

वैक्रियक मिश्र काय योग – वैक्रियक और कार्माण दोनों की मिश्र वर्गणाओं से जो आत्म प्रदेशों में परिस्पंदन होता है उसे वैक्रियक मिश्र काय योग कहते हैं।

जब तक वैक्रियक शरीर पूर्ण नहीं होता तब तक मिश्र होता है। उससे होने वाले योग को वैक्रियिक मिश्र काय योग कहते हैं।

आहारक काय योग – असंयम के परिहार के लिए तथा संदेह दूर करने के लिए 6वें गुणस्थानवर्ती मुनिराज के मस्तक से निकलने वाला सप्त धातु से रहित, संहनन से रहित, एक हाथ प्रमाण धवल वर्ण का पुतला निकलता है वह आहारक शरीर कहलाता है और उससे होने वाले आत्म प्रदेशों में परिस्पंदन आहारक काय योग कहलाता है।

आहारक मिश्र काय योग – औदारिक व आहारक की मिश्र वर्गणाओं से जो आत्म प्रदेशों में जो परिस्पंदन होता है उसे आहारक मिश्र काय योग कहते हैं।

चौंतीस स्थान दर्शन ग्रन्थ में गुणस्थानों में योग किस प्रकार से घटित होते हैं यह भी चार्ट द्वारा बताया गया है।

क्र.	गुणस्थान	योग	
1.	मिथ्यात्व	13	= आहारक व आहारक मिश्र को छोड़कर
2.	सासादन	13	= आहारक व आहारक मिश्र को छोड़कर
3.	मिश्र	10	= औदारिक मिश्र, वैक्रियक मिश्र, आहारक द्विक, कार्माण को छोड़कर
4.	अविरत सम्यग्दृष्टि	13	= आहारक द्विक को छोड़कर
5.	संयमासंयम	9	= 4 मन के, 4 वचन के, औदारिक

2. जी.का.गा. 216 प.पु. 12, गो.जी.गा. 220-21

3. गो.जी.गा. 230 गो.जी.गा. 231, जी. 232 जी. 235-238

6.	प्रमत्त संयम	11	4 मन के, 4 वचन के, औदारिक, आहारक द्विक
7.	अप्रमत्त	9	4 मन के, 4 वचन के, औदारिक काय योग
8.	अपूर्वकरण	9	4 मन के, 4 वचन के, औदारिक काय योग
9.	अनिवृत्तिकरण	9	4 मन के, 4 वचन के, औदारिक काय योग
10.	सूक्ष्म साम्पराय	9	4 मन के, 4 वचन के, औदारिक काय योग
11.	उपशांत मोह	9	4 मन के, 4 वचन के, औदारिक काय योग
12.	क्षीण मोह	9	4 मन के, 4 वचन के, औदारिक काय योग
13.	सयोग केवली	7	सत्य व अनुभय मनोयोग, सत्य व अनुभय वचन योग, औदारिक, औदारिक मिश्र और कार्माण।
14.	अयोग केवली		अयोग

जिस गति में जिस जीव की जो जो लेश्या होती है। यह जानने से पूर्व जीवों में पायी जाने वाली कषाय के विषय में जानना आवश्यक है। अत: पहले सिद्धान्त प्रबोधिनी टीका–चौंतीस स्थान दर्शन के आधार से कषाय मार्गणा के माध्यम से जीव का अन्वेषण करते हैं।

कषाय मार्गणा

कषाय की परिभाषा – जो आत्मा को कसे अर्थात् दु:ख दे उसे कषाय कहते हैं।[4] जीव के सुख दु:ख रूप अनेक प्रकार के धान्य को उत्पन्न करने वाले तथा जिसकी संसार रूप मर्यादा अत्यन्त दूर है ऐसे कर्मरूपी क्षेत्र (खेत) का जो कर्षण करती है उसे कषाय कहते हैं।

कषाय मार्गणा – कषाय के माध्यम से जीवों की खोज की जाती है उसे कषाय मार्गणा कहते हैं। उसके 25 भेद हैं।

(1) अनंतानुबंधी = क्रोध, मान, माया और लोभ।

(2) अप्रत्याख्यानावरण = क्रोध, मान माया और लोभ।

(3) प्रत्याख्यानावरण = क्रोध, मान, माया और लोभ।

(4) संज्वलन = क्रोध, मान, माया और लोभ।

नोकषाय – हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसक वेद। 16 + 9 = 25

(1) अनंतानुबंधी – जो सम्यक्त्वाचरण चारित्र का घात करती है तथा मिथ्यात्व को अनंत करती है उसे अनंतानुबंधी कषाय कहते हैं। विशेषताएँ– ये कषाय पहले गुणस्थान से दूसरे गुणस्थान तक रहती हैं। इस कषाय को दो मुखी भी कहते हैं।

अनंतानुबंधी मिथ्यात्व के साथ काम करेगी अगर मिथ्यात्व नहीं होगा तो उत्कृष्ट समय 6 आवली और जघन्य समय 1 समय लगेगा।

वासना काल – 6 महीने के आगे निकल जाए तो उस व्यक्ति की कषाय अनंतानुबंधी कषाय होगी।

(2) अप्रत्याख्यानावरण – जो कषाय देश चारित्र को नहीं होने देती है, उसे अप्रत्याख्यानावरण कषाय कहते हैं।

यह कषाय 1 से 4 गुणस्थान तक रहती है।

जो कषाय 6 महीने के भीतर–भीतर तक ही रहती है उसे अप्रत्याख्यानावरण कषाय कहते हैं।

(3) प्रत्याख्यानावरण – जो कषाय सकल चारित्र को नहीं होने दे उसे प्रत्याख्यानावरण कषाय कहते हैं।

यह कषाय 1 से 5 गुणस्थान तक रहती है। इसमें सिर्फ 5वाँ गुणस्थान होगा। यह कषाय 15 दिन में समाप्त हो जाये तो प्रत्याख्यानावरण कषाय है।

4. गो.जी.गा. 282

(4) संज्वलन कषाय – जो यथाख्यात चारित्र का घात करती है वह संज्वलन कषाय कहलाती है अथवा जो संयम के साथ प्रज्ज्वलित रहती है वह संज्वलन कषाय कहलाती है।

विशेषता– यह कषाय एक से दसवें गुणस्थान तक रहती है इस कषाय का उदय छह से दसवें गुणस्थान तक होता है। जो अन्तर्मुहूर्त में खत्म हो जाती है वह संज्वलन कषाय है।

क्रोध कषाय – जिस कषाय के उदय से आत्मा के क्षमा गुण का घात हो उसे क्रोध कषाय कहते हैं।

मान कषाय – जिस कषाय के उदय से मार्दव गुण (मृदु, विनम्र भाव) का घात होता है उसे मान कषाय कहते हैं।

लोभ कषाय – जिस कषाय के उदय से आत्मा के शौच गुण का घात हो उसे लोभ कषाय कहते हैं।

नोकषाय – जो ईषत् (किंचित) है अथवा जो कषाय तो नहीं है लेकिन कर्म बंध कराने में कारण है उसे नोकषाय कहते हैं।

1. **हास्य –** जिस कर्म के उदय से दूसरों के ऊपर हँसी आये उसे हास्य कषाय कहते हैं।
2. **रति –** जिस कर्म के उदय से दूसरों से प्रीति हो उसे रति कषाय कहते हैं।
3. **अरति –** जिस कर्म के उदय से दूसरों से अप्रीति हो उसे अरति कषाय कहते हैं।
4. **शोक –** इष्ट के वियोग होने से जो दु:ख हो उसे शोक कषाय कहते हैं।
5. **भय –** जिस कर्म के उदय से भय उत्पन्न हो उसे भय कषाय कहते हैं।
6. **जुगुप्सा –** जिस कर्म के उदय से ग्लानि हो उसे जुगुप्सा कषाय कहते हैं।
7. **स्त्री वेद –** पुरुष में रमण करने के भाव को स्त्रीवेद कषाय कहते हैं।
8. **पुरुष वेद –** स्त्री में रमण करने के भाव को पुरुष वेद कषाय कहते हैं।
9. **नपुंसक वेद –** स्त्री व पुरुष दोनों में रमण करने के भाव को नपुंसक कषाय कहते हैं।

कषायों अन्य विशेषताएँ निम्नांकित हैं–

1. 9वें गुणस्थान को बादर साम्परायिक भी कहते हैं। (साम्पराय–कषाय)
2. अनंतानुबंधी में क्षायिक सम्यग्दृष्टि नहीं होते हैं।
3. ईर्यापथ आस्रव – कषाय से रहित 11 से 13वें गुणस्थान तक होता है।
4. साम्परायिक आस्रव – कषाय से सहित 1 से 10वें गुणस्थान तक होता है।
5. मिथ्यात्व रहित अनंतानुबंधी के उदय वाला नरक गति में नहीं जायेगा।

जिस गति में जिस कषाय की प्रधानता या अधिकता होती है–

क्रोध कषाय – नरक गति में प्रधानता

लोभ कषाय – देव गति में प्रधानता

माया कषाय – तिर्यंच में प्रधानता

मान कषाय – मनुष्य में प्रधानता

कषाय का उदय 6 प्रकार से तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र, मंद, मंदतर मंदतम रूप में होता है।

उपशांत कषाय, क्षीण कषाय, सयोग केवली, अयोग केवली गुणस्थान में कषाय नहीं होती है।

अब **लेश्या मार्गणा** का स्वरूप स्पष्ट करते हैं–

लेश्या मार्गणा

लेश्या – कषायों से अनुरंजित योगों की परिणति को लेश्या कहते हैं। जो जीव को पाप–पुण्य से लिम्पन करती है उसे लेश्या कहते हैं। जो लिम्पन करती है उसे लेश्या कहते हैं।[5]

लेश्या मार्गणा – लेश्या के द्वारा जीव की जो खोज की जाती है उसे लेश्या मार्गणा कहते हैं।

लेश्या दो प्रकार की – (अ) द्रव्य लेश्या (ब) भाव लेश्या

(अ) द्रव्य लेश्या – शरीर का रंग

(ब) भाव लेश्या – आत्मा की परिणति (अन्तरंग परिणाम)

लेश्या 6 होती हैं– (1) कृष्ण लेश्या (2) नील लेश्या (3) कापोत लेश्या (4) पीत लेश्या (5) पद्म लेश्या (6) शुक्ल लेश्या।

कृष्ण लेश्या के लक्षण – (1) कृष्ण लेश्या वाला व्यक्ति दुराग्रही, उपदेशी की अवमानना वाला तीव्र बैरी, विषयों में लम्पटता करने वाला, अतितीव्र क्रोधी, मानी, मायावी, निर्दयी, आलस्य से युक्त और हमेशा क्लेश करने वाला, ताप (मानसिक असंतोष) करने वाला, तामस प्रवृत्ति (मन विकृत करने वाली) वाला होता है। कृष्ण लेश्या एक से 4 गुणस्थान तक के जीवों में होती है।

नील लेश्या के लक्षण – नील लेश्या वाला व्यक्ति आलस्य पूर्ण, मूर्खता पूर्ण, कार्य में अरुचि (अनिष्ठा) विषयों की अभिलाषा, अतिगृद्धता, अभिमानी, तृष्णा, झूठ बोलने वाला होता है। ये लेश्या 1 से 4 गुणस्थान तक के जीवों में होती है।

कापोत लेश्या के लक्षण – मात्सर्य (ईर्ष्या करने वाला), पैशून्य (चुगली) आत्मप्रशंसा करने वाला होता है। जीवन से निराशा, प्रशंसक को धन देने वाला, युद्ध में मरण करने वाला होता है। ये 1 से 4 गुणस्थान तक के जीवों में पायी जाती है।

पीत लेश्या के लक्षण – अपने कर्त्तव्य व अकर्त्तव्य, सेव्य, असेव्य आदि का ज्ञान, दयालुता, सत्यवादिता, दानशीलता, स्वकार्य पटुता सभी कार्यों में समदर्शी भाव आदि पीत लेश्या के लक्षण हैं। ये 1 से 7 गुणस्थान तक के जीवों में पायी जाती है।

5. जी.का. 490, ध.पु. 1 पृ. 149 स.सि.अ. 2 सू. 6 पृ. 159 जी.का. 509–प्रा.पं.सं. 200, ति.प. 298–98

पद्म लेश्या – सात्विक आहार, सत्य वचन बोलना, दान देना, पांडित्य (बुद्धिमान), देवशास्त्र गुरु की भक्ति में रुचि आदि पद्म लेश्या के लक्षण हैं। ये 1 से 7 गुणस्थान तक के जीवों में पायी जाती है।[6]

शुक्ल लेश्या – बैर से रहित होना, शत्रु के दोषों पर दृष्टि नहीं देना, निन्दा नहीं करना, पाप कार्यों में उदासीनता, मोक्ष मार्ग में रुचि आदि शुक्ल लेश्या के लक्षण हैं। (ये 1 से 13 गुणस्थान तक के जीवों में पायी जाती है।)

लेश्या	**गुणस्थान**
कृष्ण	1 से 4
नील	1 से 4
कापोत	1 से 4
पीत	1 से 7
पद्म	1 से 7
शुक्ल	1 से 13

6. रा.वा. 4/22/10/239/30 वही

लेश्या मार्गणा की अन्य विशेषताएँ

वैमानिक देवों में द्रव्य व भाव दोनों में एक ही लेश्या होती है। अन्य सभी जीवों में द्रव्य लेश्या व भाव लेश्या अलग–अलग होती है।

कृष्ण, नील, कापोत लेश्या एकेन्द्रिय से लेकर के पंचेन्द्रिय तक पहले गुणस्थान से चौथे गुणस्थान तक होती है।

पीत व पद्म लेश्या वाले जीव संज्ञी मिथ्यादृष्टि से अप्रमत्त गुणस्थान तक होते हैं।

शुक्ल लेश्या वाले जीव संज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर 13वें गुणस्थान तक रहते हैं।

सम्यक्त्व व मिथ्यात्व के साथ शुभ लेश्या व अशुभ लेश्या दोनों हो सकती हैं।

अपर्याप्त अवस्था में कापोत लेश्या इसलिए होती है क्योंकि द्रव्य से काला, नीला आदि रंग होता है और कार्माण शरीर होने पर शुक्ल लेश्या में काला आदि रंग मिलने पर कापोत लेश्या बनती है।

- तीर्थंकर प्रकृति का बंध करने वाले जीव की नरक गति में कापोत लेश्या होती है।
- कार्मण काय योग की वर्गणा सफेद रंग की होती है इसलिए विग्रह गति में द्रव्य से शुक्ल लेश्या होती है।
- भोग भूमि में तीनों शुभ लेश्याएँ होती हैं।
- भोग भूमि में मरण के समय शुक्ल लेश्या नहीं होती मात्र पीत लेश्या ही होती है।
- कर्मभूमि में पर्याप्तक अपर्याप्तक अवस्था में शुक्ल लेश्या के साथ मरण हो सकता है।
- छहों लेश्या में तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध हो सकता है परन्तु तीर्थंकर प्रकृति के उदय का प्रारम्भ शुभ लेश्याओं में ही होता है।

5वें से 10वें गुणस्थान का स्वरूप, विशेषता, प्रकार व प्रत्येक के कार्यों की विवेचना

पं. शीतलचन्द जैन, ललितपुर

उपर्युक्त विषय की विवेचना के पूर्व गुणस्थान की परिभाषा एवं संख्या के बारे में प्रकाश डाला जा रहा है। जीवकाण्ड में गुणस्थान का एक नाम जीव समास भी कहा गया है। जीव रहते हैं- गुणों में अर्थात् भावों में और वे भाव हैं, पाँच- औदायिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक इन भावों या गुणों के साहचर्य से आत्मा भी गुण कहलाता है। इसी से जीव काण्ड गाथा में कहा है।

''दर्शन मोहनीय आदि कर्मों के उदय, उपशम आदि अवस्थाओं से युक्त जीव देखे जाते हैं, उन जीवों को सर्वज्ञ देव ने गुण संज्ञा वाला कहा है।''

पंच संग्रह प्राकृत अधिकार 113 में दर्शन मोहनीयादि कर्मों की उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदि अवस्थाओं के होने पर उत्पन्न होने वाले जिन भावों से जीव लक्षित किये जाते हैं, उन्हें सर्वदर्शियों ने 'गुणस्थान' इस संज्ञा से निर्देश किया है। गुणस्थान की परिभाषा- मोह व योग से होने वाली आत्मा की परिणति को गुणस्थान कहते हैं।

गुणस्थान के भेद – गुणस्थान के 14 भेद हैं- 1. मिथ्यात्व, 2. सासादन, 3. मिश्र, 4. अविरत-सम्यक्त्व, 5. देशविरत, 6. प्रमत्त-संयत, 7. अप्रमत्त संयत, 8. अपूर्वकरण, 8. अनिवृत्तिकरण, 10 सूक्ष्म साम्पराय, 11. उपशांत मोह, 12 क्षीण मोह, 13. सयोग केवली 14. अयोग केवली।

पंचम गुणस्थानुवर्ती जीव देशसंयत गुणस्थान वाला कहा जाता है। जीव काण्ड की गाथा क्र. 30 के गुणस्थान अनुसार अनन्तानुबन्धी तथा अप्रत्याख्यानावरणी रूप आठ कषायों के उपशम से और प्रत्याख्यानावरण रूप आठ कषायों के देशघाती स्पर्धकों के उदय होते हुये सर्वघाती स्पर्धकों के उदयाभावों रूप क्षय से सकल संयम रूप भाव नहीं होता। किन्तु इतना विशेष है कि स्तोक व्रत रूप देशसंयम होता है। अर्थात् प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय में सकल संयम रूप चारित्र रूप, परिमाण नहीं होता है क्योंकि प्रत्याख्यान अर्थात् सकल संयम को जो आवरण, करती है, उस कषाय को प्रत्याख्यानावरण कहते हैं। देशसंयम से युक्त जीव पंचम गुणस्थानवर्ती होता है।

जीव काण्ड की गाथा क्र. 31 के अनुसार वही देशसंयत विरताविरत भी कहा जाता है, क्योंकि एक ही काल में जो जीव त्रसहिंसा से विरत है, वही जीव स्थावर हिंसा से अविरत है। विषय भेद की अपेक्षा कोई विरोध न होने से 'विरताविरत' कथन के योग्य होता है। तथा च शब्द से प्रयोजन के बिना स्थावर हिंसा भी नहीं करता है, ऐसा व्याख्यान करना योग्य है। उसकी रुचि एकमात्र जिन भगवान में होने से वह जिनेकमति होता है। देशसंयत के सम्यग्दृष्टित्व विशेषण का कथन किया है। आचार्य श्री ने वर्णित किया है अप्रत्याख्याना-वरण कषाय के सर्वघाती स्पर्धकों का उदयाभावी क्षय, उन्हीं का सदवस्थारूप उपशम तथा प्रत्याख्यानावरण के सर्वघाती स्पर्धकों का और संज्वलन के देशघाती स्पर्धकों का उदय होना संयमासंयम अथवा देशसंयत गुणस्थान है।

जो त्रस हिंसा से विरत और उस ही समय में स्थावर हिंसा से अविरत होता है उस जीव को विरताविरत कहते हैं।

विशेषताएँ उपशम सम्यक्त्व के साथ इस गुणस्थान में उत्पन्न होने के लिए तीन करण आवश्यक होते हैं-

(1) अध:करण (2) अपूर्वकरण (3) अनिवृत्तिकरण। 1. वेदक सम्यक्त्व के साथ इस गुणस्थान में उत्पन्न होने के लिए दो करण आवश्यक हैं- (i) अध:करण और (ii) अपूर्वकरण। यह गुणस्थान केवल कर्मभूमि के तिर्यंच और मनुष्य के ही होता है। भोगभूमि के मनुष्य और तिर्यंच के यह गुणस्थान नहीं होता। शुभ से शुभोपयोग होता है। यह असंयत सम्यग्दृष्टि श्रावक और प्रमत्त-संयत में होता है। शुद्धोपयोग का साधक तारतम्य से शुभ उपयोग युक्त होता है। 'वृ.द्र' सं. 3419616।

प्रवचन सार- 9-12 में दिया गया है शुभोपयोग का फल शुभ ही होता है। शुभ का कभी अशुभ नहीं होता। इससे देव पर्याय प्राप्त करता है। सुंदर शरीर, प्रशस्त आंगोपांग, धन-वैभव, निरोगता आदि को प्राप्त होता है।

प्रमत्त-संयत गुणस्थान संक्षेप में जो पूर्ण संयम का पालन करते हुये भी प्रमाद के कारण कभी-कभी कुछ असावधान हो जाते हैं उन मुनियों को प्रमत्त संयत कहते हैं। जिस गुणस्थान में प्रत्याख्यानावरण कषाय का क्षयोपशम होने से हिंसादि पाँचों पापों का सर्वथा त्याग हो जाता है, फिर भी संज्वलन कषाय का अपेक्षाकृत तीव्र उदय होने पर प्रमाद मौजूद रहता है वह प्रमत्त संयत गुणस्थान है।

गोम्मटसार जीव काण्ड की गाथा क्र. 32 के अनुसार संज्वलन कषाय के सर्वघाती स्पर्द्धकों को उद्याभावरूप लक्षण क्षय होने पर और बारह कषायों का तथा उदय को न प्राप्त संज्वलन कषाय और नोकषाय के निषेकों का सद्वस्था रूप उपशम होने पर संयम के साथ मल को उत्पन्न करने वाला प्रमाद भी उत्पन्न होता है। इसी कारण से छठे गुणस्थानवर्ती जीव को प्रमत्त और विरत अर्थात् प्रमत्त संयत कहते हैं। सिद्धान्त चक्रवर्ती आचार्य नेमीचन्द्र जी ने इस गुणस्थान की विवेचना की है- ''जिसके अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण एवं प्रत्याख्यानावरण इन तीन चौकड़ी रूप बारह कषायों के उदयाभाव से संयम तो होता है, किन्तु संज्वलन चतुष्क! और नौ नोकषाय के तीव्र उदय से मलिन करने वाला प्रमाद भी साथ में रहता है, अत: यह अवस्था प्रमत्त-संयत गुणस्थान वाले की होती है, अत: यह प्रमत्तसंयत गुणस्थान है। चार विकथा (स्त्री कथा, - भक्त कथा, राष्ट्र कथा और राज कथा), क्रोधादि चार कषायें पाँच इन्द्रियों, निद्रा और विकथा कहा गया है। संज्वलन और नोकषाय अनुभव गम्य है।'' दूसरे प्रकार से मदिरा, इन्द्रिय कषाय 1, निद्रा और विकथा इन पाँच में से किसी एक को अथवा सभी को प्रमाद माना जाता है। जिस प्रकार राग से प्रमाद को प्राप्त हुआ जीव गुण दोष को नहीं सुनता है, उनका विचार नहीं करता है। उसी प्रकार जो गुप्ति और समिति के विषय में प्रमाद से युक्त होता है उसे प्रमत्तविरत कहते हैं।

विशेषाएँ - 4 से 6 गुणस्थान तक शुभोपयोग होता है। आहारक व विक्रिया आदि ऋद्धियों का प्रयोग इसी गुणस्थान में होता है। ढाई द्वीप में इस गुणस्थान में सभी कालों में साधु पाये जाते हैं। इस गुणस्थान का जघन्य काल एक समय, उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त होता है। डॉ. श्रेयांस कुमार जैन बड़ौत ने इसका जैन सिद्धान्त नामक ग्रन्थ में स्पष्ट उल्लेख किया है कि इस गुणस्थान को धारण करने वाला निर्ग्रन्थ मुद्रा का धारक होकर अट्ठाईस मूलगुणों का निर्दोष पालन करता है। यह गुणस्थान मात्र मनुष्य गति में पुरुषों को ही प्राप्त होता है। मुनिव्रत धारण करने की इच्छा रखने वाला, अविरत सम्यग्दृष्टि या देशविरत श्रावक अपने हाथ से केशलुंचन करते हुए शरीर से सर्वथा निर्मोह-वृत्ति होता है नग्नता को धारण करता है। आचार्य केशलोंच, अचेलक्य प्रति-लेखन, शरीर पर निर्मोह वृत्ति को औत्सर्गिक लिंग कहते हैं। दिगम्बर साधु की पहचान के लिए जो प्राकृतिक चिन्ह चाहिए, वह इन बातों से प्रकट होता है।

जैसाकि मूलाचार के समयसाराधिकार में कहा है-

अचेलक्कं लोचो वोसट्ठ शरीर दाय पडिलिहणं।
ऐसो हि लिंगकप्पो चंदुव्वियो होदिणादव्वो।।

मूलाचार 908 अर्थात् कपड़े आदि सर्व परिग्रह का त्याग (अचेलक्य) केशलोंच, शरीर संस्कार का त्याग, मयूरपिच्छी यह साधु के लिंग हैं, ये चारों अपरिग्रह भावना, वीतरागता एवं दया पालन के चिन्ह हैं। इन औत्सर्गिक लिंगों का दिगम्बर साधु में होना आवश्यक है इनके बिना दिगम्बर साधु नहीं कहला सकता। अचेलक्य धर्म मुनिचर्या का आवश्यक अंग ही नहीं अपितु अनिवार्य है। द्रव्य के साथ साथ निर्ग्रन्थ ही मोक्ष का कारण है।

इस सम्बन्ध में कहा भी गया है-

जया मणु णिग्गंथु जिय तडया तुहु णिग्गंथ।
जडया तुहु णिग्गंथु जिय तो लममई शिवपंथु।।

अर्थात् हे जीव! तुम्हारा मन जब निर्ग्रन्थ होता है। इस प्रकार वस्तुत: निर्ग्रन्थ होने पर ही तुम मोक्ष–मार्ग के पथिक बन सकते हो। इससे सिद्ध हुआ कि मोक्ष मार्ग के लिए निर्ग्रन्थ्य (अचेलक्य की परम आवश्यकता है। यह निर्ग्रन्थ अवस्था प्रमत्ताप्रमत्त गुणस्थान वालों की प्राप्त होती है।

प्रमत्तसंयत – जो प्रमाद के न होने से अस्खलित संयम का पालन करता है। ध्यान में मग्न उन मुनियों को अप्रमत्त संयत कहते हैं। पर गोम्मटसार जीव काण्ड की गाथा क्र. 46 के आधार पर जिस काल में संज्वलन क्रोधमान माया लोभ चार कषायों का और हास्य आदि नौ नोकषायों का यथासम्भव उदय अर्थात् फल देने रूप परिणाम मन्द अर्थात् प्रमाद को उत्पन्न करने की शक्ति से रहित होता है अर्थात् उस काल में एक अन्तर्मुहूर्त के लिए जीव के अप्रमत्त गुणस्थान होता है।

इस कारण से अप्रमत्त गुण से युक्त संयत अर्थात् सकल संयमी अप्रमत्त गुणस्थान होता है। अप्रमत्त संयत के दो भेद होते हैं– स्वस्थानाप्रमत्त और सातिशय अप्रमत्त। जिस जीव के समस्त प्रमाद नष्ट हो गये हैं और व्रत, गुण, शील की पंक्ति से भूषित है, सम्यग्ज्ञान के उपयोग से युक्त है, जिसका मन धर्मध्यान में लीन है, ऐसा अप्रमत्त संयत जब तक उपशम श्रेणी या क्षपक श्रेणी के सम्मुख चढ़ने के लिए प्रवृत्त नहीं होता तब तक उसे स्वस्थानाप्रमत्त कहते हैं। जिस गुणस्थान से श्रेणी आरम्भ होती है अर्थात् ऊपर की ओर 8वें गुणस्थान में जाता वह सातिशय अप्रमत्त संयत गुणस्थान होता है। सातवें गुणस्थान से आगे दो श्रेणियाँ प्रारम्भ होती हैं, एक उपशम श्रेणी और दूसरी क्षपक श्रेणी। श्रेणी का मतलब है पंक्ति या मार्ग। जिस श्रेणी पर यह जीव कर्मों का उपशम करता हुआ उन्हें दबाता हुआ चढ़ता है उसे उपशम श्रेणी कहते हैं और जिस श्रेणी पर कर्मों को नष्ट करता चढ़ता उसे क्षपक श्रेणी कहते हैं। प्रत्येक श्रेणी के चार–चार गुणस्थान होते हैं, आठवाँ नवम और दसवाँ गुणस्थान उपशम श्रेणी में भी शामिल है और क्षपक श्रेणी में भी शामिल है। ग्यारहवाँ गुणस्थान केवल उपशम श्रेणी का ही है और बारहवाँ गुणस्थान केवल क्षपक श्रेणी का है। ये सभी गुणस्थान क्रमश: मुनियों के होते हैं और ध्यान में मग्न मुनियों के ही होते हैं।

अपूर्वकरण गुणस्थान–करण का अर्थ परिणाम है, और जो पहिले प्राप्त नहीं हुये, उन्हें कहते हैं अपूर्व। ऐसे अपूर्व परिणाम वाले जीव अपूर्वकरण कहे हैं। अपूर्वकरण रूप परिणामों को धारण करने वाले जीव मोहनीय कर्म की इक्कीस प्रकृतियों का क्षय अथवा उपशम करने में तत्पर होते हैं। जिस गुणस्थान में मोहनीय कर्म के क्षय या उपशम करने योग्य जो अपूर्व परिणाम होते हैं, उसे अपूर्वकरण गुणस्थान कहते हैं। समान समयवर्ती जीवों के परिणाम समान व असमान दोनों होते हैं, किन्तु भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणाम भिन्न ही होते सदृश्य नहीं होते किन्तु प्रति समय अनन्तगुणी विशुद्धि के लिए अपूर्वकरण के एक समय के परिणाम असंख्यात लोक प्रमाण होते हैं। क्रमश: आगे आगे समय के परिणाम असंख्यात लोक गुणे होते हैं। इस गुणस्थान का समय अन्तर्मुहूर्त है व असंख्यात लोक प्रमाण परिणाम होते हैं।

विशेषता – अपूर्व = अ = नहीं पूर्व = पहले करण परिणाम (व्युत्पत्ति अर्थ) अर्थात् पूर्व में कभी नहीं हुये ऐसे परिणाम। इस गुणस्थान में आत्मा को अपूर्व अर्थात् पूर्व में अनुभूति आत्मशुद्धि का अनुभव होता है। यह गुणस्थान सातिशय अप्रमत्त अवस्था के बाद होता है। इस गुणस्थान में नीचे की ओर गमन करने के दो मार्ग हैं– 1. सातवें गुणस्थान में आता है। 2. मरण होने पर चौथे में जायेगा। इससे ऊपर चढ़ेगा तो नवमें गुणस्थान में जायेगा। इस गुणस्थान में मरण करके जीव देवगति में ही जायेगा। नरक व मनुष्य और तिर्यंच में नहीं। यह गुणस्थान दो प्रकार का होता है (i) क्षपक (क्षपक श्रेणी चढ़ने वाला) – कर्मों का क्षय। करते हुए कर्मों और उपशम (उपशम श्रेणी चढ़ने वाला कर्मों को दबाते हुआ गुणस्थान में श्रेणी चढ़ते हुए प्रथम भाग में मरण नहीं होता है लेकिन उतरते में कहीं भी मरण हो सकता है। इस गुणस्थान में चार विशेष कार्य होते हैं– (1) गुण श्रेणी निर्जरा (ii) गुण संक्रमण (iii) स्थिति काण्डक घात (iv) अनुभाग काण्डक घात।

अनिवृत्तिकरण गुणस्थान गोम्मटसार जीव काण्ड की गाथा क्र. 56 के अनुसार अनिवृत्तिकरण काल के एक समय में वर्तमान नाना जीव जैसे शरीर का आकार, वर्ण, वय, अवगाहना, ज्ञानोपयोग आदि परस्पर में भेद प्राप्त होते हैं उस प्रकार विशुद्ध परिणामों के द्वारा भेद को प्राप्त नहीं होते। उन जीवों को अनिवृत्तिकरण सम्यक रूप से जानना। जिनके निवृत्ति अर्थात् विशुद्धि परिणामों

में भेद नहीं है। वे अनिवृत्तिकरण है। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है। जिन जीवों को अनिवृत्तिकरण आरम्भ किये पहला दूसरा आदि समान समय हुआ है उन त्रिकालवर्ती अनेक जीवों के परिणाम समान ही होते हैं। जहाँ एक समय में एक ही परिणाम होने से समान समयवर्ती जीवों के परिणामों में समानता रहती है और भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणामों में असमानता रहती है, वहाँ अनिवृत्तिकरण गुण स्थान होता है। आचार्य वीरसेन स्वामी ने कहा है कि इसमें अपूर्वकरण की अनिवृत्ति है उससे सिद्ध होता है कि इस गुणस्थान में प्रथमादि जीवों की द्वितीयादि समयवर्ती जीवों के साथ परिणामों की अपेक्षा भेद है। अतएव इससे यह तात्पर्य निकल आता है कि अनिवृत्ति पद का सम्बन्ध एक समयवर्ती परिणामों के साथ ही है।

साम्पराय शब्द का अर्थ कषाय है और वाद शब्द का अर्थ स्थल है अर्थात् स्थूल कषायों के बाद साम्पराय कहते हैं और अनिवृत्ति रूप वाद-साम्पराय को अनिवृत्तिवाद साम्पराय कहते हैं, उन अनि वृत्तिवाद साम्पराय रूप परिणामों में जिन संयतों को विशुद्धि प्रविष्ट हो गई है, उन्हें अनिवृत्तिवाद साम्पराय प्रविष्ट शुद्धि संयत कहते हैं ऐसे संयतों में उपशमक और क्षपक दोनों प्रकार के जीव होते हैं, और उन संयतों को मिलाकर एक अनिवृत्तिकरण गुणस्थान (सूक्ष्म साम्पराय प्रविष्ट बुद्धि संयत गुणस्थान) होता है।

विशेषताएँ – मरण की अपेक्षा से 9वें गुणस्थान का उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त, जघन्य काल एक समय। क्षपक श्रेणी में इस गुणस्थान में 9 भागों में से प्रकृतियों के क्षय होने का क्रम है। पहले भाग में- निद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानगृद्धि तथा नरक गत्यादि। 3 प्रकीर्तियों का दूसरे भाग में- अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण की कुल 8 प्रकृतियों का क्षय। तीसरे भाग में 'नपुंसक वेद का। चौथे भाग में- स्त्रीवेद का। पाँचवें भाग में हास्यादि 6 नोकषाय। छठवें भाग में पुरुष वेद का। सातवें भाग में संज्वलन क्रोध। आठवें भाग में संज्वलन मान नौवें भाग में संज्वलन माया। इस गुणस्थान का जघन्य काल एक समय, उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त है।

सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान – गोम्मटसार जीव काण्ड की गाथा क्र. 58 के एवं 59 के अनुसार- राग अर्थात् यथाख्यात चारित्र को रोकने वाला कषाय रंग, उसके साथ जो हो, वह सराग अर्थात् विशुद्धि परिणाम। सूक्ष्म अर्थात् सूक्ष्म कृष्टि 1. अनुभागोदय से सहचरित सराग जिसका है वह सूक्ष्म सराग अर्थात् सूक्ष्म साम्पराय है।

पूर्व अर्थात् अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में अथवा संसार अवस्था में होने वाले कर्म को शक्ति समूह रूप पूर्व-स्पर्धक, अनिवृत्तिकरण परिणामों के द्वारा किये उनके अनन्त में भाग प्रमाण अपूर्व स्पर्धक, परिणामों के द्वारा उन्हीं परिणामों के द्वारा की गयी बादर कृष्टि और उन्हीं के द्वारा की गयी कर्म शक्ति का सूक्ष्म खण्ड रूप सूक्ष्म कृष्टि, इनका अनुभाग यथाक्रम अपने उत्कृष्ट से अपना जघन्य और ऊपर के जघन्य से नीचे का उत्कृष्ट क्रम से अनन्तगुणा हीन है जो साधक आत्मशुद्धि की अपेक्षा इस अवस्था (सूक्ष्म कषाय की अवस्था में प्रवेश कर जाते हैं) उन्हें सूक्ष्म साम्पराय प्रविष्ट शुद्धि संयत कहते हैं। सिद्धांत चक्रवर्ती नेमिचन्द आचार्य ने कहा है कि जिस प्रकार धुले हुए सभी रेशमी वस्त्र में सूक्ष्म हल्की लालिमा शेष रह जाती है, उसी प्रकार जीव अत्यन्त सूक्ष्म राग अर्थात् लोभ कषाय से युक्त होता है उसको सूक्ष्म साम्पराय नामक दशम गुणस्थानुवर्ती कहते हैं। मोहनीय कर्म का क्षय या उपशम करके आत्मार्थी साधक अन्य समस्त कषायों को नष्ट कर देता है और केवल लोभ कषाय का अतिशय सूक्ष्म अंश ही शेष रह जाता है जो मोहनीय कर्म की 20 प्रकृतियों का क्षय करता हुआ इस गुणस्थान में आया है, वह क्षपक श्रेणी वाला इस गुणस्थान में चला जाता है शेष बचे लोभ कषाय की सत्ता व्युच्छित्ति करके 12वें गुणस्थान में और जो नवम् गुणस्थान मोहनीय कर्म प्रकृति का उपशम करके उपशम श्रेणी पर आरूढ़ होकर इस गुणस्थान में आया है, वह सूक्ष्म लोभ का उपशम करके उपशान्त कषाय नामक 11वें गुणस्थान में चला जाता है। जिस गुणस्थान में सूक्ष्म लोभ कषाय का उदय रहता है, उसे सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान कहते हैं।

विशेषताएँ – इस गुणस्थान में यथाख्यात चारित्र से कुछ कम चारित्र पाया जाता है उपशम श्रेणी में 10वें गुणस्थान वाले जीवों के नीचे की ओर गमन करने के दो ही मार्ग हैं- (i) भवक्षय (i) काल क्षय। (i) भव क्षय 10वें गुणस्थान में मरण होकर

चौथे गुणस्थान में जाता है। (ii) काल क्षय 10वें गुणस्थान में गिरेगा तो 9वें गुणस्थान में आयेगा। क्षपक 10वें में से सीधे 12वें गुणस्थान में जाता है। उपशमक 10वें में से 11वें गुणस्थान में जाता है। इस गुणस्थान का जघन्य काल एक समय, उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त है।

इस प्रकार इस आलेख में संक्षिप्त रूप से गुणस्थान की परिभाषा, 14 गुणस्थानों के नामोल्लेख एवं पाँचवें गुणस्थान से दसवें गुणस्थान का यथासंभव वर्णन किया गया है।

सन्दर्भ –

1. मुख्यत: आचार्य विनम्रसागर की सिद्धान्त प्रबोधिनी टीका भाग–1
2. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष भाग।
3. गोम्मटसार जीव काण्ड।
4. सिद्धान्त चक्रवर्ती आचार्य नेमिचन्द जी।
5. पंडित कैलाशचन्द जी द्वारा रचित जैन धर्म।
6. पं. श्रेयांश कुमार जैन के जैन धर्म में गुणस्थान निरूपण।
7. प्रवचन सार।
8. मूलाचार।

क्षयोपशम सम्यक्त्व का निरूपण एवं काल, अन्तर, भाव तथा गमनागमन का अन्वेषण

पं. सनतकुमार विनोदकुमार जैन
रजवांस सागर म.प्र.

सम्मत्तरयणसारं मोक्खं महारूक्ख मूलमिदं भणियं।[1]

सम्यग्दर्शन समस्त रत्नों में सारभूत और मोक्ष रूपी वृक्ष का मूल है। इसके निश्चय व्यवहार ऐसे दो भेद हैं। मोक्ष मार्ग में सम्यग्दर्शन सर्वोच्च स्थान है क्योंकि इसके बिना आगम ज्ञान, चारित्र, तप, व्रत आदि सब वृथा हैं। सम्यग्दर्शन के लक्षणों में स्वात्म संवेदन प्रमुख है।

इसके बिना तत्त्वों की श्रद्धा आदि अकिंचित्कर है। ये सम्यग्दर्शन स्वत: या किसी के उपदेश से या जातिस्मरण या जिनबिम्ब दर्शन आदि के निमित्त से काल पाकर भव्य जीवों के उत्पन्न होता है।

सम्यग्दर्शन का स्वरूप

नव पदार्थ– जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप। सात तत्त्व– जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष। इनका आगम के अनुसार निर्णय करके श्रद्धान करना एवं तीन मूढ़ता और पच्चीस दोषों से रहित सम्यग्दर्शन है। इस प्रकार आचार्य गुणभद्र स्वामी ने आत्मानुशासन में व्यवहार सम्यग्दर्शन का कथन किया है।[2]

आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में भी इसी प्रकार वर्णन किया है।

श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्।
त्रिमूढ़ापोढ़मष्टाङ्गं सम्यग्दर्शनमस्मयम्।।4।।

सत्यार्थ आप्त, आगम और गुरु का तीन मूढ़ता एवं आठ मद से रहित है और आठ अंग से सहित श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।

आप्तेनोच्छिन्नदोषेण सर्वज्ञेनाऽऽगमेशिना।
भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता: भवेत।।5।।

जिसने राग–द्वेषादि दोषों का विनाश कर दिया है, जो वीतरागी, सर्वज्ञ और हितोपदेशी हैं वही सच्चा देव है अन्यथा नहीं।

क्षुत्पिपासाजरातङ्कजन्मान्तक भयस्मया:।
न रागद्वेष मोहश्च यस्याप्त: स प्रकीर्त्यते।।6।।[3]

जिसके भूख, प्यास, जरा, रोग, जन्म, मरण, भय, मद, राग, द्वेष, मोह, चिन्ता, अरति, निद्रा, विस्मय, विषाद, प्रस्वेद और खेद ये दोष नहीं हैं वह पुरुष वीतरागी आप्त कहा जाता है।

इस प्रकार से आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने अठारह दोषों से रहित वीतरागी, सर्वज्ञ और हितोपदेशी लक्षण वाले सच्चे देव का स्वरूप कहा है। इसी प्रकार से आचार्य गुणभद्र स्वामी ने आत्मानुशासन में सच्चे देव का आश्रय लेने को कहा है।

सा चाप्तात् स च सर्वदोष रहितो रागादयस्तेऽप्यत:–
तं युक्त्या सुविचार्य सर्व सुखदं सन्त: श्रयन्तु श्रियै।।9।।

सच्चा देव अठारह दोषों से रहित होता है। वे दोष भूख, प्यास, जरा, रोग, जन्म, मरण, भय, मद, राग, द्वेष, मोह, चिन्ता, अरति, निद्रा, विस्मय, विषाद, प्रस्वेद और खेद हैं। इस कारण मोक्ष प्राप्ति के कारण सच्चे देव हैं। इन्हें युक्तिपूर्वक आगम प्रमाण से जानकर इनका आश्रय लेना चाहिए।

व्यवहार सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्दर्शन का साधक है

संसार में जीव व अजीव के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। इसलिए अपने स्वरूप ज्ञान की अभिलाषा से इन दोनों के लक्षण जानने चाहिए। जो परमार्थ से इनके स्वरूप को जान सकता है, वह अजीव को छोड़कर जीव तत्त्व में लय हो जाता है।[5]

नव पदार्थ, सात तत्त्व के श्रद्धान रूप व्यवहार सम्यग्दर्शन, शुद्ध जीवास्तिकाय की रुचिरूप जो निश्चय सम्यग्दर्शन का बीज है। पंचास्तिकाय तात्पर्य वृत्ति 107 व्यवहार सम्यग्दर्शन और निश्चय सम्यग्दर्शन में साध्य साधक संबंध है।[6]

सम्यग्दर्शन के भेद

श्रद्धानं द्विविधं त्रिधा दशविधं मौढ्याद्यपोढं।[7]

आत्मानुशासन में सम्यग्दर्शन के दो, तीन और दश भेद कहे हैं।

दो प्रकार का सम्यग्दर्शन–

1. निसर्गज – उपदेश के बिना होने वाला तत्त्वार्थ का श्रद्धान निसर्गज सम्यग्दर्शन है।

2. अधिगमज – उपदेश से होने वाला तत्त्वार्थ का श्रद्धान अधिगमज सम्यग्दर्शन है।

निसर्गज और अधिगमज दोनों सम्यग्दर्शनों में अन्तरंग कारण तो दर्शनमोह का उपशम, क्षय या क्षयोपशम समान रूप से है। इन अन्तरंग कारणों के होने पर जो सम्यग्दर्शन बाह्य उपदेश के बिना प्रकट होता है वह निसर्गज कहलाता है, तथा जो परोपदेश पूर्वक जीवादि अधिगम के निमित्त से होता है, वह अधिगमज है।[8]

तीन प्रकार का सम्यग्दर्शन

1. **उपशम सम्यग्दर्शन –** अनन्तानुबन्धी चार कषाय और दर्शन मोह की तीन, इन सात प्रकृतियों के उपशम से, कीचड़ के नीचे बैठ जाने से निर्मल जल के समान, पदार्थों का जो निर्मल श्रद्धान होता है वह उपशम सम्यग्दर्शन है।[9]

2. **क्षयोपशम सम्यग्दर्शन –** चार अनन्तानुबंधी कषाय, मिथ्यात्व और सम्यक्मिथ्यात्व इन छह प्रकृतियों के उदयाभावी क्षय और इन्हीं के सदवस्थारूप उपशम से देशघाती स्पर्धक वाली सम्यक्त्व प्रकृति के उदय में जो तत्त्वार्थ श्रद्धान होता है, वह क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन है।[10]

3. **क्षायिक सम्यग्दर्शन –** अनन्तानुबन्धी चार कषाय और दर्शन मोह की तीन, इन सात प्रकृतियों के अत्यन्त विनाश से क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है।[11]

जिस प्रकार औपशमिक सम्यग्दर्शन निसर्ग व अधिगमज दोनों से होता है, उसी प्रकार क्षायोपशमिक व क्षायिक सम्यग्दर्शन भी दोनों प्रकार से होता है।

पाँच प्रकार भावों की विशेषता

केसम्मत्त देस घादिस्सु दयादो वेदगं हवे सम्मं।
चलमलिनमगाढं तं णिच्चं कम्मक्खवणहेदु।।25।। गोम्मटसार जीवकाण्ड

सम्यग्दर्शन गुण को विपरीत करने वाली प्रकृतियों में से देशघाति सम्यक्त्व प्रकृति के उदय होने पर जो आत्मा के परिणाम होते हैं उनको वेदक या क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन कहते हैं। वे परिणाम, चल, मलिन या अगाढ़ होते हुए भी नित्य ही अर्थात् अन्तर्मुहूर्त से लेकर उत्कृष्ट छ्यासठ सागर पर्यन्त कर्मों की निर्जरा के कारण हैं।

उदयेण उवसमेण य खयेण दुहिं मिस्सि देहिं परिणामे।
जुत्ता ते जीवगुणा बहुसु य अत्थेसु वित्थिण्णा।।56।। पंचास्तिकाय

अर्थात् कर्मों का उदय से युक्त औदायिक है। उपशम से युक्त औपशमिक, क्षयोपशम से युक्त क्षायोपशमिक, क्षय से युक्त क्षायिक और परिणाम से युक्त पारिणामिक हैं। यह पाँच जीव गुण हैं। क्षायोपशमिक, औपशमिक तथा क्षायिक भाव मोक्ष के

कारण हैं तथा मोह के उदय सहित औदायिक भाव बंध का कारण है तथा शुद्ध पारिणामिक भाव न बंध कारण है न मोक्ष का कारण है।

व्यवहार सम्यग्दर्शन

हिंसा रहिए धम्मे अट्ठारह दोसव्वज्जिए देवे।
णिग्गंथे पव्वयणे सद्दहणं सम्मतं।।[12]

हिंसादि रहित धर्म, अठारह दोष रहित देव, निर्ग्रंथ प्रवचन अर्थात् मोक्षमार्ग व गुरु इनमें श्रद्धा होना सम्यग्दर्शन है।

सत्यार्थ देव शास्त्र और गुरु इन तीनों का आठ अंग सहित, तीन मूढ़ता और आठ मद रहित श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन कहा जाता है।[13]

जो वीतराग अर्हन्त देव, दया को उत्कृष्ट धर्म और निर्ग्रंथ गुरु को मानता है वह सम्यग्दृष्टि है।[14]

आप्त, आगम और तत्त्वों की श्रद्धा से सम्यक्त्व होता है।[15]

अपने अपने स्वभाव में स्थित तत्त्वार्थ के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं।[16]

काल सहित पंचास्तिकाय के भेद रूप नवपदार्थ वास्तव में भाव हैं। अभावों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।[17]

जिनवर के द्वारा उपदिष्ट छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, सप्त तत्त्व ये जिनवचन कहे गये हैं, इनके स्वरूप का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है।[18]

मिथ्यात्वोदय जनित विपरीत अभिनिवेश रहित पंचास्तिकाय, षट् द्रव्य, जीवादि नव पदार्थ आदि का श्रद्धान व्यवहार सम्यग्दर्शन है।[19]

जो द्रव्यों को जैसा उनका स्वरूप है वैसा जाने और उसी तरह जगत् में श्रद्धान करे वही आत्मा का चल मलिन और अवगाढ़ दोष सहित निश्चल भाव है वही आत्मभाव सम्यग्दर्शन है।[20]

सूत्र में जिनेन्द्र भगवान ने जीव अजीव आदि बहुत प्रकार के पदार्थ कहे हैं, उनको जो हेय उपादेय रूप से जानता है वह सम्यग्दृष्टि है।[21] तत्त्वरूचि सम्यग्दर्शन है।[22]

निश्चय सम्यग्दर्शन

ज्ञेय और ज्ञाता इन दोनों की यथारूप प्रतीति सम्यग्दर्शन है।[23]

स्व और पर के विभागदर्शन से दर्शक होता है।[24]

भूतार्थ रूप से जाने गये जीवादि नौ पदार्थों का शुद्धात्मा से भिन्न करके सम्यक् अवलोकन करना निश्चय सम्यक्त्व है।[25]

शुद्धात्मा ही उपादेय है ऐसा श्रद्धान सम्यग्दर्शन है।[26]

रागादि से भिन्न जो स्वात्मा से उत्पन्न सुखरूप स्वभाव है वही परमात्मव तत्त्व है वही उपादेय है। ऐसी रुचि सम्यक्त्व है।[27] शुद्धोपयोग रूप निश्चय रत्नत्रय की भावना से उत्पन्न परम आल्हादिक रूप सुखामृत रस का आस्वादन ही उपादेय है। इन्द्रियजन्य सुख आदि हेय है। ऐसी रुचि एवं जो वीतराग चारित्र के बिना नहीं होता ऐसा वीतराग सम्यक्त्व ही निश्चय सम्यक्त्व है।[28]

रागादि विकल्प रहित चित्त चमत्कार भावना से उत्पन्न मधुर रस के आस्वाद रूप सुख का धारक मैं हूँ, इस प्रकार निश्चयरूप सम्यग्दर्शन है।[29]

जो सर्व नय पक्षों से रहित कहा गया है वह समयसार है। इसी समयसार को सम्यग्दर्शन कहते हैं।[30]

इस प्रकार अनेक आचार्यों ने सम्यग्दर्शन की निश्चय व्यवहार रूप लक्षणों को कहा है। आचार्य कुन्दकुन्द देव दर्शनपाहुड़ में कहते हैं। कि छह द्रव्य, नौ पदार्थ, पाँच अस्तिकाय और सात तत्त्व कहे गये हैं। उनके स्वरूप का जो श्रद्धान करता है वह सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।[31] अष्टपाहुड़ में निश्चय और व्यवहार दोनों सम्यक्त्व का कथन किया है। व्यवहार नय से जीवादि तत्त्वों

का श्रद्धान करना सम्यक्त्व है अथवा गुण गणी की अभेद विवक्षा से स्वयं आत्मा सम्यक्त्व है।[32] जो कार्य किया जा सकता है वह किया जाता है और जिनका किया जाना शक्य नहीं है उसका श्रद्धान करना चाहिए। केवलज्ञानी जिनेन्द्र भगवान ने श्रद्धान करने वाले पुरुष को सम्यग्दर्शन कहा है।[33]

सम्यग्दृष्टि – जो अपनी आत्मा में रत है अर्थात् रुचि सहित हैं वे सम्यग्दृष्टि हैं।[34] अपने को अपने से जानता हुआ यह जीव सम्यग्दृष्टि होता है।[35]

सूत्र प्रणीत जीव अजीव आदि पदार्थों को हेय व उपादेय बुद्धि से जो जानता है वह सम्यग्दृष्टि है। जिसके द्वारा जीवादिक पदार्थ सम्यक् प्रकार से देखे जाते हैं अर्थात् श्रद्धान किये जाते हैं वह सम्यग्दृष्टि है।[36]

दश प्रकार का सम्यग्दर्शन–

1. आज्ञा सम्यक्त्व – दर्शन मोह के उपशांत से अथवा वीतराग सर्वज्ञ की आज्ञा से ही विशेष श्रद्धान उत्पन्न होता है उसे आज्ञा सम्यक्त्व कहते हैं।

2. मार्ग सम्यक्त्व – समस्त परिग्रहों से रहित अथवा धर्मोपदेश के बिना कल्याणकारी मोक्षमार्ग के श्रद्धान करने को मार्ग सम्यक्त्व कहते हैं।

3. उपदेश सम्यक्त्व – सम्यग्ज्ञान रूप आगम समुद्र की प्रभावना करने वाले आचार्यों के द्वारा महापुरुषों के चरित्र सम्बन्धी उपदेश से उत्पन्न जो श्रद्धान होता है वह उपदेश निमित्तक सम्यक्त्व है।

4. सूत्र सम्यक्त्व – मुनियों के चारित्र सम्बन्धी विधि विधान के प्रतिपादक मूलाचार आदि आचरण परक शास्त्रों को सुनकर श्रद्धान होना सूत्र सम्यक्त्व है।

5. बीज सम्यक्त्व – कठिनता से जानने योग्य गणित सूत्रों के माध्यम से जीवादि पदार्थों का किन्हीं बीज पदों के द्वारा उत्पन्न ज्ञान से तथा असाधारण मोहनीय कर्म के उपशम से होने वाला श्रद्धान बीज सम्यक्त्व है।

6. संक्षेप सम्यक्त्व – पदार्थों को संक्षेप में ही जानकर श्रद्धान करना संक्षेप सम्यक्त्व है।

7. विस्तार सम्यक्त्व – द्वादशांग जिनवाणी सुनकर श्रद्धान होना विस्तार सम्यक्त्व है।

8. अर्थ सम्यक्त्व – आगम वचनों के बिना ही किसी पदार्थ के निमित्त से उत्पन्न श्रद्धान अर्थ सम्यक्त्व है।

9. अवगाढ़ सम्यक्त्व – आचारादि अंगों सहित सामायिकादि अंग बाह्य रूप आगम का पारायण करके श्रद्धान होना अवगाढ़ सम्यक्त्व है।

10. परमावगढ़ सम्यक्त्व – केवलज्ञान के द्वारा प्रकाशित पदार्थों में जानने रूप क्रिया से श्रद्धान होना परमावगाढ़ सम्यक्त्व है।[37]

तत्त्वार्थ सूत्र में आचार्य उमास्वामी दूसरी शताब्दी ने, सर्वार्थसिद्धि में आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने पाँचवीं शताब्दी इन दश प्रकार के सम्यक्त्व का कथन नहीं किया है। राजवार्तिक में आचार्य भट्टाकलंक देव ने सातवीं शताब्दी में **दर्शनार्या दशधा – आज्ञामार्गोपदेशसमन्नबीजसंक्षेपविस्तारार्थावगाढ़परमावगाढ़रुचिभेदात्।** का कथन करते हुये दश प्रकार के सम्यक्त्व को कहा है। आचार्य विद्यानंदि जी नवमीं शताब्दी ने मात्र दश दर्शनार्य का कथन किया है। उनके भेदों का उल्लेख नहीं किया है।[38]

क्षयोपशम सम्यग्दर्शन–

सम्यक्त्व का एकदेश रूप से वेदन कराने वाली सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से उत्पन्न होने वाला वेदक सम्यक्त्व क्षायोपशमिक है।

जिसकी सम्यक्त्व संज्ञा है ऐसी दर्शन मोहनीय कर्म की भेद रूप प्रकृति के उदय से जीव वेद के सम्यग्दृष्टि कहलाता है।[39]

सम्यक्त्व मोहनीय प्रकृति के उदय से पदार्थों का जो चल, मल और अगाढ़ रूप श्रद्धान होता है उसको वेदक सम्यग्दर्शन कहते हैं।

आप्त आगम और पदार्थों की श्रद्धा में शिथिलता, श्रद्धा की हीनता होना सम्यक्त्व प्रकृति का चिन्ह है। सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से सम्यग्दर्शन में शंका, कांक्ष आदि अतिचार लगते हैं। सम्यक्त्व प्रकृति सम्यक्त्व के स्थिरता और निष्कांक्षता गुणों का घात करती हैं।

सम्यक्त्व प्रकृति नाम की देशघाती प्रकृति के उदय से सम्यक्त्व चल मल अगाढ़ दोषों से युक्त हो जाता है परन्तु नित्य ही कर्म क्षय का हेतु बना रहता है।[40]

क्षयोपशम सम्यग्दर्शन के बाह्य चिन्ह–

क्षयोपशम सम्यग्दर्शन उत्पन्न होने पर जीव की बुद्धि शुभानुबन्धी या सुखानुबन्धी हो जाती है। शुचिकर्म में रति उत्पन्न होती है। श्रुत में संवेग अर्थात् प्रीति पैदा होती है। तत्त्वार्थ में श्रद्धान, प्रिय धर्म में अनुराग एवं संसार से तीव्र निर्वेद अर्थात् वैराग्य जाग्रत हो जाता है। इन गुणों को आदि लेकर इस प्रकार के जितने गुण हैं वे सब क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि के प्रकट हो जाते हैं। सम्यक्त्व प्रकृति के उदय का वेदन करने वाले जीव को वेदक सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।

औपशमिक क्षयोपशमिक और क्षायिक सम्यग्दर्शन की पात्रता–

पहली पृथ्वी में पर्याप्तक और अपर्याप्तक नारकीयों के औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन होता है। तिर्यंग गति में पर्याप्तक तिर्यंचों के औपशमिक सम्यग्दर्शन होता है। क्षायिक और क्षायोपशमिक पर्याप्तक और अपर्याप्तक दोनों प्रकार के तिर्यंचों के होता है। तिर्यंचनी के क्षायिक सम्यग्दर्शन नहीं होता है। औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन पर्याप्त तिर्यंचनी के होता है। अपर्याप्त तिर्यंचनी के नहीं होता है। मनुष्य गति में क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन पर्याप्त और अपर्याप्त दोनों प्रकार के मनुष्यों के होता है। औपशमिक सम्यग्दर्शन पर्याप्त मनुष्य के ही होता है अपर्याप्त मनुष्य के नहीं होता है। मनुष्यनियों के तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं, किन्तु वे पर्याप्तक मनुष्यनियों के ही होते हैं– अपर्याप्तक मनुष्यनि के नहीं होते हैं। देवगति में पर्याप्तक और अपर्याप्तक दोनों प्रकार के देवों के तीनों ही सम्यग्दर्शन होते हैं।

जो मनुष्य चारित्रमोहनीय का उपशम करके या करते हुये उपशम श्रेणी में मरकर देव होते हैं उन देवों के अपर्याप्तक अवस्था में औपशमिक सम्यग्दर्शन होता है। भवनवासी व्यंतर और ज्योतिषी देवों के इन तीनों की देवांगनाओं के तथा सौधर्म, ऐशान कल्प में उत्पन्न हुई देवांगनाओं के क्षायिक सम्यग्दर्शन नहीं होता है, शेष दो होते हैं वे भी पर्याप्त दशा में ही होते हैं। संज्ञी पंचेन्द्रिय त्रस व तीनों योग वाले जीवों के तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं। अन्य जीवों के कोई सम्यग्दर्शन नहीं होता है। अयोगी के एक क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है।

तीनों वेद वालें के तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं। चारों कषाय वाले जीवों के तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं, किन्तु कषाय रहित जीवों के औपशमिक और क्षायिक ये दो सम्यग्दर्शन होते हैं। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञानी के तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं। केवलज्ञानी के एक क्षायिक सम्यग्दर्शन ही होता है। छहों लेश्या वाले जीवों के तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं। किन्तु लेश्या रहित जीवों के केवल क्षायिक सम्यग्दर्शन ही होता है। भव्य जीवों के तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं। अभव्य के और असंज्ञी जीवों के सम्यग्दर्शन नहीं होता है।[41]

काल – स्थितिमतोऽर्थस्यावधि: परिच्छेत्तव्य: इति कालोपादानं क्रियते ।

अर्थात् स्थितिमान की अवधि का ज्ञान कराने के लिए काल को ग्रहण किया है। किसी क्षेत्र में स्थित पदार्थ की काल मर्यादा का निश्चय करना काल है।[42]

क्षयोपशम सम्यक्त्व सामान्य का काल और गमनागमन–

नाना जीव की अपेक्षा सर्वकाल, एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर्मुहूर्त उत्कृष्ट साधिक 66 सागर।

क्षयोपशम सम्यक्त्व असंयत गुणस्थान का काल–

नाना जीव की अपेक्षा सर्वकाल, एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर्मुहूर्त उत्कृष्ट साधिक 33 सागर। एक जीव का उत्कृष्ट

काल कहते हैं कोई मनुष्य वेदक सम्यक्त्व के साथ संयम को प्राप्त हो, देवों की उत्कृष्ट आयु को बाँधकर जीवन भर संयम का परिपालन कर अन्त में मरण कर एक समय कम तैंतीस सागर आयु वाले देवों में उत्पन्न हुआ। आयु को व्यतीत कर मरण कर एक कोटि पूर्व की आयु वाले मनुष्यों में उत्पन्न हुआ, जीवन के अन्तर्मुहूर्त शेष रहने पर दर्शन मोहनीय की क्षपणा व सकल संयम को प्राप्त हुआ। प्रमत्त अप्रमत्त गुणस्थानों में सहस्रों परावर्तन करके क्षपक श्रेणी आरोहण की अध:करण अपूर्वकरण अनिवृत्तिकरण पश्चात् सूक्ष्म साम्पराय क्षीण मोह, सयोगी अयोगी हो निर्वाण को प्राप्त हुआ। इस प्रकार कुछ कम एक कोटिपूर्व अधिक तैंतीस सागर काल प्राप्त हुआ।[43]

क्षयोपशम सम्यक्त्व संयमासंयम गुणस्थान का काल–

नाना जीव की अपेक्षा सर्वकाल, एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर्मुहूर्त उत्कृष्ट कुछ कम एक कोटि पूर्व।

क्षयोपशम सम्यक्त्व प्रमत्तसंयत गुणस्थान का काल–

नाना जीव की अपेक्षा सर्वकाल, एक जीव की अपेक्षा जघन्य एक समय उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त।

क्षयोपशम सम्यक्त्व अप्रमत्तसंयत गुणस्थान का काल–

नाना जीव की अपेक्षा सर्वकाल, एक जीव की अपेक्षा जघन्य एक समय उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त।

अन्तर – अनुपहतवीर्यस्य न्यग्भावे पुनरुद्भूतिदर्शनात्तद्वचनम् ।

अर्थात् अनुपहत वीर्य का अभाव होने पर पुन: उसकी उद्भूति होना अन्तर है। किसी समर्थ द्रव्य की किसी निमित्त से अमुक पर्याय का अभाव होने पर निमित्तान्तर से अब तक वह पर्याय पुन: प्रकट नहीं होती तब तक के काल को अन्तर कहते हैं।[44]

क्षयोपशम सम्यक्त्व सामान्य में अन्तर –

नाना जीव की अपेक्षा निरन्तर, एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर्मुहूर्त उत्कृष्ट कुछ कम अर्द्धपुद्गल परावर्तन।

क्षयोपशम सम्यक्त्व असंयत गुणस्थान में अन्तर और गमनागमन

नाना जीव की अपेक्षा निरन्तर, एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर्मुहूर्त उत्कृष्ट कुछ कम एक कोटि पूर्व। एक जीव का अन्तर कोई जीव मोहनीय कर्म की अट्ठाईस प्रकृति की सत्ता सहित एक कोटिपूर्व की आयु वाले सम्मूर्छन जन्म वाले तिर्यंचों में उत्पन्न हुआ। अन्तर्मुहूर्त में पर्याप्त हो विशुद्धि से विशुद्ध हो वेदक सम्यक्त्वी हुआ अन्तर्मुहूर्त रहकर संयमासंयम को प्राप्त हुआ इस प्रकार अन्तर को प्राप्त करके सारा जीवन संयमासंयम के साथ रहा आयु के अन्त में असंयम को प्राप्त हुआ इस प्रकार उत्कृष्ट अन्तर प्राप्त हुआ।[45]

क्षयोपशम सम्यक्त्व संयमासंयम गुणस्थान में अन्तर और गमनागमन

नाना जीव की अपेक्षा निरन्तर, एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर्मुहूर्त उत्कृष्ट कुछ कम 66 सागर। कोई मिथ्यादृष्टि जीव वेदक सम्यक्त्व व संयमासंयम को एक साथ प्राप्त हुआ, अन्तर्मुहूर्त काल तक रहा फिर संयम को प्राप्त हो गया और अन्तर प्रारंभ किया पुन: मरण कर जितने समय संयम के साथ रहा उतने काल से कम तैंतीस सागर की आयु वाले देवों में उत्पन्न हुआ वहाँ से च्युत हो मनुष्यों में उत्पन्न हुआ वहाँ पर जितने काल तक संयम के अथवा असंयम के साथ रहा उतने काल से कम तैंतीस सागर की आयु वाले देवों में उत्पन्न हुआ वहाँ से च्युत हो मनुष्यों में उत्पन्न हुआ।

इस प्रकार वेदक सम्यक्त्व के काल में दो अन्तर्मुहूर्त शेष रहने पर परिणामों के निमित्त से संयमासंयम को प्राप्त हुआ। पश्चात् दर्शन मोहनीय की क्षपणा कर क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो गया। इस प्रकार पूर्व के दो पश्चात् का एक इस प्रकार तीन अन्तर्मुहूर्त कम छ्यासठ सागर उत्कृष्ट अन्तर प्राप्त हुआ।[46]

क्षयोपशम सम्यक्त्व प्रमत्तसंयम गुणस्थान में अन्तर और गमनागमन

नाना जीव की अपेक्षा निरन्तर, एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर्मुहूर्त उत्कृष्ट कुछ अधिक 33 सागर। कोई प्रमत्तसंयत वेदक सम्यग्दृष्टि मनुष्य अप्रमत्त संयत होकर अन्तर्मुहूर्त रहा और मरण करके एक समय कम तैंतीस सागर की आयु वाले देवों

में उत्पन्न हुआ, आयु प्रमाण स्थिति भोग कर वहाँ से च्युत होकर एक पूर्व कोटि प्रमाण आयु वाले मनुष्यों में उत्पन्न हुआ। सारा जीवन असंयम के साथ रहा। आयु में अन्तर्मुहूर्त शेष रह जाने पर प्रमत्तसंयत हुआ। इस प्रकार अन्तरलब्ध हुआ पुन: क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त कर अप्रमत्तसंयत हो श्रेणी आरोहण कर अपूर्वकरणादि छह अन्तर्मुहूर्त से निर्वाण को प्राप्त हुआ। इस प्रकार एक अन्तर्मुहूर्त पहले का छह बाद के इस प्रकार सात अन्तर्मुहूर्त कम एक पूर्वकोटि अधिक तैंतीस सागर प्रमाण अन्तर हुआ।[47]

क्षयोपशम सम्यक्त्व अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में अन्तर

नाना जीव की अपेक्षा निरन्तर, एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर्मुहूर्त उत्कृष्ट कुछ अधिक 33 सागर। एक अप्रमत्तसंयत जीव प्रमत्त संयत हो अन्तर्मुहूर्त रहकर एक समय कम तैंतीस सागर की आयु स्थिति वाले देवों में उत्पन्न हुआ, वहाँ से च्युत होकर एक पूर्व कोटि आयु वाले मनुष्यों में उत्पन्न हुआ।

आयु के अन्तर्मुहूर्त शेष रह जाने पर अप्रमत्तसंयत हुआ। इस प्रकार अन्तरलब्ध हुआ पश्चात् प्रमत्त या अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त कर क्षपक श्रेणी के योग्य अप्रमत्तसंयत होकर क्षपक श्रेणी चढ़ा और अपूर्वकरणादि छह अन्तर्मुहूर्त से निर्वाण को प्राप्त हुआ। इस प्रकार अन्तर के आदि का एक अन्तर्मुहूर्त बाहरी नौ अन्तर्मुहूर्त में से घटा कर आठ अन्तर्मुहूर्त कम एक पूर्वकोटि अधिक तैंतीस सागर उत्कृष्ट अन्तर प्राप्त हुआ।48

भाव – परिणामप्रकारनिर्णयार्थ भाव वचनम् ।

अर्थात् परिणाम के प्रकार का निर्णय करने के लिए भाव वचन ग्रहण किया है। औपशमिकादि परिणाम प्रकारों का निर्णय करने के लिए भाव वचन ग्रहण किया गया है।[49]

क्षयोपशम सम्यक्त्व सामान्य में भाव

पर्याप्तक में 37 भाव–औदयिक भाव 20, क्षयोपशामिक भाव 15, पारिणामिक भाव 2, अपर्याप्तक में 34

क्षयोपशम सम्यक्त्व असंयत गुणस्थान में भाव

34 भाव–औदयिक भाव 20, क्षयोपशमिक भाव 12, पारिणामिक भाव 2

क्षयोपशम सम्यक्त्व संयमासंयम गुणस्थान में भाव

29 भाव–औदयिक भाव 14, क्षयोपशमिक भाव 13, पारिणामिक भाव 2

क्षयोपशम सम्यक्त्व प्रमत्तसंयत गुणस्थान में भाव

29 भाव–औदयिक भाव 13, क्षयोपशमिक भाव 14, पारिणामिक भाव 2, अपर्याप्तक 26

क्षयोपशम सम्यक्त्व अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में भाव

29 भाव–औदयिक भाव 13, क्षयोपशमिक भाव 14, पारिणामिक भाव 2।[50]

श्री उच्चारणाचार्य श्री विनम्रसागर जी महाराज अंकलीकरण परम्परा के गणाचार्य श्री विरागसागर जी महाराज के आज्ञानुवर्ती परम शिष्य हैं। आपने जिनागम परम्परा के अनेक ग्रन्थों का प्रणयन, संयोजन, संपादन एवं टीकाएँ कर जिन सरस्वती के भण्डार को समृद्ध किया है। जीवादि तत्त्वों, द्रव्यों, पदार्थों के गुणस्थान, जीव समास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्य, सम्यक्त्व, संज्ञी, आहारक, उपयोग, ध्यान, आस्रव, जाति, कुलकोटि, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव, अवगाहना, बन्ध, उदय, सत्त्व आदि सैद्धान्तिक चौंतीस स्थानों की सिद्धान्त प्रबोधिनी टीका लिखकर जैनागम के गूढ़ रहस्यों को सरल सहज रीति से जनसामान्य का विषय बनाया है। जिससे कठिनतम विषय भी सरलता को प्राप्त हुये हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. रयणसार 4
2. आत्मानुशासन श्लोक 10
3. रत्नकरण्ड श्रावकाचार 4,5,6
4. आत्मानुशासन श्लोक 9
5. योगसार 1,2
6. द्रव्य संग्रह टीका 41
7. आत्मानुशासन श्लोक 10
8. राजवार्तिक 1,3
9. धवला 1,1,1
10. सर्वार्थसिद्धि 2, 5
11. सर्वार्थसिद्धि 2, 5
12. मोक्षपाहुड़ 90
13. रत्नकरण्डक श्रावकाचार 4
14. कार्तिकेयानुप्रेक्षा 3।7
15. नियमसार 5
16. तत्त्वार्थ सूत्र 1।2
17. पंचास्तिकाय 107
18. धवला 1,1,1 गो.जी.कां. 561 पंच संग्रह 1,159
19. पंचास्तिकाय तात्पर्य वृत्ति 107 पुरुषार्थ सिद्धि उपाय 22
20. परमात्म प्रकाश 2।15
21. सूत्र पाहुड़ 5
22. मोक्षपाहुड़ 38 धवला 1,1,1
23. प्रवचनसार 242
24. समयसार 314
25. समयसार तात्पर्य वृत्ति 155,220
26. द्रव्य संग्रह टीका 14।42
27. प्रवचनसार तात्पर्य वृत्ति 5।6
28. द्रव्य संग्रह टीका 41
29. द्रव्य संग्रह 40
30. समयसार 144
31. दर्शनपाहुड़ 19
32. दर्शनपाहुड़ 20
33. दर्शनपाहुड़ 27
34. मोक्षपाहुड़
35. परमात्म प्रकाश 1,76
36. धवला 13,5
37. आत्मानुशासन श्लोक 11,12,13,14
38. राजवार्तिक 3,36,2
39. धवला 1, 1
40. गोम्मटसार जीवकाण्ड 25,50
41. सर्वार्थसिद्धि 1,7
42. राजवार्तिक 1,8,6
43. सिद्धान्त प्रबोधिनी टीका चौंतीस स्थान दर्शन पृष्ठ 811
44. राजवार्तिक 1,8,8
45. सिद्धान्त प्रबोधिनी टीका चौंतीस स्थान दर्शन पृष्ठ 811
46. सिद्धान्त प्रबोधिनी टीका चौंतीस स्थान दर्शन पृष्ठ 813
47. सिद्धान्त प्रबोधिनी टीका चौंतीस स्थान दर्शन पृष्ठ 815
48. सिद्धान्त प्रबोधिनी टीका चौंतीस स्थान दर्शन पृष्ठ 817
49. राजवार्तिक 1,8,9
50. सिद्धान्त प्रबोधिनी टीका चौंतीस स्थान दर्शन पृष्ठ 817

स्त्री वेदियों के सभी गुणस्थानों में संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव, बंध, उदय व सत्त्व की विवेचना

प्रो. अशोक कुमार जैन
जैन-बौद्ध दर्शन विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

सिद्धान्त प्रबोध चउतीस ठाण दंसण अर्थात् चौंतीस स्थान दर्शन दो भागों में विभक्त है। इसमें रचयिता उच्चारणाचार्य विनम्रसागर महाराज हैं। इस ग्रंथ में बीस प्ररूपणाओं का विवेचन है। उनमें एक-एक प्ररूपणा में चौंतीस चौंतीस स्थानों को घटाया है उनके नाम हैं

गुणजीवा पज्जत्ती पाणा सण्णा य मग्गणाओ य ।
उवओगो वि य कमसो वीसं तु परूपणा भणिदो।।

गुणस्थान 14 होते हैं, जीव समास कई प्रकार से कहे जाते हैं- जैसे 14 जीव समास, 19 जीव समास, 21 जीव समास, 38 जीव समास, 58 जीव समास, 98 जीव समास, 604 प्रकार के जीव समास।

पर्याप्ति 6 प्राण होते हैं। संज्ञा भी चार हैं। आहार, भय, मैथुन, परिग्रह। उपयोग दो प्रकार हैं-ज्ञानोपयोग, दर्शनोपयोग।

मार्गणाएँ 14 हैं। 1. गति, 2. इन्द्रिय, 3. काय, 4. योग, 5. वेद, 6. कषाय, 7. ज्ञान, 8. संयम, 9. दर्शन, 10. लेश्या, 11. भव्यत्व, 12. सम्यक्त्व, 13. संज्ञी और 14. आहारक

1. गोम्मटसार - जीव काण्ड गाथा 2।

पुरिसिच्छिसंढ वेदोदयेण पुरिसिच्छिसंढओ भावे।
णामोदयेण दव्वे पाएण समा कहिं विसमा।।
वेदस्सुदीरणाए परिणामस्स य हवेज्ज संमोहो।
संमोहेण ण जाणादि जीवो हि गुणं व दोसं वा।।

गोम्मटसार गाथा 271, 272 पुरुषवेद, स्त्री वेद और नपुंसक वेद कर्म के उदय से भाव पुरुष वेदी, भाव स्त्री वेदी और भाव नपुंसक वेदी होता है। अङ्गोपाङ्ग नामकर्म के उदय से द्रव्य पुरुष वेदी, द्रव्य स्त्री वेदी और द्रव्य नपुंसक वेदी होता है। द्रव्य और भाव ये दोनों वेद प्राय: सम (सदृश) होते हैं, परन्तु कहीं पर विषम भी हो जाते हैं। वेद नोकषाय के उदय व उदीरणा से परिणामों में सम्मोह होता है। सम्मोह के कारण जीव गुण व दोष को नहीं जानता।

विशेषार्थ – वेद दो प्रकार का है-द्रव्य वेद और भाव वेद। अङ्गोपाङ्ग नामकर्म के उदय से शरीर में योनि, लिङ्ग (मेहन) आदि की रचना होती है वह द्रव्य वेद है। वेद नोकषाय, मोहनीय कर्मोदय व उदीरणा से जीव में पुरुष व स्त्री अथवा दोनों से रमण करने से भव उत्पन्न होते हैं और जीव मोहित होकर विवेकहीन हो जाता है तथा गुण व दोष का विवेक जाता रहता है। जैसे मदिरापान करके जीव उन्मत्त हो जाता है, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, कार्य-अकार्य इत्यादि का विचार नहीं रहता। ऐसी दशा वेद कर्म के तीव्रोदय में ले जाती है।

जाहि व जासु व जीवा मग्गिज्जते जहा तहा दिट्ठा।
ताओ चोद्दस जाणे सुयणाणे मग्गणा होंति।। गोम्मटसार गी.का. गाथा 141

जीव जिन भावों के द्वारा अथवा जिन पर्यायों में खोजे जाते हैं- अनुमार्गण किये जाते हैं, उन्हें मार्गणा कहते हैं। जीवों का अन्वेषण करने वाली ऐसी मार्गणाएँ श्रुत ज्ञान में चौदह कही गई हैं।

विशेषार्थ-मार्गणा किसे कहते हैं? सत्, संख्या आदि अनुयोग द्वारों से युक्त चौदह जीव समास जिसमें या जिसके द्वारा खोजे

जाते हैं, उसे मार्गणा कहते हैं।[1] जिसके द्वारा या जिसमें जीव खोजे जाते हैं या विचार किये जाते हैं वह मार्गणा है और उसके 14 भेद हैं।[2] जैसे श्रुत ज्ञान या प्रवचन में कहा गया है हे भव्य! वैसा जानना चाहिए।

चौदह मार्गणाओं के नाम–निर्देश

गइ इंदियेसु काये जोगे वेदे कसाय णाण य।
संजम दंसण लेस्सा भविया सम्मत्त सण्णि आहारे ।। गोम्मटसार गी.का. गाथा 142

गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्य, सम्यक्त्व, संज्ञा और आहार ये चौदह मार्गणाएँ हैं।

जो वेदा जावे अथवा अनुभव किया जावे वह वेद है। मूलाचार में कहा गया है 'अथवात्मप्रवृत्तेमैथुनसम्मतोत्पादो वेद: (मूलाचार पर्याप्ति अधिकार गाथा 156 टीका पृ. 276) वेद शब्द पुरुष वेदादि में रूढ़ होने के कारण 'वेद्यते' अर्थात् जो वेदा जाए इस व्युत्पत्ति से वेद का ही ग्रहण होता है।

आत्मप्रवृत्ति (आत्मा की चैतन्य रूप पर्याय) में मैथुन रूप चित्त विक्षेप के उत्पन्न होने को वेद कहते हैं।

'अथवात्मप्रवृत्तेमैथुनसम्मोतोत्पादो वेद:[1] धवल पु. 1 पृष्ठ 141 नामकर्म के उदय से शरीर में मूँछ, दाढ़ी, लिंग आदि का होना द्रव्य पुरुष है। नाम कर्मोदय से शरीर में रोम रहित मुख, स्तन, योनि आदि का होना द्रव्यस्त्री है। नामकर्म के उदय से मूँछ, दाढ़ी, लिंग आदि तथा स्तन, योनि आदि दोनों प्रकार के चिह्नों से रहित शरीर का होना द्रव्यनपुंसक होता है। प्रचुरता से द्रव्य और भाव वेद सदृश ही होते हैं। क्वचित् कर्मभूमिका मनुष्य व तिर्यञ्चों में विसदृश (विषय) भी हो जाते हैं। जैसे द्रव्य से पुरुष वेद किन्तु भाव से स्त्री या नपुंसक वेद। द्रव्य से स्त्री वेद भाव से पुरुष या नपुंसक वेद। द्रव्य से नपुंसक भाव से स्त्री या पुरुष वेद। इस प्रकार से विसदृश वेदों की भी सम्भावना है।

श्रीमद्भयचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती कृत टीका

इन तीनों वेदों के स्वामित्व का कथन इस प्रकार है–

एइंदिय विर्यालंदिय णारय सम्मुच्छिया य खलु सव्वे।
वेदे णपुसंगा ते णादव्वा होंति णियमादु।।87।।
देवा य भोगभूमा असंख वासा उगा मणुयतिरिया।
ते होंति दोसुवेदेसु णत्थि तेसिं तदिय वेदो।।88।।
पंचेन्दिया दु ऐसा सण्णि असण्णिय तिरिय मणुसा य।
हे होंति इत्थिपुरिसा णपुंसगा चावि वेदेतिं।।89।।

मूलाचार पर्याप्ति अधिकार 12

पृथ्वी कायिक, जल कायिक, अग्नि कायिक, वायु कायिक और वनस्पति कायिक। एकेन्द्रिय जीव, द्वीन्द्रिय–त्रीन्द्रिय–चतुरिन्द्रिय विकलेन्द्रिय जीव : नारकी और सर्व सम्मूर्च्छन जीव अथवा संज्ञी सम्मूर्च्छन तथा असंज्ञी पंचेन्द्रिय सम्मूर्च्छन ये सब नियम से नपुंसक वेदी होते हैं अर्थात् द्रव्य व भाव से नपुंसक वेद वाले होते हैं। देव, भोगभूमिया, असंख्यात वर्ष की आयु वाले अर्थात् भोगभूमि प्रतिमान में (भरत व ऐरावत क्षेत्र के भोगभूमिया काल में) उत्पन्न होने वाले तथा सर्व म्लेच्छ खण्डों में उत्पन्न होने वाले मनुष्य व तिर्यञ्चों के पुरुष व स्त्री में दो ही वेद होते हैं, नपुंसक वेद नहीं होता। इनमें वेद वैषम्य नहीं होता। शेष संज्ञी व असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय मनुष्य तिर्यञ्चों में स्त्री, पुरुष और नपुंसक तीनों वेद होते हैं और इनमें वेद विषमता भी होती है।

पुरुष वेद का लक्षण–

पुरुगुणभोगे सेदे करोदि लोयस्मि पुरुगुणं कम्मं।
पुरुउत्तमो य जह्मा तहमा सो वण्णिओ पुरिसो।। गोम्मटसार गाथा 273

जो उत्तम गुण और उत्तम भोगों में स्वामीपने का अनुभव करता है, जो लोक में उत्तम गुणयुक्त कार्य करता है और जो उत्तम है, वह पुरुष है।

विशेषार्थ – जो उत्कृष्ट गुणों में और उत्कृष्ट भोगों में शमन करता है वह पुरुष है अथवा जिस कर्म में उदय से जीव सोते हुए पुरुष के समान गुणों से अनवरत होता है और भोगों को प्राप्त नहीं करता वह पुरुष है। जिसके स्त्री सम्बन्धी अभिलाषा पाई जाती है, वह पुरुष है। जो श्रेष्ठ कर्म करता है वह पुरुष है।

स्त्री वेद का लक्षण–

छादयदि सयं दोसे णयदो छादंदि परं वि दोसेण।
छादणसील जला तह्मा सा वण्णिज्या इत्थी।। 274 गोम्मटसार गाथा

जो अपने को दोषों से आच्छादित करती है और दूसरों को भी दोषों से आच्छादित करती है; आच्छादनशील होने के कारण वह स्त्री कही गई है।

विशेषार्थ – जो दोषों से स्वयं अपने को भी और दूसरों को भी आच्छादित करती है वह स्त्री है। स्त्री रूप जो वेद है वह स्त्री वेद है। अथवा जो पुरुष की आकांक्षा करती है, वह स्त्री है, इसका अर्थ पुरुष की चाह करने वाली होती है। जो अपने को स्त्री रूप अनुभव करता है वह स्त्री वेद है। स्त्री रूप वेद को स्त्री वेद कहते हैं। जो कोमल वचन, कटाक्ष रूप अवलोकन, अनुकूल प्रवर्तन आदि द्वारा पुरुष को अपने वश में करके पाप क्रियाओं से दूषित करती है, वह स्त्री है। यद्यपि तीर्थंकर की माता आदि कुछ स्त्रियाँ ऐसी भी हैं जिनमें यह लक्षण घटित नहीं होता तथापि प्रचुरता की अपेक्षा यह साक्ष्य कहा गया है।

वेद मार्गणा के अनुवाद से स्त्री वेदियों में मिथ्या दृष्टि का नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर नहीं है। एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तरर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम पचपन पल्योपम है। सासादन सम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि का नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर ओघ के समान है। एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर क्रमश: पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग और अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट अन्तर सौ पल्योपम पृथक्त्व है। असंयत सम्यग्दृष्टि से लेकर अप्रमत्त संयत तक प्रत्येक गुणस्थान का नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर नहीं है। एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त का नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर ओघ के समान है। एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर सौ पल्योपम पृथक्त्व है। दोनों क्षपकों का नाना जीवों की अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर वर्ष पृथक्त्व है। एक जीव की अपेक्षा अन्तर नहीं है।

1. पाँच अन्तर्मुहूर्त का पचपन पल्य।

2. स्त्री वेद का उत्कृष्ट काल सौ पल्योपम पृथक्त्व है उनमें से दो समय कम कर देने पर स्त्री वेदियों में सम्यग्दृष्टि का अन्तर आ जाता है और छह अन्तर्मुहूर्त कम कर देने पर सम्यग्दृष्टि का उत्कृष्ट अन्तर आ जाता है।

3. साधारणत: क्षपक श्रेणी का उत्कृष्ट अन्तर छह महीना है पर स्त्री वेद की अपेक्षा उसका उत्कृष्ट अन्तर वर्ष पृथक्त्व बतलाया है।

णेवित्थी णेव पुमं णउंसणो उहर्यालङ्गविदिरित्तो।
इट्ठावग्गिसमाणगवेदण्णगरुओ कलुसचिन्तो।। गोम्मटसार गाथा 275

जो न स्त्री है और न पुरुष है, किन्तु स्त्री और पुरुष सम्बन्धी दोनों प्रकार के लिंगों से रहित है, आवा की अग्नि के समान तीव्र वेदना से युक्त है और सर्वदा स्त्री व पुरुष विषयक मैथुन की अभिलाषा से उत्पन्न हुई वेदना से जिसका चित्त कलुषित है, उसे नपुंसक कहते हैं।

शेषास्त्रिवेदा: ।। त.सू. 2/52

जिनके तीन वेद होते हैं वे तीन वेद वाले कहलाते हैं।

शंका – वे तीन वेद कौन हैं?

समाधान – स्त्री वेद, पुरुष वेद और नपुंसक वेद।

शंका – इनकी सिद्धि कैसे होती है?

समाधान – जो वेदा जाता है उसे वेद कहते हैं। उसी का दूसरा नाम लिंग है। इसके दो भेद हैं- द्रव्यलिंग और भावलिंग। जो योनि मेहन आदि नामकर्म के उदय से रचा जाता है वह द्रव्यलिंग है और जिसकी स्थिति नोकषाय के उदय से प्राप्त होती है वह भावलिंग है। स्त्री वेद के उदय से जिसके गर्भ रहता है वह स्त्री है। नपुंवेद के उदय से जो असत्य हो जाता है वह पुरुष है और नपुंसक वेद के उदय से जो उक्त दोनों प्रकार की शक्ति से रहित है वह नपुंसक है। वास्तव में ये तीनों रौढ़िक शब्द हैं और रूढ़ि में क्रिया व्युत्पत्ति के लिए ही होती है। यथा जो गमन करती है वह गम्य है। यदि ऐसा न माना जाय और इसका अर्थ गर्भधारण आदि क्रिया प्रधान किया जाय तो बालक और वृद्धों के, तिर्यञ्च और मनुष्यों के, देवों के तथा कार्मण योग में स्थित जीवों में गर्भधारण आदि क्रिया का अभाव होने से स्त्री आदि संज्ञा नहीं बन सकती है। ये तीनों वेद शेष जीवों के अर्थात् गर्भजों के होते हैं।

स्त्री वेदी जीवों के सामान्यालाप कहने पर आदि के नौ गुणस्थान अपर्याप्त में मिथ्यात्व सासादन दो गुणस्थान, संज्ञी असंज्ञी पर्याप्तापर्याप्त चार जीव समास, छह-पाँच पर्याप्ति, छह-पाँच अपर्याप्ति, दस-नौ-सात-प्राण, चारों संज्ञाएँ, मनुष्य तिर्यञ्च देव तीन गतियाँ, पंचेन्द्रिय, एक त्रसकाय, आहारकद्विक बिना तेरह योग (3 अपर्याप्त में, 10 पर्याप्त में योग), एक स्त्री वेद, तेईस कषाय, मन:पर्यय व केवलज्ञान बिना छह ज्ञान अपर्याप्तकों में दो कुज्ञान, असंयम-देशसंयम-सामायिक-छेदोपस्थापना चार संयम अपर्याप्त में एक असंयम, केवल दर्शन बिना तीन दर्शन अपर्याप्तक में दो दर्शन, द्रव्य भाव से छहों लेश्या, भव्य सिद्धिक अभव्य सिद्धिक दोनों, छहों सम्यक्त्व अपर्याप्त में मिथ्यात्व व सासादन दो सम्यक्त्व, संज्ञी-असंज्ञी दोनों, आहारक अनाहारक दोनों, नौ उपयोग अपर्याप्तक में चार उपयोग, तेरह ध्यान (चार आर्त्त, चार रौद्र, चार धर्म्म, एक शुक्ल ध्यान) अपर्याप्त में आठ ध्यान, तिरेपन आस्रव पर्याप्तकों में पचास अपर्याप्तक तैंतालीस आस्रव, बाईस लाख जाति, साढ़े तेरासी लाख करोड़ (83½ लाख करोड़) कुल कोटि, संख्याएँ असंख्यात (देवियाँ से कुछ अधिक), क्षेत्रापेक्षा लोक का असंख्यातवाँ भाग, स्पर्शन स्वस्थान लोक का असंख्यातवाँ भाग विहार-वेदना-विक्रिया कुछ कम 8/14 राजू, काल नाना जीवापेक्षा सर्वकाल एक जीवापेक्षा जघन्य एक समय उत्कृष्ट पल्योपम शत पृथक्त्व, अंतर नाना जीवापेक्षा निरन्तर एक जीवापेक्षा जघन्य क्षुद्रभव उत्कृष्ट असंख्यात पुद्गल परिवर्तन प्रमाण अनंतकाल, बयालीस भाव अपर्याप्तक में सत्ताईस भाव, जघन्य अवगाहना संख्यात अंगुल उत्कृष्ट कर्मभूमि की महिलाओं की अपेक्षा पाँच सौ पच्चीस धनुष भोग भूमि की अपेक्षा तीन कोस, एक सौ सत्तरह प्रकृतियों का बन्ध, एक सौ पाँच प्रकृतियों का उदय एवं एक सौ अड़तालीस प्रकृतियों का सत्त्व होता है।

उन्हीं स्त्री वेदी मिथ्यादृष्टि जीवों के आलाप कहने पर एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थान, संज्ञी-असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त-अपर्याप्त चार जीव समास, छह-पाँच पर्याप्ति छह-पाँच अपर्याप्ति, दस-नौ-सात प्राण, चारों संज्ञाएँ, तिर्यञ्च-मनुष्य-देव तीन गतियाँ, एक पंचेन्द्रिय, त्रसकाय, तेरह योग पर्याप्त में दस अपर्याप्त में औदारिक मिश्र वैक्रियक मिश्र कार्माण काय तीन योग, एक स्त्री वेद, तेईस कषाय, तीन अज्ञान अपर्याप्त में दो अज्ञान, एक असंयम, चक्षु-अचक्षु दो दर्शन, द्रव्य भाव से छहों लेश्या अपर्याप्त में द्रव्य से कापोत-लेश्या भाव से कृष्ण नील-कापोत पीत चार लेश्या, भव्य सिद्धिक अभव्य सिद्धिक दोनों, एक मिथ्यात्व सम्यक्त्व, संज्ञी-असंज्ञी दोनों, आहारक-अनाहारक दोनों पर्याप्तक में आहारक अपर्याप्तक में दोनों, पाँच उपयोग अपर्याप्तक में चार उपयोग, आठ ध्यान, तिरेपन आस्रव पर्याप्तक में पचास अपर्याप्तक में तेंतालीस आस्रव, बाईस लाख जाति, साढ़े तिरासी लाख करोड़ कुल कोटि, संख्यापेक्षा असंख्यात (देवियों से कुछ अधिक), क्षेत्रापेक्षा लोक का असंख्यातवाँ भाग, स्पर्शन स्वस्थान कथन लोक का असंख्यातवाँ भाग, कषाय-वेदना-विक्रिया-विहारवत कुछ कम 8/14 राजू मारणान्तिक उपपाद सर्वलोक, काल, नाना जीवापेक्षा सर्वकाल एक जीवापेक्षा जघन्य अन्तर्मुहूर्त उत्कृष्ट पल्योपम शत पृथक्त्व अंतर नाना जीवापेक्षा

निरन्तर एक जीवापेक्षा का जघन्य अन्तर्मुहूर्त उत्कृष्ट कुछ कम पचपन पल्योपम, इकतीस भाव अपर्याप्त में तीस भाव, जघन्या घनांगुल का संख्यातवाँ भाव उत्कृष्ट पाँच सौ पच्चीस धनुष, एक सौ सत्रह प्रकृतियों का बन्ध, एक सौ सत्रह प्रकृतियों का उदय एवं एक सौ अड़तालीस प्रकृतियाँ का सत्त्व होता है।

तीनों ही वेद नौवें गुणस्थान में प्रथम सवेद भाग पर्यन्त होते हैं। (धवल पु.2/438-439)

उन्हीं स्त्री वेदी सासादन सम्यग्दृष्टि जीवों के आलाप कहने पर एक सासादन गुणस्थान, संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त अपर्याप्त संज्ञी असंज्ञी अपर्याप्त तीन जीव समास, छहों पाँच अपर्याप्ति छहों पर्याप्ति, दस-सात प्राण, चारों संज्ञाएँ, तिर्यञ्च-मनुष्य-देव तीन गतियाँ, एक पंचेन्द्रिय, त्रसकाय, आहारकदिक बिना तेरह योग पर्याप्त में दस अपर्याप्त में दो योग, एक स्त्री वेद, उन्नीस कषाय, तीन अज्ञान अपर्याप्त में दो अज्ञान, एक असंयम, चक्षु-अचक्षु दो दर्शन, द्रव्य-भाव से छहों लेश्या अपर्याप्त में द्रव्य से कापोत लेश्या से भाव से कृष्ण, नील, कापोत, पीत, चार लेश्या, भव्य सिद्धिक, एक सासादन सम्यक्त्व, संज्ञी, आहारक अपर्याप्त में आहारक अनाहारक दोनों, पाँच उपयोग अपर्याप्तक में चार उपयोग, आठ ध्यान, अड़तालीस आस्रव पर्याप्तक पैंतालीस अपर्याप्तक अड़तीस आस्रव, बाईस लाख जाति, साढ़े तेरासी लाख करोड़ कुल कोटि, संख्या-पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग, क्षेत्र लोक का असंख्यातवाँ भाग, स्पर्शन स्वस्थान लोक का असंख्यातवाँ भाग कषाय-विक्रिया-वेदना-विहार कुछ कम 8/14 राजू मारणान्तिक कुछ कम 9/14 राजू, उपपाद कुछ कम 11/14 राजू, काल नाना जीवापेक्षा जघन्य एक समय उत्कृष्ट पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग एक जीवापेक्षा जघन्य एक समय उत्कृष्ट छह आवली, अन्तर नाना जीवापेक्षा जघन्य एक साथ उत्कृष्ट पल्योपम का असंख्यात्वां भाग एक जीवापेक्षा जघन्य पल्योपम का असंख्यातवाँ का उत्कृष्ट पल्योपम शत पृथक्त्व, पर्याप्त में 29 भाव अपर्याप्त में 26 भाव, जघन्य अवगाहना घनांगुल का संख्यातवाँ भाग उत्कृष्ट संख्यात धनुष, पर्याप्तक में एक सौ एक अपर्याप्तक में चौरानवे प्रकृतियों का बंध, एक सौ दो प्रकृतियाँ का उदय एवं एक सौ पैंतालीस प्रकृतियों का सत्त्व होता है।

स्त्री वेदी मिश्र गुणस्थान – उन्हीं स्त्री वेदी सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवों के आलस्य करने पर एक सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान, संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीव समास, छह पर्याप्ति, दस प्राण, चारों संज्ञाएँ, तिर्यञ्च मनुष्य-देव तीन गतियाँ, पंचेन्द्रिय, त्रसकाय, (चार मन - चार वचन - औदारिक काम, वैक्रियक काम) दस योग, एक स्त्री वेद, उन्नीस कषाय, तीन मिश्र ज्ञान, एक असंयम, चक्षु-अचक्षु दो दर्शन, द्रव्य भाव से छहों लेश्या, भव्य सिद्धिक, एक मिश्र सम्यक्त्व, संज्ञी, आहारक, पाँच उपयोग, आठ ध्यान, इकतालीस आस्रव, बाईस लाख जाति, साढ़े तिरासी लाख करोड़ कुल कोटि, संख्यापेक्षा पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग, क्षेत्रापेक्षा लोक का असंख्यातवाँ भाग, स्पर्शन लोक का असंख्यातवाँ भाग विहार-वेदना, विक्रिया कषायवत् कुछ कम 8/14 राजू, काल-नाना जीवापेक्षा जघन्य अन्तर्मुहूर्त उत्कृष्ट पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग एक जीवापेक्षा जघन्य अन्तर्मुहूर्त उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त, अंतर नाना जीवापेक्षा जघन्य एक समय उत्कृष्ट पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग एक जीवापेक्षा जघन्य अन्तर्मुहूर्त उत्कृष्ट पल्योपम शत पृथक्त्व, उनतीस भाव, जघन्यावगाहना संख्यात अंगुल उत्कृष्ट संख्यात धनुष, चौहत्तर प्रकृतियों का बंध, 96 (छयानवे) प्रकृतियों का उदय एवं एक सौ सैंतालीस प्रकृतियों का सत्त्व होता है।

स्त्री वेदी असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान – उन्हीं स्त्री वेदी असंयत सम्यग्दृष्टि जीवों के आलाप कहने पर - एक अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान, संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीव समास छहों पर्याप्ति, दस प्राण, चारों संज्ञाएँ, तिर्यञ्च मनुष्य देव तीन गतियाँ, पंचेन्द्रिय, त्रसकाय, (चार मन, चार वचन - औदारिक वैक्रियक काम) दस योग, एक स्त्री वेद, उन्नीस कषाय, (मति श्रुत अवधि) तीन ज्ञान, असंयम, केवलदर्शन बिना तीन दर्शन, द्रव्य भाव से छहों लेश्या, भव्य सिद्धिक, औपशमिक-क्षायिक क्षायोपशमिक तीन सम्यक्त्व, संज्ञी, आहारक, छह उपयोग, (चार आर्त्त, चार रौद्र और धर्मध्यान) दस ध्यान, इकतालीस आस्रव, बाईस लाख जाति, साढ़े तिरासी लाख करोड़ कुल कोटि, संख्यापेक्षा पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग, क्षेत्रापेक्षा लोक का असंख्यातवाँ भाग, स्पर्शन स्वस्थान लोक का असंख्यातवाँ भाग विहार-वेदना विक्रिया कषायवत, कुछ कम 8/14 राजू

मारणांतिक समुद्घात की अपेक्षा छह राजू, काल नाना जीवापेक्षा सर्वकाल एक जीवापेक्षा जघन्य अन्तर्मुहूर्त उत्कृष्ट कुछ कम पचपन पल्य, अंतर नाना जीव निरन्तर एक जीवापेक्षा जघन्य अन्तर्मुहूर्त उत्कृष्ट पल्योपम शत पृथक्त्व, तैंतीस भाव, जघन्यावगाहना संख्यात अंगुल उत्कृष्ट संख्यात धनुष कर्मभूमि में 525 धनुष भोगभूमि में तीन कोस सत्तर प्रकृतियों का बन्ध, छियानवें प्रकृतियों का उदय एवं एक सौ अड़तालीस प्रकृतियों का सत्त्व होता है।

स्त्री वेदी संयतासंयत – उन्हीं स्त्री वेदी जीवों में संयतासंयत गुणस्थान का आलाप कहने पर– एक संयतासंयत गुणस्थान, एक संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीव समास, छहों पर्याप्ति, दस प्राण, चारों संज्ञाएँ, तिर्यञ्च मनुष्य दो गति, एक पंचेन्द्रिय, एक त्रसकाय, चार मन – चार वचन एक औदायिक काय नौ योग, एक स्त्री वेद, पंद्रह कषाय, मतिश्रुत अवधि तीन ज्ञान, एक संयमासंयम, केवलदर्शन विना तीन दर्शन, द्रव्य से छह भाव से तीन शुभ लेश्या, भव्य सिद्धिक, उपशम–क्षायिक क्षयोपशम तीन सम्यक्त्व, संज्ञी, आहारक, छह उपयोग, (चार आर्त्त, चार रौद्र तीन धर्म) ग्यारह ध्यान, पैंतीस आस्रव, अठारह लाख जाति, साढ़े सत्तावन लाख करोड़ कुल कोटि, संख्यापेक्षा पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग, क्षेत्रापेक्षा लोक का असंख्यातवाँ भाग, स्पर्शन स्वस्थान लोक का असंख्यातवाँ भाग मारणान्तिक की अपेक्षा कुछ कम 6/14 राजू, काल नाना जीवापेक्षा सर्वकाल एक जीवापेक्षा जघन्य अन्तर्मुहूर्त उत्कृष्ट कुछ कम एक कोटि पूर्व, अंतर नाना जीवापेक्षा निरन्तर एक जीवापेक्षा जघन्य अन्तर्मुहूर्त उत्कृष्ट पल्योपम शत पृथक्त्व, उनतीस भाव, जघन्यावगाहना अंगुल का संख्यातवाँ भाग उत्कृष्ट संस्कृत धनुष, सड़सठ प्रकृतियों का बंध, पचासी प्रकृतियों का उदय एवं सौ सैंतालीस प्रकृतियों का सत्त्व होता है।

स्त्री वेदी प्रमत्त संयत गुणस्थान – उन्हीं स्त्री वेदी प्रमत्त संयत जीवों के आलाप कहने पर– एक प्रमत्त संयत गुणस्थान, एक संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीव समास, छहों पर्याप्ति, दस प्राण, चारों संज्ञाएँ, एक मनुष्य गति, पंचेन्द्रिय, त्रसकाय, नौ योग, एक स्त्री वेद, ग्यारह कषाय, मतिश्रुत अवधि तीन ज्ञान, सामायिक–छेदोपस्थापना दो संयम, केवलदर्शन बिना तीन दर्शन, द्रव्य से छहों लेश्या भाव से तीन शुभ लेश्या, भव्य सिद्धिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक तीन सम्यक्त्व, संज्ञी, आहारक, छह उपयोग, (चार धर्म तीन आर्त्त) सात ध्यान, बीस आस्रव, चौदह लाख जाति, चौदह लाख करोड़ कुल कोटि, संख्यापेक्षा पाँच करोड़ तेरानवें लाख अठानवें हजार दो सो छह अथवा संख्यात, क्षेत्रापेक्षा लोक का असंख्यातवाँ भाग, स्पर्शन लोक का असंख्यातवाँ भाग, काल नाना जीवापेक्षा सर्वकाल एक जीवापेक्षा जघन्य एक समय उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त, अन्तर–नाना जीवापेक्षा निरन्तर एक जीवापेक्षा जघन्य अन्तर्मुहूर्त उत्कृष्ट पल्योपम शत पृथक्त्व, अट्ठाईस भाव, जघन्य अवगाहना साढ़े तीन हाथ उत्कृष्ट पाँच सौ पच्चीस धनुष, तिरेसठ प्रकृतियों का बन्ध, सत्तर प्रकृतियों का उदय एवं एक सौ छियालीस प्रकृतियों का सत्त्व होता है।

स्त्री वेदी अप्रमत्त संयत गुणस्थान – एक अप्रमत्त संयत गुणस्थान, एक संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीव समास, छहों पर्याप्ति, दस प्राण, आहार संज्ञा बिना तीन संज्ञा, एक मनुष्य गति, पंचेन्द्रिय, त्रसकाय, (चारों मनोयोग चारों वचन योग एक औदादिक काय) नौ योग, एक स्त्री वेद, ग्यारह कषाय, मति श्रुत अवधि तीन ज्ञान, सामायिक–छेदोपस्थापना दो संयम, केवलदर्शन विना तीन दर्शन, द्रव्य से छहों भाव से तीन शुभ लेश्या, भव्य सिद्धिक, औपशमिक–क्षायिक–क्षयोपशमिक तीन सम्यक्त्व, संज्ञी, आहारक, छह उपयोग, चार धर्मध्यान, बीस आस्रव, चौदह लाख जाति, चौदह लाख करोड़ कुल कोटि, संख्यापेक्षा दो करोड़ छियानवें लाख निन्यानवें हजार एक सौ तीन, क्षेत्रापेक्षा लोक का असंख्यातवाँ भाग, स्पर्शन लोक का असंख्यातवाँ भाग, काल–नाना जीवापेक्षा सर्वकाल एक जीवापेक्षा जघन्य एक समय उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त, अंतर–नाना जीवापेक्षा निरन्तर एक जीवापेक्षा जघन्य एक समय उत्कृष्ट पल्योपम शत पृथक्त्व, अट्ठाईस भाव, जघन्यावगाहना साढ़े तीन हाथ उत्कृष्ट पाँच सौ पच्चीस धनुष, उनसठ प्रकृतियों का बंध, चौहत्तर प्रकृतियों का उदय एवं एक सौ छयालीस प्रकृतियों का सत्त्व होता है।

स्त्री वेदी अपूर्वकरण गुणस्थान – एक अपूर्वकरण गुणस्थान, संज्ञी पचेंन्द्रिय पर्याप्त जीव समास, छहों पर्याप्तियाँ, दस प्राण, आहार बिना तीन संज्ञाएँ, एक मनुष्य गति, पंचेन्द्रिय, त्रसकाय, (चार मनोयोग, चार वचन योग एक औदायिक भाव) नौ योग,

एक स्त्री वेद, ग्यारह कषाय, मति-श्रुत अवधि तीन ज्ञान, सामायिक-छेदोपस्थापना दो संयम, केवल दर्शन बिना तीन दर्शन, द्रव्य से छहों लेश्या भाव से एक शुक्ल लेश्या, भव्य सिद्धिक, औपशमिक-क्षायिक दो सम्यक्त्व, संज्ञी, आहारक, छह उपयोग, चार धर्मध्यान अथवा एक शुक्ल ध्यान, बीस आस्रव, चौदह लाख जाति, चौदह लाख करोड़ कुल कोटि, संख्यापेक्षा 30 (क्षपक बीस उपशमक दस), क्षेत्रापेक्षा लोक का असंख्यातवाँ भाग, स्पर्शन लोक का असंख्यातवाँ भाग, काल-उपशामक नाना जीवापेक्षा व एक जीवापेक्षा जघन्य एक समय उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त क्षपक नाना व एक जीव अन्तर्मुहूर्त, अंतर-नाना जीवापेक्षा जघन्य एक समय उत्कृष्ट वर्ष पृथक्त्व एक जीवापेक्षा निरन्तर उपशामक-नाना जीव जघन्य एक समय उत्कृष्ट वर्ष पृथक्त्व एक जीवापेक्षा जघन्य अन्तर्मुहूर्त उत्कृष्ट पल्योपम शत पृथक्त्व, छब्बीस भाव उपशमन में 25 भाव क्षपक में 24 भाव, जघन्यावगाहना साढ़े तीन हाथ उत्कृष्ट पाँच सौ पच्चीस धनुष, अट्ठावन प्रकृतियों का बन्ध, सत्तर प्रकृतियों का उदय एवं एक सौ अड़तीस प्रकृतियों का सत्त्व होता है। क्षपक श्रेणी में एक सौ सैंतीस प्रकृति का सत्त्व होता है।

स्त्री वेदी अनिवृत्तिकरण गुणस्थान – उन्हीं स्त्री वेदी अनिवृत्तिकरण जीवों के आलाप कहने पर एक अनिवृत्तिकरण गुणस्थान, एक संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीव समास, छहों पर्याप्तियाँ, दस प्राण, (आहार भय बिना) मैथुन परिग्रह दो संज्ञा, एक मनुष्य गति, पंचेन्द्रिय, त्रसकाय, (चार मनोयोग, चार वचन योग एक औदारिक काय) नौ योग, एक स्त्री वेद, पाँच कषाय, मति श्रुत अवधि तीन ज्ञान, सामायिक-छेदोपस्थापना दो संयम, केवल दर्शन बिना तीन दर्शन, द्रव्य से छहों लेश्या भाव से एक शुक्ल लेश्या, भव्य सिद्धिक, औपशामिक-क्षायिक दो सम्यक्त्व, संज्ञी, आहारक, छह उपयोग, एक पृथक्त्व वितर्क शुक्ल ध्यान अथवा चार धर्मध्यान, चौदह आस्रव, चौदह लाख जाति, चौदह लाख करोड़ कुल कोटि, संख्यापेक्षा तीस (क्षपक बीस उपशामक दस), क्षेत्रापेक्षा लोक का असंख्यातवाँ भाग, स्पर्शन लोक का असंख्यातवाँ भाग, काल क्षपक एक व नाना जीवापेक्षा जघन्योत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त उपशामक नाना व एक जीवापेक्षा जघन्य एक समय उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त, अंतर क्षपक नाना जीवापेक्षा जघन्य एक समय उत्कृष्ट वर्ष पृथक्त्व एक जीवापेक्षा निरन्तर उपशामक – नाना जीवापेक्षा जघन्य एक समय उत्कृष्ट वर्ष पृथक्त्व एक जीवापेक्षा जघन्य अन्तर्मुहूर्त उत्कृष्ट पल्योपम शत पृथक्त्व, छब्बीस भाव क्षपकों में चउवीस उपशामकों में पच्चीस भाव, जघन्य-अवगाहना साढ़े तीन हाथ उत्कृष्ट पाँच सौ पच्चीस धनुष, बाईस प्रकृतियों का बन्ध, चौंसठ प्रकृतियों का उदय एवं क्षपकों में एक सौ सैंतीस उपशामकों में एक सौ छियालीस प्रकृति व एक सौ अड़तीस प्रकृतियों का सत्त्व होता है।

यहाँ 138 प्रकृतियों का सत्त्व उपशम श्रेणी की अपेक्षा है। क्षपक श्रेणी में 137 प्रकृतियों का ही सत्त्व हो सकता है, क्योंकि स्त्री वेद अथवा नपुंसक वेद में क्षपक श्रेणी में तीर्थंकर प्रकृति का सत्त्व नहीं होता।

विशेष – अनिवृत्तिकरण में स्त्री वेद का क्षय हो जाने पर एक संज्ञा रह जाती है। क्षपक श्रेणी में अनिवृत्तिकरण के सवेद भाग में 114 प्रकृतियों का सत्त्व पाया जाता है। संख्या एवं काल का कथन अपूर्वकरण गुणस्थान के समान समझना चाहिए। अन्तर का कथन करते हैं- स्त्री वेदी क्षपक श्रेणी पर एक के बाद एक या बहुत से जीव लगातार श्रेणी उत्तरोत्तर करते हैं तो संख्यात ही करेंगे उसके बाद अन्तर पड़ जायेगा जो कम से कम एक समय अधिक से अधिक 7-8 वर्ष प्रमाण तक हो सकता है। यानी इतने समय तक कोई जीव क्षपक श्रेणी नहीं चढ़ेगा उसके बाद कोई न कोई जीव क्षपक श्रेणी चढ़ेगा। इसी प्रकार उपशामकों में नाना जीवों का अन्तर जानना चाहिए। क्षपक एक जीव की अपेक्षा निरन्तर है जो सुगम है। उपशामकों का एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त भी सुगम है उत्कृष्ट पल्योपम शत पृथक्त्व है। यहाँ एक बात और विचारणीय है जहाँ काल का कथन नाना व एक जीव का अन्तर्मुहूर्त रहा है उसमें एक जीव की अपेक्षा नाना जीवों का काल यद्यपि अन्तर्मुहूर्त ही है परन्तु संख्यात समय अधिक है क्योंकि अन्तर्मुहूर्त के भी असंख्यात भेद हैं शेष कथन सुगम हैं।

आहारमार्गणा में आहारक-अनाहारक जीवों का काल अन्तर और अवगाहना की व्याख्या

पं. महेन्द्र कुमार जैन शास्त्री
पूर्व प्राचार्य, मुरैना

जैन धर्म दर्शन में जीवादि तत्त्वों की निरूपण विषयक शैलियों का उत्तरोत्तर विकास होता रहा है, ''ज्ञान के प्रमाण और नये-नये[1] भेद किये गये, और उनके द्वारा जीवादि पदार्थों का ज्ञान होता है। प्रारम्भ में जीवादि पदार्थों के जानने के अन्य उपायों में निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान द्वारा सम्यग्दर्शनादि विषयों का ज्ञान बताया।[2] उसके साथ ही सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्प बहुत्व[3] के द्वारा भी सम्यग्दर्शनादि विषयों का ज्ञान कराया। सत्, संख्या, क्षेत्र आदि अनुयोग द्वार माने गये। अनुयोग का अर्थ है ज्ञान और द्वार का अर्थ है साधन या उपाय।

सर्वप्रथम जीव तत्त्व का निरूपण बीस (20) प्ररूपणाओं द्वारा भी कहा जाता रहा, और इन्हीं प्ररूपणाओं के अन्तर्गत अन्य अजीवादि तत्त्वों का वर्णन भी यथाप्रसंग किया जाता रहा यथा-

''गुण जीवा पज्जती पाणा सण्णा य मग्गणाओ य।
उवयोगों विय कमसो बीसं तु परूवणा भणिदा।।''[4]

तत्त्व निरूपण की उपर्युक्त शैलियाँ अत्यन्त विस्तृत और अपेक्षाकृत कठिन भी है।

इसी का विस्तृत विवेचन के लिए चउतीस ठाण दंसण की सिद्धान्त प्रबोध ग्रन्थ द्वारा स्वाध्याय प्रेमियों के लिए अनोखा, अद्वितीय, अद्भुत ग्रन्थ है।

सिद्धानत प्रबोध ग्रन्थ परम पूज्य आचार्य उच्चारणाचार्य श्री विनम्रसागर जी महाराज जी ने टीका प्रणयन किया है जो कि अकल्पनीय है।

जिन चौंतीस स्थानों के द्वारा विवेचन किया गया है उनकी प्रस्तुति नामोल्लेख द्वारा कर रहा हूँ-

(1) गुणस्थान (2) जीव समास (3) पर्याप्ति (4) प्राण (5) संज्ञा (6) गति (7) इन्द्रिय (8) काय (9) योग (10) वेद (11) कषाय (12) ज्ञान (13) संयम (14) दर्शन (15) लेश्या (16) भव्य (17) सम्यक्त्व (18) संज्ञी (19) आहारक (20) उपयोग (21) ध्यान (23) आस्तव (23) जाति (24) कुलकोटि (25) संख्या (26) क्षेत्र (27) स्पर्शन (28) काल (29) अन्तर (30) भाव (31) अवगाहना (32) बन्ध (33) उदय (34) सत्त्व।

इन चौंतीस प्रकार की विवेचना करने पर समस्त वर्ग प्रकृतियों, गुणस्थानों, मार्गणाओं का भलीभाँति परिचय प्राप्त होता है।

इन चौंतीस स्थानों के अन्तर्गत आने वाली जो आहार मार्गणा है, उस आहार मार्गणा के अन्तर्गत अथवा चौंतीस स्थानों में ''आहारक-अनाहारक जीवों का काल, अन्तर और अवगाहन की व्यवस्था'' का मेरा जो विषय है उस विषय को लेकर मैं अपना आलेख प्रस्तुत कर रहा हूँ-

सर्वप्रथम आहारक और अनाहारक का स्वरूप निर्देश – जो जीव औदारिक, वैक्रियिक और आहारक इन शरीरों में से उदय को प्राप्त हुए किसी एक शरीर के योग्य शरीर वर्गणा, भाषा वर्गणा और मनोवर्गणा को नियम से ग्रहण करता है, वह आहारक कहा गया है।

पंच संग्रह – प्राकृत अधिकार

तीन शरीर और छह पर्याप्तियों के योग्य पुद्गलों के ग्रहण करने को आहार कहते हैं।[5]

उपभोग्य शरीर के योग्य पुद्गलों का ग्रहण आहार है और उससे विपरीत अनाहार है, शरीर नामकर्म के उदय और विग्रह गति नामकर्म के उदयाभाव से आहार होता है। शरीर नामकर्म के उदयाभाव और विग्रह गति नामकर्म के उदय से अनाहार होता है।[6]

अनाहारक जीव का लक्षण – तीन शरीरों और छह पर्याप्तियों के योग्य आहार जिनके नहीं होता है वह अनाहारक कहलाते हैं।[7]

आहारक जीव निर्देश – विग्रह गत जीव, प्रतर व लोकपूरण प्राप्त सयोग केवली और अयोग केवली तथा सिद्ध भगवान के अतिरिक्त शेष जीव आहारक होते हैं।[8]

अनाहारक जीव निर्देश – ''अणाहार चदुसु गुण ठ्ठाणेसु विग्गहगइ – समावण्णाणं केवलीणं वा समुग्घादगदाणं अजोगी केवली सिद्धा चेदि।''[9]

विग्रह गति को प्राप्त मिथ्यात्व, सासादन और अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान तक जीव तथा समुद्घात गत सयोग केवली, इन चार गुणस्थानों में रहने वाले जीव और अयोग केवली तथा सिद्ध अनाहारक होते हैं।

''उपपाद क्षेमं प्रति करज्वयां गतौ आहारक: इतरेषु भिषु समयेषु अनाहारक – यह जीव उपपाद क्षेत्र के प्रति ऋजुगति में रहता है, तब आहारक होता है, नारी के तीन समयों में अनाहारक रहता है।[10]

विशेष – (1) आहारक मार्गणा में नोकर्महार का ग्रहण है कवलाहार का नहीं। – धवला – 1/1.1/196/409/10

(2) आहारक शरीर का वर्ण सफेद होता है, मस्तक से उत्पन्न होता है। धवला – 4/1.3.2/28/6 एवं 5

(3) कई लाख योजन तक बिना किसी बाधा के गमन करने में समर्थ होता है। धवला – 4/1.3.2.28/6/ गो.जी. मूल 238/

(4) आहारक शरीर की जघन्य व उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त काल प्रमाण है। गो. जीवकाण्ड/मूल 238/

अब काल, अन्तर की अवगाहना की व्याख्या

काल – [1]''स्थितिमतोऽवधिपरिच्छेदार्थ कालोपादानम्–''[11] अर्थात् स्थितिमान की अवधि का ज्ञान करने के लिए काल को ग्रहण किया है– किसी क्षेत्र में स्थित पदार्थ की काल मर्यादा का निश्चय करना काल है।

''किसी क्षेत्र में स्थित पदार्थ काल की मर्यादा निश्चित करना काल है।''

सम्यग्दर्शन कितने काल तक रहता है इसका उत्तर है कि काल की परीक्षा या प्ररूपणा दो प्रकार से हो सकती है। एक तो एक जीव की अपेक्षा से और दूसरी नाना जीवों की अपेक्षा से। एक जीव की अपेक्षा से सम्यग्दर्शन का जघन्य काल

अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल छियासठ सागर से कुछ अधिक है, अर्थात् किसी एक जीव के सम्यग्दर्शन उत्पन्न होकर कम से कम अन्तर्मुहूर्त तक अवश्य रहता है, उसके बाद वह छूट सकता है, और ज्यादा से ज्यादा वह कुछ अधिक छियासठ सागर तक रह सकता है। उसके बाद अवश्य छूट जाता है। नाना जीवों की अपेक्षा सम्यग्दर्शन का सम्पूर्ण काल है। अर्थात् कोई भी समय ऐसा नहीं था, न है, और न होगा कि जब किसी भी जीव के सम्यग्दर्शन नहीं रहा हो, या न पाया जाय।[12]

अन्तर की परिभाषा

अन्तर – अन्तर शब्द छेद, मध्य विरह आदि अनेक अर्थों में है। उनमें से अन्यतम ग्रहण करना।

अनुपहृत वीर्य का अभाव होने पर पुन: उसकी उद्भूति होना अन्तर है। किसी समर्थ द्रव्य की किसी निमित्त से अमुक पर्याय का अभाव होने पर निमित्तान्तर से जब तक वह पर्याय पुन: प्रकट नहीं होती, तब तक के काल को अन्तर कहते हैं।[13]

''अनुपहतवीर्यस्यन्यम्भावेपुनरुद्भूतिदर्शनान्तद्वचनम्''

सम्यग्दर्शन का विरह काल कितना है – उत्तर एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अर्ध पुद्गल परावर्तन है।[3] किन्तु नाना जीवों की अपेक्षा से सम्यग्दर्शन सदा ही रहता है, तो उसका विरह काल कभी नहीं रह सकता, यह बात स्पष्टतया सिद्ध है। हाँ, एक जीव की अपेक्षा अन्तर पाया जाता है, क्योंकि वह उत्पन्न होकर छूट भी जाता है। उत्पन्न होकर छूट जाय और फिर वही उत्पन्न हो, उसके मध्य में जितना काल लगता है, उसको विरह काल कहते हैं। एक जीव के सम्यग्दर्शन का विरह काल कम से कम अन्तर्मुहूर्त और ज्यादा से ज्यादा अर्ध पुद्गल परावर्तन है।

अर्द्ध पुद्गल[1] **परावर्तन किसे कहते हैं–** संसार में जीव का जो अनादिकाल से नाना गतियों में परिभ्रमण हो रहा है, उसी को परिवर्तन कहते हैं। इसके पाँच भेद हैं- द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव- इनमें से पहिले द्रव्य परिवर्तन के काल के आधे काल को अर्द्ध पुद्गल परिवर्तन समझना चाहिए।

कोई एक कार्य विशेष हो चुकने पर जितने काल पश्चात् उसका पुन: होना संभव हो उसे अन्तर काल कहते हैं। जीवों की गुणस्थान प्राप्ति अथवा किन्हीं स्थान विशेषों में उसका जन्म-मरण अथवा कर्मों के बन्ध उदय आदि सर्व प्रकरणों में इस अन्तर काल का विचार ज्ञान की विशदता के लिए आवश्यक है।

अन्तर विरह काल – विरह काल को अन्तर कहते हैं अर्थात् जितने काल तक अवस्था विशेष से जुदा होकर पुन: उसकी प्राप्ति नहीं होती, उस काल को अन्तर कहते हैं।[14]

''लोक में नाना जीवों की अपेक्षा विवक्षित गुणस्थान व मार्गणा स्थान को छोड़कर अन्य कोई गुणस्थान वा मार्गणा स्थान में प्राप्त होकर फिर उसी विवक्षित गुणस्थान का मार्गणा स्थान को प्राप्त नहीं होता है, तब तक के उस काल को अन्तर कहते हैं।[15]

एक समय अन्तर निकालना

नाना जीवापेक्षा – दो जीवों को आदि करके पल्य के असंख्यातवें भाग विकल्प से उपशम सम्यग्दृष्टि जीव, जितना काल अवशेष रहने पर सम्यक्त्व छोड़ा था, उतने काल प्रभाव, सासादन गुणस्थान में रहकर सब मिथ्यात्व को प्राप्त हुये और तीनों लोकों में एक समय के लिए सासादन सम्यग्दृष्टियों का अभाव हो गया। पुन: द्वितीय समय में कुछ उपशम सम्यग्दृष्टि जीव सासादन गुणस्थान को प्राप्त हुये। इस प्रकार सासादन गुणस्थान का (नाना जीवापेक्षणा) एक समय रूप जघन्य अन्तर प्राप्त हुआ। बहुत से सम्यग्मिथ्यादृष्टि अपने काल के क्षय से सम्यक्त्व को अथवा मिथ्यात्व को प्राप्त हुये और तीनों ही लोकों में सम्यग मिथ्यादृष्टि जीवों का एक समय के लिए अभाव हो गया। पुन: अनन्तर समय में ही मिथ्यादृष्टि अथवा सम्यग्दृष्टि कुछ जीव सम्यग मिथ्यात्व को प्राप्त हुये। इस प्रकार से सम्यक् मिथ्यात्व का एक समय रूप जघन्य अन्तर प्राप्त हुआ।[15]

अनन्त काल

अंतर निकालना – ''यह अन्तर पंचेन्द्रिय तिर्यंचों का भले ही हो किन्तु वह सामान्य तिर्यंचों का नहीं हो सकता, क्योंकि शेष तीन गतियों का काल अनन्त नहीं है।

उत्तर - ऐसा नहीं है, क्योंकि विवक्षित पद (कृतिसंचित आदि) वाले जीव को शेष तीन गतियों में घुमाकर तथा अविकसित पद से तिर्यंचों में प्रवेश कराके वहाँ अनन्त काल तक रहने के बाद निकलकर अर्पित पद से तिर्यंचों में उत्पन्न होकर अनन्त काल अन्तर पाया जाता है।[16]

गुणस्थान परिवर्तन द्वारा अन्तर निकालना – ''एक मिथ्यादृष्टि जीव, सम्यग्मिथ्यात्व, अविरत सम्यक्त्व, संयमासंयम और संयम में बहुत बार परिवर्तित होता हुआ, परिणामों के निमित्त से सम्यक्त्व को प्राप्त हुआ, और वहाँ पर सर्व लघु अन्तर्मुहूर्त काल तक सम्यक्त्व के साथ रहकर मिथ्यात्व को प्राप्त हुआ। इस प्रकार से सर्व जघन्य अन्तर्मुहूर्त प्रमाण मिथ्यात्व गुणस्थान का अन्तर ज्ञात हो गया।[17]

''नाना जीव की अपेक्षा भी इसी तरह कथन है, अन्तर केवल इतना है कि यहाँ एक जीव की बजाय युगपत् सात, आठ या अधिक जीवों का ग्रहण करना चाहिए।[18]

अवगाहना

सर्वावगाहना गुण आकाश में ही है, अन्य द्रव्य में नहीं तथा हेतु- ''विशेष गुणों हि युगपत्सर्वद्रव्याणां साधारणावगाहेतुत्व- आकाशस्य, एवं अमूर्ताना विशेष गुण संक्षेपाधिगमेंलिङ्गम। तमैककालमेव सकलद्रव्य साधारणावगाहसंपादन असवर्गगतात्वादेव शेष द्रव्याणभ सम्भवदाकाशमधिगमपति'' युगपद् सर्व द्रव्यों के साधारण अवगाहन का हेतुत्व आकाश का विशेष गुण है। इस

प्रकार अमूर्त द्रव्यों के विशेष गुणों का ज्ञान होने पर अमूर्त द्रव्यों को जानने के लिङ्ग प्राप्त होते हैं अर्थात् विशेष गुणों के द्वारा अमूर्त द्रव्यों का ज्ञान होता है। वहाँ एक ही काल में समस्त द्रव्यों के साधारण अवगाह का संपादन (अवगाह हेतुत्व रूप लिङ्ग) आकाश को बताया है, क्योंकि शेष द्रव्यों के सर्वगत न होने से उनके यह सम्भव नहीं है।

लोक/असंख्यात प्रदेशों पर एकानेम जीवों की अवगाहना विधि – [19]''असंख्येय भागादिषु जीवानाम्''[20] जीवों का अवगाह लोकाकाश के असंख्यातवें भाग को आदि लेकर सर्वलोक पर्यन्त रहता है।

''लोकस्य प्रदेशा असंख्येया: भागा: कृता: तमैकस्मिन्न संख्येय भागे एको जीवोऽवतिष्ठते। तथा द्विभिचतुरादिष्वपि असंख्येय भागेषु आसर्वलोकाद अवगाह प्रत्येव्य:। नाना जीवानां तु सर्वलोक एव असंख्येय विकल्पा: अतोऽवगाह विकल्पो जीवानां सिद्ध:।[21] ''राजवर्तिक/5/8/4/449/33 लोक के असंख्यात प्रदेश हैं, उनके असंख्यात भाग किये जाये। एक असंख्येय भाग में भी जीव रहता है, तथा दो तीन चार असंख्येय भागों में और सम्पूर्ण लोक में जीवों का अवगाह है। नाना जीवों की अवगाह तो सर्वलोक है। असंख्यात के भी असंख्यात विकल्प हैं और अजद्योत्कृष्ट असंखेय्य के भी असंख्येय विकल्प हैं। अत: जीवों के अवगाह में भेद भी हो जाता है तथा जीव के असंख्यात प्रदेशी होने पर भी संकोच विस्तारशील होने से कर्म के अनुसार प्राप्त छोटे या बड़े शरीर में

तत्प्रमाण होकर रहता है, जब इसकी समुद्घात काल में लोक पूरण अवस्था होती है, तब इसके मध्यवर्ती आठ प्रदेश सुमेरु पर्वत के नीचे चित्र और बजपटल के मध्य के आठ प्रदेशों पर स्थित हो जाते हैं, बाकी प्रदेश ऊपर नीचे चारों ओर फैल जाते हैं।

अवगाहना गुणों की सिद्धि

प्रश्न – ''यदि अवकाश देना आकाश का स्वभाव है, तो वज्रादिक से लोढ़ा आदि का और भीत आदि से गाय का व्याघात नहीं प्राप्त होता है। किन्तु व्याघात तो देखा जाता है, इससे मालूम होता है कि अवकाश देना आकाश का स्वभाव नहीं है।''

उत्तर – यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि वज्र और लोढ़ा आदि स्थूल पदार्थ हैं, इसलिए इनका आपस में व्याघात है, अत: आकाश की अवकाश देने रूप शक्ति नष्ट नहीं होती। यहाँ जो व्याघात दिखाई दे रहा है वह अवगाहन करने वाला पदार्थों का ही है। मतलब यह है कि वज्रादिक स्थूल पदार्थ हैं इसलिए वे परस्पर में अवकाश नहीं देते हैं, यह आकाश का दोष नहीं है। हाँ जो पुद्गल सूक्ष्म होते हैं वे परस्पर अवकाश देते हैं।[22]

इसी प्रकार राजवार्तिक में तथा गोम्मटसार जीवकाण्ड में भी इससे और भी विस्तृत विवेचन है।[23]

असंख्यात प्रदेशी लोक में अनन्त द्रव्यों के अवगाह की नीति – ''अवगाहन स्वभाव है और सूक्ष्म रूप से परिणमन हो जाता है। इसलिए एक मकान में अनेक दीपकों का प्रकाश रह जाता है, उसी प्रकार मूर्तमान पुद्गलों का एक जगह अवगाह विरोध को प्राप्त नहीं होता है तथा आगम प्रमाण है यह बात जानी जा सकती है।''[24]

सर्वार्थ सिद्धि 5/10/275 एवं रा.वा. 5/10/3-6/453/14 में भी स्पष्टतया लिखा है।

एक प्रदेश पर अनन्त द्रव्यों के अवगाह की स्थिति – ''परमाणवादयो हि सूक्ष्मभवेन परिणता एकैकस्मिनप्याकाश प्रदेशेऽनन्तानन्ता: अवतिष्ठान्ते''[1] सूक्ष्म रूप से परिणत हुए पुद्गल परमाणु आकाश के एक एक प्रदेश पर अनन्तानन्त ठहर सकते हैं।[25]

प्रश्न उठता है कि- ''एक प्रदेशी पुद्गल का एक आकाश प्रदेश में अवगाह हो सकता है, परन्तु द्विप्रदेशी, त्रिप्रदेशी, संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेशी स्कन्धों का वहाँ अवगाह कैसे हो सकता है- नहीं, क्योंकि वहाँ अनन्त को अवगाहन करने का गुण सम्भव है सो कैसे- उत्तर जीव व पुद्गलों की अनन्तपने की अन्यथा उपयन्ति संभव नहीं।[26]

इसी प्रकार प्रवचन सार[27] और द्रव्य संग्रह[28] में भी वर्णन आता है।

आहारमार्गणा सामान्य

काल – नाना जीवों की अपेक्षा सर्वकाल

एक जीव की अपेक्षा जघन्यकाल समय कम शूद्रभव और उत्कृष्ट असंख्यासंख्यात उत्सर्पिणी अवसर्पिणी काल।

अन्तर – नाना जीवापेक्षा निरन्तर,

एक जीव की अपेक्षा से जघन्य 1 समय और उत्कृष्ट 3 समय।

अवगाहना – जघन्य घनांगुल का असंख्यातवाँ भाग, उत्कृष्ट 1000 योजन।

(1) मिथ्यात्व गुणस्थान – आहारकमार्गणा

काल – नाना जीवों की अपेक्षा सर्वकाल।

एक जीव की अपेक्षा, जघन्य-अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात उत्सर्पिणी अवसर्पिणीकाल

अन्तर – नाना जीवापेक्षया निरन्तर।

एक जीव की अपेक्षा से जघन्य-अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट-कुछ कम दो छयासठ सागर।

अवगाहन – जघन्य-घनांगुल का असंख्यातवाँ भाग, उत्कृष्ट - 1000 योजन।

(1) सूच्यंगुल का असंख्यातवाँ भाग, यानी कि ऐसा भी हो सकता है कि इतने समय तक जीव विग्रह गति को प्राप्त न हो, मात्र ऋजुगति से ही जन्म लेता रहे। ऋजुगति में आहारक ही रहता है अनाहारक नहीं।

विशेष – आहारक पर्याप्त और अपर्याप्त दोनों अवस्थाओं में होता है, किन्तु अनाहारक अपर्याप्त/विग्रह गति में ही होता है, ऋजु गति में आहारक ही होता है। ऋजु गति संसारी व मुक्त जीव दोनों की होती है, किन्तु विग्रह गति केवल संसारी जीव की ही होती है और मुक्त जीव की ऋजु गति ही होती है, किन्तु वहाँ आहारक नहीं होता, क्योंकि उन्हें अब शरीर नहीं मिलेगा, पर्याप्ति भी प्राप्त नहीं होगी। विग्रह गति दो या तीन समय की होती है। ऋजु गति नियम से एक समय की होती है। ऋजु गति अर्थात् बिना मोड़े वाली गति और विग्रह मतलब मोड़े वाली गति।

प्रश्न – जब जीव एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर को प्राप्त करने के लिए जाता है, उस समय विग्रह गति अथवा ऋजु गति दोनों ही गतियों में जाता है। मुक्त जीव जब मुक्ति को प्राप्त होते हैं उस समय शरीर छोड़कर अशरीरी हो सिद्धालय में विराजमान हो जाते हैं।

आहार का स्वरूप – तीन शरीर और छह पर्याप्ति के योग्य पुद्गल वर्गणाओं का ग्रहण करना आहार कहलाता है, विग्रह गति में ये वर्गणाएँ ग्रहण नहीं होती हैं इसलिए वहाँ अनाहारक है।

काल – सामान्य से एक जीव की अपेक्षा से काल घनांगुल का असंख्यात भाग स्वरूप असंख्यातासंख्यात उत्सर्पिणी अवसर्पिणी होता है, क्योंकि ऐसा समय भी आ सकता है कि जब कोई जीव इतने काल तक आहारक ही बना रहे, अनाहारक हो ही नहीं, यानी मरण कर, ऋजु गति से गमन कर अन्य शरीर को धारण करे, विग्रह गति में जाये ही नहीं। यह उत्कृष्ट काल है इसके बाद जायेगा ही। तीन समय कम शूद्र भव मतलब तीन समय तक अनाहारक काल हुआ, उसको कम करके शेष समय रहा, वह आहारक का काल जघन्य है।

मिथ्यादृष्टि – एक जीव की अपेक्षा जघन्य तो ठीक है किन्तु उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी यहाँ उत्कृष्ट आहारक काल है। यानी मार्गणा का उत्कृष्ट काल है। और यदि मिथ्यादृष्टि का शुद्ध भाव अर्द्ध पुद्गल परावर्तन काल है जो इस काल की अपेक्षा असंख्यातासंख्यात गुणा बड़ा है, अत: उक्त जीव का मिथ्यात्व के साथ उपरोक्त काल बन जाता है।

उत्तर – मतलब कोई जीव मरण कर विग्रह गति से अन्य गति में जाता है और एक मोड़ा लेता है तो एक समय लगता है

जो जघन्य अन्तर है और यदि तीन मोड़ा लेता है तो तीन समय लगते हैं। यही इसका उत्कृष्ट अन्तर है। तीन से ज्यादा मोड़ा लेता ही नहीं।

''एकं द्वौ भीन्वानाहारक:'' – एक दो तीन समय तक अनाहारक रह सकता है, यानी जीव तीन समय तक बिना शरीर के रह सकता है इससे अधिक नहीं, यह अन्तर हमने सामान्य से कहा है, गुणस्थान का अन्तर गुणस्थानवत् अर्थात् दो छियासठ सागर का जानना चाहिए। जघन्य अन्तर तो अन्तर्मुहूर्त है, क्योंकि मार्गणा तो वही रहेगी, किन्तु गुणस्थान परावर्तन करके अन्तर प्राप्त किया।

(2) सासादन गुणस्थान आहारक

काल – नाना जीवों की अपेक्षा जघन्य काल 1 समय और उत्कृष्ट पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग।

एक जीव की अपेक्षा जघन्य काल 1 समय और उत्कृष्ट काल छ आवली।

अन्तर – नाना जीवों की अपेक्षा जघन्य अन्तर 1 समय और उत्कृष्ट अन्तर पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग प्रमाण।

अवगाहना – जघन्य अवगाहना – घनांगुल का असंख्यातवाँ भाग उत्कृष्ट अवगाहना – संख्यात धनुष।

(3) मिश्र गुणस्थान आहारक

काल – नाना जीवों की अपेक्षा जघन्य काल – अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग।

एक जीव की अपेक्षा जघन्य व उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त।

अन्तर – नाना जीवों की अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग।

एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर 1 मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर अंगुल का असंख्यातवाँ भाग (असंख्यातासंख्यात उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी)।

अवगाहना – जघन्य अवगाहना – घनांगुल का असंख्यातवाँ भाग

उत्कृष्ट अवगाहना – 1000 योजन

(4) असंयत गुणस्थान आहारक

काल – नाना जीवों की अपेक्षा – सर्वकाल,

एक जीव की अपेक्षा – जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल 33 सागर

अन्तर – नाना जीवों की अपेक्षा निरन्तर

एक जीव की अपेक्षा – **जघन्य अन्तर** अन्तर्मुहूर्त और

उत्कृष्ट अन्तर – अंगुल का असंख्यातवाँ भाग स्वरूप असंख्यातासंख्यात उत्सर्पिणी अवसर्पिणी

अवगाहना – जघन्य – घनांगुल का संख्यातवाँ भाग और

उत्कृष्ट 1000 योजन।

(5) संयतासंयत गुणस्थान आहारक

काल – नाना जीवों की अपेक्षा – सर्वकाल

एक जीव की अपेक्षा जघन्य–अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल कुछ कम एक कोटि पूर्व।

अन्तर – नाना जीवों की अपेक्षा निरन्तर।

एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर

अंगुल का असंख्यातवाँ भाग स्वरूप असंख्यातासंख्यात उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी।

अवगाहना – जघन्य घनांगुल का संख्यातवाँ भाग और उत्कृष्ट – 1000 योजन

(6) प्रमत्त संयत गुणस्थान आहारक

काल – नाना जीवों की अपेक्षा सर्वकाल

एक जीव की अपेक्षा – जघन्य 1 समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त।

अन्तर – नाना जीवों की अपेक्षा – निरन्तर

एक जीव की अपेक्षा अन्तर – जघन्य–अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अंगुल का असंख्यातवाँ भाग प्रमाण असंख्यातासंख्यात उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी।

अवगाहना – जघन्य अवगाहना – 3½ हाथ और उत्कृष्ट – अवगाहना 525 धनुष।

(7) अप्रमत्तसंयत गुणस्थान आहारक

काल – नाना जीवों की अपेक्षा सर्वकाल

एक जीव की अपेक्षा जघन्य काल एक समय और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त।

अन्तर – नाना जीवों की अपेक्षा निरन्तर।

एक जीव की अपेक्षा जघन्य–अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अंगुल का असंख्यातवाँ भाग प्रमाण – असंख्यातासंख्यात उत्सर्पिणी अवसर्पिणी।

अवगाहना – जघन्य 3½ हाथ, उत्कृष्ट 525 धनुष।

(8) अपूर्वकरण गुणस्थान आहारक

काल – उपशामक नाना जीवों की अपेक्षा जघन्य काल 1 समय और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त।

एक जीव की अपेक्षा जघन्य काल 1 समय, उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त।

क्षपक – नाना जीव एक जीव की अपेक्षा जघन्य व उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त।

अन्तर – उपशामक – नाना जीवों की अपेक्षा जघन्य 1 समय और उत्कृष्ट वर्ष पृथक्त्व।

एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर – अन्तर्मुहूर्त। और

उत्कृष्ट अंगुल का असंख्यातवाँ भाग।

क्षपक – नाना जीवों की अपेक्षा 1 समय, उत्कृष्ट 6 माह।

एक जीव की अपेक्षा निरन्तर।

अवगाहना – जघन्य 3½ हाथ, उत्कृष्ट 525 धनुष।

(9) अपूर्वकरण गुणस्थान आहारक

काल – उपशामक नाना जीव व एक जीव की अपेक्षा जघन्य 1 समय, 3 अन्तर्मुहूर्त।

क्षपक – नाना जीव व एक जीव की अपेक्षा जघन्य 1 समय, 3 अन्तर्मुहूर्त।

अन्तर – उपशामक – नाना जीवों की अपेक्षा जघन्य 1 समय, 3 वर्ष पृथक्त्व।

एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर्मुहूर्त, 3 अंगुल का असंख्यातवाँ भाग।

क्षपक – नाना जीवों की अपेक्षा 1 समय, उत्कृष्ट 6 माह।

एक जीव की अपेक्षा निरन्तर।

अवगाहना – जघन्य 3½ हाथ, उत्कृष्ट 525 धनुष।

(10) सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान आहारक

काल – उपशामक – नाना व एक जीवापेक्षया जघन्य – एक समय, 3 अन्तर्मुहूर्त।

क्षपक – नाना व एक जीवापेक्षणा – जघन्य व उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त।

अन्तर – उपशामक – नाना जीवों की अपेक्षा जघन्य 1 समय व उत्कृष्ट वर्ष पृथक्त्व।

एक जीवापेक्षणा – जघन्य अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट – अंगुल का असंख्यातवाँ भाग प्रमाण – असंख्यातासंख्यात उत्सर्पिणी अवसर्पिणी।

क्षपक – नाना जीव की अपेक्षा 1 समय और उत्कृष्ट 6 माह एक जीव की अपेक्षा – निरन्तर।

अवगाहना – जघन्य 3½ हाथ, उत्कृष्ट 525 धनुष।

(11) उपशान्तमोह गुणस्थान आहारक

काल – नाना व एक जीवापेक्षणा जघन्य काल 1 समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त।

अन्तर – नाना जीवों की अपेक्षा जघन्य 1 समय, उत्कृष्ट – वर्ष पृथक्त्व।

अवगाहना – जघन्य अवगाहना 3½ हाथ, उत्कृष्ट 525 धनुष।

(12) क्षीणमोहगुणस्थान – आहारक

काल – नाना जीवों व एक जीव की अपेक्षा जघन्य व उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है।

अन्तर –[1] नाना जीवों की अपेक्षा जघन्य अन्तर 1 समय व उत्कृष्ट 6 माह।

एक जीव की अपेक्षा – निरन्तर।

अवगाहना – जघन्य 3½ हाथ, उत्कृष्ट 525 धनुष।

1. नाना जीवों का जघन्य अन्तर तो एक समय है और उत्कृष्ट छह मास है, क्योंकि अधिक से अधिक छह मास तक कोई जीव क्षपक श्रेणी नहीं चढ़ता, उसके बाद कोई न कोई चढ़ेगा ही। एक जीव निरन्तर है, क्योंकि कभी भी क्षीण मोह गुणस्थान दो बार प्राप्त नहीं होता है, इसलिए अन्तर नहीं है।

(13) सयोग केवली गुणस्थान आहारक

काल – नाना जीवों की अपेक्षा सर्वकाल

एक जीव की अपेक्षा जघन्य–अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट–कुछ कम एक पूर्व कोटि।

अन्तर – नाना जीवों की अपेक्षा एवं एक जीव की अपेक्षा – निरन्तर

अवगाहना – जघन्य अवगाहना 3½ हाथ, उत्कृष्ट अवगाहना 525 धनुष।

काल की अपेक्षा से जघन्य अन्तर्मुहूर्त है, और उत्कृष्ट आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त का एक पूर्वकोटि होता है। क्योंकि कोई आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त की उम्र में दीक्षा लेकर केवलज्ञान प्राप्त कर सकता है।

अनाहारक सामान्य

काल – नाना जीवों की अपेक्षा सर्वकाल

एक जीव की अपेक्षा–जघन्य–एक समय, उत्कृष्ट– 3 समय पर्याप्तक में अन्तर्मुहूर्त।

अन्तर –[1] नाना जीवों की अपेक्षा निरन्तर, एक जीव की अपेक्षा

जघन्य तीन समय कम शुद्रभव/उत्कृष्ट–सूच्यंगुल का असंख्यातवाँ भाग स्वरूप असंख्यातासंख्यात उत्सर्पिणी अवसर्पिणी।

पर्याप्तक में नाना जीवापेक्षणा जघन्य 1 समय, उत्कृष्ट छह मास।

एक जीवापेक्षणा निरन्तर।

अवगाहना – जघन्य–घनांगुल का असंख्यातवाँ भाग, उत्कृष्ट 1000 योजन

(1) अनाहारक मिथ्यात्व गुणस्थान – अनाहारक

काल – नाना जीवों की अपेक्षा सर्वकाल,

एक जीव की अपेक्षा जघन्य 1 समय, उत्कृष्ट – तीन समय।

अन्तर – नाना जीवों तथा एक जीव की अपेक्षा निरन्तर।

अवगाहना – जघन्य घनांगुल का असंख्यातवाँ भाग, उत्कृष्ट – 1000 योजन

(1) अन्तर – निरन्तर है, इसका कारण यह है कि अनाहारक अवस्था में गुणस्थान परिवर्तन नहीं हो सकता, जब तक गुणस्थान परिवर्तन नहीं होगा, तो अन्तर भी प्राप्त नहीं होता। सामान्य से मार्गणा परिवर्तन की अपेक्षा अन्तर निकलता है किन्तु विशेषता से गुणस्थान परावर्तन कराके अन्तर निकालते हैं।

विशेष(1) – सामान्य से अन्तर अंगुल का असंख्यातवाँ भाग स्वरूप असंख्यातासंख्यात उत्सर्पिणी अवसर्पिणी काल तक होता है, क्योंकि ऐसा भी संभव है कि जीव इतने समय तक आहारक ही बना रहे, अनाहारक हो ही नहीं पश्चात् अनाहारक नियम से होता है। जघन्य अन्तर ठीक है क्योंकि कोई जीव सबसे छोटी आयु लेकर जन्मा, तीन समय तक अनाहारक रहा, पुन: आहारक हो अपनी आयु को पूर्ण कर पुन: अनाहारक हो गया, इस प्रकार तीन समय कम शूद्र भाव जघन्य अन्तर हुआ, इस प्रकार जघन्य एक समय और उत्कृष्ट तीन समय है।

(2) सासादन गुणस्थान – अनाहारक

काल –(1) नाना जीवों की अपेक्षा जघन्य काल 1 समय और उत्कृष्ट काल आवली का असंख्यातवाँ भाग।

एक जीव की अपेक्षा जघन्य काल 1 समय और उत्कृष्ट दो समय।

अन्तर – नाना जीवों की अपेक्षा जघन्य अन्तर 1 समय और उत्कृष्ट अन्तर पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग। एक जीव की अपेक्षा – निरन्तर।

अवगाहना – जघन्य–घनांगुल का असंख्यातवाँ भाग। उत्कृष्ट–संख्यात धनुष।

नोट

नाना जीवों का जघन्य काल एक समय, क्योंकि बहुत से जीव (सम्पूर्ण सासादन राशि में आवली के असंख्यातवें भाग का भाग देने पर) एक साथ अनाहारक हुये, एक समय रहे, पश्चात् आहारक हो गये या मिथ्यादृष्टि हो गये।

धवला पुस्तक 8 पृष्ठ 164। इस प्रकार जघन्य काल बना। उत्कृष्ट काल आवली का असंख्यातवाँ भाग है, क्योंकि लगातार सासादन सम्यग्दृष्टि जीव सासादन को प्राप्त कर अनाहारक होते रहें तो आवली के असंख्यातवें भाग काल तक ही होंगे, इससे ज्यादा नहीं, इस प्रकार उत्कृष्ट काल जानना चाहिए।

विशेष – यहाँ पर जो उत्कृष्ट काल दो समय दिया गया है, इसका कारण यह है कि जो त्रस नाली के बाहर जन्म लेता है, वही जीव 3 समय तक अनाहारक रहता है किन्तु सासादन सम्यग्दृष्टि जीव त्रस नाली के बाहर जन्म नहीं लेता है इसलिए उसका दो समय उत्कृष्ट काल बनता है।

सासादन सम्यग्दृष्टियों की संख्या में आवली के असंख्यातवें भाग का भाग देकर एक भाग प्रमाण जीव मारणान्तिक समुद्घात करते हैं।

(4) अनाहारक असंयत गुणस्थान

काल –(1) नाना जीवा की अपेक्षा 1 समय जघन्य और उत्कृष्ट आवली का असंख्यातवाँ भाग।

एक जीव की अपेक्षा – जघन्य 1 समय और उत्कृष्ट – दो समय।

अन्तर –(2) नाना जीवों की अपेक्षा – जघन्य 1 समय और उत्कृष्ट वर्ष पृथक्त्व।

एक जीव की अपेक्षा – निरन्तर।

अवगाहना – जघन्य–घनांगुल का असंख्यातवाँ भाग और उत्कृष्ट 1000 योजन।

नोट–

(1) काल का कथन सासादन गुणस्थान की तरह समझना चाहिए

एक जीव का उत्कृष्ट काल दो समय है।

3 समय इसलिए नहीं कहा– कि तीन मोड़ा लेने वाले जीव का ही काल 3 समय होता है और तीन मोड़ा वही ले सकता है जो त्रस नाली के बाहर से त्रस नाली के अन्दर जन्म ले रहा हो, और त्रस नाली के बाहर से आने वाला तथा त्रस नाली से बाहर जाने वाला सम्यग्दृष्टि अथवा सासादन सम्यक्त्वी नहीं होता, केवल मिथ्यादृष्टि ही होता है।

(2) अन्तर विशेष – अन्तर एक जीव का सही है, क्योंकि मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में विवेचन किया है वैसा ही जानना।

नाना जीवों में जघन्य अन्तर सुगम है, उत्कृष्ट वर्ष पृथक्त्व से तात्पर्य है कि ऐसा भी संभव है कि सात आठ वर्ष तक कोई भी सम्यग्दृष्टि अनाहारक नहीं हो, उसके बाद कोई न कोई सम्यक्त्वी अनाहारक होगा ही।

(13) अनाहारक सयोग केवली गुणस्थान

काल –[1] नाना जीवों की अपेक्षा जघन्य 3 समय और उत्कृष्ट संख्यात समय एक जीव की अपेक्षा – जघन्य व उत्कृष्ट 3 समय।

अन्तर – नाना जीवों की अपेक्षा जघन्य एक समय और उत्कृष्ट वर्ष पृथक्त्व एक जीवापेक्षणा निरन्तर।

अवगाहना – जघन्य 3½ हाथ और उत्कृष्ट – 525 धनुष।

(14) अनाहारक अयोग केवली गुणस्थान

काल – नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर्मुहूर्त तथा

एक जीव की अपेक्षा भी अन्तर्मुहूर्त।

अन्तर – नाना जीवापेक्षया – जघन्य एक समय और उत्कृष्ट 6 माह।

अवगाहना – जघन्य 3½ हाथ और उत्कृष्ट 525 धनुष।

काल – काल सही है, क्योंकि यदि लगातार सयोग केवली समुद्घात करें तो संख्यात समय तक ही करते हैं, जघन्य से एक साथ बहुत से केवली तीन समय तक समुद्घात करते हैं। इसी प्रकार अन्तर जघन्य से एक समय उत्कृष्ट से यदि कोई भी केवली समुद्घात न करें तो सात आठ वर्ष तक नहीं करें, उसके बाद कोई न कोई समुद्घात करेंगे ही।

सन्दर्भ ग्रन्थ–

1. प्रमाणनयैरधिगमः– तत्त्वार्थ सूत्र अध्याय 1 सूत्र ।।6।।
2. निर्देश स्वामित्व साधनाधिकरण स्थिति विद्यानतः – तत्त्वार्थ सूत्र अध्याय 1 सूत्र 7
3. सत्संख्याक्षेत्र स्पर्शन कालान्तर भावाल्प बहुत्वैश्च तत्त्वार्थ सूत्र अध्याय 1 सूत्र नं. 8
4. गोम्मटसार, जीवकाण्ड गाथा नं. 2।
5. सर्वार्थ सिद्धि (2/30/186/9)
6. राजवार्तिक – (9/7/11/604/19)
7. तदभावनाहारक – सर्वार्थ सिद्धि – 2/30/186/10,
राजवर्तिक – (2/30/4/140) एवं रा.वा. (9/7/11–604/19) एवं तत्त्वार्थ सार – (2/94)।
8. पं.सं./प्रा. 1/77/धवला 1/1,1,4/99/153 तथा
गोम्मटसार जीव काण्ड/मू./666/–
9. षट्खण्डागम – 1/1.1/सूत्र 177/410/सर्वार्थ सिद्धि – 1/8/33/9 एवं तत्त्वार्थ सूत्र – 2/95/ – धवला – 1/1.1 5/153/
10. सर्वार्थ सिद्धि – 2/29/186
11. तत्त्वार्थ वार्तिक अध्याय 1/8/6/
12. सभाष्यतत्त्वार्थाधिगम सूत्र 1/8/32
13. तत्त्वार्थ वार्तिक 1/2/8/–49/14
14. सभाष्यतत्त्वार्थाधिगम अध्याय 1/8/33
15. धवला – 1/1.1.8/103/157/गो. सार जीवकाण्ड/जी.प्र./553/922
16. गो.सा. जीवकाण्ड प्र./143/357/रा. कार्तिक–1/8/7/42/5
17. धवला 5/1,6.4/7/9
18. धवला 9/4.1.66/305/2
19. धवला 5/1.6.3/55
20. धवला 5/1/6.6/9/2
21. प्रवचन सार/त.प्र./133
22. तत्त्वार्थ सूत्र/5/15
23. राजवर्तिक/5/8/4/449/33
24. सर्वार्थ सिद्धि – 5/12/284
25. राजवार्तिक – 5/1/23/434/6 तथा गो.जी./जो.प्र./605/1060/6
26. सर्वार्थ सिद्धि – 5/14/279
एक राजवर्तिक/5/13/4–6/427/
27. सर्वार्थ सिद्धि/5/10/275/रा.वा./5/10/3–6/453
28. धवला/14/5–6/531/445
29. प्रवचन सार/त.प्र./140/198
30. द्रव्य संग्रह मूल गाथा 27 सर्वार्थ सिद्धि – 5/10/275/रा.वा. 5/15/5/458/7/धवला टीका/3/1.2.45/252/धवला/8/1.3.2/ पंचास्तिकाय/ता.बृ./90/150/द्रव्य संग्रह मूल 20/59